हमारी पूरी कोशिश है कि आपको हिंदी की अधिकतम पुस्तकें मुफ्त उपलब्ध करायी जायें और इन्टरनेट पर हिंदी की उपस्थिति को अधिक से अधिक बढ़ाया जाए | इसी क्रम में मैं आपके सामने एक से एक अधिक पुस्तकें प्रस्तुत कर रहा हूँ |

परन्तु जैसा कि आप जानते हैं इंटरनेट पर किताबें अपलोड करने , उन्हें हमेशा उपलब्ध रखने , तथा साईट अच्छी तरह और सरल रूप से काम करे इसके लिए अत्यंत मेहनत के साथ साथ संसाधनों की भी आवश्यकता होती है , और यही वह कारण है जिसकी वजह से अभी तक हिंदी भाषा की कोई भी वेबसाइट एक दो साल से ज्यादा नहीं चली है और बहुत ही अल्प समय में एक से एक अच्छी वेबसाइट बंद हो चुकी हैं |

यह चुनौती हमारे सामने भी है , लेकिन एक विश्वास भी कि हिंदी के जागरूक हो रहे पाठकों को इस समस्या के बारे में अंदाज़ा है और वे इस बारे में केवल मूकदर्शक नहीं है | हम आपको हिंदी की पुस्तकें देंगे , हिंदी में जानकारी देंगे और बहुत कुछ देंगे और हमें आशा है कि आप भी हमे बदले में अपना प्यार देंगे और हमारी मदद करेंगे हिन्दी को सम्म्रद्ध बनाने में |

अपना हाथ बढाइये और हमारी मदद कीजिये | मदद करने के लिए जरूरी नहीं है कि आप पैसे या आर्थिक मदद ही करें , आप जिस तरह चाहें उस तरह हमारी मदद कर सकते हैं | हमारी मदद करने के तरीकों को आप यहाँ देख सकते हैं |

आशा है आप हमारी सहायता करेंगे |

अगर आपको हमारा प्रयत्न पसंद आया हो तो सिर्फ 500 रू. का सहयोग करे| आपका सहयोग हिंदी साहित्य को अधिक से अधिक विस्तृत रूप देने में उपयोगी होगा | आप Paypal अथवा बैंक ट्रान्सफर से सहयोग कर सकते हैः | अधिक जानकारी के लिए मेल करें preetam960@gmail.com अथवा यहाँ देखें

धन्यवाद

घर का वैद्य

घर का वैद्य

लेखक

कविराज श्रीअत्रिदेव गुप्त

विद्यालङ्कार, भिषग्रत्न

(गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी)

भिषजां साधुवृत्तानां भद्रागमशालिनाम् ।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम् ॥
[अ० सं०]

प्रकाशक

आनन्द-बुकडिपो

सुलतानपुर

Printed by R. N. Tripathi at the Hindi-Mandir Press, Allahabad
and Published by R. N. Tripathi, Anand Book Depot, Sultanpur
COPIES 1000 ; 1936, SEPTEMBER.

प्रस्तावना

नुष्य को मानव जन्म की सार्थकता के लिये और सुख के साथ तथा सफलता पूर्वक जीवन वृत्त चरितार्थ करने के लिये अनेक प्रकार की विद्या, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला आदि का जानना आवश्यक होता है। इनमें से किसी के द्वारा वह रोज़ी कमाता, किसी के द्वारा सांसारिक ज्ञान की वृद्धि करता, किसी के द्वारा कौटुम्बिक कर्तव्य-पालन की शिक्षा लेता और किसी के द्वारा अपना मनोरंजन करता है। इस तरह "काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" के न्याय के अनुसार वही पण्डित और वही बुद्धिमान् समझा जाता है जो हँसी-खुशी और सफलता के साथ अपनी जीवन-यात्रा पूरी करता रहता है। केवल किसी तरह उदर-दरी को पूर्ण कर ज़िन्दगी को रोते-गाते ठेलते जाना सफल जीवन-यात्रा नहीं कहलाती। मनुष्य को जहाँ अनेक शास्त्रों का परिशीलन करना आवश्यक होता है, वहाँ शरीर का स्वास्थ्य बनाये रखने और शरीर को व्याधियों से बचाते हुए सुखी रखनेवाले शास्त्र का जानना भी नितान्त आवश्यक है। इसके बिना उसके सब ज्ञान अधूरे हैं। क्योंकि भारतीय शास्त्रों और मनीषियों का सिद्धान्त है कि धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि-पूर्वक जीवन-यात्रा सफलता से चलाकर अन्त में ईश्वर-प्राप्ति अर्थात् आवागमन से रहित हो मोक्ष प्राप्त करना ही मनुष्य-जन्म का उद्देश्य है। इन चारों उद्देश्यों की सिद्धि स्वस्थ और सबल शरीर के बिना नहीं हो सकती। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को अपने चिकित्सा-शास्त्र की कुछ स्थूल ज्ञानकारी होना नितान्त आवश्यक है। यह ठीक है कि अस्वस्थता और रोगाक्रमण के समय वैद्य-डाक्टरों से सहायता लेकर शरीर-रक्षा की जा सकती है; किन्तु जहाँ तक सम्भव हो, इसकी नौबत कम ही आवे तो अच्छी बात है। साधारणतया स्वास्थ्य-रक्षा और शरीर-रक्षा की जानकारी रखकर जहाँ तक हो सके, पराधीनता-पूर्वक नहीं, स्वयं अपने ज्ञान और बुद्धि के उपयोग तथा स्वास्थ्यविज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र की सहायता से अपनी रक्षा करते रहना अधिक अच्छा है।

हमारा आयुर्वेद संसार का सब से पुराना और चिकित्सा-विज्ञान का आदि जनक है। संसार की सभी चिकित्सा-पद्धतियाँ इसी के मूल सिद्धान्तों के विकसित रूपों

से प्रचलित हुई हैं। यद्यपि यह ठीक है कि चिकित्सा-विज्ञान अनुभव तथा प्रयोग-जन्य शास्त्र है और इसमें समयानुसार परिवर्त्तन और परिवर्द्धन होता रहता है; किन्तु हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियों और आचार्यों ने आयुर्वेद की भित्ति ऐसी दृढ़ और स्थिर सिद्धान्तों के ऊपर रची है कि इसमें अधिकांश रूप से स्थिरता आ गयी है। इसके सिद्धान्त अबाधित चल रहे हैं। प्रकीर्ण विषयों में भले ही परिवर्तन हो, किन्तु इसके मूल सिद्धान्त पूर्ण और अडिग हैं। ऐसे महत्वपूर्ण शास्त्र की जानकारी प्रत्येक भारतवासी को जितनी अधिक हो उतनी ही अभीष्ट है। शास्त्र-पारदर्शी और शास्त्रालोचन की इच्छा रखनेवालों के लिये तो सिद्धान्त-ग्रन्थ अनेक हैं; किन्तु सर्वसाधारण के उपयोग के लिये सर्वसाधारण की भाषा में साधारण जानकारी की बातें सरलता से बतलानेवाली पुस्तकों की आवश्यकता होती है। बँगला, गुजराती और मराठी में कविराजी शिक्षा घरनो वैद्य, आर्यभिषक्, सुबोध वैद्यक आदि के ढंग की ऐसी पुस्तकें मौजूद हैं; किन्तु हिन्दी में ऐसी अधिकारयुक्त संग्रह-पुस्तकों का नितान्त अभाव है। यदि बाजार में ऐसी एक-दो पुस्तकें दिखें भी तो अनधिकारी का खोमचा और धन कमाने का प्रयत्न अथवा अनुवाद ही कहा जा सकता है। किसी अधिकारी पुरुष-द्वारा ऐसी स्वतन्त्र पुस्तक की रचना की आवश्यकता थी जिसमें शरीर और शरीर-रक्षा की जानकारी की आवश्यक बातें दी गयी हों। हमें प्रसन्नता है कि आयुर्वेदालङ्कार, कविराज अत्रिदेवजी ने "घर का वैद्य" बनाकर इस विषय का मार्ग-प्रदर्शन किया है और अधिकांश अंशों में सफलता भी पायी है। आप गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक हैं और मननशील तथा परिश्रमी युवक हैं, इस ग्रन्थ में उनके इस गुण की छाप मौजूद है।

इस पुस्तक के आदि में सृष्टि-विकास के साथ शरीर और शरीर-क्रिया विज्ञान की मोटी बातें दी गयी हैं; फिर स्वास्थ्य-रक्षा की बातों पर प्रकाश डाला गया है। जल-वायु और खान-पान की बातें बतलाकर रोग के सामान्य कारण, आयुर्वेद की मूल भित्ति त्रिदोष तथा रोग परीक्षा की देशी-विदेशी विधि लिखी गयी है। औषधि-योजना, परिभाषा, अनुपान और पथ्यापथ्य का वर्णन कर पहला खण्ड समाप्त किया गया है। दूसरे खण्ड में औषधि-कार्य में प्रयुक्त होनेवाली वनस्पति 'खनिजद्रव्य' 'सिद्धौषधि वर्ग' रस भस्म आदि की निर्माण-विधि, क्काथ, चूर्ण, वटी, अवलेह आदि औषधि बनाने की विधि और प्रसिद्ध औषधियों के पाठ दिये गये हैं। औषधियों के प्रकरण में प्रसिद्ध आयुर्वेदिक औषधियों के अतिरिक्त यूनानी और अँग्रेजी दवाइयाँ भी लिख दी गयी हैं। जिससे पुस्तक की उपयोगिता अधिक बढ़ गयी है। क्योंकि इस समय भारत में आयुर्वेद के अतिरिक्त यूनानी और एलोपैथी का भी प्रचार है और उनकी जानकारी भी सर्व-साधारण को नहीं तो वैद्यों के लिये होना आवश्यक है। इसके बाद रोगों का पृथक्-पृथक् वर्णन और उनके उपाय लिखे गये हैं। जिनमें चिकित्सा-क्रम, अनुभूत प्रयोग (मुष्टियोग) और शास्त्रीय तथा यूनानी औषधियाँ बतलायी गयी हैं।

इस तरह यह पुस्तक घर-गृहस्थीवालों के लिये ही नहीं, बल्कि वैद्यक विद्यार्थियों और वैद्यों के लिये भी उपयोगी हुई है। पुस्तक को मैंने उलट-पुलटकर ही देखा है। इसलिये सम्भव है कि इसके वर्णनात्मक विषय कहीं-कहीं आलोच्य हों या विवेचना में कहीं कमी रह गयी हो; किन्तु यह विषय शास्त्रालोचन करनेवालों का है। सर्व-साधारण से जिन बातों का सम्बन्ध है वे बातें आवश्यकतानुसार ही नहीं, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक दी गयी हैं। आशा है, पुस्तक का समाज में अच्छा प्रचार होगा, जिससे लेखक और प्रकाशक का उद्देश्य सिद्ध हो और उनका उत्साह बढ़े। लेखक का उद्योग और परिश्रम सराहनीय और धन्यवाद-योग्य है।

शुद्ध भाद्र शुक्ल २ }
संवत् १९९३ वै० }

जगन्नाथप्रसाद शुक्ल

ॐ नमः श्री-श्री गुरवे

लेखक की ओर से

चरक-संहिता में कहा है कि यह आयुर्वेद नित्य है; इसकी उत्पत्ति कभी हुई है, यह कभी नहीं था; ऐसा सुना नहीं जाता। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब को यह आयुर्वेद पढ़ना चाहिये। प्राणियों का भला करने के लिये ब्राह्मणों को, अपनी रक्षा के लिये क्षत्रियों को और जीविका उपार्जन करने के लिये वैश्यों को, अथवा धर्म, अर्थ, काम रूपी पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिये सब पुरुषों को सामान्य रूप से आयुर्वेद पढ़ना चाहिये।*

चूँकि आयु की परम्परा अनन्त काल से चली आरही है, इसका विच्छेद कहीं नहीं हुआ, इसी से हम आयुर्वेद को नित्य कहते हैं। यही कारण है कि जङ्गली जातियों में, जङ्गली पशुओं में, यह आयुर्वेद किसी न किसी स्वाभाविक रूप में परम्परा से चलता आता है। उनको ज्ञात है कि इस प्रकार का होने पर उनको क्या करना है। कुत्ते को मालूम है कि पेट खराब होने पर, कोई बुरी वस्तु खा लेने पर, घास आदि खाकर वमन कर देना चाहिये। जो प्रकृति या परमात्मा बच्चों को यह सिखाता है कि स्तन किस प्रकार से चूसना चाहिये, वही प्रकृति या परमात्मा पशुओं को यह बताता है कि जख़्म होने पर उसको जीभ से चाटना चाहिये।

यदि हम प्रकृति को अपनाये रखते, उससे दूर न हट जाते तो शायद हमको इस प्रकार की वा इससे बड़ी पुस्तकों की तथा वैद्य या डाक्टरों की ज़रूरत न पड़ती; परन्तु दौर्भाग्य से हम प्रकृति से बहुत दूर हट गये; इतने दूर हो गये हैं कि हम प्रकृति को भी भूल गये। हम विकृति को प्रकृति मान बैठे, और जो लोग प्रकृति के उपासक हैं उनको हम गँवार, देहाती और अशिक्षित कहते हैं और अपने को नागरिक, सभ्य और शिक्षित बताते हैं। परन्तु वास्तव में हम गुलाम और वे स्वतन्त्र हैं। हमको हर समय शरीर के लिये किसी न किसी डाक्टर या हकीम का मुहताज रहना पड़ता है, हमारा उनके बिना जीना दूभर हो गया है। यह गुलामी अब इतना घर कर चुकी है कि ज़रा सा ज़ुकाम होने पर या ज़रा-सी खरोंच लगने पर तुरन्त डाक्टर के पास दौड़ना पड़ता है, जब कि इन छोटी-सी बातों के लिये हम स्वयं उपचार कर सकते हैं और चिकित्सकों के भारी बिलों से बच सकते हैं।

---

* देखिये चरक-संहिता सूत्र-स्थान, अ० ३०

इसके अतिरिक्त यदि हमको जीवन सम्बन्धी साधारण बातों का परिज्ञान भी हो जाय, तो बहुत-सी होनेवाली शिकायतों से बचा जा सकता है। हमको दुःख है कि आजकल की स्कूली शिक्षा जहाँ हमको प्रकृति से दूर ले जाती है, वहाँ पर इन साधारण बातों में कुछ भी ज्ञान नहीं कराती। एक एम० ए० पास विद्यार्थी को यह भी ज्ञात नहीं कि उसको भोजन क्यों चबाकर खाना चाहिये, उसको क्यों ठोस भोजन अधिक खाना चाहिये, अथवा कपड़ों में आग लगने पर उसे क्या करना चाहिये। ये ऐसी बातें जो नित्य प्रति हमारे घर में, हमारे व्यवहार में आती हैं, जिनको जानना हमारे लिये नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ये बातें अब हमारे घर का, हमारे जीवन का अङ्ग बन गई हैं। यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि जिस घर में परब्रह्म परमात्मा का अंश रहे उस घर के विषय में हम कुछ न जानें उसको किस प्रकार से अच्छा रख सकते, यह हमको ज्ञात न हो; उसके टूटने पर साधारण मरम्मत किस प्रकार से की जाय, इसका हमको ज्ञान न हो। इस दृष्टि से यह परिश्रम किया है। इस पुस्तक में यथा-शक्ति यही प्रयत्न किया है कि इसके नुस्खे अमीर और ग़रीब दोनों के लिये उपयोगी हो सकें; साधारण गृहस्थ या साधारण शिक्षित व्यक्ति इसको समझकर इससे लाभ उठा सकें।

हमारे हिन्दी-साहित्य में सम्भवतः इस विषय पर कोई पुस्तक नहीं है। अँग्रेज़ी में मूर साहब की लिखी फैमिली मेडिसिन भारत में बहुत प्रचलित है। इसके अतिरिक्त 'लायब्रेरी ऑफ़ हेल्थ' [मूल्य ६५)] भी तथा 'होम डाक्टर' आदि कई पुस्तकें हैं। गुजराती में भी इन्हीं पुस्तकों को देखकर इनके आधार पर तथा आर्ष वैद्यक के ग्रन्थों के आधार पर 'घर वैद्दु' नामक पुस्तक राजमान्य राजश्री स्वर्गीय वैद्य जटाशंकर लीलाधरजी ने तैयार की थी; उसका बहुत प्रचार हुआ। गुजरात में बहुत से वैद्य उसी से वैद्यक कर रहे हैं।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री पण्डित रामनरेश त्रिपाठीजी ने इसी गुजराती पुस्तक के ढंग की पुस्तक हिन्दी में लिखने की प्रेरणा की। उन्हीं की प्रेरणा से यह श्रम किया गया है। इसमें यथा-सम्भव गुजराती, बँगला, हिन्दी और संस्कृत की पुस्तकों से सहायता ली गई है; जिसकी तालिका पीछे दे दी गई है। इन सब प्रकाशकों के तथा लेखकों के प्रति मैं हृदय से आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में एक दो आवश्यक बातें—

१. प्रस्तुत पुस्तक को लिखे लगभग ४-५ साल हो गये हैं। इस बीच में चिकित्सा शास्त्र के अन्दर पर्य्याप्त परिवर्त्तन हो गये हैं। कई नई दवाइयाँ निकल आईं और कई रोगों पर अधिक जोर दिया जाने लगा। उदाहरण के लिये मलेरिया के लिये अब प्लाजमो क्युनीन या एटेब्रीन का प्रयोग बहुत उत्तम सिद्ध हुआ। शहरों

में अनिद्रा रोग, हाई ब्लड प्रेशर का रोग बहुत बढ़ गया है, और व्यापक रोगों में गर्दन-तोड़ बुखार काफी फैलने लग गया है। इसी प्रकार की और भी कई आवश्यक बातें थीं जिनको इसमें संक्षेप से लिखा गया पर विस्तार से लिखने की आवश्यकता थी।

२. पुस्तक का लेखक प्रकाशक से पर्याप्त दूर बैठा हुआ था और प्रेस में आयुर्वेद जाननेवाला कोई था भी नहीं; इसलिये प्रेस की भूलें भी रह गई हैं। उसका मुझको दुःख है। परन्तु अब कोई उपाय भी और नहीं है।

३. मात्रा के विषय में—योग को बरतने से पहले आप रोगी के शरीर, देश, काल, अवस्था आदि को ठीक प्रकार से देख लें और फिर मात्रा का निश्चय कर लें। मात्रा को जानने के लिये जो भी साधारण नियम हैं, वे पुस्तक के पृष्ठ ३०० से ३०२ तक दिये हैं। चूँकि प्राचीन ग्रन्थों में मात्रा को अनिश्चित बताया है। प्राचीन ग्रंथो में दी हुई मात्रा आजकल के रोगियो के लिये बहुत अधिक होती है। इसलिये इसका बहुत कुछ विचार रोगी को देखकर उसके खान-पान आदि बातों के आधार पर करना चाहिये। अतः साधारण रूप में लिखी मात्राओं को पुनः रोगी के अनुसार मात्रा में बरतना चाहिये।

४. योगों के विषय में—यहाँ पर प्रायः जो योग दिये हैं, वे शास्त्रीय हैं, या जो वृद्ध गुरुजनों के अनुभव में आये, वे हैं। इन योगो में भी यदि कोई औषधि किसी रोगी के लिये ठीक न जँचे, तो आप उसको छोड़ सकते हैं; अथवा उसके स्थान पर नई औषधि मिला सकते हैं। साथ ही यदि कोई और उपयोगी औषधि आप इन प्रयोगों में जोड़कर बरतना चाहें, तो सुगमता से जोड़ सकते हैं।

५. मुष्टियोग या शास्त्रीय-औषधि—सब प्रामाणिक पुस्तकों से लिखी गई हैं। अनार्य-चिकित्सा तथा यूनानी प्रयोग भी इसी प्रकार के दिये हैं, जो अपनी प्रामाणिकता, अपने गुणो के लिये उत्तम हैं, साथ ही शहर या देहात में सब स्थानो पर मिल सकें। यदि इनमें से कोई एक-दो वस्तुयें न भी मिले, तो भी सुगमता से आप प्रयोग का उपयोग करके लाभ उठा सकते हैं।

अन्त में पाठक-वृन्द से यह विनती करता हूँ कि आपको इसमें जो अच्छा लगे, वह रख लीजिये और मेरी त्रुटियाँ मुझको वापस कर दीजिये। उनका संशोधन करके मैं फिर आपकी सेवा में भेज दूँगा। इस प्रकार परस्पर आदान-प्रदान ही से दोनों का मंगल होगा, यही भगवान कृष्ण का उपदेश है। *

अत्रिदेव गुप्त

---

*"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ"। गीता

पुस्तकों की तालिका
जिनसे इस पुस्तक के लिखने में सहायता ली गई है—

सांख्य-कारिका
हमारे शरीर की रचना—भाग १, २
घर वैद्दु [गुजराती]
हाईजीन एण्ड पब्लिक हेल्थ—जे० पी० मोदी कृत
सुश्रुत-संहिता
अनुभूत-चिकित्सा-सागर
चरक-संहिता
क्लीनिकल मेडिसिन
परिभाषा-प्रदीप
आयुर्वेद-संग्रह [बँगला]
फैमिली मेडिसिन—मूर-कृत
मेटेरिया मेडिका—घोष-कृत
आयुर्वेद-सोपान [बँगला]
रस-तरंगिणी
सिद्ध भैषज्य-मणिमाला
तिब्बे अकबर
मैनेजमेंट ऑफ़ चिल्ड्रन—वर्च-कृत
डिजीज़ ऑफ़ वुमन
जीवन-रहस्य [गुजराती]
लेक्चर्स आन इंग्लिश मेडिसिन—डाक्टर राधाकृष्ण
योग-रत्नाकर
रसेन्द्र-सार-संग्रह

प्रकरण दूसरा

प्रकरण तीसरा

प्रकरण चौथा

प्रकरण पाँचवाँ

प्रकरण छठा

प्रकरण सातवाँ

प्रकरण आठवाँ

प्रकरण नवाँ

प्रकरण दसवाँ

दूसरा खंड

औषधियाँ

वनस्पति-वर्ग—अकरकरा, अखरोट, तेल निकालने की विधि, अगर, अगस्त, अपामार्ग, अजमोदा, उड़द, अतीस, अफ़ीम, अमर-बेलि, अम्लवेतस, अर्जुन-वृक्ष, अडूसा, अरलु, अरणी, अरीठी, अहालिम, अलसी, आक, अंकोल, आर्द्रक, अम्लिका, आँवला, आँबाहल्दी, आम, आवर्त्तकी, अश्मन्तक, अशोक, अश्वगन्ध, इंगुदी, इन्द्रजौ, इन्द्रवारुणी, ऊँट कटेरा, उन्दर-कानी, उपलसरी, उपलेट, उदुम्बर, इक्षुगन्धा (तालमखाना), एरण्ड, एला (इलायची), एलुवा, ईसबगोल, कचूर, कूठ, कड़वी तोरी, कड़वी तुम्बी, कटुनाही, कुटज, कटुकी, करवीर, काम्पोल्ल, कपूर, कपूर कचरी, कपूर मधुरी, कमल, करञ्ज, किरातक (चिरायता), काली जीरी, कलम्भ, करौंदा, कसौंदी, कुलत्थी, कठकरञ्जवा, काकड़ा-शृङ्गी, ककड़ी, कचनार, कुरंड, कत्था, कायफल, काला जीरा, कालीपाठ (पाठा), कीटमारी, कुकड़बेल (देवदाली), द्रोणपुष्पी (गोमा), कुलिंजन, चकमर्द, कुमारी, करीर, केसर, कोकम (वृक्षाम्ल), कैथ, कुष्मांड, कौंच, कङ्कोल, खेत पापड़ा, खसखस के बीज, ढाक, खदिरसार, खुरासानी अजवाइन, गोकर्णी (मूर्वा), गरमाला (अमलतास), गोभी (गोजिह्वा), नील, गिलोय (अमृता), गुग्गुल, गोंद, गुलाब के फूल, गुलबाँस, गोखुरू, गोरखमुंडी, गुड़मार, गोबाधारी लकड़ी, चन्दन, चणोठी (गुंजा), चमार दुधेली (कण्टकफला), चांगेरी, चित्रक (चीतामूल) चोपचीनी, जटामासी, जौखार, जवास, जामुन, जायफल, जावित्री, जीरा, जूही, (जाती), जेठीमधु (मुलहट्ठी), जहर कुचला, तकमरिया (कुठेरक), तज (दालचीनी), तमाखू, तमाल-पत्र (तेज-पत्र), तिल, तबाशीर (तुगाक्षीरी), त्रायमाण, तालीस-पत्र, तुलसी,

अँग्रेज़ी औषधियाँ

प्रकरण तीसरा

प्रकरण छठा

प्रकरण सातवाँ

आँख, कान, नाक, मुख और दाँत के रोग

प्रकरण आठवाँ

प्रकरण नवाँ

प्रकरण दसवाँ

प्रकरण ग्यारहवाँ

प्रकरण बारहवाँ

प्रकरण तेरहवाँ

घर का वैद्य

सृष्टि-विकास

"एतस्मात् किमिवेन्दु जालमपरं यद् गर्भवासस्थितम्,
रेतश्चेतयति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूत नानाङ्कुरम् ।
पर्य्यायेण शिशुत्व-यौवन-जरा-वेशैरनेकैर्वृतम्,
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथा-गच्छति ॥†"

—पञ्चदशी

परमपिता परमात्मा की बनाई हुई चीज़ों में सबसे अधिक सुन्दर, आश्चर्यकारक, श्रेष्ठ वस्तु यह दिव्यतनु वाला "पुरुष" है। इसका ऊपर का भाग स्वर्ण से (हिरण्यमय) बना हुआ है। इसलिये इसको 'हिरण्यमय' कहते हैं ('हिरण्यमयः कोशः'—अथर्ववेद)। और इस हिरण्यमय पुरुष को भली प्रकार जानने से परमपिता को भली प्रकार प्राप्त कर सकते हैं। इस स्वर्णमय पुरुष के ज्ञान कराने के लिए परम दयालु पिता ने अपना दिव्य ज्ञान वेद इस धरातल पर भेजा है। इसी पुरुष के उपभोग के लिये नाना प्रकार की वनस्पति, रंग-बिरंगे फूल, सुन्दर-रम्य पहाड़, नदी-नाले, मीठे स्वादिष्ट फल, गाने वाली चिड़ियाँ, नाचने वाले मोर बनाये हैं। इन चीज़ों के मनोहर रूप, इनका मीठा स्वाद "पुरुष" को सदा उस अनन्त शक्तिमान दयालु पिता का स्मरण दिलाता रहता है। इन चीज़ों की आश्चर्यकारक रचना इनको उत्पन्न करनेवाले की स्वभावतः पुरुष की प्रकृति को खींच रही है।

†इससे अधिक क्या विचित्रता हो सकती है कि गर्भाशय में रहनेवाला रेत-वीर्य, अनुभव करता है, उसमें हाथ, पाँव और सिर आदि अंकुर उत्पन्न होते हैं। क्रम से शिशु, युवा और वृद्धावस्था में से वह गुज़रता है। वह देखता भी है, खाता भी है, सुनता भी है, सूँघता भी है, और फिर चला जाता है, और फिर वापस भी आजाता है।

इनका ज्ञान उस परम कारुणिक 'पुरुष' परमात्मा के समीप पहुँचने का एक सरल मार्ग है।

इसी प्रकार इस शरीर की—अपने देह की—आश्चर्यकारक रचना का ज्ञान भी हमको उसी परम कारुणिक के समीप पहुँचाता है। इस पुरुष देह के अन्दर परमपिता ने सम्पूर्ण बाह्य जगत को समाविष्ठ कर रक्खा है। यथा—

> "यथा लोकस्य सर्गादि: तथा पुरुषस्य गर्भाधानम्,
> यथा कृतयुगमेवं बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनम्,
> यथा द्वापरं तथा स्थाविर्यम् यथा कलिरेव मातुर्यम्,
> यथा युगान्तस्तथा मरणम्।" चरक।

"जिस प्रकार बाहर जगत में सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पुरुष का गर्भाधान होता है। जिस प्रकार सत्ययुग है, उसी प्रकार बाल्यावस्था, जिस प्रकार त्रेता उस प्रकार यौवन, जिस प्रकार द्वापर उसी प्रकार बुढ़ापा, और जिस प्रकार कलियुग उसी प्रकार मृत्यु।"

इसलिये इस शरीरमय पुरुष को समझने से हम बाह्यजगत का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इस ज्ञान से अपने दुःखों का भी अन्त कर सकते हैं। क्योंकि सब प्रकार के कायिक अथवा मानसिक दुःखों का मूल कारण अज्ञान है। और सब प्रकार के अज्ञानों में शरीर सम्बन्धी ज्ञान का अभाव सबसे अधिक क्लेश का कारण है। क्योंकि जिस घर में यह "अंगुष्ठमात्र पुरुष" रहता है उसी घर को हम भली प्रकार न जानें, उसमें [illegible] चीजों को न पहचानें, उनका भली प्रकार उपयोग न कर सकें, तो [illegible] शर्म की बात क्या हो सकती है?

इस शरीर-ज्ञान के लिये सबसे सरल स्वाभाविक मार्ग बाह्य स्थूल [illegible] ज्ञान है। बाह्य जगत को भली प्रकार समझकर हम अपने शरीर को भी पूर्ण रूप से जान सकेंगे; क्योंकि दोनों की एकीभाव—समानता है। अतः सबसे प्रथम हमको सृष्टि-ज्ञान करना आवश्यक है।

———

सृष्टि-क्रम

पुरुषोऽयं लोकसंमितः यावन्तो हि लोके
भाव विशेषाः तावन्तः पुरुषे,
यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके
इति बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति ॥" चरक

प्रकृति का यह नियम है कि उसमें क्रमिक विकास होता है, यह नियम स्वाभाविक है। बड़ का बीज राई से छोटा होता है, वह धीरे-धीरे बढ़कर कालान्तर में एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार एक आम का फल कैरी से बढ़कर बड़ा आम बन जाता है। और फिर जब ये नष्ट होते हैं, या शीर्ण होकर समाप्त होजाते हैं, तो फिर अपने उसी वास्तविक रूप में समाप्त होते हैं। जिस प्रकार एक कुम्हार मिट्टी के कणों को इकट्ठा करके एक घड़ा तैयार करता है, और कुछ समय पश्चात् वह टूट जाता है और उसके छोटे कण बन जाते हैं, वे कण अपने असली रूप में आजाते हैं। अर्थात् वे फिर मिट्टी ही के कण बन जाते हैं। इसी से हम कहते हैं कि प्रकृति नष्ट नहीं होती; वह अनश्वर है।

इसी प्रकार वट-बीज एक विशाल वृक्ष को जन्म देकर अपने जैसे हजारों वट-बीज उत्पन्न करता है अर्थात् वह फिर अपने रूप में आजाता है।। इसमें भी उसकी प्रकृति नष्ट नहीं होती। केवल रूपान्तर अवश्य होजाता है।

यही नियम प्रकृति की अन्य वस्तुओं के साथ है। अर्थात् उनका प्रारम्भ छोटे रूप में होता है; धीरे-धीरे बढ़कर वे बड़ी होती हैं, और फिर जब कालान्तर में शीर्ण होती हैं तो फिर उसी प्रारम्भिक रूप में आजाती हैं। यह प्रारम्भ सूक्ष्मतम कण से होता है, और समाप्ति भी सूक्ष्मतम रूप में ही होती है। प्रारम्भ काल में सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतर, फिर सूक्ष्म, फिर पूर्वोत्तर बढ़ती-बढ़ती स्थूल रूप धारण कर लेती है। और फिर नष्ट होते समय स्थूलतम से स्थूलतर, स्थूल, सूक्ष्म, होती हुई सूक्ष्मतम में आकर समाप्त होजाती है। अर्थात् एक-एक अणु मिलकर "द्व्यणुक" बनाते हैं, और द्व्यणुक से त्रसरे-

गुक आदि उत्तरोत्तर स्थूल रूप बनता जाता है। और फिर नष्ट होने के समय त्रसरेणु से द्व्यणुक और फिर अणु बनकर समाप्ति होती है। और फिर इसी अणु से प्रारम्भ चलता है। इस प्रकार से यह सृष्टि-चक्कर चल रहा है।

प्राचीन आर्यों ने सृष्टि का विकास "प्रधान" से माना है। इसी प्रधान को सांख्य शास्त्र में "प्रकृति" माना है, और इसी को "अव्यक्त" शब्द से सुश्रुत में कहा है। इस अव्यक्त से २४ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। यथा—अव्यक्त से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियाँ तथा इनमें पञ्चतन्मात्र से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इनमें पञ्च-तन्मात्र—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—ये हैं—एकादश इन्द्रियाँ—श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, चक्षु, त्वचा, हाथ, पाँव, पायु, उपस्थ, वाणी और मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, और पिछली पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। और मन दोनों प्रकार का है, ज्ञान तथा कर्म दोनों धर्म वाला है। और पंच महाभूत—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश हैं। ये पञ्च महाभूत क्रमशः इस प्रकार से उत्पन्न होते हैं—शब्दतन्मात्र से आकाश—शब्द गुणवाला; और स्पर्शतन्मात्र से वायु—शब्द और स्पर्श गुणवाला; रूप तन्मात्र से तेज—शब्द, स्पर्श और रूप गुणवाला; और रस तन्मात्र से जल—शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणवाला; गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धवाली उत्पन्न होती है। अर्थात् मूल वस्तु का गुण उससे उत्पन्न होने वाले कार्य में आजाता है। इस प्रकार से ये २४ तत्त्व पूरे कियेजाते हैं।* संक्षेप से इन २४ तत्त्वों में कुछ तत्त्व कारण अर्थात प्रकृति;और कुछ कार्य्य अर्थात विकृति हैं। जैसे कि मिट्टी प्रकृति है,और घड़ा उसकी विकृति है। इसी प्रकार सूत प्रकृति है और वस्त्र विकृति है। इन २४ तत्त्वों में भी कोई पदार्थ प्रकृति हैं; कोई विकृति हैं और कोई प्रकृति और विकृति दोनों हैं तथा कोई न प्रकृति है न विकृति हैं। मूल प्रकृति—केवल कारण द्रव्य अर्थात् प्रकृति मात्र है। यह विकृति नहीं है। इसी को प्रधान, अव्यक्त और माया भी कहते हैं। महान्

*(१) प्रकृतेर्महान् ततो अहंकारः तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ सांख्यकारिका।

(२) तस्माद् गुण वृद्धि परे-परे। चरक।

(३) "भौतिकानि चेन्द्रियाणि, आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः ॥" सुश्रुत।

अहंकार और पञ्चतन्मात्र ये सात वस्तुएँ प्रकृति भी हैं और विकृति भी हैं। महान् अहंकार की प्रकृति है, और मूल प्रकृति अर्थात् प्रधान की विकृति है। इसी प्रकार अहंकार पञ्चतन्मात्रों की और इन्द्रियों की प्रकृति है; और महान् की विकृति है। पञ्चतन्मात्र पाँचों महाभूतों की प्रकृति २४ हैं और ये अहंकार की विकृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त १६ विकृतियाँ हैं यथा पञ्च महाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। ये सोलह वस्तुएँ किसी की प्रकृति नहीं; क्योंकि इन में से कोई भी किसी तत्व को उत्पन्न नहीं करता है इसलिये सोलह की सोलह विकृतियाँ गिनी जाती हैं। बाकी रहा पुरुष। यह पच्चीसवाँ तत्व है। यह न तो प्रकृति ही है और न किसी की विकृति ही है अर्थात् इससे न तो कुछ उत्पन्न होता है और न यह स्वयं उत्पन्न होता है।*

इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति और पुरुष दो भिन्न वस्तुएँ हैं। चरक में पञ्चमहाभूत और चेतना धातु इन छहों का अथवा चौबीस तत्वों को पुरुष के नाम से कहा है। इन दोनों का अर्थात् प्रकृति और पुरुष का संयोग किस प्रकार से और क्यों होता है—इस विषय में बहुत भेद है। यथा—

(१) स्वभाव—स्वभाव को मानने वाले आचार्यों का कथन है कि यह सब संयोग स्वभाव से ही होता है। जिस प्रकार कि काँटे में तीक्ष्णता का होना, चित्र-विचित्र पत्तियों का होना, गन्ने में मीठास, मिरच में कटुता, ये सब बातें स्वभाव ही से होती हैं। अतः प्रकृति का कारण स्वभाव ही है।

(२) ईश्वर—दूसरे आचार्य प्रकृति का कारण ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर ही पृथ्वी, पर्वत, जन्तु, प्राणी, स्वर्ग और नरक का कारण है। मूर्ख प्राणी अपने सुख दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा ही से वह स्वर्ग या नरक में जाता है।

(३) यदृच्छा—जो जिस-जिस से उत्पन्न होना चाहता है, वह स्वयं होजाता है, कोई किसी को उत्पन्न नहीं करता। जिस प्रकार तृण और अरणी के संयोग से आग उत्पन्न होती है।

(४) नियति—पूर्व-जन्म-कृत पाप-पुण्य के फल-स्वरूप ही इस जन्म में फल मिलता है।

(५) परिणाम—प्रधान ही महत, अहङ्कार आदि रूपों में बदलता

*मूल प्रकृतिरविकृति महदाद्याः प्रकृति विकृतियः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति न विकृतिर्पुरुषः॥ सांख्य कारिका

हुआ इस सम्पूर्ण प्रकृति का निमित्त बनता है, यह परिणामवादी आचार्य मानते हैं।

संक्षेप में, ये २४ तत्त्व अव्यक्त से व्यक्त रूप में उगते हैं, उस समय इनमें रज और तम का संयोग होता है। पुनः जब ये तत्त्व छिन्न-भिन्न होते हैं, उस समय फिर व्यक्त अवस्था से अव्यक्त रूप में चले जाते हैं। इस प्रकार से यह एक चक्कर चलता जाता है।

पुरुष प्रकृति से भिन्न वस्तु है; क्योंकि प्रकृति और पुरुष के गुण धर्मों में बहुत अन्तर है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है अर्थात् उसमें सत, रज और तम इनका योग होता है। परन्तु पुरुष में इनका कुछ सम्बन्ध नहीं। दूसरी बात यह है कि प्रकृति एक संघातमय तत्त्व है जो सत्व, रज, तम से बना है। संघात, सदा परार्थ—दूसरे के उपभोग के लिए—होता है। जिस प्रकार पलँग की प्रत्येक वस्तु मिलकर दूसरे के उपभोग के लिए शय्या को बनाती है उसी प्रकार इन चौबीस तत्त्वों से बनी हुई वस्तु किसी दूसरे के उपभोग के लिये ही होनी चाहिये।

जिस प्रकार जड़ वस्तु रथादि स्वयं बिना सारथि के इष्ट मार्ग पर नहीं चल सकते; उसी प्रकार इन चौबीस तत्वों से बना हुआ यह जड़ शरीर भी पुरुष रूपी सारथि के बिना नहीं चल सकता। इसीलिए सांख्य-शास्त्र में पुरुष को अधिष्ठाता भी कहा है। तीसरी बात यह है कि भोग्य और भोक्ता ये दोनों वस्तुएँ पृथक्-पृथक् होती हैं। पुरुष भोक्ता है और जगत् उसका भोग्य है। यदि ये दोनों वस्तुएँ एक दूसरे से अलग न हों तो इनमें भोग्य और भोक्ता का सम्बन्ध नहीं रहता। चौथी बात यह है कि शास्त्रों की प्रवृत्ति मोक्ष के लिये है। यदि पुरुष का शरीर से अलग होना असम्भव होता, अथवा ये दोनों वस्तुएँ एक ही होतीं, तब शास्त्रों की प्रवृत्ति व्यर्थ हो जाती। क्योंकि किसका मोक्ष होता? इसलिये पुरुष को प्रकृति से भिन्न माना जाता है।

पुरुष और प्रकृति का संयोग केवल दर्शन के लिये अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिये होता है। पुरुष प्रकृति (प्रधान) से मिलकर प्रकृति को और उसके कार्य्यों को देखता है। एक तरह से वह प्रकृति का भोग करता है। जिस प्रकार कि बच्चे को बढ़ाने के लिये माता के स्तनों में अचेतन—जड़ दूध की प्रवृत्ति होती है; ठीक उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिए इस जड़-प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्ति होती है। और जिस प्रकार एक

अभिनेत्री रंगमञ्च पर आती है, अपना काम दिखाती है और पीछे से चली जाती है; उसी प्रकार यह प्रकृति भी द्रष्टा पुरुष को अपना अभिनय दिखाकर निवृत्त होजाती है। प्रकृति नाना उपायों से पुरुष का उपकार करती है। इस उपकार के बदले में वह पुरुष से कुछ भी प्रत्युपकार नहीं माँगती।

जिस प्रकार एक अन्धा और दूसरा लँगड़ा ये दोनों व्यक्ति मिलकर अपना काम बना ले जाते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रधान और पुरुष मिलकर अपना काम साध लेते हैं। इनमें पुरुष अकर्ता—क्रियारहित, पंगु है और प्रकृति अन्धी परन्तु क्रियाशील है। इससे दोनों का काम बन जाता है।

पुरुष ही जब शरीर-पिञ्जर में बद्ध होजाता है, तब इसको जीवात्मा, साक्षी, द्रष्टा, अकर्त्ता आदि नामों से कहा जाता है। यह विभु है। ये अनन्त हैं। यदि ये सब एक होते तो सब का एक ही साथ जन्म और सब की एकही साथ मृत्यु होती। सब पुरुष एक साथ ही गति करते। इसके अन्दर एकही समान गुण होता है। परन्तु नहीं; कोई सत्त्वगुणी है, कोई रजोगुणी है।

कुछ दार्शनिक इस शरीरस्थ "आत्मा" को प्रकृति और पुरुष से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार तीन वस्तुयें अनादि हैं। परन्तु शरीरस्थ आत्मा और पुरुष के अन्दर बहुत कुछ समानता है। दोनों अनादि हैं, दोनों अनन्त हैं। शरीरस्थ आत्मा का नाम जीव है।†

प्रकृति—सत्व, रज और तम इन तीन वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न होती है। इनमें सत्व हल्का और प्रकाशक है। रज उत्तेजक और चल है। तम भारी और रोकने वाला है। सत्व हल्का है इसलिये सत्व वाले पदार्थ अथवा सत्वबहुल सृष्टि ऊपर रहती है। जिनमें रजबहुल होता है वे चंचल और अधिक क्रियाशील और उत्तेजित रहते हैं। रज चंचल होने से सत्व को चलाता रहे, यदि इसके रोकने के लिये तम जैसी भारी वस्तु न हो। रज का स्थान तम और सत्व के मध्य में है। तम भारी और रोकने वाला है इसलिये तम की अधिकता होने से भारीपन और आलस्य रहता है। तम का स्थान नीचे—सबसे नीचे है।‡ जिस प्रकार बत्ती और तेल दोनों

†पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदा सुखी "सत्यार्थ प्रकाश"। शरीर रूपी पिंजर में बँधी हुई आत्मा जीव है, और मुक्त होने पर सुखी—परब्रह्म है।

‡(१) ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्य गुणवृत्तिस्थाः अधोगच्छन्ति भारत॥ गीता—

अग्नि के विरोधी हैं, परन्तु दोनों का संयोग प्रकाश को उत्पन्न करता है, अथवा जिस प्रकार शरीर को धारण करनेवाले वात, पित्त और कफ परस्पर विरोधी गुण रखते हुये भी मिलकर इस शरीर की रक्षा करते हैं, ठीक उसी प्रकार ये तीनों तत्त्व भी परस्पर मिलकर कार्य करते हैं। कहा भी है—

"अन्योन्य मिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः।
रजसो मिथुनं सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः॥"
"तमसश्चापि मिथुने ते सत्व रजसी उभे।
उभयो सत्व रजसो मिथुनं तम उच्यते॥"

शरीर को बनाने के लिये इन चौबीस तत्वों के अन्दर जो परिवर्तन होते हैं उनको ठीक-ठीक समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। मुख्यतः पञ्चमहाभूत और चेतनाधातु के संयोग होने से यह "पुरुष" उत्पन्न होता है। इसको उत्पन्न करने के लिये सबसे प्रथम आकाश के अन्दर गति होती है और फिर क्रमशः यह गति वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में संचरित होती है। इस शरीर के अन्दर भी सत्व, रज और तम इन तीन तत्वों का योग रहता है; क्योंकि अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है। एक दश इन्द्रियाँ और दूसरा मन, ये ग्यारह। दूसरी प्रकार की सृष्टि पञ्चतन्मात्र रूप है। इन्द्रियों की उत्पत्ति सत्व गुणी अहङ्कार से होती है और पञ्चतन्मात्र तमो गुणी अहङ्कार से उत्पन्न होता है। रज उत्तेजक होने से दोनों को प्रवृत्त करता है। इसी से वह दोनों में मिला है। इन तत्वों के परस्पर आंशिक भेद के कारण ही इन्द्रियों में परस्पर भेद हो गया है।

इन चौबीस तत्त्वों में महत् से लेकर जितना कार्य-जगत है, वह सब "व्यक्त" है और मूल प्रकृति "अव्यक्त" है। यह मूल प्रकृति "अव्यक्त" इसलिये है कि ज्ञान के साधन इन्द्रियों से इसका प्रत्यक्ष नहीं होता, और अन्य कार्य जगत का अनुभव होता है। कई बार वस्तु उपस्थित होते हुये भी कुछ कारणों से अनुभव नहीं किया जा सकता। यथा—किसी वस्तु के बहुत दूर होने से, बहुत ही समीप आँख के साथ लगा होने से, साधन-इन्द्रिय के नष्ट होने से, वस्तु के अति सूक्ष्म होने से, पानी या वायु के कणों को अति सूक्ष्म होने से, अनुभव नहीं कर सकते। इस प्रकार की वस्तु की उपस्थिति

(२) ऊर्ध्वं सत्व विशालः तमो विशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥ सांख्य

अथवा अनुपस्थिति अनुमान से उसका कार्य देखकर की जाती है। जिस प्रकार दूर से धुआँ देखकर यह मान लिया जाता है, कि कहीं पर आग लगी है। इसी प्रकार यहाँ पर भी व्यक्तरूपी कार्य-जगत को देखकर अव्यक्त रूपी प्रधान का अनुमान किया जाता है। इनमें व्यक्त, कार्य-जगत, वह किसी न किसी का कारण बनता है, इसीलिये वह सदा बना नहीं रहता। और यह कार्य-जगत सब स्थानों में व्यापक नहीं है और सदा कार्य करता रहता है। इसके अवयव भी हैं, परन्तु अव्यक्त इन सबसे भिन्न है। अव्यक्त, व्यक्त जगत का कारण है, परन्तु किसी का कार्य नहीं है। यह उत्पादक गुण व्यक्त और अव्यक्त दोनों में समान है।

जो वस्तु परिणामी होती है, वह किसी वस्तु का असली कारण नहीं बन सकती। पर्वत, वृक्ष, धातु आदि बाह्य जगत और मन, बुद्धि, अहंकार आदि आभ्यन्तरीय जगत परिणामशील हैं। इसलिये ये किसी वस्तु का मूल कारण नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त इन सब के अन्दर समन्वय—एक समान गुण मिलता है; जिस प्रकार सोने के भिन्न-भिन्न आभूषणों में स्वर्णत्व समान रहता है, इसी प्रकार सब गौओं में गात्व जाती रहती है। जाति वाली वस्तु मूल कारण नहीं बन सकती, मूल कारण एक ही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त "कारण" शक्तिवाला होना चाहिये। जिस प्रकार तेल का कारण तिल शक्तिवाला है, इसलिये उससे तैल निकल जाता है, रेत में वह शक्ति नहीं, इसलिये उससे तेल भी नहीं निकलता है। इसके साथ में कारण और कार्य का विभाग होना आवश्यक है, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। परन्तु कार्य में कारण के गुण आते हैं, इसी से कुछ गुणों में दोनों वस्तुयें मिलती हैं। इसी प्रकार यहाँ पर भी "अव्यक्त" नाना प्रकार के सब नाना जगत का कारण है। और यह सब जगत उसका कार्य है।

दोनों के अन्दर कार्य और कारण में (व्यक्त और अव्यक्त में) कुछ समानतायें हैं। यथा—दोनों ही प्रसवधर्मि उत्पन्न करनेवाले हैं, दोनों ही त्रिगुणी—सत्त्व, रज और तमवाले हैं। दोनों ही अचेतन जड़ हैं। इस त्रिगुण गुण के परिणाम से ही यह सब कार्य-जगत बनता और बिगड़ता है। सत्त्व, रज और तम परिणामित होकर इस कार्य-जगत को बनाते हैं, और ये ही पुनः परिणामित होकर इसको तोड़ते हैं।

जिस प्रकार एकही आकाश से गिरा हुआ पानी स्थान और

आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न रूपों या नामों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार इस त्रिगुण वाले अव्यक्त के परिणाम से यह सब कार्य-जगत् व्यक्त रूप में बदल जाता है, और नष्ट होने पर पुनः उसी अव्यक्त में आकर "लय" होजाता है। यह अव्यक्त ही मूल प्रकृति है। इसी से सब कारण का विकास है। यह मूल प्रकृति कभी नष्ट नहीं होती है, अनश्वर है।

इस अचेतन प्रकृति के साथ जब "पुरुष" का योग होता है, तब वह भी चेतन होजाती है और कार्य करने लगती है। उस समय यह मालूम होता है कि यह सब कार्य "पुरुष" कर रहा है। परन्तु वास्तविक कार्य पुरुष, बुद्धि, अहङ्कार आदि कर रहे होते हैं। "पुरुष" तो केवल साक्षी के रूप में, या मध्यस्थ बनकर रहता है।* इसी से सुख-दुःख का मान और "मैं" का अभिमान इन तत्वों में होता है, पुरुष में नहीं। पुरुष के जाने से यह सब खेल बिगड़ जाता है, उसके आने से फिर चल पड़ता है। शरीर की प्रकृति के ये तत्व हैं। इन तत्वों का समझना शरीर को समझनेवाले के लिये आवश्यक है। इसी से यह सृष्टि-क्रम दिया गया है।

आयुष्य और मृत्यु

"शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥" चरक

पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश तथा चेतना इन छः धातुओं के संयोग का नाम 'पुरुष' है। जिस समय रज और शुक्र ये दो धातु परस्पर मिलते हैं उस समय पूर्व कर्मों के कारण यह 'पुरुष' भी उनमें आकर मिल जाता है। इनमें रज आग्नेय गुणी (सूर्य्य) और शुक्र सौम्य गुणी (चन्द्रमा) है। इन दोनों के मिलने ही से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है। इसीलिये कहा जाता है कि "अग्निषोमीयम् जगत्"।

जिस प्रकार पञ्चभूतों का संयोग होता है उसी प्रकार कुछ समय बाद इनका वियोग भी होता है। घड़ा मिट्टी से बनता है और फिर मिट्टी में ही मिल जाता है। इसी प्रकार यह 'पुरुष' पञ्चमहाभूतों के संयोग-समय में आता है और वियोग होने पर चला जाता है। आने का नाम जन्म या संयोग और जाने का नाम मृत्यु या भंग (वियोग) है। इन दोनों के बीच के समय का नाम 'आयुष्य' है।

*साक्षी चेतः केवलो निर्गुणश्च॥"

प्रत्येक वस्तु की आयुष्य कितनी है अथवा कितनी होनी चाहिये; इसके लिये कोई विशेष नियम नहीं है। ज्योतिष-शास्त्र के अन्दर मनुष्य और हाथी की आयु एक समान मानी है। जिसका कि समय १२० वर्ष और ५ दिन है। इसी प्रकार और प्राणियों की भी आयु का विचार किया गया है। जन्म और मृत्यु यह नैसर्गिक अर्थात् स्वाभाविक नियम हैं। ये दोनों संसार के स्वभाव हैं। इनसे बचना मनुष्य के लिये असम्भव है। बाकी आयुष्य को बढ़ाना अथवा कम करना यह मनुष्य के अपने हाथ में है। साधारणतः यदि एक बैल गाड़ी को उचित रीति से चलाया जाय, उसको ठीक रास्तों से ले जाया जाय, तो उसका नाश होगा तो जरूर, परन्तु अपने समय पर होगा। यदि इसी गाड़ी को अनुचित रास्तों से ले जाया जाय तो कल टूटने की अपेक्षा वह आज ही टूट जायगी। इसी प्रकार यह अपना आयुष्य यदि सम्यक् प्रकार से इस जीवन-रूपी गाड़ी को चलाया जाय तो अपने समय पर घिसकर समाप्त होजायगी। क्योंकि समाप्त होना (टूटना) इसका धर्म है। परन्तु यदि इस पर ध्यान न देकर अनुचित उपायों से इसका वाहन किया जायगा तो समय से पूर्व ही इसकी शान्ति होजाती है। इसी आयुष्य की रक्षा के उपाय बताने के लिये इस आयुर्वेद की रचना की गई है।

दूसरों का विचार है कि मृत्यु निश्चित है। अर्थात् जो भी आदमी मरता है वह अपनी आयुष्य भोगकर ही मरता है। जब तक उसकी आयु शेष रहती है तब तक तलवार के घाव भी उसकी जान के दुश्मन नहीं बनते हैं। आयु के शेष न होने पर तृण का घाव भी मौत का कारण बन जाता है। इसलिये मृत्यु निश्चित है।*

साधारणतः जो मृत्यु नियत समय से पूर्व होती है उसको अकाल मृत्यु कहते हैं और जो नियत समय पर होती है उसे काल मृत्यु कहा जाता है। जिस प्रकार कि वृक्षों में कई बार समय से पूर्व या पीछे पुष्प या फल आ जाते हैं; अथवा वर्षा अपनी ऋतु के सिवाय दूसरी ऋतु में भी होती है उसी प्रकार समय के बिना भी मृत्यु हो जाती है। यदि आयुष्य के बढ़ाने का

---

*(१) एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः काल संज्ञस्तु शेषा आगन्तवः स्मृताः॥ सुश्रुत

(२) इहाग्निवेश। भूतानामायुः युक्तिमपेक्षते॥ चरक

कोई उपाय न होता, तो जप, तप, प्रायश्चित्त अथवा आयुर्वेद आदि का विधान व्यर्थ ही था। पाप करने से आयु का क्षय होता है और पुण्य करने से आयु की वृद्धि होती है यह मान्यतः चिरकाल से चली आती है। साथ ही उत्पत्ति और विनाश का नियम भी स्वाभाविक ही है। पुरुष और प्रधान का कुछ समय के लिये संयोग होता है और फिर कुछ दिनों बाद उनका वियोग हो जाता है। प्रकृति अपने कारण के अन्दर जाकर उसी में लय होती है। जिस समय पाँच भूत ही शेष रहते हैं और पुरुष अलग हो जाता है, उसका नाम मृत्यु या पञ्चत्व है।

शरीर-स्थान

"पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्त्तमानं षड़ाश्रयं षड्गुण योगम्।
तं सप्तधातु त्रिमलं द्वियोनीं चतुर्विधाऽहारमयं शरीरम्॥" गर्भोपनिषद्*

"शरीर मन और आत्मा के संयोग का नाम "पुरुष" है। पुरुष के साथ दुःख का संयोग होने से व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। यह संयोग दो प्रकार का है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक व्याधियाँ शारीरिक उपायों से; मानसिक व्याधियाँ शारीरिक तथा समाधि सान्त्वना आदि उपायों से शान्त होती हैं। अर्थात् यह शरीर रोगों की तथा चिकित्सा की अधिष्ठान भूमि है; इसलिये सबसे प्रथम "शरीर" को जानना चाहिये।"

शरीर को जानने के दो उपाय हैं—एक बाह्य और दूसरा अभ्यन्तर। बाह्य उपाय पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अन्य साधनों की सहायता से जानना है। और दूसरा अभ्यन्तर उपाय ज्ञान-चक्षु द्वारा योगियों से ही साध्य है। हम जैसे स्थूल बुद्धि वालों के लिये प्रथम उपाय ही श्रेयस्कर और सरल है।"

प्रत्यक्ष शरीर

शुक्रशोणितंगर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्छितं "गर्भ" इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितंवायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपक्लेदयन्ति, पृथिविसंहन्ति,

---

* यह शरीर पंच महाभूतों से मिलकर बना है, पाँच भूतों में रहता है, इसके छः आश्रय हैं, इसलिये छः गुणों वाला है, सात धातु, तीन मल, दो योनि और चार प्रकार का आहार इस शरीर को बनाता है।

पंच महाभूत—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश।

आकाशं विवर्धयति। एवं विवर्धित स यदा हस्तपाद जिह्वानितम्बादिभिरङ्गै-रूपेतस्तदा "शरीरं" इति संज्ञा लभते।" सुश्रुत।

"कामान्मिथुन संयोगे शुक्रशोणितयोगज:।
गर्भं संजायते नार्यां स जातो बाल उच्यते॥" शाङ्गधर

जिस प्रकार वट वृक्ष के सब उत्पादक गुण उसके कारण वट-बीज में रहते हैं, जिस प्रकार घड़े के सब गुण उसके कारण-भूत मृत्तिका में उपस्थित होते हैं: और जिस प्रकार नील वस्त्र का नीला-गुण उस वस्त्र को बनानेवाले तन्तुओं में है; ठीक उसी प्रकार इस मानव-देह के सब गुण-धर्म इसको बनानेवाले कारण में रहते हैं।

जिस प्रकार आम के अंकुर में आम्र फल के स्वाद, रूप, रस, गन्ध का पता स्पष्ट रूप से नहीं चलता, परन्तु कालान्तर में बड़ा होने पर उसके अन्दर आम्रफल के सब गुणों का प्रकाशन होता है; ठीक उसी प्रकार इस मानव-देह के कारण में भी कालान्तर में जाकर सब गुणों का आविर्भाव प्रकट होता है।

जिस प्रकार एक वट-बीज हजारों वट-बीजों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार एक अव्यक्त, अगोचर, परमात्मा, परब्रह्म ने इस जगत में हजारों मानव प्रकृतियाँ उत्पन्न कर दीं। और जिस प्रकार इस लौकिक जगत में द्वन्द्व नियम से वृद्धि होती है, उसी प्रकार परब्रह्म ने द्वन्द्व नियम से इस मानव सृष्टि का विस्तार किया। अर्थात् उसने "स्त्री" को उत्पन्न किया और उससे इस मानव देह का विस्तार किया।

इस मानव देह का निर्माण पंच महाभूत पृथ्वी, जल, वायु, तेज,

॥ पंच भूत—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, और शब्द, अथवा, नासिका, जिह्वा, आँख त्वचा और कान।

छः आश्रय—शिर, दो हाथ, दो पाँव, और मध्य भाग।

छः गुण— मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और रस।

सात धातु—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र।

दो योनि—आग्नेय और सौम्य, स्त्री (आग्नेय) और पुरुष (सौम्य) "अग्निषोमीयम् जगत्"

चार प्रकार का आहार—भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय। भक्ष्य रोटी आदि; चोष्य-गन्ने आदि; लेह्य-चटनी आदि; पेय-पानी।

तीन मल—सत्व, रज और तम; अथवा वायु, पित्त, और कफ।

आकाश और छठी चेतना धातु के संयोग से होता है। और ये छः धातुयें माता-पिता के शोणित और शुक्र द्वारा गर्भाशय में पहुँच कर गर्भ का निर्माण करते हैं। इसलिये इस मानव देह को "षडङ्ग" "छः अंगों वाला" कहा जाता है। यथा—शिर, कोष्ठ, दो पाँव और हाथ +। इसी प्रकार इन पंच महाभूतों के प्रतिनिधि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ भी (नासिका, जिह्वा, त्वचा, आँख और कान) इन महाभूतों के गुणों को (गन्ध, रस, स्पर्श, रूप और शब्द) ग्रहण करने के लिये इस शरीर में उत्पन्न होती हैं। जिनके द्वारा हम प्रत्यक्ष रीति से इन महाभूतों की उपस्थिति का ज्ञान कर सकते हैं। कार्य को देखकर कारण का ज्ञान हो जाता है।

जिस प्रकार एक स्फटिक ताल (Lens) को सूर्य के सामने रखकर उसके द्वारा रूई या तिनके को जला सकते हैं, परन्तु उस तिनके में सूर्य की किरणें स्पष्ट रूप में जाती नहीं दीखती, केवल दहन रूपी कार्य से उन किरणों के आगमन का अनुमान किया जाता है, और जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि को चन्द्रमा के सामने रखने से उसमें से पानी बहने लगता है, परन्तु उसके अन्दर चन्द्रमा की किरणें जाती हुई नहीं दीखती हैं, ठीक उसी प्रकार इस मानव देह में भी चेतना धातु शुक्र और शोणित के द्वारा जाती हुई नहीं दीखती। केवल उसके कार्य से हम उसकी उपस्थिति जान सकते हैं। प्रतिमास गर्भ में वृद्धि का होना और मृतगर्भ में वृद्धि का न होना इस चेतना धातु का सुगमता से ज्ञान करा देता है।

जिस प्रकार एक वट-वृक्ष की उत्पत्ति के लिये ऋतु, क्षेत्र, अम्बु और बीज इन चार वस्तुओं की आवश्यकता है, उसी प्रकार इस मानव देह की उत्पत्ति के लिये क्षेत्र—गर्भाशय, ऋतु—ऋतुकाल; अम्बु—रस, बीज—शुक्रबीज, इन चार वस्तुओं की आवश्यकता है। जिस प्रकार ठीक समय पर उत्तम क्षेत्र में, उत्तम समय पर बढ़िया बीज डाला हुआ और पानी से सिंचित होने पर कालान्तर में फलदायी होता है, उसी प्रकार ऋतुकाल में उत्तम गर्भाशय में उत्तम बीज का पुरोहण मातृ-रस से पुष्ट होकर कालान्तर में फलदायी होता है।‡

---

* "प्रजापतिः ईक्षाञ्चक्रे हन्ताऽस्मै प्रतिष्ठां कल्पयामीति। सस्त्रियं संसृजे, तंसृष्ट्वाऽधः उपास्त सोऽकामयत् बहुस्याम। प्रजायेय।

+ तच्च षडङ्गम्—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति ।। सुश्रुत

‡ ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद् विधिपूर्वकः।
ऋतु क्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्याद् अंकुरोयथा॥ सुश्रुत

ऋतु—जिस प्रकार प्रकृति में प्रत्येक बीज के बोने के लिये विशेष समय अपेक्षित होता है, उसी प्रकार इस मानव-बीज के लिये भी एक समय होता है, उसको साधारण भाषा में "ऋतु-काल" कहते हैं। इस समय में स्त्री-जाति के शरीर में परिवर्तन होता है। यह समय प्रत्येक स्त्री में भिन्न-भिन्न होता है, और प्रति २८वें दिन आता है। इस समय एक प्रकार का अशुद्ध रक्त उनके योनि-मार्ग से बाहर होता है, जो तीन या चार दिन तक जारी रहता है। इसका रंग और इसकी गन्ध प्रायः मैले दाँतों में से निकलते हुये रक्त के समान होती है। इसको यदि पानी में घोलें तो यह एकदम नहीं घुलता, इसमें कुछ तन्तु से दिखाई देते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र में इसका रंग खरगोश के रक्त के समान या लाख के पानी के समान बताया गया है।† तीन-चार दिन में जब यह रक्त बन्द होजाता है, उस समय स्त्री स्नान कर शुद्ध होती है, अर्थात् वह अब स्पर्श करने के योग्य होजाती है।

क्षेत्र—जिस प्रकार उर्वरा भूमि में बीज सुगमता से उत्पन्न होजाता है, उसी प्रकार गर्भाशयरूपी क्षेत्र के शुद्ध होने पर बीज भी सुगमता से उत्पन्न हो सकता है। जब तक ऋतु-दर्शन रहता है (अर्थात् तीन-चार दिन तक) तब तक क्षेत्र गर्भाशय भी अशुद्ध रहता है। इसलिए ऐसी अवस्था में बीज का प्ररोहण नहीं होसकता। जिस प्रकार बहते हुये नदी के पानी में डाली हुई रेत की मट्टी भी पानी की लहर के साथ बह जाती है, उसी प्रकार इस समय किया हुआ संयोग भी निष्फल होता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के रोगों को भी उत्पन्न कर देता है।¶

साधारणतः ऋतु और क्षेत्र ऋतुदर्शन के पन्द्रह दिन पश्चात तक गर्भ ग्रहण करने के लिये योग्य रहते हैं। उसके पीछे फिर धीरे-धीरे उनकी ग्रहण-शक्ति कम होजाती है। अर्थात् ऋतुदर्शन से गर्भाशय का अन्तःमुख खुलता है, जिससे कि बीज पुरुष-शुक्र उसमें प्रवेश कर सकता है और ऋतु-दर्शन के पन्द्रह दिन पीछे वह अन्तःमुख बन्द होजाता है। जिस प्रकार कि एक कमल का पुष्प सूर्य के निकलने के साथ खिलना आरम्भ करता है और सूर्यास्त के समय फिर बन्द होजाता है, और फिर दूसरे दिन खिलता है, इसी

† शशासृक् प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्त्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरंजयेत्॥ सुश्रुत

¶ आर्त्तव समय में किया हुआ सम्भोग पुरुष के शिश्न पर "कैंसर" जैसे व्रण को उत्पन्न कर देता है। इसके तीन रोगी मेरी आँखों से गुजरे हैं।

प्रकार गर्भाशय का मुख भी ऋतुकाल में खुलता है और फिर बन्द होजाता है। इसलिये मानव-जाति में ऋतुकाल ऋतुदर्शन के पन्द्रह दिन पीछे तक रहता है।

अम्बु--जिस प्रकार एक बीज को उसके पोषण के लिये पानी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस मानव-देह के गर्भ को भी इसकी आवश्यकता होती है। यह रस-पानी माता के शरीर से गर्भ के अन्दर पहुँचता रहता है। इसीसे उसका पोषण और वृद्धि होती रहती है। जिस प्रकार अति गरम या ठंडा पानी बीज को नुकसान पहुँचाते हैं, उसी प्रकार दूषित रस भी बीज को हानि करता है। अतः शास्त्र में इस समय के लिये विशेष निर्देष दिये हैं।§

बीज—यदि बीज में कीड़ा लगा हो या वह अपक्व हो, तो वह बोने के अयोग्य समझा जाता है। इसी प्रकार पुरुषबीज-शुक्र यदि दूषित हो अथवा कच्चा (सोलह साल की आयु से पहिले) होगा तो वह भी गर्भोत्पत्ति के अयोग्य समझा जाता है। इस प्रकार से अयोग्य बीज से या तो संतति उत्पन्न ही नहीं होगी; और यदि कदाचित हो भी गई तो देर तक जीवित नहीं रहेगी। अतः पूर्ण पका हुआ, विकार रहित शुक्र ही गर्भोत्पत्ति में कारण बन सकता है। शास्त्र ने उत्तम शुक्र की पहिचान-स्फटिक के समान, हल्की नीली उड़ती हुई चमक, मधुर गन्ध, स्निग्ध आदि शब्दों से बताई है। शुद्ध शुक्र इतना सान्ध्र और उज्ज्वल होता है कि वस्त्र पर पड़ा हुआ उसका दाग पानी से साधारणतया धोने पर नहीं जाता। और यदि उस शुक्र को हाथ में लेकर दिवार पर फेंकें तो वह वहीं रह जाता है, नीचे को नहीं बहता है। शुक्र की इस सान्ध्रता को कम करने के लिये ही (जिससे कि वह बह सके) परमात्मा ने उसके मार्ग में कुछ ग्रन्थियाँ बना दी हैं, जो कि शुक्र-प्रवाह के समय अपना रस इसमें मिलाकर इसको बहने योग्य तरल कर देती हैं।*

यह शुक्र पुरुष के अण्डकोषों से उत्पन्न होता है, और ये अण्डकोष इस पदार्थ को शरीर में बहते हुये रक्त से पृथक् कर लेते हैं। जिस प्रकार कि शरीर की अन्य ग्रन्थियाँ (निकण्ठ ग्रन्थि, उपवृक्क आदि) अपनी रचना विशेष के कारण रक्त से भिन्न-भिन्न पदार्थ बनाती हैं, उसी प्रकार ये अण्डकोष

§आर्त्तवकाल के पश्चात् और आर्त्तवकाल में स्त्री के अन्दर सम्भोग की इच्छा बहुत बढ़ जाती है।

*आयुर्वेद में शुक्र वृद्धि कारक औषधियों के तीन विभाग हैं। यथा—एक

भी जो कि प्रणाली-रहित ग्रन्थियों में एक हैं, कामेच्छा के उत्पन्न होने पर रक्त से शुक्र को पृथक् कर लेते हैं। और वैसे साधारणावस्था में शरीर को जीवन देनेवाले "ओज" नामक पदार्थ को उत्पन्न करके शरीर का पोषण करते हैं।*

कामेच्छा के उत्पन्न होने से जिस प्रकार श्वास-गति, नाडि-स्पन्दन और हृदय की धड़कन में अन्तर आ जाता है, उसी प्रकार अण्डकोष की ग्रन्थियाँ भी अपने अन्तःस्राव के उत्पन्न करने का कार्य छोड़कर बहिःस्राव को उत्पन्न करने लगती हैं। और जब फिर कामेच्छा से उत्पन्न अवस्थायें अपनी स्वाभाविक रूप में आ जाती हैं, तब पुनः वे अन्तःस्राव-ओज उत्पन्न करने लगती हैं। इससे बहिःस्राव को "शुक्र" शब्द से पहचाना जाता है और अन्तःस्राव को "ओज" शब्द से।

यह शुक्र देखने में तरल, चिकना और श्वेत रंग का जिसमें नीले रंग की कुछ झाँईं होती है, मीठी विशेष गन्धवाला होता है। सूक्ष्म दृष्टि से यदि अणुवीक्षण यंत्र-द्वारा इसको देखें तो इसमें एक प्रकार के कीटाणु दिखाई देते हैं जो तरल द्रव में अपनी पूँछ की सहायता से इधर-उधर हिल रहे होते हैं। इनके तीन भाग हैं-एक शिर, दूसरा ग्रीवा और तीसरी पूँछ। पूँछ इनको गर्भाशय में ऊपर की ओर जाने के लिये विशेष सहायता देती है। इसी की सहायता से ये योनि-मार्ग से गर्भाशय की ६ से ८ इञ्च तक की दूरी पूरी करके गर्भाशय में पहुँचते हैं-और वहाँ स्त्री कीट-डिम्ब से मिलकर गर्भ बनाते हैं।

ये कीट हल्के क्षारीय माध्यम में पाँच-सात दिनों तक उचित अवस्थाओं के रहने पर भली प्रकार से जीवित रह सकते हैं। परन्तु प्रतिकूल अवस्थाओं में, यथा-योनि-मार्ग में तीव्र क्षारीय या अम्लता के होने से शीघ्र

शुक्र की मात्रा बढ़ानेवाली; यथा—अश्वगन्धा, नागबला आदि। दूसरी शुक्र के क्षरण या तरलता बढ़ानेवाली; यथा—माष, कौंच के बीच। तीसरी जो मात्र और क्षरण दोनों को बढ़ावे; यथा—दूध।

*येनौजसावर्त्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः।
यहते सर्वभूतानां जीविते नात्रतिष्ठते॥ चरक

ही मर जाते हैं। अतः सन्तति-निरोध के नियमों में क्षारीय या तीव्र कृमिघ्न पदार्थों का उपयोग करना भी एक साधन बताया गया है। ये शुक्र-कीट पुरुष के वीर्य में बारह साल से पूर्व प्रायः नहीं मिलते और पचीस साल की आयु में इनका परिपाक होता है।

जिस प्रकार पुरुष में बाहर वृषण, जो कि बाहर दृश्यमान ग्रन्थियाँ हैं, उसी प्रकार स्त्रियों में उदर के अन्दर रहनेवाली "डिम्ब कोष" नाम की दो ग्रन्थियाँ दक्षिण और बाम पार्श्व में रहती हैं। ये भी वृषणों की भाँति प्रति मास एक डिम्ब को गर्भाशय में भेजती हैं। और यह डिम्ब गर्भाशय में पहुँचकर शुक्र-कीट को अपनी ओर खींचता है, जैसे चुम्बक लोहे को खींच लेता है। और यदि समय पर डिम्ब न पहुँचे तो शुक्र, और यदि शुक्र-कीट न पहुँचे तो डिम्ब नष्ट होजाता है और अगले ऋतुकाल में रज के साथ बाहर आ जाता है।

जिस प्रकार पतीली में पानी उबालते हुये, पतीली के अन्दर उसकी पेंदी में पानी के छोटे-छोटे कण बन जाते हैं और फिर धीरे-धीरे गरम होते हुये पानी की पृष्ठ पर आकर फूट जाते हैं; उसी प्रकार डिम्बकोषों में भरे हुये डिम्बों में से जो भी डिम्ब परिपक्व होता है वही गर्भाशय में पहुँचता है और अपना कोष वहीं डिम्बकोष में छोड़ आता है। यह कार्य रजोदर्शन के प्रारम्भ से लेकर उसकी समाप्ति की अवधि तक रहता है; अर्थात् बारह साल से लेकर पैंतालीस या पचास साल तक होता है।

कई बार दुर्भाग्य से ऐसा होजाता है कि डिम्ब गर्भाशय में न पहुँच कर प्रणाली ही में रह जाता है और शुक्र-कीट भी वहीं प्रणाली में पहुँच जाता है। जिससे गर्भ का विकास गर्भाशय में न होकर प्रणाली में होता है। इसको अस्वाभाविक रूप कहते हैं।

गर्भ का विकास—पंच महाभूत और चेतना इन छः धातुओं से बना हुआ गर्भ गर्भाशय में शनैः-शनैः बढ़ने लगता है। प्रथम मास के अन्त में इसका आकार एक छोटे से कीड़े की भाँति होता है और इसकी लम्बाई $\frac{1}{4}$ इञ्च से $\frac{1}{3}$ इञ्च तक होती है। इस समय इसमें अंगों का विभाग पूर्णतः अस्पष्ट रहता है, केवल मुँह के स्थान पर एक पतली रेखा होती है। दो मास का गर्भ १$\frac{1}{4}$ से १$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बा और वज़न में १$\frac{1}{2}$ तोला भर होता है। इस दूसरे

मास में चेहरे के अवयव मुँह, नाक, कान और आँख स्पष्ट दीखने लगते हैं। हाथ और पाँव के स्थान पर चिह्न बन जाते हैं। आँख के ऊपर का भार कमान की भाँति बनने लगता है। तीन मास के गर्भ की लम्बाई २ से २½ इञ्च और भार २½ से ४ तोला होता है। इस महीने में अस्थि-निर्माण आरम्भ होता है और मांस भी स्पष्ट होने लगता है। चेहरा और शिर प्रायः स्पष्ट होजाते हैं। आँख की पलकें बन्द रहती हैं, भ्रू की भीनी रेख पड़ जाती है, मुँह बन्द होता है, हाथ और पाँव स्पष्ट होजाते हैं और उनमें अँगुलियों के चिह्न बन जाते हैं।* चतुर्थ मास का गर्भ ५ से ६ इञ्च लम्बा और ७ से ८½ तोला भार में होता है। इस मास में शरीर की त्वचा गुलाबी रंग की, मुँह जरा खुला, ओठ अलग-अलग-रहते हैं, आँख के ऊपर का पतला पड़ बन जाता है, नख बनने लगते हैं और लिंग-भेद (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) स्पष्ट होजाता है। इस मास में गर्भ के सब अंग और प्रत्यंग बन जाते हैं जिससे माता के विशेष भार स्पष्ट होने लगता है। इस चतुर्थ मास में ही हृदय के अन्दर स्थित छठी चेतना-धातु स्पष्ट होती है, जिससे माता के उदर पर हृदय की धड़कन सुनाई देने लगती है। इस मास से ही गर्भ हलना-डुलना आरम्भ करता है। इस मास में गर्भिणी विशेष रूप से रूप, रस, गन्ध आदि विषयों की ओर लालायित रहती है। पाँचवें मास का गर्भ ६ से ७ इञ्च लम्बा और १२ से १८ तोला भार में होता है। इस मास में विशेष रूप से अस्थि, मांस और रक्त में वृद्धि होती है, इसलिये मात शरीर में कृश होजाती है। शिर का आकार विशेष बड़ा होता है। नख बन चुके होते हैं और शिर के बाल बनने लगते हैं। पाँचवे मास में गर्भ का मन उद्बुध होजाता है। छठे मास का गर्भ ९ से १० इञ्च लम्ब और वज़न में आध सेर (४० तोला) होता है। इस मास में गर्भ के अन्दर बल और वर्ण की वृद्धि विशेष रूप से होती है; इसलिये माता का बल और

* आयुर्वेद-शास्त्र की दृष्टि से गर्भ स्थिति के तीन मास के पीछे तक भी लिंग भेद किया जाता है। उसे समय औषधि के प्रभाव से कन्या पुरुष में बदली जा सकती है। यथा—"तस्मादापन्न गर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्ति" भावात् गर्भस्य पुंसवनम् कर्मणा वेदोक्तेन विवर्त्तनमुपदिश्यते-प्राग् व्यक्तिभावात् प्रयुक्तेन सम्यक्। चरक।

पुंसवन की औषधियाँ—वटशुंग, लक्ष्मणा, सहदेवी इनका रस माता को दक्षिण नासा में ग्रहण करना चाहिये।

वर्ण घट जाता है। पलकें पूर्णतः बन जाती हैं, और चेहरा लाल रंग का होता है और बाल कुछ भूरे से होते हैं। सातवें मास के गर्भ की लम्बाई १३ से १५ इञ्च और भार १२० तोले से १६० तोले तक होता है। त्वचा मोटी और गुलाबी रंग की होती है। नख मोटे परन्तु अँगुलियों के सिरे तक पहुँचे हुये नहीं होते। पलकें दोनों स्पष्ट अलग-अलग होजाती हैं। इस मास में बुद्धि का उदय हो जाता है। आठवें मास का गर्भ १४ से १६ इञ्च लम्बा और १६० से २०० तोले तक भार में होता है। इस मास में गर्भ की चमड़ी मोटी और नख उँगलियों के सिरे तक पहुँचे होते हैं। इस मास में ओज धातु माता से बालक में और बालक से माता में रसवाहिनियों-द्वारा आता-जाता है इससे गर्भिणी कभी प्रसन्न और कभी म्लान रहती है। नवें मास में गर्भ की लम्बाई १७ से २१ इञ्च और भार २०० से ३६० तोले तक होता है। इस मास में वह सम्पूर्ण रूप से पूर्ण होकर २७० से २८० दिन के पश्चात् गर्भाशय से बाहर आता है। बाहर आने पर इसका नाम "बालक" होजाता है।

गर्भ के अन्दर सब अवयव पूर्णतः परिपक्व नहीं होते। बाहर आकर उनमें पूर्णतः विकास—वृद्धि होती है। यथा—मस्तिष्क और अस्थियाँ। ये अस्थियाँ शनैः-शनैः कठोर बनने लगती हैं। इसी प्रकार मांस, शिरा, स्नायु, सन्धि आदि बनती जाती हैं, जो कहीं २५ से २८ वर्ष की आयु में जाकर पूर्ण होती हैं।

अस्थि-पिञ्जर

अभ्यन्तर गतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम्॥
तस्माच्चिर विनष्टेषु त्वङ् मांसेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम्॥ सुश्रुत‡

शरीर का मुख्य आधार यह अपना अस्थि-पिञ्जर है। शरीर के अन्य भाग इसी के आधार पर खड़े हुये हैं। और भाग शिरा, स्नायु, मांस

‡जिस प्रकार वृक्ष अपने अन्दर के सार पदार्थ के कारण खड़े रहते हैं, उसी प्रकार शरीरधारियों का ढाँचा भी इन्हीं सार-भूत अस्थियों पर खड़ा है। त्वचा, मांस आदि पदार्थ शीघ्र नष्ट होजाते हैं, परन्तु अस्थियाँ नष्ट नहीं होतीं। इसलिये इनको "सार" कहते हैं।

आदि कुछ दिनों में (मृत शरीर के अन्दर) नष्ट होजाते हैं, परन्तु ये अस्थियाँ कई वर्षों में जाकर शीर्ण होती हैं। इसलिये इनको शरीरधारियों का सार कहते हैं, (साराण्येतानि देहिनाम्)। इसलिये सब अन्य अवयवों को परमात्मा ने इनसे बनाये हुये सन्दूक में रक्खा है, जिससे उनमें किसी प्रकार की क्षति सुगमता से न पहुँच सके। यथा—शिर के अन्दर मस्तिष्क को चपटी, पतली परन्तु सुदृढ़ अस्थियों के अन्दर इस प्रकार से बन्द करके रक्खा है, कि मनुष्य एक-दो मन का बोझ भी इन पर सुगमता से ले जाये, तो भी अन्दर के अवयव को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। इसी प्रकार जीवन के साधन, श्वास-प्रश्वास के कारण फेफड़ों को और हृदय को गोल, पतली, लम्बी अस्थियों में इस प्रकार से रख दिया है कि मनुष्य इनके ऊपर हाथी तक के बोझ को भी उठा ले, तो भी अन्त: अवयवों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे।

इतना ही नहीं, परन्तु परमात्मा ने स्थिति के अनुसार इनको भिन्न-भिन्न रूप दिया है। जैसे, कोई एकदम लम्बी, (यथा— जांघ और बाहु की), कोई गोल, (यथा घुटने के ऊपर की चपनी), कोई चपटी, पतली (यथा—शिर के कपाल), कोई टेढ़ी मुड़ी हुई (यथा—हँसली की अस्थि), कोई लम्बी गोल मुड़ी हुई (यथा—पसलियाँ), कोई गोल-मोहरे जैसी (यथा—पृष्ठवंश के कशेरू) और कोई छोटी-छोटी पतली (यथा—हाथ और पाँव की) अस्थियाँ बनाई हैं। जिससे इनके रूप के कारण शरीर की गति में किसी प्रकार की अड़चन न पड़कर सुगमता होती है।

रचना—अस्थियों का निर्माण गर्भाशय में ही होने लगता है। परन्तु वहाँ ये बहुत सुकुमार रहती हैं। पीछे-पीछे ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है, इनमें भी कठोरता आती जाती है। यह कठोरता अस्थि के ऊपरवाले भाग में अधिक होती है और अन्दर के भाग में कुछ कोमलता रहती है। ये अस्थियाँ ऊपर से प्राय: खुरदरी, जगह-जगह स्पञ्ज की भाँति छिद्रोंवाली होती हैं। इन छिद्रों में से शरीर और अस्थियों को पोषण देनेवाली शिरा—धमनी, उनके प्रतान घुसते और निकलते हैं। खुरदरी होने से ये मांसपेशियों को भली प्रकार पकड़ लेती हैं।

अस्थियों के ऊपर का भाग श्वेत कठोर होता है। और अन्दर का भाग नरम, खोखला और लाल रंग का होता है। यह लाल रंग मज्जा

(Marrow) होती है जो शरीर के लिये पोषक है। आयुर्वेद की दृष्टि से इस मज्जा से ही शुक्र उत्पन्न होता है।

अस्थियों का निर्माण मुख्यत: दो पदार्थों से होता है। इनमें एक पदार्थ चिकना, जान्तवीय (Animal-matter) है, और दूसरा खनिज या पार्थिव (Earthy matter) है। जान्तवीय पदार्थ के कारण अस्थि में मजबूती (स्निग्धता) रहती है, और खनिज पदार्थ के कारण कठोरता रहती है। खुली हवा में अस्थियों के जलाने से जान्तवीय भाग सहसा जल जाता है और केवल खनिज भाग रहता है। और इस प्रकार से जले हुये भाग को हाथ से छूकर चूरा कर सकते हैं। और यदि तेज शोरे के तेजाब में अस्थियों को डालकर कुछ समय तक रख दें तो अस्थियाँ नरम हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि इनका पार्थिव पदार्थ उस तेजाब में घुल जाता है; जिसमें उनका नरम, मृदु, जान्तवीय भाग ही शेष रह गया।

रासायनिक विश्लेषण के द्वारा अस्थियों में निम्न वस्तुयें प्राप्त हुई हैं--

अस्थियों के अन्दर के पदार्थ	प्रतिशतक रूप में
१—जान्तवीय भाग	३३ प्रतिशत
२—पार्थिव भाग	५१ प्रतिशत
(क) फौस्फेट ऑफ लाईम (चूने का खार)	१२ „
(ख) कार्बनेट ऑफ लाईम („ „)	२ „
(ग) क्लोराईड ऑफ कैलसियम	१ „
(घ) मैगनेशिया	१ „
(ङ) अन्य क्षार—यथा, नमक, सोडा आदि	

यह विश्लेषण अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। यथा बालक की अस्थियों में पार्थिव भाग कम रहता है और जान्तवीय पदार्थ अधिक होता है। इसलिये उनकी अस्थियाँ नरम रहती हैं। इसी कारण से बच्चों में अस्थियाँ टूटती कम हैं, परन्तु मुड़ जाती हैं। इसके विपरीत युवा पुरुष की अस्थियों में पार्थिव पदार्थ की अधिकता होने से और जान्तवीय पदार्थ की न्यूनता के कारण ये अस्थियाँ जोर पड़ने पर टूट जाती हैं। इसी

कारण से बचपन के अस्थि-भंग प्रायः जुड़ जाते हैं; चूँकि उनमें स्निग्धता रहती है, और युवावस्था के भंग दुस्साध्य होते हैं।

आयु के अनुसार अस्थियों में दोनों पदार्थ निम्न रूप में होते हैं—

अस्थियों के अन्दर के पदार्थ	बचपन में	यौवन में	वृद्धावस्था में
जान्तवीय पदार्थ	४७ भाग	२० भाग	१२ भाग
पार्थिव पदार्थ	४८ भाग	७५ भाग	८३ भाग

संख्या—इस शरीर यंत्र का विभाग छः भागों में (यथा—शिर, धड़, दो हाथ और दो पाँव) किया गया है। अतः उसी के अनुसार यहाँ संख्या गिनी जायगी।

(क) शिर और चेहरे में मिलाकर कुल बाईस (२२) अस्थियाँ हैं, जिनमें आठ अस्थियाँ शिर में और चौदह चेहरे में हैं।

(ख) धड़ के अन्दर सब मिलाकर अट्ठावन (५८) अस्थियाँ हैं; जिनमें छाती के सामने—पसलियाँ चौबीस, छाती के सामने में एक अस्थि, दो हँसली की अस्थियाँ और एक छोटी सी ग्रीवा की अस्थि है। धड़ के पिछले भाग में कुल मिलाकर छब्बीस मन के और दो अंसफलक हैं। इसके अतिरिक्त श्रोणी को बनानेवाली दो ओर विशाल चपटी अस्थियाँ हैं, जिनके सहारे आदमी बैठता है। इस प्रकार से अट्ठावन अस्थियाँ इस मध्य भाग में हैं।

(ग) दोनों हाथों में कुल मिलाकर साठ (६०) अस्थियाँ हैं, जिनमें प्रत्येक हाथ में तीस-तीस हैं।

(घ) दोनों पाँव में कुल मिलाकर साठ (६०) अस्थियाँ हैं, जिनमें प्रत्येक पाँव में तीस-तीस अस्थियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त कानों के अन्तःभाग में प्रत्येक ओर तीन-तीन छोटी अस्थियाँ हैं। उनको मिलाकर अर्वाचीन शास्त्र के पण्डित इस शरीर में दो सौ छः (२०६) अस्थि-संख्या मानते हैं।

इन स्थूल अस्थियों के अतिरिक्त शरीर में और भी कहीं-कहीं नरम, मृदु अस्थियाँ (तरुणास्थि) पाई जाती हैं। परन्तु वे सब में नहीं मिलतीं। अतः उनको यहाँ नहीं गिना।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य मृदु अस्थियाँ भी हैं। यथा—पसलियों को उर:फलक से जोड़ने वाली तरुण अस्थियाँ। इनको भी यहाँ पर नहीं गिना गया। ये अस्थियों के पूर्वरूप हैं। ये तरुणास्थियाँ कुछ तो बचपन में, कुछ यौवन में, और कुछ वृद्धावस्था में कड़ी बनकर अस्थि-रूप धारण कर लेती हैं, और कुछ सारी आयु में तरुणास्थि ही बनी रहती हैं।

प्राचीन आचार्यों ने इस शरीर में अस्थि-संख्या तीन सौ साठ (३६०) और तीन सौ (३००) मानी हैं।* उन्होंने इस गणना के अनुसार दाँत और नखों को भी अस्थियों में गिन लिया है। साथ ही कुछ चणकास्थियों को भी सम्मिलित कर लिया है। इसके अतिरिक्त जो एक अस्थि बचपन की भिन्न-भिन्न अस्थियों से मिलकर बनी है, उसको प्राचीनों ने विभक्तरूप में ही गिना है। यथा श्रोणी फलक की एक अस्थि तीन अस्थियों से मिलकर बनती है। अर्वाचीनों ने उसे एक माना है। इसी प्रकार पुच्छास्थि जो कि चार अस्थियों से जुड़कर एक बनी है, उसे एक माना जाता है।

उनके भेद-प्रदर्शक कोठे का चित्र नीचे दिया जाता है।

अंगों के नाम	चरक (वेदवादि)		सुश्रुत	अर्वाचीन
१. हाथ और पाँव की अंगुलियों में	साठ	६०	६०	५६
२. शलाकास्थियाँ	बीस	२०	२०	२०
३. कूर्चास्थियाँ	छः	६	६	३०
४. प्रकोष्ठ की अस्थियाँ	चार	४	४	४
५. प्रकोष्ठास्थियों के उभार	चार	४	२	
६. कूर्पर कूट	दो	२	२	
७. जंघा की अस्थियाँ	चार	४	४	४
८. जंघास्थियों के सिरे	चार	४		
गिट्टे बनाते हैं	दो	२	२	

* त्रीणि सषष्ठानि अस्थि शतानि वेद वादिनो भाषन्ते। शल्यतंत्रे त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं—शाखासु सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणि पार्श्व पृष्ठोदरोर:सु ग्रीवां प्रत्युर्ध्वं त्रिषष्टिः। सुश्रुत।

त्रीणि षष्ठानि शतानि अस्थ्नां सह दन्त नखेन। चरक।

अंगों के नाम	चरक (वेदवादि)		सुश्रुत	अर्वाचीन
९. जान्वस्थि	दो	२	२	२
१०. प्रगण्डास्थि	दो	२	२	२
११. ऊर्वस्थि	दो	२	२	२
१२. अक्षक	दो	२	२	२
१३. स्कन्धास्थि	दो	२	२	२
१४. पसलियाँ	बहत्तर	७२	७२	२४
१५. उरोऽस्थि	चौदह	१४	१७	१
१६. पीठ के समस्त कशेरू	पैंतालिस	४५	३२	१९
१७. नितम्बास्थि	तीन	३	३	२
१८. ग्रीवा के कशेरु			९	७
१९. स्वर-यंत्र वायु-प्रणाली	पन्द्रह	१५	४	
२०. कपालास्थियाँ	एक	१	१७	२३
२१. दाँत	बारह	१२	३२	
२२. दन्तोदूखल	बत्तीस	३२		
२३. नख	बत्तीस	३२		
२४. अक्षिकोष	बीस	२०	२	
२५. कर्ण			२	६
		३६०	३००	२०६

सन्धियाँ

"नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिः वृता ।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥"
"एवमेव शरीरेऽस्मिन्यावन्तः सन्धयः स्मृताः ।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहाः नराः ॥"

सुश्रुत

वे अस्थियाँ जहाँ एक दूसरी से मिलती हैं उसका नाम 'सन्धि' है। और ये सन्धियाँ कुछ तो 'स्थिर' अर्थात् 'गतिरहित' हैं; यथा, शिर की अस्थियों

की सन्धियाँ; और कुछ 'गतिशील' हैं। यथा हाथ और पाँव की सन्धियाँ।

अस्थियों की रचना वैषम्य के कारण सन्धियों में भी विषमता आजाती है। यथा— ऊर्वस्थि का नितम्बास्थि के साथ जुड़ना। इस सन्धि में नितम्बास्थि के अन्दर एक ऊखल जैसा गड्ढा है, उसमें ऊर्वस्थि का मूसल जैसा भाग ठीक रूप से बैठ जाता है। इसी प्रकार बाहु की सन्धि में। और कुछ सन्धियाँ एक दूसरे में फँसकर बनी हैं यथा—शिर की अस्थियों की सन्धियाँ।

सन्धियाँ आपस में रगड़ से घिस न जायँ, इसलिये उनमें एक गद्दी रखी हुई है। और उनको लगातार चिकना रखने के लिये एक प्रकार का द्रव इन सन्धियों में रहता है, जो सदा इनको चिकना रखता है। जिस प्रकार तेल या घी पहिये को चिकना रखता है, जिससे वह भली प्रकार घूम सके।

सन्धियों को दृढ़ करने के लिये उनको दृढ़ स्नायुवों से बाँधा गया है। ये स्नायु भिन्न-भिन्न आकार के हैं। कोई लम्बे, कोई शाखावाले और कोई गोल होते हैं। इन स्नायुवों की संख्या सुश्रुत के अनुसार ९०० हैं। और अस्थियों की सन्धियाँ २१० हैं। और सन्धियाँ यहाँ पर नहीं गिनी जायँगी।

मांस-पेशियाँ

"कर्कशंकीकसं येन मांसली भूय शोभते ।
बलमूलं क्रियामूलं पेशीजालं तदीरितम् ॥"

प्रत्यक्ष शारीर

सम्पूर्ण शरीर का आधा भाग, शरीर को सुन्दर, सुघड़, सुदृढ़ बनाने वाली ये ही 'मांस-पेशियां' हैं। जिस पुरुष की ये पेशियाँ जितनी मजबूत और सुदृढ़ बनी होती हैं; वह उतना ही बलवान माना जाता है। शरीर का बल इनमें रहता है।

जिस प्रकार यह अस्थिपञ्जर नाना प्रकार की छोटी बड़ी अस्थियों के मिलने से बना है, परन्तु देखने में एक ही बनावट का प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह मांसमय शरीर भी भिन्न-भिन्न प्रकार की छोटी, लम्बी, गोल, नाना प्रकार की पेशियों से बना है, परन्तु देखने में एक ही मांस का बना टुकड़ा दीखता है। मांस के छोटे-छोटे टुकड़े अस्थियों के गड्ढों में भरकर

उसको समान चिकना और सुन्दर बना देते हैं । इन टुकड़ों की (मांसपेशियों की) संख्या प्राचीन आचार्यों ने पाँच सौ मानी है ।

ये पाँच सौ पेशियाँ कार्य-भेद के कारण दो भागों में विभक्त की हुई हैं । एक तो वे पेशियाँ जो हमारी इच्छा के अधीन हैं, अर्थात् उनको जिधर घुमाना और मोड़ना चाहें, हम उनको चला सकते हैं । यथा हाथ, पाँव और मुख आदि की पेशियाँ । दूसरी प्रकार की पेशियाँ वे हैं, जिन पर हमारा अधिकार नहीं है; अर्थात् वे स्वयं कार्य करती हैं—चलती हैं । यथा--आमाशय आंत्र आदि की । इन पर हमारा किसी प्रकार का अधिकार नहीं है । इनमें प्रथम प्रकार की पेशियों को "ऐच्छिक" और दूसरी प्रकार की पेशियों को "अनैच्छिक" कहते हैं । ये दोनों प्रकार की पेशियाँ अपना पोषण भुक्त आहार में से प्राप्त करती हैं । इन पेशियों में से ऐच्छिक मांसपेशियों के तन्तु धारीदार और लम्बे होते हैं । और ये अनैच्छिक पेशियों की अपेक्षा अधिक लाल, मजबूत और भार उठाने में योग्य होते हैं । दूसरी प्रकार के तन्तु चूंकि शरीर के अन्तरावयवों में प्राय: रहते हैं, अत: उनको इतनी सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं होती ।

मांसपेशियों का स्वाभाविक गुण संकोच और विकास है । इसके कारण शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों को नाना प्रकार की गतियाँ, यथा–हाथ को ऊपर उठाना, नीचे करना, अन्दर को मोड़ना, बाहर को मोड़ना, फैलाना और सिकोड़ना, मिलती हैं । जिस समय किसी कारण से मांसपेशी में से संकोच या विकास गुण जाता रहता है, उस समय वह पेशी निष्क्रिय होजाती है । अथवा जब एक पार्श्व की पेशी निष्क्रिय हो जाय, तो भी शरीर के रूप में परिवर्त्तन आ जाता है । यथा—'आर्दित' रोग में, जब कि मुँह का एक पार्श्व निष्क्रिय होजाता है, तो मुँह दूसरी ओर मुड़ जाता है । इसी प्रकार कुछ पेशियाँ एक दूसरी पेशी के विरुद्ध भी कार्य करती हैं । यथा—एक पेशी हाथ को ऊँचा करती है, या आँख को खोलती है, तो दूसरी हाथ को नीचा करती है, या आँख को बन्द करती है ।

रुधिराभिसरण

"इदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभि: केदार इव च कुल्याभिरूप-स्निह्यतेऽनुगृह्यते च, आकुञ्चन प्रसारणादिभि: विशेषै: । द्रुमपत्रसेवनी

नाभिस्थ च तासां प्रतानाः; तासां नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्ति ऊर्ध्वं, अधः, तिर्यक् च ॥ सुश्रुत

इस अस्थि-संघात और मांसपेशियों से बने हुये ढाँचे को पोषण देने के लिये सम्पूर्ण शरीर में जाल की भाँति रक्तवाहिनियाँ फैली हुई हैं। ये रक्तवाहिनियाँ हृदय से प्रारम्भ होती हैं और वहीं पर आकर समाप्त होजाती हैं। इस प्रकार से एक चक्कर बना हुआ है। फेफड़ों में शोधित हुये रक्त को हृदय से लेकर एक बड़ी वाहिनी निकलती है। यह आगे चलती हुई छोटी बड़ी असंख्य शाखाओं में बँट जाती है और फिर इन शाखा प्रशाखाओं के आगे शाखायें होजाती हैं। इन शाखाओं के द्वारा शरीर के छोटे से लेकर बड़े अवयव तक सब का पोषण होता है। प्रत्येक अवयव अपना भोजन इनके अन्दर से पाते हैं, और जो मैला या टूटा हुआ पदार्थ होता है, वह इसमें मिला देते हैं। इस प्रकार से अन्त में यह रक्त सर्वथा अशुद्ध होजाता है। इसका चमकता लाल रंग एकदम से नष्ट होजाता है, उसके स्थान में काला रंग बन जाता है। अब यह रक्त छोटी-छोटी शाखाओं द्वारा एकत्रित होता हुआ बड़ी शिरा को बनाता है, और वे शिरायें मिलकर और अधिक बड़ी शिरा को बनाती हैं। इस प्रकार से एकत्रित होकर यह सारा रक्त शुद्ध होने के लिये फिर हृदय में लौट आता है और वहाँ से फिर फेफड़ों में जाता है। वहाँ शुद्ध प्राण-वायु के संसर्ग से फिर गहरा लाल रंग धारण कर लेता है। इस प्रकार से यह चक्कर रात दिन चलता रहता है। इस चक्कर का रुकना ही मृत्यु है।

स्नायु-बन्धन

ये 'स्नायु' प्रान्तों में चिकने और मजबूत होते हैं। इनके द्वारा अस्थियाँ भली प्रकार बँधी रहती हैं, जिससे कूदने-फाँदने में या गिरने में सुगमता से अस्थियाँ सन्धि-च्युत नहीं होतीं। कई बार अस्थि के प्रान्त टूटने पर भी स्नायुबन्धन बना रहता है।

संयोजक तन्तु

शरीर में भिन्न-भिन्न पदार्थों को और एक समान पदार्थों को परस्पर जोड़ने के लिये ये संयोजक तन्तु सम्पूर्ण शरीर में फैले हुये हैं। अस्थियों के साथ मांसतन्तुओं को, एक दूसरे के साथ जोड़ने में शिराधमनी आदि को

स्थिर रखने का कार्य इन तन्तुओं का है। ये तन्तु देखने में श्वेत पतले धागे की भाँति होते हैं।

वसा (चरबी)

त्वचा के नीचे एक पतला, चिकना पदार्थ बिछा हुआ है। इसका नाम वसा है। यह शरीर की उष्णिमा स्थिर रखती है। इसके होने के कारण शीत और गरमी सुगमता से शरीर में घुस नहीं सकती। और न शरीर के अन्दर की गरमी बाहर आ सकती है। यही कारण है कि सब ऋतुओं में हमारा ताप-परिमाण एक जैसा रहता है। पलकों में और अण्डकोष की त्वचा में इसका अभाव होता है। इसके अतिरिक्त यह वसा चोट आदि से शरीर की रक्षा करती है। रक्तवाहिनियों को चोट से बचाने के लिये यह एक प्राकृतिक गद्दी है।

त्वचा

अस्थिपिञ्जर के सबसे ऊपर के परत को त्वचा कहते हैं। इसके द्वारा हमको नानाप्रकार के शीत, उष्ण, मृदु, कठोर, रूक्ष, स्निग्ध स्पर्श होते हैं। इसमें छोटे-छोटे छिद्र हैं, जिनमें बाल लगे हुये हैं। इन बालों के द्वारा शरीर का मैल पसीने के रूप में बाहर निकलता रहता है। इसके अतिरिक्त इन छिद्रों की सहायता से हम तेल आदि पदार्थ शरीर के अन्दर पहुँचा सकते हैं। शरीर की सफ़ाई करने में यह मुख्य भाग लेती है।

प्रकरण दूसरा

शरीर के मुख्य भाग

यह शरीर यद्यपि मुख्यतः छः अंगों में बँटा हुआ है, तथापि इसके और भी कई छोटे-छोटे भाग किये हुये हैं। यथा—धड़ और शिर को जोड़ने-वाले भाग का नाम ग्रीवा, धड़ और टाँगों को जोड़नेवाले भाग का नाम कटि या कमर है। इनमें मुख्य प्राणावयव—जीवन के आधार—परब्रह्म पर-मात्मा का निवास-स्थान अपना धड़ और शिर है। यदि इन दोनों की सन्धि तोड़ दी जाय तो इसका बोलना एक क्षण में बन्द हो जाता है। इसी से भगवान ने इन दोनों को बहुत दृढ़ बने अस्थियों के सन्दूकचे में बन्द किया है।

शिर या मस्तिष्क—यह सब अंगों में श्रेष्ठ है, इसी से परमात्मा ने इसे सबसे ऊपर रक्खा है। यह ऊपर रहकर सारे शरीर को नियम में रखता है। इसके अन्दर पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—कान, आँख, नाक, रसना और त्वचा रहती हैं। इसीसे यह ज्ञान का साधन है। वेदों में "हिरण्मय कोष" अर्थात् सोने का खजाना कहा है। मनुष्य इसी मस्तिष्क की सहायता से लाखों रुपये बटोर लेता है। इसी के अन्दर मुख्यतः प्राण रहते हैं।* इसके अन्दर से निकलकर सब ज्ञान-तन्तु शरीर में फैलते हैं, और चेष्टावह तन्तुओं का भी उत्पत्ति-स्थान यही है। इन दोनों तन्तुओं की सहायता से यह सारे शरीर पर अधिकार रखता है।

इतने आवश्यक क़ीमती खजाने की रक्षा के लिये भगवान् ने भी कितने साधन दिये हैं। सबसे प्रथम लम्बे-लम्बे काले बाल, फिर मोटी त्वचा, कपालास्थियाँ और अन्दर पर्दे बनाये हैं। और फिर उनके नीचे मस्तिष्क को रक्खा है। वह भी एक तरल पदार्थ में जिससे कि चोट या आघात वहाँ तक न पहुँचे।

इसके अतिरिक्त शरीर के जीवन का साधन मुँह भी इसी शिरो-भाग में बनाया है जहाँ से अन्न मार्ग प्रारम्भ होता है। इस मुँह के द्वारा ही हम नानाप्रकार के आहार, आदि शरीर में पहुँचाते हैं, जिनसे रस-रक्त आदि बनता है, जो हमारे शरीर की पुष्टि में मुख्य कारण है।

तीसरी मुख्य वस्तु श्वासमार्ग का प्रारम्भ भी इसी शिरोभाग से होता है। नासिका के द्वारा हम प्राणवायु को लेकर फेफड़ों में पहुँचाते हैं।

धड़—ग्रीवा के अधोभाग से लेकर कटि तक के भाग को 'धड़' कहते हैं। यह दो भागों में एक पर्दे के द्वारा बँटा हुआ है। अस्थियों से बने कोष्ठ भाग को 'उर' या 'छाती' कहते हैं; और मांस से बने भाग को 'पेट' या 'उदर' कहते हैं। छाती में रहनेवाले अवयव—दो फेफड़े (दक्षिण और वाम पार्श्व में,) एक हृदय, श्वासनलिका, अन्नमार्ग और दो स्तन (स्त्रियों में) हैं।

*(१) प्राणः 'प्राण' भृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
यदुत्तमांगमङ्गानां शिरस्तदभिधियते ॥

चरक

(२) तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत्प्राणोऽभिरक्षति शिरोऽन्नमथो मनः ॥

अथर्ववेद

छाती के नीचे लगे परदे का छेदन करके अन्नमार्ग उदर में आजाता है। और वहाँ आमाशय के मुख से मिल जाता है। इस भाग में मुख्यतः पाचन अवयव रहते हैं। और उर के भाग में रुधिराभिसरण के अवयव रहते हैं। पाचन अवयवों में आमाशय, बृहदंत्र, सूक्ष्मांत्र तथा दक्षिण पार्श्व में यकृत, क्लोम; वाम पार्श्व में प्लीहा और अग्न्याशय रहते हैं।

इसी उदर भाग में मूत्र सम्बन्धी अवयव भी रहते हैं। यथा— कटिभाग में पीठ की ओर दोनों पार्श्वों में एक-एक वृक्क हैं, जो मूत्र बनाते हैं। इन वृक्कों से मिला मूत्राशय रहता है। स्त्रियों में गर्भाशय और डिम्बकोष भी यहीं रहते हैं।

इस धड़ में पीठ की ओर सुषुम्ना नाड़ी मणकों में से होती हुई कटि तक पहुँचती हैं। इसका प्रारम्भ मस्तिष्क से होता है।

इसके अतिरिक्त धड़ में ऊपर और नीचे दोनों पार्श्वों में दो-दो शाखायें जुड़ी हुई हैं। जिनमें निचली शाखाओं के द्वारा यह धड़ और मस्तिष्क एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचता है और ऊपर की शाखाओं के द्वारा किसी चीज़ को उठाता, पकड़ता या मुँह में रखता है। इस प्रकार ये दोनों शाखायें धड़ और मस्तिष्क के अवयवों की सहायक बनी हुई हैं।

मस्तिष्क या भेजा

खोपड़ी के नीचे से और ऊपर तक तीन पट आये हुये हैं। इनमें प्रथम पट बहुत मजबूत है। दूसरा पट अर्ध प्रवाही द्रव से भरा हुआ है। तीसरा पड़ मस्तिष्क के साथ चिपटा हुआ है। यह अत्यन्त पतला, त्वचामय और पारदर्शक तथा सूक्ष्म केशवाहिनियों के झुण्डों द्वारा चारोंओर से भरा है। यह पट मस्तिष्क की रक्षा करता है।

इन पड़दों के हटाने से मस्तिष्क नंगा हो जाता है। उसका रंग धूसर होता है और उसके ऊपर खाइयाँ (नालियाँ) दिखाई देती हैं।

सम्पूर्ण मस्तिष्क चार भागों में विभक्त है। यथा 'बृहद् मस्तिष्क', 'मध्य मस्तिष्क', 'लघु मस्तिष्क' और 'सुषुम्ना'। इनमें 'बृहद् मस्तिष्क' दो गोलार्द्धों में विभक्त है। एक का नाम 'दक्षिण गोलार्द्ध' और दूसरे का नाम 'वाम गोलार्द्ध'।

मस्तिष्क की लम्बाई सामने से पीछे तक ६ से ६॥ इञ्च; और चौड़ाई एक कान से दूसरे कान तक ५॥ इञ्च होती है। १५ से ४९ वर्ष की आयु

में इसका भार पुरुषों में २२ छटाँक और स्त्रियों में २० छटाँक होता है। स्त्रियों का मस्तिष्क पुरुषों की अपेक्षा छोटा होता है। युवा मनुष्य में मस्तिष्क का भार सम्पूर्ण शरीर के भार का $\frac{1}{40}$वाँ भाग होता है। नवजात बालक में मस्तिष्क का भार ७ छटाँक होता है। पहले वर्ष के अन्त में दुगुना हो जाता है; छठे वर्ष में तिगुना हो जाता है; और अठारहवें में प्रायः युवा के लगभग आ जाता है।

वृहत् मस्तिष्क—यह भाग शिर के अगले भाग में रक्खा हुआ है। ऊपर से देखने पर भूरा और काटने पर श्वेत दिखाई देता है। बुद्धिमानों में धूसर भाग की मोटाई अधिक रहती है। यह धूसर भाग श्वेत भाग को इस प्रकार से घेर कर रहता है, जैसे फल के गूदे को उसका छिलका। और श्वेत भाग 'वात सूत्रों' से बना होता है।

यह वृहत मस्तिष्क दक्षिण और वाम दो खण्डों में विभक्त होने पर भी बीच में एक पड़दे के द्वारा जुड़ा होता है। इन दोनों खण्डों के और कई छोटे छोटे खण्ड और पृष्ठ माने गये हैं। इन खण्डों का विभाग मस्तिष्क में गहरी पड़ी हुई खाइयों के द्वारा होता है।

लघु मस्तिष्क—इसका आकार एक पिचके हुये गोले के समान होता है। इसकी चौड़ाई चार इञ्च और भार दो से ढाई छटांक होता है। इसका स्थान शिर की पिछली अस्थि के नीचे रहता है। इसको वृहत् मस्तिष्क अपनी गोद में लेकर रहता है। इस पर की खाइयाँ अधिक गहरी और पास-पास होती हैं। यह पत्रों से बना होता है। इसको काटने से अन्दर में वृक्ष जैसी शाखा-प्रशाखायें फैली दिखाई देती हैं।

मध्य मस्तिष्क या मस्तिष्क की तलहटी—इस भाग में शरीर के लिए आवश्यक कई ग्रन्थियाँ रहती हैं। मस्तिष्क में इस भाग का स्थान लघु मस्तिष्क के सामने और वृहत् मस्तिष्क के नीचे है। दृष्टि नाड़ी, पोषण ग्रन्थि और जवनिकायें आदि रचनायें इसी स्थान में रहती हैं।

सुषुम्ना—इसका प्रारम्भ कपाल के महाछिद्र से आरम्भ होकर द्वितीय कटि कशेरू तक होता है। इसकी लम्बाई साधारणतः १८ इञ्च होती है। इसका आकार बेलनाकार और रस्सी के समान होता है। नीचे यह पतली होती जाती है, और अन्त में एक पतले श्वेत धागे के रूप में गुदा तक पहुँचती है। इसका रंग बाहर से श्वेत और अन्दर धूसर होता है। शरीर के

आवश्यकीय तन्तु और केन्द्र कुछ इसमें भी रहते हैं। यथा—श्वास-प्रश्वास का केन्द्र सुषुम्ना में रहने से यदि मनुष्य के मस्तिष्क का अगला भाग कट जाय तो श्वास-प्रश्वास चलता रहता है।

आँख (Eye)—देखने का साधन दो आँखें हैं, जो नाक के दोनों ओर भौंहों के नीचे गोलकों में रक्खी हुई हैं। भ्रमर, पलक, पलकों के बाल इसके बाह्य अवयव हैं। आँख का डोला नासिका के पार्श्व में रहता है।

यह डोला तीन परदों से बना है। बाहर का परदा श्वेत रंग का है। यह अपार दर्शक है, इसलिये प्रकाश इसके अन्दर नहीं जा सकता। यह परदा कठोर है, इसलिये आँख की आकृति स्थिर बनी रहती है; परन्तु इसका सामनेवाला मध्यभाग काँच जैसा स्वच्छ है, इसलिये इसमें से प्रकाश जा सकता है। आँख के सफेद पर्त के नीचे एक काला पट है, जो पतली नसों और तन्तु-जालों से मिलकर बनता है। मस्तिष्क से चेतन बाह्य नाड़ियाँ भी यहाँ आकर पहुँचती हैं। इन जालों के रंग के कारण यह पुतली काली, नीली या भूरी दिखाई देती है। आँख के अन्दर जो गोल चक्र दिखता है, वह कीकी का परदा है। इसके मध्य में एक छेद (नाका) है, जिसको साधारण भाषा में कीकी या पुतली कहकर पहचानते हैं। कीकी के छेद के ऊपर केवल पहले श्वेत पट का नाजुक स्वच्छ अगला भाग आया रहता है। कीकी का परदा संकुचित और विकसित हो सकता है। जानवरों (शेर-बिल्ली) में यह परिवर्तन विशेष रूप से होता है। अवस्था पड़ने पर यह संकोच $\frac{१}{२०}$ से $\frac{१}{३}$ इञ्च तक हो सकता है। इसके अतिरिक्त कई रोगों में भी यह संकोच-विकास हो जाता है। आँख का तीसरा परदा एकदम अन्दर है। यह परदा आँख के दृष्टि-तन्तुओं के डोले में फैलने से बना है। इस पर्त को 'तन्तुवाला पर्त' कहते हैं। आँख के बाह्य पट के साथ छः मांस पेशियाँ लगी हुई हैं, जो नेत्र-संचालन में, उसको बन्द करने में या खोलने में सहायता करती हैं।

आँख के अन्दर तीन कोठरियाँ जैसी जगहें बनी हैं, जिनमें पानी और रत्न-जैसी आवश्यक चीजें रहती हैं। अगली कोठरी आँख के स्वच्छ—सफेद पट और रत्न के बीच में है। यह कोठरी सबसे छोटी है। इसमें पानी रहता है, जिसका भार पाँच चावल जितना होता है। आँख के बीच की कोठरी कठोर पर्तों की बनी हुई है। इसमें आँख का रत्न लटका हुआ है।

५

यह रत्न आगे और पीछे से गोल एवं हीरे-जैसा सफेद-पारदर्शक है। आँख की तीसरी कोठरी सबसे अधिक बड़ी है। इसमें बिल्लौर पत्थर की भाँति निर्मल पदार्थ भरा होता है। इन द्रवों की क़ीमत बहुत अधिक है। ये द्रव तेज प्रकाश की चमक को कम कर देते हैं, जिस कारण से कोमल दृष्टि तन्तुओं से बने अन्तिम पट को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। आँख की एक नाली नाक में उतरी हुई है।

कान (Ear)—सुनने के साधन का नाम कान है। इसका स्थान चेहरे में आँख से चार अंगुल की दूरी पर दोनों पार्श्वों में रक्खा है। कान का बाह्य भाग जो स्पष्ट दिखाई देता है, नरम-तरुणास्थियों तथा मांस से बना है। प्रत्येक कान में एक पतली-लम्बी सुरंग है। इसकी लम्बाई लगभग १½ इञ्च होती है। यह सुरङ्ग कोमल मांस से बनी है। इसका भीतरी भाग अस्थियों के साथ मिला है। कान के अन्दर जो मल निकलता है वह इसी त्वचा से बना होता है।

कान का मध्य भाग एक छोटी सुरङ्ग से बना है। इसके तथा बाह्य कर्ण सुरङ्ग के बीच में एक परदा है जो बहुत ही कोमल और देखने में लाल वर्ण का है। इसको 'कर्ण-पटह' कहते हैं। इस भाग में से एक बारीक नली निकलकर अन्दर के भाग में गई है। इस नली के द्वारा कान के मध्यभाग का सम्बन्ध मुख के साथ होता है।

कान का सबसे अन्दर का भाग सबसे अधिक महत्व का है। चूँकि इसमें सुनने के तन्तु रहते हैं, यह भाग विशेष रूप से चक्करदार है। साधारण वर्णन से समझ में नहीं आ सकता। मस्तिष्क से निकले हुये श्रवण-तन्तु इस भाग में प्रविष्ट होते हैं, उनके लिये इसमें छिद्र होते हैं।

नाक (Nose)—सूँघने की इन्द्रिय को नाक कहते हैं। इसको परमात्मा ने ठीक चेहरे के मध्य में रक्खा है। नाक का अगला भाग कोमल अस्थियों से बना है। उसके नीचे दो नथुने हैं। कान और आँख की भाँति इसके भी दो भाग हैं। एक बाहर दिखनेवाला और दूसरा अंदर का भाग। जिस प्रकार बाहर दो छिद्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार अन्दर भी दो छिद्र हैं। इन अन्तःछिद्रों का सम्बन्ध मुँह के पिछले भाग के साथ है। दोनों बाह्य छिद्रों के बीच में एक परदा है, जिससे ये परदे अलग-अलग रहते हैं। मुँह के पिछले भाग में ये दोनों छिद्र एक बन जाते हैं। नथुनों में बाल

उगते हैं, जो नाक के अंदर धूल आदि को जाने से रोकते हैं और साथ ही शीत ऋतु में ठण्डी वायु को सहसा अन्दर जाने से रोकते हैं। इन नथुनों में मस्तिष्क से आये हुये घ्राण-तन्तु फैले हुये हैं, जिनके द्वारा गंध-ज्ञान होता है। श्वास-प्रश्वास और गन्ध-ज्ञान इसी नासिका-द्वारा हमको मिलता है।

जिह्वा (Tounge)—यह जीभ या रसना, रस-ज्ञान कराने का एक-मात्र साधन है। रस-संवाहक-तन्तु इस मांस से बनी जिह्वा में भली प्रकार से बिछे हुये हैं। इसके अतिरिक्त भोजन को चबाकर पचने के योग्य बनाने में भी जिह्वा विशेष रूप से सहायता करती है। यह भोजन को मुँह में इधर-उधर घुमाती और पलटती है। जिह्वा ही के द्वारा हम खट्टा, मीठा, तीखा, कसैला आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन दोनों कार्यों के अतिरिक्त शब्दो-च्चारण में जिह्वा विशेष सहायता देती है। इसके बिना कोई भी अक्षर स्पष्ट रूप में (विशेषतः ऋ, ट, ठ, ड, ढ़, आदि) नहीं बोल सकते।

✓ उरोगुहा—इस गुहा में प्राणावयव रहते हैं। दोनों फुप्फुस, हृदय, मुख्य-मुख्य रक्तवाहिनियाँ, अन्तर्नलिका और श्वास-पथ। इसीसे परब्रह्म परमात्मा ने इसको सामने भिन्न-भिन्न अस्थियों से घेरकर रक्खा है। यथा पार्श्वों में दोनों ओर सामने और पीछे बारह-बारह पसलियाँ रक्खी हैं, और मध्य में सम्मुख एवं उरोस्थि तथा पीछे छोटे-छोटे मणकों से मिलकर बना हुआ पृष्ठवंश बनाया है। इसके साथ ही पीठ की ओर दो उरःफलक भी बनाये हैं। ये पसलियाँ पीछे पृष्ठ-वंश के मणकों के साथ बँधी हैं और सामने की प्रथम सात पसलियाँ उरोऽस्थि के साथ बँधी हैं। और तीन अपने से ऊपर वाली पर्शुका ही में जुड़ जाती हैं। बाकी दो पसलियाँ सामने में छुटी रहती हैं। सम्मुख की उरोऽस्थि कई टुकड़ों के मिलने से बनी होती हैं। ये सब पसलियाँ नरम और लचकदार हैं। अतः वायु के कारण फेफड़ों के फैलने से ये भी फैल जाती हैं और वायु के निकलने से, फेफड़ों के संकुचित होने पर ये फिर अपनी स्थिति में आजाती हैं।

फेफड़े (Lungs)—दो हैं, जो कि दक्षिण और वाम पार्श्व में रहते हैं। इनमें दक्षिण फेफड़ा बायें फेफड़े से अधिक बड़ा होता है। इनका आकार ऊपर से तंग और नीचे से चौड़ा होता है। रंग लाल होता है। वजन प्रत्येक फेफड़े का लगभग १॥ पौण्ड होता है।

फेफड़े स्पञ्ज की भाँति संकुचित और विकसित हो सकते हैं। फेफड़ों

के अन्दर छोटे-छोटे अनन्त छिद्र होते हैं, जो कि हवा से भरे होते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि इन सब छिद्रों की संख्या तीस करोड़ है और ये छिद्र हवा से भरने पर १४०० फ़ोट वायु को रोकते हैं। ये छिद्र चारोंओर से सूक्ष्म रक्तवाहिनियां द्वारा घिरे हुये हैं। प्राण-वायु द्वारा जब ये छिद्र भरकर फूलते हैं तो इनकी प्राण-वायु सूक्ष्म दीवाल पार कर अशुद्ध रक्त के साथ मिलकर उसको उज्ज्वल, लाल बना देती है और उसका कालापन उसी दीवाल से छिद्र-गुहा में आकर श्वास-पथ से बाहर होजाता है।

और जब ये छिद्र किसी कारण से बन्द हो जायँ, जिससे कि वायु द्वारा फूल न सकें; तो वह अवस्था रोग की होती है। यथा—दोनों दीवालें सूजन के कारण आपस में जुड़ जायँ अथवा कफ के कारण भर जायँ—जैसे कि कई रोगों में होजाता है।

एक वृहत् श्वास-मार्ग गले से उतरकर दो भागों में (दक्षिण और वाम) विभक्त होते हैं और फिर प्रत्येक भाग दो या तीन भागों में बँट गये हैं और ये भाग और छोटे भागों में। इस प्रकार बँटते-बँटते ये भाग फुफ्फुस के प्रत्येक छिद्र तक पहुँच जाते हैं। अथवा वही श्वास-पथ अन्त में इन छिद्रों में बदल गया है।

हृदय (Heart)—अपने उर.स्थल में बायें चूचक के दो अंगुल नीचे धड़कनेवाले अवयव को "हृदय" शब्द से जानते हैं। इसका स्थान छाती के मध्य भाग में और वाम फेफड़े के अन्दर होता है। जहाँ कि साधारणतः प्रेम-प्रदर्शन करने के लिये हाथ रक्खा जाता है, वही स्थान हृदय का है। प्रेम का और हृदय का क्या सम्बन्ध है इस बात का कवियों को अतिरिक्त अभी वैज्ञानिकों को पता नहीं लगा।* उनके लिये तो यह केवल मांस से बना एक लोथा है, जो कि शरीर से अशुद्ध रक्त को एकत्रित करता है और शुद्ध कराने के लिये उस रक्त को दोनों फेफड़ों में भेज देता है। वहाँ से प्राण-वायु के संसर्ग से शुद्ध होने पर पुनः यहीं वापस आजाता है और यहाँ से फिर शरीर की पुष्टि के लिये सारे शरीर में धकेला जाता है। इस प्रकार से यह एक पंपिंग (Pumping) स्टेशन का कार्य करता है।

* "हृदयंत्वेव जानाति प्रीति योगं परस्परम्।
तथैव रामः सीताया प्राणेभ्योऽपि प्रियो ऽभवत्॥" भवभूति
परस्पर की प्रीति को हृदय जानता है। इसीसे राम-सीता को प्राणों से भी अधिक प्रिय हुये।

इस "हृदय" के मुख्य दो भाग हैं। एक दाहिना और दूसरा बाम। दाहिना भाग शरीर के अशुद्ध रक्त से सम्बन्ध रखता है, और वाम भागशुद्ध रक्त से। ये दोनों भाग फिर दो-दो भागों में बँटे हुये हैं। उनमें एक ग्राहक-क्षेपक अर्थात् लेनेवाला भाग है, और दूसरा क्षेपक-धकेलनेवाला भाग है। इस प्रकार से हृदय के चार कोठे होजाते हैं। एक कोठे से दूसरे कोठे में रक्त जा तो सकता है, परन्तु इन कोठों में लगी कपाटिकाओं के कारण वापस नहीं हो सकता।

हृदय सम्पूर्ण शरीर के रक्त को दो महाशिराओं द्वारा एकत्रित करता है और एक महाधमनी के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में भेजता है।

उरोदर पटल (Diaphragm)—उरोगुहा और उदर-गुहा को एक दूसरे से अलग करने के लिये यह घूँघट जैसा परदा रहता है। यह मांस से बना है। इस परदे का सम्बन्ध ऊपर दोनों फेफड़ों से और हृदय से रहता है। नीचे यकृत्, आमाशय और प्लीहा से मिला रहता है। यह परदा श्वास-प्रश्वास कार्य में विशेष सहायता देता है।

इस परदे के बीच में तीन मुख्य और बड़े छिद्र हैं। एक छिद्र हृदय से निकलती हुई महाधमनी का है, और दूसरा अन्नमार्ग का, जो आमाशय मुख से मिला है। तीसरा छिद्र अधूरा महाशिरा का है, जो कि निचले शरीर का अशुद्ध रक्त लेकर हृदय की ओर जाती है।

उदरगुहा (Abdomen)

शरीर की सबसे बड़ी गुहा उदरगुहा है। इस गुहा के पिछले भाग में पृष्ठवंश की सबसे बड़ी, मोटी कसेरुकायें आती हैं। इसका सम्मुख का और पार्श्ववर्ती भाग मांसमय पेशियों से बना हुआ है। इसी के अन्दर सब छोटे-बड़े अवयव रहते हैं। इन अवयवों को एक झिल्ली लपेटे रहती है, जिसका एक पार्श्व नीचे अवयवों के साथ है और दूसरा ऊपर की ओर आया हुआ है।

इस गुहा में अवयवों की स्थिति समझने के लिये दो सीधी लम्बी रेखायें चूचक से लेकर नीचे तक खींचनी चाहिये और फिर एक आड़ी रेखा दसवीं पर्शुका से आरम्भ करके दूसरी ओर की दसवीं पर्शुका तक खींचनी चाहिये और दूसरी आड़ी रेखा नाभि के नीचे से दोनों जघनकूटों को (जहाँ

धोती बाँधी जाती है) मिलाती हुई खींची जानी चाहिये। इस प्रकार से ९ भाग बन जाते हैं। इनमें अवयव निम्न प्रकार से रहते हैं।

यहाँ पर यह स्मरण कर लेना चाहिये कि दक्षिण और वाम शब्द का प्रयोग नाभि से बीच में सीधी लम्बी रेखा खींचने पर उसके लिहाज़ से किया गया है।

दक्षिण-पार्श्व के अवयव	मध्यप्रदेश के अवयव	वामपार्श्व के अवयव
याकृतिक प्रदेश १—यकृत, क्लोम, सूक्ष्मांत्र का प्रथम भाग; बृहदंत्र का ऊपर जाने वाला भाग और यकृत के पीछे पीठ की ओर दक्षिण वृक्क।	आमाशयिक प्रदेश १—आमाशय के मध्य का भाग, यकृत का वाम खण्ड।	प्लैहिक-प्रदेश १—आमाशय का वाम भाग, प्लीहा, बृहदांत्र का नीचे जानेवाला भाग, वाम वृक्क।
दक्षिण कटि-प्रदेश २—बृहदंत्र का ऊर्ध्व-मुखी भाग, दक्षिण वृक्क; सूक्ष्मांत्र का थोड़ा-सा भाग।	नाभि प्रदेश २—बृहदांत्र का आड़ा भाग; सूक्ष्मांत्र की कुण्डलियाँ।	वाम कटि-प्रदेश २—बृहदांत्र का अधोमुखी भाग, वाम वृक्क, सूक्ष्मांत्र की कुंडली, अग्नाशय।
दक्षिण श्रोणि-प्रदेश ३—सूक्ष्मांत्र का अंतिम सिरा और बृहदांत्र के प्रारम्भ का भाग, पेशाब लानेवाली दक्षिण नलिनी।	(वस्ति) पेडू-प्रदेश ३—सूक्ष्मांत्र की कुण्डली, मूत्राशय, गर्भ से बढ़ा हुआ गर्भाशय।	वाम श्रोणि-प्रदेश ३—बृहदांत्र का निचला भाग और गुदा का उपरला भाग, वाम नलिनी।

उपरोक्त कोष्ठक से यह सुगमता-पूर्वक समझा जा सकता है कि कौन-कौनसा अवयव किस-किस स्थान पर है।

आमाशय—मुँह से आरम्भ होकर गुदा तक समाप्त होनेवाली नलिका का नाम "अन्न-प्रणाली" है। आवश्यकतानुसार यह कहीं पर तंग और कहीं पर चौड़ी होगई है। यथा—आमाशय-प्रदेश में फैलकर चौड़ी बन गई है। इस चौड़े भाग का नाम आमाशय या स्टमक (Stomach) है।

मुँह से खाया हुआ सब प्रकार का पतला, मोटा, अच्छा, बुरा भोजन यहीं पर पहुँचता है। इस आमाशय के दायें ओर यकृत, और बायें ओर प्लीहा है।

मुँह में दाँतों से चबाया हुआ भोजन, लाला-ग्रन्थियों की लार से मिलकर मधुर बना हुआ भोजन जब आमाशय में पहुँचता है तो कुछ समय के लिये यहाँ रुक जाता है। इस समय आमाशय अपने आमाशयिक-रस को उस भोजन में मिला देता है, जिससे कि वह पचने में सुपच बन जाता है। यह रस इसकी दीवालों से चूता है।

इसका आकार पानी से भरी मशक के समान होता है और इसकी दीवालें मांस-तन्तुओं से बनी हैं, जो कि भोजन की मात्रा के अनुसार फैल सकती हैं। इसकी ऊपर की भित्ति चिकनी है और अन्दर की सतह खर-खुचरी और खुरदरी है। उसमें शहद की मक्खी के छत्ते की भाँति छिद्र से बने होते हैं। इनमें ग्रन्थियाँ रहती हैं जो कि आमाशयिक-रस को उत्पन्न करती हैं।

सब भोजन का पाचन आमाशय में नहीं होता। चिकने पदार्थ, घी और तैल आदि आगे आँतों में पचते हैं। यहाँ भोजन आमाशयिक-रस पचने में सुगम कर देता है। यहाँ से परिवर्तित भोजन आँतों में जाता है। साधारणत: प्रत्येक भोजन आमाशय में तीन घण्टे तक रुकता है और भोजन करने के ½ घण्टे पश्चात् आँतों में जाना प्रारम्भ होजाता है।

'अन्ननल महास्रोत' (Alimentary Canal)—इस नल का प्रारम्भ मुँह में दाँतों से आरम्भ होकर गुदा के अन्तिम भाग तक समाप्त होता है। इसकी लम्बाई ३० फ़ीट है। इस नल में अन्य समीपवर्त्ती ग्रन्थियाँ भी अपना-अपना रस भेजती रहती हैं। यही रस उस भोजन के पचने में अति आवश्यक भाग है। इस रस के कारण छः रसोंवाला भोजन बदलता हुआ, नाना प्रकार के रूपों में से होता हुआ शरीर का पोषण करता है। यह नलिका गले में श्वास-मार्ग के पीछे रहती है और फिर उरोदर पटल को भेदन करके आमाशय की मुख से मिल जाती है। खाया हुआ भोजन श्वास-मार्ग में न आजाय, इसलिये श्वास-मार्ग पर एक कपाटि रहती है जो कि ग्रास के निगलने के समय श्वास-मार्ग को बन्द कर लेती है।

इस नलिका में लाला-ग्रन्थियाँ जो कि कान और जीभ के नीचे

रहती हैं, अपना रस मिलाकर भोजन के नशास्ता भाग को मधुर विपाक में बदल देती हैं।

आंत्र या पक्वाशय—आमाशय का निचला भाग आंत्र मुख से (चित्र १३ आकृति) मिला हुआ है। इन आंत्रों की कुल लम्बाई २७-२८ फ़ीट लम्बी है, परन्तु ये आँतें उदर-गुहा में इस प्रकार से कुण्डली मारकर पड़ी हैं कि देखने में इतनी लम्बी प्रतीत नहीं होतीं। आँतों के दो भाग हैं। एक सूक्ष्मांत्र और दूसरी वृहदांत्र।

सूक्ष्मांत्र—वृहदांत्र की अपेक्षा यह पतली और बहुत अधिक लम्बी हैं। यह आशामय के निचले भाग से प्रारम्भ होती हैं और फिर कुण्डली मारकर नाभि और वस्ति-प्रदेश में पड़ी हुई हैं। इसका दूसरा सिरा दक्षिण श्रोणि प्रदेश में आता है और वहाँ वृहदाँत्र के मुख से मिल जाता है। (चित्र में १६ चिन्ह)

इन आँतों की लम्बाई २० फ़ीट और मोटाई १ से १½ इञ्च है। इसका प्रारम्भ मुख घोड़े की नाल की भाँति टेढ़ा मुड़ा हुआ है। इस भाग को "ग्रहणी" कहते हैं। इस स्थान में यकृत के साथ जुड़ा क्लोम अपना पित्त रस और अग्नाशय अपना रस इन सूक्ष्मांत्रों में पहुँचाता है, जहां कि वह आमाशय से आये हुये भोजन से मिल जाता है।

सूक्ष्मांत्र अन्दर से नली की भाँति खोखली हैं। ये नली भिन्न-भिन्न प्रकार के चार पटों से बनी हैं। इनमें एक पट मांस की बनी है। इसके रेशे गोल और उभरे हुये हैं। सम्पूर्ण सूक्ष्मांत्र में यह मांस-तन्तु एक ही समय संकुचित और विकसित नहीं होते। परन्तु थोड़े-थोड़े समय के अन्तर में कुछ-कुछ भाग संकुचित होता रहता है। इससे जब एक भाग संकुचित होता है तो दूसरा अगला भाग फैला रहता है। जिससे संकुचित भाग के अन्दर का पदार्थ अगले फैले हुए भाग में आजाता है। इस प्रकार से यह चलता हुआ पदार्थ सूक्ष्मांत्र के अन्तिम मुख पर आ पहुँचता है और वहाँ से वृहदाँत्र में प्रविष्ट हो जाता है। आँतों के अन्दर का भाग खुरदरा और अंकुरों जैसे उभार-वाला है। ये उभार १ से २ इञ्च लम्बे और आध इञ्च मोटे होते हैं। इनके अन्दर भोजन को चूसनेवाली रगें लगी रहती हैं। और इन सब रगों के मिलने से एक बड़ी नलिका बनती है और यह नलिका दक्षिणी पार्श्व में जाकर मोटी शिरा में मिल जाती है।

इन आँतों से एक प्रकार का रस निकलता है। यह रस भोजन-परिपाक में विशेष सहायता करता है और आँतों में विदाह उत्पन्न नहीं होने देता।

वृहदांत्र—दक्षिण श्रोणि-प्रदेश से इसका प्रारम्भ होता है और वाम श्रोणि-प्रदेश में इसकी समाप्ति। इसके मुख्य तीन भाग हैं। एक भाग तो दक्षिणी पार्श्व में ऊपर याकृतिक प्रदेश तक पहुँचा है और दूसरा भाग याकृतिक प्रदेश से आड़े रूप में चलकर प्लैहिक प्रदेश तक पहुँचा है और तीसरा जो इसका अधोभाग है, प्लैहिक भाग से चलकर नीचे श्रोणि-प्रदेश में पहुँचता है। इसके आगे गुदामार्ग प्रारम्भ होता है।

वृहदांत्र की लम्बाई ५ फ़ीट है और ऊर्ध्वगामी भाग २॥ इञ्च मोटा है और आगे पतला होता गया है और अन्त में इसकी मोटाई १॥ इञ्च से अधिक नहीं रहती।

गुदामार्ग—वृहदांत्र के अधोभाग का निचला भाग वाम श्रोणि-प्रदेश में होकर फिर मध्य भाग में वस्ति-प्रदेश की ओर आता है और वहाँ गुदा के रूप में परिवर्तित होजाता है।

गुदा-मार्ग के सम्मुख में मूत्राशय और स्त्रियों में गर्भाशय तथा पीछे पृष्ठ वंश के कटि-कशेरू के निचले कशेरू रहते हैं। गुदाभाग की लम्बाई ६ से ८ इञ्च तक होती है।

यकृत—उरोदर-पटल के नीचे दक्षिण की तरफ़ आधी उदर-गुहा को घेरे हुये, पके हुये जामुन के रंगवाला सबसे बड़ा अवयव है। इसका भार दो सेर के लगभग होता है। इसके दो भाग हैं, एक बड़ा दक्षिणी-खण्ड और दूसरा छोटा वाम-खण्ड। यह दूसरा खण्ड प्रायः आमाशय के ऊपर रहता है। दक्षिण-खण्ड स्वस्थ अवस्था में पसलियों तक रहता है; परन्तु रोग की अवस्था में नीचे भी सरक आता है। इसकी लम्बाई लगभग एक फ़ीट और चौड़ाई आठ इञ्च होती है। इसके नीचे आंत्र और पीछे की ओर दक्षिण वृक्क रहता है। इसका जामुन जैसा रंग रक्त के कारण होता है।

इसका मुख्य कार्य रक्त का शोधन और भोजन को पचने में सहायता करना है। दूसरा इसका कार्य स्टोर-कीपर—भण्डारी का है। अर्थात् शरीर में जो वस्तु अधिक बन जाती है, उसको अपने पास सुरक्षित रखता है और

जरूरत पड़ने पर उस स्थान में भेज देता है। इन संग्रहीत रहनेवाली-वस्तुओं में मुख्य वस्तु शर्करा है।

इसके अतिरिक्त यह यकृत "पित्त" नामक पदार्थ के बनाकर क्लोम में एकत्रित करता है, जो अन्न-पाचन में विशेष सहायक होता है। इस पित्त के कारण भोजन का चिकना भाग शीघ्र पच जाता है। यह पित्त शरीर की कृमियों से रक्षा करता है। मल में पीला रंग इसी का होता है। पित्त के न आने से कई प्रकार के रोग होजाते हैं। नीरोग शरीर में चौबीस घण्टे के अन्दर लगभग १½ सेर पित्त उत्पन्न होता है।

क्लोम (Gall Bladder)—इसका आकार गाजर की भाँति होता है। इसको यकृत अपने नीचे के और अन्दर छिपाकर रखता है, अतः ऊपर से देखने में इसका पता नहीं लगता। यकृत पित्त बना-बनाकर इसमें एकत्रित करता रहता है और जब भोजन ग्रहणी भाग में आने लगता है, उसी समय यह पित्त भी प्रणाली द्वारा उसमें आकर मिलने लगता है। जब सब भोजन समाप्त होजाता है तो प्रणाली से पित्त बहना भी बन्द होजाता है। जब कभी किसी रोग के कारण (यथा पित्ताश्मरी आदि) पित्त-प्रणाली का मुँह बन्द होजाता है तो यह पित्त रक्त में घुलने लगता है, जिससे आँखों में पीलापन आजाता है और पित्त के अभाव से मल का रंग श्वेत या भूरा होजाता है।

अग्नाशय—यह अवयव वाम कटि-प्रदेश में आँतों के नीचे रहता है। इसका आकार पिस्तौल के आकार की भाँति है। इससे भी एक प्रकार का रस ग्रहणी में पित्त-प्रणाली के द्वारा आकर गिरता है। यह रस भोजन के पचाने में भाग लेते हैं। इसकी प्रतिक्रिया क्षार है। इस रस का अभाव या इस अवयव का विकार शरीर में शर्करा की वृद्धि कर देता है, जो मूत्र-मार्ग से बाहर आने लगती है।

प्लीहा—नाभि के वाम पार्श्व में, ९, १०, ११ वीं पसली के नीचे यह अवयव रहता है। रोग-विकार में और अधिक नीचे उतर आता है, जिसको कि हाथ से छूकर स्पर्श भी कर सकते हैं। इसका रंग काला भूरा-सा होता है। इसकी लम्बाई ५ इञ्च, चौड़ाई ३ इञ्च और भार १० से १५ तोला होता है।

इसका मुख्य कार्य रक्त-शोधन करना है। रक्त के श्वेत कण यहाँ

आकर लाल बनते हैं। ज्वर आदि में यह बहुत अधिक बढ़ जाती है। यहाँ तक कि कई बार नाभि से नीचे भी आजाती है और कई बार इतनी घट जाती है कि इसका वजन एक तोले तक आजाता है। आधुनिक वैज्ञानिक इसका विशेष गुण अभी बता नहीं सके।

मूत्र-स्थान अवयव

ये अवयव पीठ की ओर कटि-प्रदेश में स्थित हैं। इन अवयवों में तीन अवयव मुख्य हैं।

एक—मूत्र को उत्पन्न करनेवाले दक्षिण और वाम; दो वृक्क।

दूसरा—मूत्र को मूत्राशय तक ले जानेवाली दो गविनियाँ या मूत्र-प्रणालियाँ।

तीसरा—इस लाये हुये मूत्र को संचित करनेवाला मूत्राशय।

वृक्क या मूत्र पिण्ड—ये दो हैं। ये याकृतिक और प्लैहिक प्रदेश में पीठ की ओर दोनों तरफ़ कटि-प्रदेश तक रहते हैं। प्रत्येक गुरदा या वृक्क चार इञ्च लम्बा, दो इञ्च चौड़ा और एक इञ्च मोटा होता है। इसका वज़न १० से १२ तोला होता है। बाहर से साफ़ और चिकना होता है। इसका आकार शिम्बी बीज के समान होता है। दक्षिण वृक्क वाम वृक्क से कुछ आध इञ्च ऊँचाई पर रहता है।

प्रत्येक वृक्क बारीक-बारीक नालियों से बना हुआ है। इन नालियों के आस-पास रक्त-वाहिनियों के सूक्ष्म जाल बिछे हुये हैं और इन नालियों में छनना लगा होता है। एक नाली देखने में ज़रा-सी दीखती है, परन्तु वह घूम-घूमकर बड़ी होती है। इन नालियों द्वारा रक्त-वाहिनियों में से मूत्र-जल तथा कुछ नमक पृथक् होजाता है, जिस जल की मात्रा स्वस्थ पुरुष में २४ घन्टे के अन्दर १ सेर से १॥ सेर तक होती है। वृक्क के अन्दर की सब छोटी-छोटी नालियाँ मिलकर वृक्क की वस्ति में आती हैं और वहाँ से एक बनकर मूत्रवाहिनी के रूप में बाहर आती हैं।

मूत्रवाहिनी या गविनी—ये दो हैं। इनका ऊपरी सिरा वृक्क के साथ और निचला सिरा मूत्राशय के साथ मिला होता है। वृक्क में बना मूत्र एक-एक बूँद के रूप में इनके द्वारा मूत्राशय में आता रहता है और यहाँ एकत्रित होता है। कभी-कभी पत्थरों आदि के कारण इनका मार्ग जो कि मूँग

के दाने के समान होता है—बन्द होजाता है। तब बड़ी विषम स्थिति होजाती है।

मूत्राशय—इसका स्थान नाभि से नीचे पेडू प्रदेश में है। वृक्कों से बूँद-बूँद करके टपकता हुआ मूत्र यहाँ पर कुछ समय तक एकत्रित रहता है और जब यह मूत्राशय भर जाता है, तब मनुष्य को मूत्रत्याग की इच्छा होती है। इसका आकार अंडे की भाँति होता है। इसकी रचना केवल मांस-मय तन्तुओं से हुई है। इसके अन्दर तीन छिद्र हैं, जिनमें दो छिद्र मूत्र-वाहिनियों के हैं और तीसरा छिद्र मूत्र के बाहर निकलने के लिये है। इसका सम्बन्ध शिश्न के अन्तर्गत मूत्र-मार्ग से है। ज्यों-ज्यों मूत्र इसमें भरता जाता है, मांस-तन्तु विकसित होते जाते हैं और मूत्र निकलने पर फिर संकुचित होजाते हैं। कई रोगों में यह संकोच और विकास की शक्ति नष्ट होजाती है। अत: मनुष्य को बार-बार मूत्र जाने की इच्छा होती है।

जननेन्द्रिय-अवयव

जो अवयव संतति को उत्पत्ति में भाग लेते हैं, उन सबों को "जननेन्द्रिय अवयव" या "उत्पादक अवयव" कहा जाता है। स्त्री और पुरुष के अवयव भिन्न २ स्वरूप के होते हैं, परन्तु योगिक दृष्टि से दोनों अवयव—बाह्य अवयव—एक ही हैं। केवल प्रकार-भेद है; ऐसा योगी लोग मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुरुष के दोनों वृषण स्त्री के दोनों डिम्बकोष हैं और पुरुष का शिश्न स्त्री की बाह्य-योनि है।

पुरुष के जननेन्द्रिय अवयव—इसमें मुख्य अवयव तीन हैं। यथा—वृषण, वीर्याशय और शिश्न।

वृषण—(Testicles)—पेडू प्रदेश के नीचे, दोनों जंघाओं के सन्धि-स्थान के नीचे, मध्य में, गुठली की भाँति लटकनेवाली दो ग्रन्थियाँ हैं। ये ग्रन्थियाँ गर्भाशय में उदर-गुहा के अन्दर रहती हैं। पीछे आठवें मास में अथवा गर्भोत्पत्ति के कुछ समय बाद उदर-गुहा से सुरंग-मार्ग द्वारा उतरकर वृषण थैलियों में आजाती हैं। जहाँ ये दोनों गोलियाँ अन्य रक्त-वाहिनियों नसों से बँधी हुई लटकती रहती हैं। इनका आकार अंडे की भाँति लम्बोतरा होता है। दक्षिणी वृषण, वाम वृषण की अपेक्षा अधिक ऊँचा और पतला होता है। प्रत्येक गोली की लम्बाई १ से १½ इञ्च, चौड़ाई १¼ इञ्च और मोटाई १ इञ्च होती है। स्वस्थ शरीर में प्रत्येक गोली का वज़न २ से २½

तोले तक होता है। इस थैली के एक परदे के द्वारा दो भाग बने होते हैं। कई बार ये अण्डे नीचे अण्डकोषों में नहीं उतरते और उदर-गुहा ही में रहते हैं। अथवा एक अण्ड उतरता है और दूसरा वहीं रहता है। गोली के ऊपर एक मोटा, मजबूत, श्वेत पट होता है और इसके नीचे एक दूसरा पतला पट होता है। इस पट के नीचे प्रत्येक गोली में ८०० सूक्ष्म नलिकायें लगी होती हैं। इन नलिकाओं में प्रत्येक नली की मोटाई $\frac{1}{२००}$ इञ्च के बराबर होती है और लम्बाई कम से कम १३ इञ्च और अधिक से अधिक ३३ इञ्च होती है। इस प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म नलिकाओं से इन गोलियों की रचना हुई है। इस गोली में दो-दो, तीन-तीन नालियाँ मिलकर आगे-आगे मोटी होती जाती हैं। नली के बाहर श्वेत नसों का जाल बिछा होता है। इन नसों ही में रक्त से धातु उत्पन्न होता है। इन गोलियों को लटकानेवाली रगों में एक शिरा, एक धमनी और एक रस्सी (स्परमेटिक-कॉर्ड) होती है। शिरा के अन्दर जब रक्त भर आता है, तो सूज जाती है। इन रगों का सम्बन्ध उदरगुहा की रगों के साथ होता है।

वृषण के साथ ही एक दूसरा अवयव लगा होता है, जिसको 'उपाण्ड" या "पुच्छ" कहते हैं। वास्तव में यह उपाण्ड अण्डकोष से निकलती हुई वीर्य-वाहिनियों की रगें हैं, जो प्रायः धीरे-धीरे एकत्रित होती जाती हैं और अन्त में एक मुख्य वीर्य-वाहिनी बनकर उपरोक्त रगों के साथ ऊपर जाकर मूत्राशय के पीछे वीर्याशय में पहुँचती हैं। पूय मेह आदि में जब विष इस उपाण्ड में रुक जाता है तो इसकी सूजन होजाती है और इनका मार्ग रुक जाता है।

वीर्याशय—अण्डकोष से उत्पन्न वीर्य, वीर्य-वाहिनयों द्वारा वीर्याशय में आकर एकत्रित होता है, जिस प्रकार मूत्र वृक्कों में उत्पन्न होकर मूत्राशय में एकत्रित होता है। इस वीर्याशय का स्थान मूत्राशय के पीछे की ओर और गुदा के आगे है। इस वीर्याशय में भी तीन छिद्र हैं। दो छिद्र वीर्य-वाहिनियों के लिये और एक छिद्र वीर्य के मूत्र-मार्ग में जाने के लिये, जो मूत्राशय से निकलते हुये मूत्र-मार्ग से मिलकर एक होगया होता है।

शिश्न—यह सम्भोग का साधन है। मूत्र-मार्ग इसमें होकर जाता है। यह तीन सुदृढ़ पेशियों से बना हुआ है। ये पेशियाँ दण्डाकार हैं। इनमें दो पेशियाँ बराबर-बराबर रक्खी हैं और तीसरी पेशी दोनों के नीचे है। बीच

में मूत्र-मार्ग रहता है। इन पेशियों में रक्त-वाहिनियाँ विशेष रूप से आती हैं और जब ये रक्त से भर जाती हैं तो यह शिश्न सुदृढ़ और मजबूत होजाता है और रक्त के वापस होने पर पुनः शिथिल होजाता है। साधारणतः इसकी लम्बाई तीन से चार इञ्च रहती है, परन्तु रक्त के कारण तनने पर ६, ७ इञ्च तक होजाती है।

स्त्रियों कें जननेन्द्रिय अवयव—इनको दो भागों में विभक्त किया हुआ है। एक वे इन्द्रियाँ जो बाहर हैं और आँखों से देखी जा सकती हैं। दूसरी वे इन्द्रियाँ जो उदर-गुहा के अन्दर रहती हैं और जिनको हम साधारणतः नहीं देख सकते। बाह्य-इन्द्रियों में योनि या भग-प्रदेश का अवयव है और अन्तः इन्द्रियों में गर्भाशय और इसके साथ सम्बन्धित अन्य अवयव।

योनि—पुरुषों में जहाँ शिश्न अवयव रहता है, वहाँ स्त्रियों में यह अवयव आता है। इसका आकार गवाक्ष की भाँति होता है। इसके अन्दर कुल मिलाकर सात अवयव हैं। यथा—दो वृहत् भगोष्ठ, दो लघु भगोष्ठ, एक भग-शिश्निका, एक भगालिन्द, एक मूत्र-प्रेषक-द्वार, एक भग-द्वार और एक भगाञ्जलिका।

वृहत् भगोष्ठ लघु भगोष्ठ को छिपाकर अपने अन्दर रखता है। इस वृहत् भगोष्ठ ही पर बाल उगे होते हैं, यह चर्बी से भरा होता है। ये दोनों ओष्ठ अन्दर के अवयवों को बचाकर सुरक्षित रखते हैं। भग-शिश्निका—यह अवयव पुरुषों के शिश्न के अनुरूप होता है। जिस समय इस अवयव में रक्त-संचार बढ़ता है, उस समय इसका आकार भी शिश्न की भाँति बढ़ जाता है। इसके नीचे मूत्र-प्रेषक-द्वार है, जहाँ से मूत्राशय से मूत्र बाहर होता है और जिसके नीचे भग-द्वार या योनि-द्वार है। कुमारियों में इस छिद्र के ऊपर एक पतली झिल्ली रहती है, जिसमें एक साधारण छोटा-सा छिद्र होता है, जिससे रज बाहर आता है और प्रथम सम्भोग के समय यह झिल्ली फट जाती है, जिससे थोड़ा रक्त निकलता है और झिल्ली दोनों पार्श्वों में खिंच आती है। इस आवरण को कुमारी-आवरण कहते हैं। कई बार इसमें छेद नहीं होता, तब रज का अवरोध होजाता है। उस समय चिकित्सक की सहायता सापेक्ष होती है।

अन्तः अवयवों में—गर्भाशय, बीज-वाहिनी (डिम्ब-प्रणाली), बीज-कोष (डिम्ब-कोष) हैं।

गर्भाशय (Uterus)—इसका स्थान वस्ति-प्रदेश में मूत्राशय और गुदा के बीच में आया हुआ है। गर्भाशय का आकार अमरूद या नासपाती के समान ऊपर से बड़ा चौड़ा और नीचे से तंग और पतला है।* यह ३ इञ्च लम्बा और १ इञ्च चौड़ा होता है। कुमारी अवस्था में इसका भार २ से ४ तोला तक होता है। यह मांसमय तन्तुओं से बना रहता है और ज्यों-ज्यों गर्भ बढ़ता जाता है, यह भी उसी के अनुसार आकार में बढ़ता जाता है और ९ वें मास की गर्भस्थिति में नाभि से ऊपर भी बढ़कर आमाशय प्रदेश तक पहुँच जाता है। यह अन्दर से पोला होता है। इस गर्भाशय को आठ मांसपेशियाँ ख़ूब दृढ़ रूप में बाँधकर रखती हैं। इनके कारण ही वह इतने भार को उठा सकता है। नीचे का मुख कमल कहलाता है। यह कमल मुख आगे चलकर योनि-मार्ग से मिल जाता है। साधारणत: यह मुख बन्द रहता है, परन्तु ऋतुकाल में यह खुल जाता है, जिससे रज बाहर होजाता है। रज-स्राव के पन्द्रह दिन पश्चात् यह मुख पुन: बन्द होजाता है।

गर्भाशय के शिखर पर दो नालियाँ लगी होती हैं, जिनकी लम्बाई ३ से ४ इञ्च तक होती है।

'स्त्री अण्ड' (फल कोष) इसका आकार बादाम की भाँति होता है। ये दो होती हैं। इनमें प्रत्येक ग्रन्थि १½ इञ्च लम्बी ¾ इञ्च चौड़ी और मोटाई में ½ इञ्च होती है। प्रत्येक ग्रन्थि का भार ½ से ¾ तोला होता है। इन कोषों में छोटे-छोटे बीज रक्खे रहते हैं। इन बीजों में एक श्वेत तरल द्रव भरा रहता है। जिस समय ये अण्ड ख़ूब मज़बूत होते और पक जाते हैं, उस समय यह बीज अपने कोष को वहीं छोड़कर डिम्ब-प्रणाली के द्वारा गर्भाशय में आजाता है। यह बीज जब पक जाता है, तब बीज-वाहिनियों के किनारे पर लगी झालर इसको पकड़ लेती है और वहाँ से गर्भाशय में आजाता है।

'फलवाहिनी' बीज वह स्रोत (Fallopian tube)—ये दो हैं; और गर्भाशय के दक्षिणी और वाम भाग में एक-एक जुड़ी हुई हैं। एक प्रान्त गर्भाशय से मिला हुआ है और दूसरा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र प्रान्त के सिरे पर झालर लगी रहती है। इस झालर के सिरे साधारणत: स्त्री अण्डकोष (Ovary) से मिले नहीं रहते। परन्तु ऋतुकाल में जब कि डिम्ब पककर गर्भाशय में जाने लगता है, उस समय ये प्रान्त अण्डकोष के बहुत ही

*सुश्रुत में गर्भाशय की उपमा रोहितमत्स्य के मुख से दी है।

नज़दीक आज़ाते हैं, यहाँ तक कि विद्वानों की धारणा है कि यह अन्तर १/४ से १/१२ इञ्च रह जाता है। झालर के प्रान्त इस पके हुये डिम्ब को डिम्बकोष के मुख से खींच लेते हैं, जिस प्रकार कि चुम्बक लोहे को दूर से खींच लेता है। इस डिम्ब को अपने अन्दग लेकर झालर के प्रान्त अब बाहर लटकने की अपेक्षा अन्दर को मुड़ जाते हैं। इससे डिम्ब सुरक्षित रूप में फलवाहिनी मार्ग से गर्भाशय में पहुँच जाता है; परन्तु कई बार ऐसा भी होजाता है कि इसी फलवाहिनी में डिम्ब और शुक्रकीट का परस्पर संयोग होजाता है। उस समय गर्भ, गर्भाशय में न रहकर यहीं फलवाहिनी में कुछ दिन बढ़ता है और जब बड़ा होने लगता है, तब माता को कष्टदायक होता है और फिर डाक्टर को चाकू से कार्य करने की आवश्यकता होती है।

ये फलवाहिनी, पुरुषों की वीर्यवाहिनी की प्रतिरूप होती हैं और डिम्बकोष, अण्डकोष का; डिम्ब-वीर्य के कीटाणु के प्रतिरूप हैं, यह मान्यता लोगों की है।

स्तन—दो हैं। ये स्त्रियों ही के जननेन्द्रिय अवयव हैं। जिस प्रकार कि युवावस्था के प्रारम्भ होने पर उत्पादन अंगों में वृद्धि, रक्त-संचार का बढ़ना आदि होता है उसी प्रकार स्तनों में भी वृद्धि होने लगती है। इनके अन्दर के दुग्धवाहक स्रोत और दुग्धवाहिनी ग्रन्थियाँ बढ़ने लगती हैं। चूचक ऊपर को उठने लगते हैं। विशेष परिवर्त्तन गर्भाधान होने पर होता है। जिस समय ऋतुदर्शन गर्भाधान ही के कारण बन्द होजाता है, उस समय रक्त-संचार स्तनों में बढ़ने लगता है। इससे वे अधिक पीवर–मोटे होजाते हैं। ऋतु ही स्तनों में जाकर दूध के रूप में बदल जाता है। यही कारण है कि जबतक ऋतु दर्शन होता है, तभी तक स्तनों में दूध नहीं आता है और जिस समय माता बच्चे को दूध गिलाती है, उस समय आर्त्तव-स्राव भी नहीं हो[ता]; और जब आर्त्तव-स्राव नहीं होला, तब गर्भाधान भी नहीं हो सकता। अ[त]: [ग]र्भाधान को रोकने का सहज उपाय देर तक दूध पिलाना है।

स्तन देखने में मांस का एक टुकड़ा है। इसके अन्दर रक्तवाहिनी, दुग्धवाहिनी आदि प्रणालिकायें और दुग्ध ग्रन्थियाँ फैली हैं। ये ग्रन्थियाँ रक्त में से दूध को पृथक् करके दुग्ध वाहिनियों द्वारा चूचक में भेजती हैं। सब दुग्धवाहिनियों के मुख चूचक में आकर खुलते हैं। प्रत्येक स्तन में दुग्धवाहिनियाँ १५ से २० हैं। कभी-कभी जब स्तन-विद्रधि रोग होजाता है,

उस समय इन दुग्धवाहिनियों को बचाकर अर्द्ध चन्द्राकार छेदन करना चाहिये। जिस समय शिशु के मर जाने पर या अन्य कारणों से स्तनों से दूध नहीं निकलता, उस समय माता को स्तनों पर भार और बेचैनी अनुभव होती है।

"शरीरं सर्वदा सर्वं सर्वथा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कात्स्न्र्येन वेद लोक सुखप्रदम्॥" चरक

शरीर की बनावट के तो संक्षेप में जान चुके। इसकी क्रिया को भी जानना चाहिये। बिना इस ज्ञान के हम अपने शरीर को स्वस्थ नहीं रख सकते। जिस क्रिया या शक्ति के कारण हम अपने हाथ-पाँव हिलाते हैं, या सोचते और देखते हैं, उसको प्राण या जीव कहते हैं और इस क्रिया या शक्ति के अभाव को मृत्यु कहते हैं। ये दोनों कार्य स्वाभाविक हैं; परन्तु अपने अज्ञान के कारण इनमें देर या जल्दी होजाती है। अर्थात् यदि हम अपने शरीर-शास्त्र की क्रियाओं से अनभिज्ञ न रहें तो मृत्यु शीघ्र हो सकती है। अत: इस अज्ञान को दूर करना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है। अज्ञान ही सब प्रकार के दु:खों का कारण है।

यह हमारा छ: अंगोंवाला शरीर मुख्यरूप से तीन गुहाओं में बँटा हुआ है। यथा—शिरोगुहा, उरोगुहा और उदरगुहा। इन तीन गुहाओं ही में शरीर के मुख्य कार्य करनेवाले अवयव रहते हैं। यथा—शिरोगुहा—सारे शरीर का नियन्त्रण करती है, सब प्रकार के ज्ञान इसके अन्दर आते हैं और सब प्रकार की आज्ञायें इसी गुहा से चलती हैं। दूसरी उरोगुहा में शरीर का पोषण करनेवाले रक्तावयव—फेफड़े और हृदय रहते हैं। सारे शरीर का रक्त यहाँ इस गुहा में आता है और फिर यहीं से सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। तीसरी उदरगुहा—इसमें सब प्रकार का भोजन पहुँचता है और उसका रस बनकर सारे शरीर को तर्पण करता है। इनमें से एक भी गुहा में किसी प्रकार का विकार होने से शरीर में विकार होजाता है। ये तीनों यद्यपि देखने में और कार्य-शक्ति में पृथक्-पृथक् लगती हैं; परन्तु है इन सबका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध। एक दूसरे को नियम में रखकर ये तीनों गुहायें आपस में रहती हैं।

इन तीनों गुहाओं में क्रम से तीन तत्त्व रहते हैं। जिस प्रकार यह प्रकृति सत्त्व, रज और तम से मिलकर बनी है, उसी प्रकार यह शरीर भी वात, पित्त और कफ से बना है। इनमें वात का स्थान शिरोगुहा में, पित्त का स्थान उरोगुहा में और कफ का स्थान उदरगुहा में है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ पर तो इतना ही समझना पर्य्याप्त है कि ये तीनों धातुएँ मुख्य भाग से उपरोक्त तीन गुहाओं में रहती हैं और इन तीन गुहाओं में शरीर को चलानेवाले मुख्य-मुख्य अवयव रहते हैं। यथा—

१. रुधिराभिसरण अवयव = Circulatory System
२. श्वासोच्छ्वास अवयव = Respiratory System
३. पक्काशय अवयव = Digestive System
४. मूत्राशय अवयव = Urinary System
५. जननेन्द्रिय अवयव = Generative System
६. चेतन अवयव = Nervous System
७. ज्ञानेन्द्रिय अवयव = Organs of Senses

इसके अतिरिक्त तीन धातु—वात, पित्त और कफ; सप्तधातु—रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र; तथा स्वाभाविक वेग—मल, मूत्र, छींक, आदि का भी वर्णन इसी अध्याय में किया जायगा, क्योंकि ये भी शरीर की क्रियाओं में विशेष भाग लेते हैं।

रुधिराभिसरण-यन्त्र

"देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः॥"

रक्त—शरीर को जीवन देनेवाला, शक्ति का आधार, कान्ति का सागर; यही अपना "रक्त या लहू" है। यह रक्त इस पाँच भौतिक शरीर में, छः रसोंवाले चार प्रकार के (भक्ष्य, लेह्य, चोष्य, और पेय) आहार से बनता है। यह परिवर्त्तन अपने यकृत और प्लीहा में होता है*। यह रक्त भोजन से पुष्टिकारक अंश को लेकर सम्पूर्ण शरीर में, शिर से लेकर

* "स खलु आप्यो रसः यकृत् प्लीहानौ प्राप्य रागतामुपैति॥" सुश्रुत

पैर के नख तक, छोटे-बड़े सब अवयवों में और सब स्थानों में दौड़ता फिरता है। जिस भाग में इसकी गति या संचार नहीं होता, वह स्थान निर्बल होजाता है, या मर जाता है। इसलिये इसको जीवन का आधार मानते हैं।

रक्त का दूसरा कार्य शरीर का शोधन है। शरीर के सब भागों में चक्कर काटता हुआ रक्त, जहाँ सब अवयव, सब तन्तुओं को ख़ुराक देता है, वहाँ उनके मल को अपने में मिलाता जाता है और फिर इस मल को ले जाकर शरीर से बाहर फेंकनेवाले अवयवों में पहुँचा देता है। वहाँ से यह मल नाना रूपों में बाहर होजाता है। यथा—त्वचा से पसीने के रूप में, प्रश्वास से दूषित वायु के रूप में और वृक्क से मूत्र के रूप में बाहर निकल जाता है। इस प्रकार से यह रक्त हमारे शरीर को धोता रहता है।

इसके अतिरिक्त रक्त का तीसरा काम शरीर को गरमी देना है। यदि किसी कारण से इसकी गति रुक जाती है तो शरीर ठण्डा होजाता है। विशेषत: वृद्धावस्था में या किसी तीव्र रोग के कारण (यथा—कुष्ठ) जब रक्त-संचार मन्द होजाता है, तब पाँव और अँगुलियों के अगले सिरे 'सुन्न' रहते हैं। अर्थात् वहाँ पर रक्त-संचार भली प्रकार नहीं होता। रक्त सारे शरीर में घूमता है, इसलिये सम्पूर्ण शरीर का ताप-परिमाण भी एक जैसा ही रहता है।

रक्त की रचना—जब कहीं कटने से रक्त निकलता है, तो वह पानी की तरह तरल होता है; परन्तु बाह्य वायु के संयोग से वह कुछ ही समय बाद जम जाता है। उस समय इसके दो भाग दिखाई देते हैं। एक वह जमा हुआ भाग जिसको "चक्का" कहते हैं और दूसरा पतला पानी जैसा भाग। इस जमे हुये भाग को और अधिक सूक्ष्म दृष्टि से अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से यदि देखें, तो इसके और कई भाग दिखते हैं। यथा—इसमें कुछ तन्तु धागे-से दिखाई देते हैं, जिनका जाल-सा बिछा होता है। इस जाल में गोल लम्बोतरे कण-से दिखाई देंगे, जिन कणों में कुछ लाल और कुछ श्वेत होंगे। इन कणों को "रक्ताणु" और "श्वेताणु" कहते हैं। रक्ताणु शरीर की पुष्टि करते हैं और श्वेताणु शरीर का शोधन। रक्ताणुओं में लोहू का भाग होता है। श्वेताणु—शरीर को हानि पहुँचानेवाले पदार्थ को अपने में घोल लेते हैं और बहते-बहते शरीर से मल फेंकनेवाले अवयवों में दे देते हैं। रक्ताणुओं की संख्या श्वेताणुओं से कहीं अधिक रहती है। इनका आकार

गोल परन्तु दोनों तरफ से पिचका होता है। श्वेताणु—रंग में श्वेत, आकार में रक्ताणुओं से बड़े होते हैं। इन श्वेतकणों में एक मींगी रहती है, जो मनुष्य के रक्ताणु में नहीं पाई जाती। कई रोगों में इन कणों की संख्या में परिवर्त्तन होजाता है। अर्थात्—श्वेताणु-रक्ताणुओं से अधिक होने लगते हैं, तब शरीर पीला, रक्तहीन दिखाई देता है। यथा—मलेरिया या 'काला-आज़ार' ज्वर में (जो प्रायः आसाम बङ्गाल में होता है)।

इनके अतिरिक्त रक्त में अन्य नमक भी पाये जाते हैं। यथा—चूना मैगनेसिया, सोडा, आदि। जिनके कारण इसका स्वाद नमकीन रहता है और प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

रक्त का संचार—शरीर के अन्दर रक्त, मोटी, पतली, सूक्ष्म सब तरह की छोटी, बड़ी वाहिनियों में बहता है। ये वाहिनियाँ दो प्रकार के रक्त को बहाती हैं। एक तो काले-मैले रक्त को बहाती हैं। इस तरह की वाहिनियाँ हृदय की ओर जा रही होती हैं। दूसरी प्रकार की वाहिनियाँ लाल, उज्जवल रक्त को बहाती हैं। ये हृदय से निकलती हैं और शरीर के अन्य भागों में पहुँचती हैं। इन दूसरी प्रकार की वाहिनियों की जहाँ समाप्ति होती है वहाँ से प्रथम प्रकार की वाहिनियाँ आरम्भ होजाती हैं।

शुद्ध रक्त को ले जानेवाली सब से बड़ी धमनी हृदय के वाम भाग के वाम-क्षेपक कोष्ठ से निकलती है और ज़रा ऊपर पहुँचते ही इसके तीन भाग होजाते हैं। एक शाखा ऊपर को शिर की तरफ़ चली जाती है। दूसरी शाखा भुजा की तरफ़ चली जाती है और तीसरी शाखा के दो भाग होजाते हैं। एक भाग नीचे उदरगुहा की ओर आजाता है और दूसरी वाहिनी दूसरी भुजा में चली जाती है। इसके पश्चात् इन वाहिनियों में से और छोटी-छोटी शाखा-प्रशाखायें और अनुशाखायें फूटती हैं।

इस प्रकार से यह एक चक्कर है, जो दिन-रात अनवरत-गति से बिना एक भी मिनट रुके, लगातार चलता रहता है। प्रायः इस चक्कर में १॥ मिनट या कुछ कम लगता है। अशुद्ध रक्त-वाहिनियाँ हृदय में रक्त को पहुँचाती हैं और शुद्ध रक्त-वाहिनियाँ हृदय से रक्त को ले जाती हैं।

आमाशय, आंत्र, प्लीहा और क्लोम का अशुद्ध-मैला रक्त हृदय में नहीं पहुँचता। इनका रक्त प्रतिहारिणी शिराओं-द्वारा यकृत में पहुँचता है। वहाँ इस रक्त का कुछ शोधन या परिवर्त्तन होता है। फिर यकृत के रक्त के

साथ मिलकर 'अधरा-महाशिरा' के साथ में एक शिरा के द्वारा हृदय में पहुँचता है।

गर्भाशय में "गर्भ" के अन्दर रक्त-सञ्चार जरा भिन्न रूप का होता है। उसमें फुप्फुस रक्त-शोधन का कार्य या श्वास-क्रिया को नहीं करते। चूँकि वह एक जरायु के अन्दर बन्द होता है। गर्भाशय से रक्त 'रस-संवाहिनी' द्वारा 'अपरा' में जाता है। यह 'अपरा' माता के गर्भाशय में लगी रहती है और इस अपरा के साथ "गर्भ" लटकता है। इसकी नसें और वाहिनियाँ गर्भ के शरीर में फैली होती हैं और गर्भ का अशुद्ध रक्त गर्भ-नाल के द्वारा पुनः "अपरा" के द्वारा गर्भाशय-शिराओं द्वारा मातृ-हृदय में पहुँचता है और फिर शुद्ध होकर गर्भनाल की धमनी द्वारा शरीर में आ-जाता है।†

रक्त-क्रिया का प्रारम्भ—रक्त शरीर में रात-दिन अनवरत गति से बहता रहता है। इस गति का प्रारम्भ उस दिन, उस घड़ी और उस क्षण से होता है, जब कि गर्भ भूमितल होने पर प्रथम श्वास लेता है और जब-तक अन्तिम साँस चलता है, उस समय तक यह रक्त अपनी गति से चलता रहता है। जो फेफड़े श्वास नहीं लेते, वे पानी में डूब जाते हैं और एक श्वास लेने पर भी वे पानी में तैरने लगते हैं। श्वास के प्रारम्भ के साथ ही हृदय की मांसपेशियाँ भी संकुचित होने लगती हैं। इधर फेफड़ों ने श्वास-प्रश्वास का कार्य प्रारम्भ किया कि उधर हृदय ने अपना पम्पिङ्ग कार्य प्रारम्भ किया। माता से पृथक् होने के साथ ही यह हृदय बालक को स्वतंत्र जीवन देने लगता है और जीवन की अन्तिम घड़ी तक कार्य करता रहता है। हृदय रक्त को फेंकने के समय संकुचित होता है और लेने के समय विकसित होता है। इस प्रकार से लगातार संकोच और विकास के कारण एक तरंग रक्त में उत्पन्न होजाती है, जो धमनी में स्पन्दन के रूप में अनुभव होती है। इस स्पन्दन के द्वारा विज्ञ वैद्य शरीर के रोगों

---

†"मातृजं चास्य हृदयम्। मातृ हृदयेन सहाभिसम्बद्धम् रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिः। नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता; नाड्यांश्चापरा। अपरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये। मातृहृदयं ह्यस्य तामपरामभि संप्लवन्ते सिराभिः स्पन्दमानाभिः। स तस्य रसः बलवर्णं करः सम्पद्यते॥" चरक

को पहचानते हैं। इसलिये धमनी को "जीव साक्षिणी" कहा है। यह एक आश्चर्य कारक रचना है।

नाड़ी—हृदय का वाम भाग जब संकुचित होता है, तब रक्त वाम क्षेपक कोष्ठ धमनी के अन्दर पहुँचता है और फिर वहाँ से अन्य शाखा, प्रशाखाओं और अनुशाखाओं में जाता है। जिस समय हृदय रक्त को महाधमनी में फेंकता है, उस समय धमनी की दीवालें फैल जाती हैं। चूँकि उसमें विस्तृत होने पर (एलास्टिक) तन्तु लगे होते हैं। फिर संकुचित होने पर यह रक्त की धार आगे जाती है। इस प्रकार से इस रक्त की धार में एक तरंग चलती रहती है। यह तरंग पृष्ठवर्त्ती धमनियों में स्पन्दन के रूप में अनुभव होती है। यथा—अंगुष्ठ की जड़ में यह तरंग केशिकाओं या शिराओं में (अशुद्ध रक्त को बढ़ानेवाली) नहीं होती, क्योंकि उनकी दीवालों में विस्तृत तन्तु नहीं होते। इस नाड़ी का स्पन्दन एक मिनट में उतना ही होता है जितना कि हृदय का, क्योंकि इस तरंग का आदि स्रोत हृदय ही है। यह स्पन्दन एक मिनट में युवा व्यक्ति में ७२ से ८० होता है, बच्चों में अधिक होता है। रोग आदि के कारण इसकी गति और संख्या में अन्तर आजाता है। विज्ञ चिकित्सक इस गति को देखकर रोग निर्णय कर लेते हैं। मूल-स्थूल दृष्टि से एक ही महाधमनी सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई है। जिस प्रकार एक ही वृक्ष के जड़ प्रगण्ड शाखा, प्रशाखा, पत्ते आदि भेद हैं, उसी प्रकार इस एक धमनी ही के और रूप हैं।

श्वासोच्छ्वास यंत्र (Respiratory system)

"नाभिस्थाः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कोष्ठाद् वहिः विनिर्याति पातु विष्णुपदामृतम् ॥
पीत्वा चाम्बर पीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन् देहमखिलं .... ॥"

रक्त जीवन है, परन्तु श्वास-प्रश्वास की क्रिया इस "जीवन" को उत्पन्न करती है। रक्त सम्पूर्ण शरीर में चक्कर काटता है। सब स्थानों से मैल भाग को लेकर मैला होजाता है। अब इस मलिनता को दूर करके, उसे फिर से लाल, उज्ज्वल बनानेवाली क्रिया यही अपनी श्वास-प्रश्वास की क्रिया है, जिस क्रिया का आधार ये अपने दोनों फुप्फुस हैं। कोई भी प्राणी जब साँस लेता है, तो बाहर की वायु शरीर के अन्दर जाती है और जब श्वास

बाहर फेंकता है, तो शरीर के अन्दर की वायु बाहर करता है। यह क्रिया लगातार इतने स्वाभाविक रूप में चल रही है कि मनुष्य को उस ओर ज़रा ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती और रात-दिन, चौबीसों घण्टे, बिना किसी रुकावट के चलती ही जाती है और गर्भ के भूमि पर आने के प्रथम क्षण से प्रारम्भ होकर जीवन की अन्तिम घड़ी तक चालू रहती है।

श्वास-मार्ग—हम नासिका से श्वास लेते हैं और यह श्वास फेफड़ों में पहुँचता है, जिससे कि वे थोड़ा-सा फैलते भी हैं और फिर श्वास निकालने के समय थोड़े सिकुड़ते भी हैं। नासिका से लेकर फेफड़ों के अन्तिम कोन तक यह एक श्वास-मार्ग है; परन्तु जिस प्रकार रूपान्तर भेद से एक ही धमनी के भाग मान लिये हैं और उनके नाम रख लिये गये हैं, उसी प्रकार इस मार्ग के भी तीन भाग किये गये हैं और उनके भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। यथा—

(क) श्वासनलिका—इसका प्रारम्भ नाक के नथुनों से होता है और ग्रीवा के ऊपरी भाग तक जिह्वा के ज़रा नीचे तक इस भाग की अन्तिम सीमा होती है। यह भाग और भागों की अपेक्षा ज़रा चौड़ा है। यह मार्ग चूँकि मुख में से होकर जाता है, इससे मुख और नासिका का सम्बन्ध होजाता है। यही कारण है कि कई बार पानी आदि पीते समय हँसने आदि से पानी नासिका से निकलने लगता है।

(ख) स्वर-यंत्र—श्वासनलिका के अन्तिम भाग से लेकर इस नलिका के विभाग होने से पूर्व तक का भाग "स्वर-यंत्र" कहलाता है, क्योंकि हम सब स्वर, अक्षर इसी नलिका या यंत्र में भिन्न-भिन्न प्रतिघात करके उत्पन्न करते हैं। जिस समय हम कोई अक्षर बोलना चाहते हैं, उस समय प्राण-वायु फुप्फुस से चलकर स्वर-यंत्र में प्रतिघात करती है और फिर हम मुँह के ओष्ठ, जिह्वा की सहायता से बोलते हैं। इस स्वर-यंत्र की रचना घोड़े की नाल के आकार की तरुणास्थियों से हुई है, जो बीच में एक दूसरों से पेशियों के द्वारा जुड़ी होती हैं। इसका मार्ग प्रथम मार्ग से ज़रा तंग होता है।

(ग) यहाँ पर स्वर-यंत्र के दो भाग होजाते हैं और दक्षिणी भाग दक्षिणी फुप्फुस में और वाम भाग वाम फुप्फुस में चला जाता है। इन दोनों

भागों के फिर तीन और दो भाग होते हैं। तीन भाग दक्षिणी फेफड़े के तीन खंडों में जाते हैं और दोनों भाग, वाम फेफड़े के दोनों खंडों में। इनके इन-इन खंडों में और छोटे-छोटे भाग होजाते हैं। यहाँ तक कि ये इतनी छोटी-छोटी कोठरियों के रूप में बदल जाते हैं कि हम इनको आँखों से भी देख नहीं सकते। अब हम जब श्वास लेते हैं, तो यह श्वास-वायु इन कोठरियों में पहुँचती है, जिससे इनकी दीवाल फूलती है और जब श्वास निकालते हैं, तो इनकी दीवाल संकुचित होती है। इससे फिर अपनी स्थिति के क़रीब हो जाती है।

श्वास-क्रिया—इस क्रिया का प्रारम्भ शिशु के प्रथम श्वास से होता है, जो श्वास उसके रोने के रूप में होता है। इस एक रुदन रूपी श्वास से शिशु के फेफड़े काम करना प्रारम्भ कर देते हैं और यदि फेफड़े श्वास न लें तो वे इतने भारी होते हैं कि पानी में डालने से डूब जायँगे। यह एक गहरा श्वास फेफड़ों की कोठरियों तक वायु पहुँचा देता है। बस, अब वे अपना कार्य आप आरम्भ कर देती हैं और यह क्रिया जीवन की अन्तिम घड़ी तक रात-दिन चलती रहती है। इसका बन्द होना मृत्यु है। यह क्रिया युवा व्यक्ति में प्रत्येक मिनट में १५ से १८ बार होती है। रोग आदि के कारण इसमें अन्तर आजाता है। तब यह कम या अधिक होजाती है। इस क्रिया को नियंत्रित रखने के लिये परब्रह्म परमात्मा ने अंकुश रूपी एक केन्द्र बनाया है, जो कभी नहीं सोता। अपना मस्तिष्क दिन भर कार्य करके रात्रि को विश्राम चाहता है; परन्तु इसका केन्द्र सब समय चौकस रहता है। इस केन्द्र का स्थान अपनी ग्रीवा के पिछले भाग में "सुषुम्ना-काण्ड" में रक्खा है। वहीं से भिन्न-भिन्न तारों के द्वारा वह इस गति को अपने क़ाबू में रखता है।

इस क्रिया में फेफड़ों के आसपास की पेशियाँ भी सहायता करती हैं। जब हम श्वास लेते हैं, तब पसलियों में लगी पेशियाँ फैलती हैं। इनके साथ उरोदर-पटल भी नीचे को दबता है; चूँकि फेफड़ों को फैलने के लिये स्थान चाहिये। इस उरोदर-पटल के नीचे दबने से फेफड़ों को जहाँ स्थान मिलता है, वहाँ कोष्ठ के अवयव भी थोड़ी देर के लिये दब जाते हैं, इससे कोष्ठ की पेशियाँ भी तन जाती हैं। अब दूसरे क्षण में ये दबे हुये अवयव और उरोदर-पटल फिर ऊपर उठते हैं। इसके कारण अब फेफड़ों को दबना

पड़ता है, जिससे उनकी कोठरियों की भिन्नियाँ भी दबकर संकुचित होजाती हैं। इससे उनके अन्दर की वायु बाहर होजाती है। यह क्रिया इतने स्वाभाविक रूप में चल रही है कि मनुष्य का ध्यान इस ओर खिंचता ही नहीं। खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-सोते हुये यह अपने आप स्वयं चल रही है। जब कभी किसी रोग के कारण इसमें रुकावट आती है, तभी मनुष्य का ध्यान इस ओर जाता है।

श्वास-क्रिया से होनेवाले परिवर्त्तन—जिस प्रकार के वायुमण्डल में हम रहेंगे, उसी प्रकार की वायु को हम साँस के रूप में शरीर के अन्दर ले जायँगे। यदि पहाड़ के ऊपर रहेंगे तो वहाँ की वायु को अन्दर लेंगे और रेगिस्तान में होंगे तो वहाँ की वायु को शरीर के अन्दर लेंगे और इस वायु में जो भी वस्तुयें इस वायुमंडल में सूक्ष्मरूप में होंगी, वे भी इस वायु के साथ हमारे शरीर में पहुँचेंगी। उनमें से कई गुणकारी वस्तुयें शरीर के लिये लाभकर भी हो सकती हैं और कई शरीर को हानि भी पहुँचा सकती हैं। इसी प्रकार हम जहाँ खड़े होंगे वहीं अपनी अन्दर की वायु को बाहर करेंगे। यह वायु चूँकि शरीर के लिये हानिकारक होती है, अतः हमारे द्वारा प्रकृति इसे बाहर फेंकवा देती है। जहाँपर हम खड़े, बैठे या सोते हैं, वहाँ पर यदि बाहर की वायु और न आने दी जाय तो हमारे अन्दर से निकली वायु वहाँ भर जायगी। इस वायु से वह स्थान दूषित हो जायगा। इससे पता लगता है कि वहाँ की पहली वायु में कुछ परिवर्त्तन आगया है। इसी प्रकार का परिवर्त्तन हमारे शरीर में हर श्वास के साथ हो रहा है। ये परिवर्त्तन स्थूल दृष्टि से निम्न होते हैं—

(क) बाह्य प्राण-वायु के संसर्ग होने पर फेफड़ों के अन्दर का काला, भूरा रक्त एकदम लाल उज्जवल रंग का बन जाता है।

(ख) श्वास-प्रश्वास की गति से रक्त में कुछ उष्णिमा बढ़ जाती है।

(ग) श्वास-प्रश्वास-क्रिया से 'फिब्रिन' नामक तत्त्व में वृद्धि होती है।

(घ) श्वास से रक्त में ओषजन (औक्सीजन) की मात्रा बढ़ जाती है और 'कॉर्बोनिक एसिड गैस' तथा नत्रजन की मात्रा घट जाती है।

८

(क) इसके सिवा शरीर से वेगों को बाहर करने में (यथा—मल-त्याग में, सन्तान-प्रसव में) यह क्रिया विशेष सहायक होती है।

बाह्य वायुमंडल में सूर्य, हवा, पानी के वाष्प आदि के कारण निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है। इस परिवर्त्तन के कारण वायुमंडल सदा स्वच्छ बना रहता है। शरीर के अशुद्ध मल भी, जो हम इस वायुमंडल में फेंकते हैं, उपरोक्त परिवर्त्तनों से शुद्ध होजाते हैं और शुद्ध वायु भी शरीर में पुनः कुछ काल में अशुद्ध होकर बाहर आजाती है। इस प्रकार से यह एक चक्कर होता है। हम शुद्ध वायु को लेते हैं और उसको अशुद्ध रूप में फेंक देते हैं। शरीर इस वायु में से अपने लिये उपयोगी पदार्थ ले लेता है और अपने अनुपयोगी पदार्थ इसमें मिला देता है। इस प्रकार से शरीर का पोषण और उसकी शुद्धि होती रहती है।

इस गति से वायु में होनेवाला परिवर्त्तन निम्न-रूप में होता है। यदि हम एक हजार भाग श्वास-वायु के और एक हजार भाग प्रश्वास-वायु के एकत्रित करके परीक्षा करें तो उनमें निम्न वस्तुयें निम्न-रूप में पायेंगे।

वस्तुयें जो प्राप्त होंगी	श्वास की वायु प्रति १००० भाग	प्रश्वास की वायु प्रति १००० भाग
१. ओषजन	२०.८	१६.०
२. कार्बोनिक एसिड गैस	०.०४	४.०
३. नाइट्रोजन	७८.८७	७८.८७
४. जलीय वाष्प	अंशमात्र	अधिक मात्रा में
५. अन्य हानिकारक पदार्थ	स्वच्छ वायु मे नहीं होते	होते हैं।

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि मुख्य परिवर्त्तन नं० १ और नं० ~~४~~ २ में आया है। नम्बर चार—जलीय वाष्प की परीक्षा के लिये यदि हम शीशे पर अपनी साँस या फूँक फेंकें तो उस पर वाष्प भर जाते हैं और प्रथम

वस्तु-'कार्बोनिक एसिड गैस' की परीक्षा के लिये यदि हम एक प्याले में चूने का पानी भरकर उसमें प्रश्वास या फूँकें मारें तो कुछ समय के पश्चात वह श्वेत—दूधिया होजायगा, जो श्वास की वायु—ओषजन से नहीं होगा। नाइट्रोजन जितनी हम फेंकते हैं, उतनी ही अन्दर ले लेते हैं। अन्य हानिकारक पदार्थ, धूल, धुआँ, सूक्ष्म-कण ये वायु-मंडल की स्थिति पर, जिसमें हम श्वास ले रहे हैं, निर्भर करते हैं। लाल, उज्ज्वल रक्त के अन्दर ओषजन की मात्रा अधिक रहती है और काले रक्त के अन्दर 'कार्बोनिक एसिड गैस' की मात्रा अधिक रहती है। जब यह मात्रा साधारणावस्था से अधिक बढ़ जाती है, तो श्वास में कठिनता होजाती है, अर्थात् रोगी प्राणवायु-ओषजन को भली-प्रकार श्वास-रूप में नहीं ले सकता। जिससे रक्त अशुद्ध होता जाता है और जब रक्त अधिक मात्रा में अशुद्ध होजाय तब स्थिति विषम होजाती है। साधारणत: जिस वायु में ओषजन की मात्रा कार्बोनिक एसिड गैस से अधिक रहती है, वह वायु शुद्ध है और वही शरीर भी स्वस्थ रहता है।

एक मनुष्य के लिये साधारणत: कितनी वायु की आवश्यकता है, इसका हिसाब विज्ञ चिकित्सकों ने लगाकर बताया है कि, एक तन्दुरुस्त, जवान आदमी प्रत्येक श्वास में ३० से ३५ घन इञ्च वायु लेता और छोड़ता है। इस प्रकार से सम्पूर्ण दिन-रात के २४ घण्टों में प्रत्येक मनुष्य ६,८६,००० अथवा ७ लाख घन इञ्च वायु का उपयोग करता है। मेहनत करनेवाले मनुष्य को इस राशि से अधिक चाहिये। इस परिमाण से हम किसी घर की वायु कितने मनुष्यों के लिये पर्याप्त है, इसका सहज ही में अनुमान कर सकते हैं और उस वायु में ओषजन या 'कार्बोनिक एसिड गैस' के अनुपात को जानकर उसकी शुद्धता को भी समझ सकते हैं।

पाचन-अवयव

'पञ्चभूतात्मके देहे आहार: पाञ्च भौतिक:।
विपक्व: पञ्चधा सम्यग् गुणान् स्वानभिवर्धयेत्॥'

ये अवयव मुख्य रूप से उदरगुहा में रहते हैं; इनके सहायक मूल अवयव शिरोगुहा में भी रहते हैं, क्योंकि सब अवयवों का आदि स्रोत यही हिरण्य-

मय-कोष शिरोभाग है। मुँह से लेकर गुदा-पर्य्यंत सब अवयव पाचन-अवयव कहलाते हैं। इन पाचन-अवयवों के द्वारा भुक्त आहार से "रस" उत्पन्न होता है और वही रस यकृत और प्लीहा में जाकर "रक्त" का रूप धारण कर लेता है, जो इस शरीर को जीवन दे रहा है। रक्त शरीर को जीवन देता है और रस शरीर का पोषण करता है। रस को उत्पन्न करनेवाले पाचन-अवयवों का प्रारम्भ मुँह से होता है। मुँह में दाँत और जीभ तो स्पष्ट हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और ग्रन्थियाँ भी हैं, जो साधारणतः आँखों से नहीं दिखतीं, जिनके द्वारा मुँह लिसलिसा, चिकना रहता हैं। ये ग्रन्थियाँ छः हैं, जो जीभ के नीचे, जबड़ों के नीचे रहती हैं। इनका काम लाला-थूक उत्पन्न करना है, विशेषतः भोजन के चर्वण के समय।

दाँत बत्तीस या अट्ठाईस होते हैं। ये प्रकृत की चक्कियाँ हैं। इनमें कठोर भोजन पिसकर बारीक मैदा जैसा होजाता है। कुछ दाँत पीसते हैं, कुछ फाड़ते हैं। जीभ इस भोजन को इधर-उधर पलटती रहती है,। कभी इधर ले जाती है और कभी उधर, जिससे सारे भोजन में लाला-थूक भली-प्रकार मिल जाय और सारा भोजन पिसकर एकरस-मय होजाय। उसमें कोई कठिन अंश बाक़ी न रहे।

इस थूक या लाला के मिलने से भोजन में नीचे लिखे परिवर्त्तन आजाते हैं।

१. भोजन नर्म होजाता है, जिससे दाँत उसको अच्छी प्रकार चूरा कर सकते हैं।
२. अच्छी प्रकार चबाने से भोजन के रस का भी भली प्रकार पता लग सकता है।
३. भोजन के अन्दर वर्त्तमान कई पदार्थों में इस लाला के कारण रसायनिक अन्तर आजाता है। यथा—भोज्य-पदार्थ का निशास्ता (स्टार्च) भाग शर्करा में बदल जाता है (मधुर विपाक होजाता है)। इससे वह कुछ मीठा प्रतीत होता है।

आमाशय में पाचन-क्रिया—यह लाला-मिश्रित भोजन कुछ परिवर्त्तनों के साथ अन्न-नलिका से सीधा आमाशय में पहुँचता है। यहाँ पर वह आमाशय में से चूते हुये आमाशय रस के साथ मिल जाता है। यह रस अम्लता लिये हुये होता है। इसलिये भोजन भी अपना क्षारीय गुण छोड़कर अब अम्ल-गुणयुक्त होजाता है। यहाँ पर आमाशय की पेशियाँ इसको फिर

चक्कर देती हैं, जिससे और भी छोटे-छोटे टुकड़े बन जाते हैं और उन पर आमाशय-रस अपनी क्रिया भली प्रकार कर देता है। इस क्रिया के कारण यह आहार और भी अधिक सुपच होजाता है। यह आमाशयिक-रस प्रतिदिन दस से बीस पौण्ड पैदा होता है। यहाँ की गति के कारण वसा-चिकनाई के कण अलग-अलग होजाते हैं और जो कुछ अंश नरम और पचने योग्य होता है, वह यहाँ, आमाशय की भित्तियों में पहुँचो रस-ग्रन्थियों के द्वारा खींचा जाकर रस-प्रणालियों में पहुँच जाता है और उनसे एक बड़ी 'रस प्रपा' द्वारा हृदय के वाम भाग में पहुँच जाता है।†

ग्रहणी में पाचन—आमाशय से भोजन प्राय: आधे घंटे के पश्चात् सूक्ष्मांत्र में जाने लगता है। जिस समय यह भोजन सूक्ष्मांत्र के प्रथमांश (ग्रहणी) में आता है, उस समय इसमें और भी रस आकर मिलते हैं। ये सब रस क्षार गुणवाले होते हैं। यह रस—क्लोम से आनेवाला पित्त और अग्नाशय से आनेवाला अग्नाशय का रस होता है। इनके मिलने से अब भोजन फिर क्षारीय होजाता है। इन रसों के मिलने से वह और भो सुपच बन जाता है। अब इस भोजन का रंग श्वेत साबुन-सा बन जाता है। ये दोनों रस पाचन-क्रिया के आरम्भ होने के साथ ही बनने प्रारम्भ होते हैं और पाचन-क्रिया की समाप्ति होने पर बनने बन्द होजाते हैं।

क्षुद्रांत्रों में पाचन—ग्रहणी से चलकर भोजन सूक्ष्मांत्र में आता है, जिसकी लम्बाई २७ फ़ीट के लगभग है। यहाँ पर भी क्षुद्रांत्रों का क्षारीय-रस इस आहार में मिलता है, जिससे वह और भी सुपच होजाता है। मुख्य रूप से यहीं इस भोजन का पाचन होता है। इस २७ फ़ीट के लम्बे मार्ग में वह पूर्णत: चूस लिया जाता है। केवल फोकट भाग ही शेष रहता है। भोज्य रस को चूसने के लिये यहाँ पर लम्बे-लम्बे अंकुर हैं, जो आँतों की दीवार

†एक बिल्ली को भोजन दिखाया गया, परन्तु दिया नहीं गया। इसके आमाशय को चीरकर देखा तो उसमें आमाशय रस मिला। दूसरी बिल्ली को भोजन दिखाया नहीं गया, उसके आमाशय में सीधा रख दिया गया। वह कहीं घंटे तक पड़ा रहा। वहाँ आमाशय रस नहीं मिला। इससे पता लगता है कि भोजनेच्छा आमाशय रस को उत्पन्न करती है। यही कारण है कि आँख से भोजन देखने पर जीभ में पानी भर आता है।

में छिपे रहते हैं। वे इस रस को खींचकर रस-वाहिनियों में पहुँचा देते हैं। वसा या चिकने पदार्थों का पाचन विशेषरूप में यहीं होता है।

बृहद्रांत्र में पाचन—क्षुद्रांत्रों से बचा फोकट भाग जब यहाँ पहुँचता है, तब उसमें रहा अवशिष्ट पानी का भाग यहाँ चूसा जाता है। पानी का शोषण सिवा इस वृहदांत्र के और कहीं नहीं होता और वह भी इसके अन्तिम भाग में सबसे अधिक होता है। भोजन में यदि कुछ उपयोगी अंश रह गया होता है, तो उसका पाचन इस बृहदांत्र में होजाता है। केवल निःसार भाग इस भाग से बचता है, जो गुदा के द्वारा बाहर होजाता है। द्रव का पाचन इस भाग में होता है। इसलिये जब भोजन मुँह से नहीं जा सकता, तब गुदा-मार्ग से दूध आदि पोषक पदार्थ देते हैं। इससे वृहदांत्र में उनका पाचन होने से शरीर को भी पोषण मिल जाता है।

पाचन-क्रिया सम्बन्धी आवश्यक बातें--

१. पाचन-क्रिया में भाग लेनेवाले लगातार २४ घंटे, उरोगुहा के अवयवों की तरह काम नहीं करते। इनका कार्य मुँह में ग्रास आने पर आरम्भ होता है और उसके रस का चूषण होने पर बन्द होजाता है।

२. पाचन-क्रिया के अवयव रक्त ही में से इन रसों को उत्पन्न करते हैं और फिर इन रसों के द्वारा बने हुये आहार-रस ही से रक्त बनता है।

३. यदि सोते हुये बेभान अवस्था में भोजन दे दिया जाय तो रसों का पाचन पूर्णरूप से नहीं होता।

मूत्रावयव

"यदान्त्रेषु गविन्योर्यद् वस्तावधि संश्रितम् ।
एवाते मूत्र मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥" अथर्व

मूत्र को उत्पन्न करनेवाले अवयव भी उदरगुहा में रहते हैं। ये अवयव वृक्क, मूत्रगविनी और मूत्राशय हैं। इनमें वृक्क मूत्र को रक्त से पृथक् करते हैं। यह रक्त धमनियों द्वारा गुरदे या वृक्क में पहुँचता है और वहाँ जाकर और भी छोटी-छोटी धमनियों में होता हुआ वृक्क के अन्दर फैली

हुई नलिकाओं के चारोंओर केशिकाओं में पहुँच जाता है। इन केशिकाओं की दीवारों में से रक्त का कुछ अंश नलिका के फूले हुये भाग में से चू आता है। नली का फूला हुआ भाग छनने का काम करता है। जिस प्रकार कागज या कपड़े में से द्रव छन जाता है, उसी प्रकार नली की भित्ति में से रक्त का द्रव भाग छन जाता है। इस द्रव भाग के साथ रक्त में घुले हुये पदार्थ भी इस छनने में से छन जाते हैं, जिससे कुछ नमक, यथा— यूरिया, यूरिक एसिड आदि होते हैं। रक्त से अलग हुआ जल सम्पूर्ण वृक्क में से एकत्रित होकर उसके मुँह पर पहुँच जाता है और वहाँ से मूत्र-प्रणाली द्वारा मूत्राशय में आजाता है। वृक्क में इस प्रकार के बहुत से छनने लगे हुये हैं।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि इस छनने में से साधारण स्वस्थ अवस्था में रक्त के अन्दर की शर्करा नहीं छनती। अतः मूत्र में शर्करा का अभाव रहता है, परन्तु रोग के कारण जब यह छनना खराब होजाता है, तब रक्त की शर्करा भी छनकर मूत्र के साथ आने लगती है। यह एक प्रकार का रोग है।

एक स्वस्थ व्यक्ति चौबीस घण्टे में १¼ सेर से १¾ सेर तक मूत्र-त्याग करता है। ग्रीष्म-ऋतु में पसीना निकलने के कारण इसकी राशि घट जाती है और सर्दी में बढ़ जाती है। मूत्र का रंग गेहूँ की नाली के रंग से जरा गहरा होता है। ज्वर में गहरा पीला या लाल होजाता है। इसका गुरुत्व १०१५ से १०२५ तक रहता है। नीरोगी मूत्र में मिलनेवाले कुछ पदार्थ—

यूरिया—यह पदार्थ भोजन में नत्रजन होने के कारण बनता है। मांसाहारियों के मूत्र में इसकी मात्रा अधिक होती है। यह पदार्थ यकृत में बनता है और रक्त के द्वारा वृक्क में पहुँचता है और यदि वहाँ पूर्णरूप से बाहर न निकले तो रक्त ही के अन्दर रहता है, जिससे कि रक्त दूषित होजाता है।

यूरिक एसिड—यह पदार्थ भी नाइट्रोजन से बनता है। यह पदार्थ यदि बहुत अधिक मात्रा में बने या शरीर से पूर्ण बाहर न निकले तो जमकर शर्करा या अश्मरी—पथरी का रूप धारण कर लेता है, जो कभी-कभी वृक्क की नालियों में रुककर तीव्र दर्द को उत्पन्न करती है और मूत्राशय के मूत्र-द्वार को रोककर मूत्र बन्द कर देती है।

शर्करा—यह पदार्थ साधारणत: मूत्र से बाहर नहीं जाता; परन्तु शरीर के विकृत होने पर यह भी मूत्र में आने लगती है, जिससे कि इस मूत्र का गुरुत्व बढ़ जाता है और उसकी गन्ध में भी अन्तर होजाता है।

एल्व्युमिन—यह एक पोषक और शरीर का उपयोगी पदार्थ है, परन्तु वृक्क के रोगों में यथा वृक्क पर चोट लगने पर यह मूत्र में जाने लगता है जिससे शरीर की शक्ति क्षीण होजाती है।

इसके अतिरिक्त "फौस्फेट" "औक्मेलिक एसिड" आदि और भी पदार्थ मूत्र में आते हैं। अवस्थाओं के अनुसार इनकी राशि में अन्तर आजाता है।

जननेन्द्रिय अवयव

"द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्रस्रोतः पथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्त्तते ॥" सुश्रुत

स्त्री और पुरुष के ये दोंनों जननेन्द्रिय अवयव उदरगुहा ही में रहते हैं। पुरुष के अवयव कुछ समय पश्चात् बाहर दृश्यरूप में उतर आते हैं, जो अण्डकोष के अन्दर रस्सी के द्वारा लटकते रहते हैं। इनका कार्य रक्त के अन्दर से शुक्र को उत्पन्न करना है। साधारणत: यह अण्ड अन्त:स्राव अर्थात् ओज को उत्पन्न करते रहते हैं, परन्तु कामेच्छा उत्पन्न होने पर यह इस स्राव को बन्द करके वीर्य अर्थात् बहि:स्राव उत्पन्न करने लगते हैं। यह बहि:स्राव वृषण के अन्दर फैली हुई नलिकाओं में रक्त से उत्पन्न होता है और फिर सब नलिकाओं से संग्रहीत होकर उपाण्ड में आजाता है। यह उपाण्ड एक प्रकार की वीर्य-वाहिनी प्रणाली ही है जो एकत्रित होकर अण्ड के पार्श्व में पड़ी होती है और वहाँ से चलकर स्परमेटिक रस्सी के साथ-साथ वीर्याशय में पहुँच जाती है। इन वीर्य-वाहिनियों द्वारा अण्डों में उत्पन्न, वीर्य, वीर्याशय में पहुँच जाता है।

ओज—या अण्डों का अन्त:स्राव—साधारण स्वस्थ शरीर में यह अण्डों के द्वारा उत्पन्न होकर पुन: शरीर के अन्दर लय होजाता है। इसके कारण शरीर में दीप्ति और कान्ति, मेधा आदि रहते हैं। जिस प्रकार की उपवृक्क (सुप्रारीनल ग्लैण्ड) निकन्ठ-ग्रंथि (थाई रौयड ग्लैन्ड), पोषण-ग्रन्थि (पिट्रीट्युरी ग्लैंड) जो (क्रम से) वृक्क, ग्रावा और मस्तिष्क में

रहते हैं; वे अपना-अपना रस रक्त से अलग करते हैं और फिर उस बने हुये रस को रक्त ही में मिला देते हैं, जिससे हृदय द्वारा सारे शरीर में चक्कर लगने लगता है। इसी प्रकार यह "अण्ड" भी अपना रस रक्त से बनाते हैं और फिर शरीर-पोषण के लिये उसी में मिला देते हैं। इन सब ग्रन्थियों की कोई प्रणाली नहीं है। जैसे यकृत में क्लोम की प्रणाली है, वैसे रक्त में रस मिलाने के लिये इनमें कोई नाली आदि नहीं होती। अत: इस प्रकार की ग्रन्थियों को 'प्रणाली-रहित ग्रन्थियाँ' कहते हैं।

यह ओज शरीर के जीवन का आधार है। इसके नाश से शरीर का नाश होजाता है*। जिस प्रकार भ्रमर फल और पुष्पों से मधु का सञ्चय करता है, उसी प्रकार शरीर के सब गुण इसी "ओज" से पुष्ट होते हैं। अत: जीवन की इच्छावालों के लिये इसकी रक्षा करनी सबसे आवश्यक है।

वीर्य—या अण्डों का बहि:स्राव—जिस समय पुरुष के अन्दर कामेच्छा उत्पन्न होती है, उस समय शरीर के अन्दर रक्त ज़रा वेग से दौड़ने लगता है। धमनी में स्पन्दन ज़ोर से होने लगता है, मुँह पर लालिमा आ जाती है, श्वास की गति तेज़ होती है। इस समय रक्त के अन्दर भी अन्तर आजाता है†। इस अवस्था में "अण्ड" अन्त:स्राव बनाना बन्द करके बहि:स्राव उत्पन्न करने लगते हैं। चूँकि यदि वे इस समय अन्त:स्राव उत्पन्न करें, तो वह शुद्ध नहीं बनेगा। यह प्रकृति की अद्भुत माया है। इस समय जो शुक्र उत्पन्न होता है, वह संतानोत्पत्ति के लिये होता है। इस शुक्र में सब अवयव, शिर से लेकर पाँव तक अपना-अपना अंश भेजते हैं। रक्त की गति बढ़ने से रक्त सब स्थानों में घूमकर आता रहता है और सब अवयवों के प्रतिनिधियों को इकट्ठा करके वृषणों में आता है और वहाँ से शुक्र के रूप में सन्तानोत्पत्ति के लिये बाहर होता है। यह शुक्र उन नालियों से चूकर उसी

*(क) "यच्छरीरं स स्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति॥" चरक

(ख) "तत्र खलु रसादिनां शुक्रांतानां धातूनां यत्परं तेजः तत् खलु ओजः। तदेव बलमुच्यते॥" सुश्रुत

†कामेच्छा के उत्पन्न होने पर या क्रोध के समय शिशु को दूध पिलाना (चूचकों से) हानिकारक है। चूँकि इस समय रक्त के अन्दर दोष आने से दूध भी दूषित होजाता है। क्योंकि दूध को स्तन्यवर्त्ती दुग्ध-ग्रन्थियाँ रक्त ही से उत्पन्न करती हैं। कहा भी है—

प्रकार बाहर आता है, जिस प्रकार नये घड़े के अन्दर का पानी उसके छिद्रों में से बाहर निकल आता है।

यह वीर्य यदि शरीर से न निकाला जाय, अर्थात् ओज के रूप में यदि शरीर के अन्दर रहे, तो शरीर को पुष्ट, मेधावी, कान्तिमान करता है। अतः इस वीर्य को जीवन का आधार कहा है† ।

शुक्र की स्थिति—जिस प्रकार गन्ने के अन्दर रस और दही के अन्दर घी रहता है और विशेषरूप से बाहर आता है, उसी प्रकार यह शुक्र भी सम्पूर्ण शरीर में रहता हुआ विशेष कारणों से बाहर आता है और जिस प्रकार एक छोटे आम के वृक्ष मे फल या पुष्प नहीं आते, अपितु उसके ठीक समय पर पुष्प आता है और फल आता है और कुछ सालों तक आने के पश्चात् फिर उसमें पुष्प और फल नहीं आते; उसी प्रकार इस मानव-देह में कुछ समय तक संभोगेच्छा होने पर भी वीर्य नही आता—इस अवस्था को बाल्यावस्था कहते हैं और जबतक वीर्य बाहर आता है, उस अवस्था को यौवनावस्था कहते हैं और फिर जब वीर्य आना बन्द होजाता है उसको वृद्धावस्था कहते हैं। बाल्यावस्था और वृद्धावस्था ये दोनों अवस्थायें सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य हैं। इन अवस्थाओं में या तो सन्तान उत्पन्न नहीं होगी और होगी भी तो निर्बल और देर तक नहीं जियेगी* ।

बालकों में सोलह वर्ष से पूर्व जो श्वेत-चिकना, वीर्य के रंग का स्राव होता है, वह या तो वीर्य के मार्ग में रहनेवाली ग्रन्थियों का होता है, या वीर्याशय का। वीर्य होने पर भी इसमें "शुक्रकीट" नहीं होते और यदि हुये भी तो निर्बल होते हैं। यही अवस्था वृद्धावस्था में होजाती है। उस समय शुक्र-कीट निर्बल होजाते हैं। अतः संतानोत्पत्ति के अयोग्य रहते हैं। उसके अन्दर वह सान्द्रता, वह मधुर गन्ध नहीं होती।

---

†"आहारस्य परधाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।
क्षयोऽह्यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति ॥" चरक

* "नर्ते वै षोडशाद् वर्षात् सप्तत्याः परतो न च ।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति ॥१॥
अतिबालो ह्यसम्पूर्ण सर्वधातुः स्त्रियो व्रजन् ।
उपतप्यते सहसा तडागमिव काजलम् ॥२॥
शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुदग्धं विजर्जरम् ।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन् ॥" ३॥ चरक

एक बार के वीर्यस्राव में वीर्य की मात्रा १ तोले से २½ तोले तक होती है और इसमें चार करोड़ शुक्र-कीट होते हैं। जिस व्यक्ति के जन्तु जितने पुष्ट होते हैं, उसका वीर्य उतना ही क्षमता-शील होता है। इन जन्तुओं का जीवित होना ही वीर्य में "जीव" है, इस बात को सिद्ध करता है। ढाई तोला वीर्य दो पौण्ड रक्त से बनता है और दो पौण्ड रक्त एक मन भोजन से बनता है। यह २½ तोला वीर्य बनने के लिये ४० दिन की जरूरत है।

स्त्रियों में शुक्र तथा सब धातुओं का बनना समान है, परन्तु इनका शुक्र पुरुष-शुक्र से भिन्न होता है। इनमें न तो वह गन्ध होती है और न इसमें कोई जीव होता है, न यह गर्भोत्पत्ति में कोई भाग लेता है। हाँ, इसका रंग अवश्य शुक्र से मिलता है और इसका स्थान भी योनि-मार्ग होता है और निकलता भी संभोगेच्छा के समय है। इसलिये सम्भवतः प्राचीन विद्वानों ने इसको यह नाम दे दिया होगा†।

जिस प्रकार विरेचक दवाओं से आदमी को रेच होता है और मूत्रल दवाओं से मूत्र अधिक आता है, उसी प्रकार शुक्र को बढ़ानेवाली दवाओं से पुरुष में शुक्र की मात्रा बढ़ जाती है और वह शीघ्र आने लगता है—अर्थात् संभोगेच्छा बढ़ जाती है। यद्यपि शुक्र आहार-रस का अन्तिम धातु है, तथापि जिस प्रकार एक चक्कर, जो अपनी स्वाभाविक गति से चल रहा होता है, बलवान् मनुष्य के कारण तेज चलने लगता है, उसी प्रकार औषधि या खान-पान के कारण शुक्र भी शीघ्र बनने लगता है। इसलिये यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि शुक्र की शुद्धता भोजन पर निर्भर है।

शुक्र को बढ़ानेवाली और शरीर को पुष्ट करनेवाली सबसे उत्तम वस्तु "दूध" है। दूध और शुक्र के गुण परस्पर मिलते हैं‡।

स्त्रियों के जननेन्द्रिय अवयव—जिस प्रकार पुरुषों में यौवनारम्भ होने पर उत्पादक अंगों में परिवर्त्तन आरम्भ होता है, अर्थात् विटप प्रदेश पर

† "योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे।
तद् न गर्भस्य किंचित्करोति इति न चिन्त्यते॥" वाग्भट्ट

‡ "स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णं पिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दश गुणं पयः॥"
"तदेवं गुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्।
प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम्॥" चरक

शिश्न के ऊपर बाल आने लगते हैं और शिश्न आकार में बढ़ जाता है, उसी प्रकार कन्याओं के युवती होने पर उत्पादक अंगों में परिवर्त्तन होता है। उनके बाह्य अंगों में बाल उत्पन्न हो जाते हैं और अन्तःअंगों में परिवर्त्तन होकर प्रति मास योनि-मार्ग से रज या रक्त आने लगता है। यह रज प्रायः बारह वर्ष की आयु से आरम्भ होकर ५० वर्ष की आयु तक रहता है। जबतक यह रजोदर्शन होता रहता है, तबतक कन्या गर्भ धारण करने के योग्य मानी जाती है। यह आर्त्तव प्रायः २८ वें दिन होता है, और ३-४ दिन तक रहता है।*

आर्त्तव या रज—यह एक प्रकार का रक्तमय स्राव है, जो गर्भाशय से प्रति २८वें दिन होता है। इसमें कफ का अंश मिला रहता है। जिससे वह शीघ्र नहीं जमता। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इसमें गर्भाशय की भित्तियों के कुछ टूटे हुये अंश भी होते हैं। इसकी मात्रा एक छटाँक से चार छटाँक तक होती है। आर्त्तव प्रति मास क्यों होता है, इस प्रश्न का उत्तर अभी वैज्ञानिक नहीं दे सके; परन्तु जब यह होता है, उससे पूर्व गर्भाशय की दीवारों में रक्त संचार अधिक मात्रा में बढ़ जाता है। इस रक्त-संचार की वृद्धि के कारण गर्भाशय के अन्दर की कलामय भित्तियाँ मोटी हो जाती हैं। अब यह रक्त-वाहिनियों में से निकलकर कला में जगह-जगह इकट्ठा हो जाता है। इस रक्त संचय के कारण कला, मुलायम और पिलपिली हो जाती है। फिर रक्त कला से बाहर निकलता है। जब यह रक्त निकल चुकता है, तब यह कला फिर सिकुड़ जाती है, जिससे रक्त-वाहिनियों के मुँह बन्द होजाते हैं। टूटी हुई भित्ति फिर बन जाती है।

आर्त्तव के काल में स्त्री के मानसिक अवयवों में भी परिवर्तन होजाता है। उसमें आलस्य और अरुचि का होना साधारण बात है। स्वभाव चिड़चिड़ा होजाता है। आर्त्तव-काल में अंगों का टूटना भी साधारण लक्षण है।

आर्त्तव का सम्बन्ध डिम्ब के साथ है। रजोदर्शन से पूर्व डिम्ब परिपक्व नहीं होता और आर्त्तव के बन्द होने के पश्चात् डिम्ब ग्रन्थि

* "रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः संज्ञं प्रवर्त्तते।
तद् वर्षाद् द्वादशाद् ऊर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्॥" सुश्रुत

में सिकुड़ने लगती है और डिम्ब का निकलना बन्द होजाता है। रजोदर्शन के दूसरे या तीसरे दिन डिम्ब गर्भाशय में आ जाता है और अपनी अनुकूल स्थिति के कारण जीता रहता है। कइयों में यह डिम्ब अगले आर्त्तव-काल तक जीता रहता है।

रजोदर्शन का दूसरा अभिप्राय गर्भाशय को गर्भ धारण—ग्रहण करने के योग्य बनाना है। इसके द्वारा एक प्रकार से गर्भाशय की शुद्धि हो जाती है।

यह देखा गया है कि रजोदर्शन के पश्चात् के पक्ष में जितनी जल्दी गर्भाधान होता है, उतनी जल्दी पिछले दिनों में नहीं होता। अर्थात् रजोदर्शन के पन्द्रह दिन बाद गर्भाधान कम होता है। चूँकि गर्भाशय का कमल-मुख बन्द होने लगता है और गर्भ रहने पर स्त्री रजस्वला नहीं होती। जितने दिनों के अन्तर से स्त्री रजस्वला होती है, उतने दिनों को १० से गुणा करने पर प्रसव का दिन आ सकता है। अर्थात् जो स्त्री २८ वें दिन रजस्वला होती है, वह २८×१०=२८० दिन में बच्चा उत्पन्न करेगी।

दूध—गर्भाधान होने पर स्त्रियों में रजोदर्शन बन्द होजाता है और स्तनों के अन्दर वृद्धि आरम्भ होती है। गर्भ के चौथे या पाँचवें महीने में इनको दबाकर दूध भी निकाल सकते हैं और प्रसव के पश्चात् इसी दूध से शिशु का पालन होता है। यह दूध स्तन्य ग्रन्थियों में उत्पन्न होता है और वहाँ से दुग्ध को ले जानेवाली प्रणालियों द्वारा चूचकों में आ जाता है और इन चूचकों से बच्चा दूध चूसता है। जिस समय फिर रजोदर्शन होता है, उस समय यह दूध कम हो जाता है या बन्द हो जाता है। यह दूध भी शरीरस्थ रक्त ही से उत्पन्न होता है।*

मैथुन—इस क्रिया के द्वारा पुरुष का शुक्र स्त्री की योनि में पहुँचता है। शिश्न मुण्ड में संवेदनिक कण होते हैं। इसलिये इस स्थान की रक्षा के लिये प्रकृति ने इस पर त्वचा बनाई है। मुसलमान आदि धर्म के कारण या रोग के कारण जब इस त्वचा को काट देते हैं, तो यहाँ के कणों का स्पर्श-

* "रस प्रसादो मधुरः पक्वाहार निमित्तजः।
कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥"
"तदेवापत्य संस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत्स्यं प्रवर्त्तते ॥" सुश्रुत

ज्ञान कम होजाता है। यह शिश्नमुण्ड योनि की दीवारों से रगड़ खाता है। इस संघर्षण से स्त्री-पुरुष दोनों को एक विशेष आनन्द आता है *। योनि की दीवालों से एक चिकना, तरल पदार्थ चूता रहता है। (प्राचीन आचार्य इस रस को "शुक्र" कहते हैं)। इस रस से योनि की दीवारें तर रहती हैं और उनको किसी प्रकार की रगड़ नहीं पहुँचती।

शिश्नमुंड गर्भाशय के मुख के समीप पहुँच जाता है। थोड़ी देर पश्चात शुक्र बड़े वेग के साथ मूत्र बहिर्द्वार से बाहर निकलता है और गर्भाशय के मुख के पास ही योनि में गिर जाता है। कभी-कभी यह शुक्र गर्भाशय ही में गिरता है। शुक्र निकलने से मैथुन क्रिया की समाप्ति होजाती है। रक्त के लौट जाने से शिश्न शिथिल होजाता है। जब मैथुन ठीक-ठीक होता है, तो दोनों व्यक्तियों को एक विशेष सुख अनुभव होता है और तृप्ति अनुभव होती है †।

गर्भाधान—शुक्राणु को डिम्ब के साथ विशेष आकर्षण है। जो शुक्राणु प्रबल होता है वह डिम्ब की भित्ति को तोड़कर अन्दर पहुँच जाता है। गर्भाधान के लिये एक ही शुक्राणु पर्य्याप्त है। इस संयोग का नाम "गर्भाधान" है। इससे जो वस्तु बनती है वह गर्भ है।

कई बार ऐसा होता है कि दो शुक्राणु एक डिम्ब के साथ मिल जाते हैं। इससे जो बच्चा उत्पन्न होता है, उसके दो शरीर होते हैं, जो आपस में जुड़े होते हैं और कई बार दो शुक्राणु दो डिम्बों के साथ मिल जाते हैं, इससे दो बच्चे उत्पन्न होते हैं।

---

* (i) "ऋतौ स्त्री पुंसयोर्योगे मकरध्वज वेगतः।
मेढ्योन्यभिसंघर्षात् शरीरोष्मानिलाहतः॥१॥
पुंसः सर्व शरीरस्थः रेतो द्रावयतेऽथ तत्।
वायुर्मेहन मार्गेण पातयेदंगना भगे॥२॥
तत् संस्नुत्य व्यक्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति।
तत्र शुक्रवदायानेनार्त्तवेन युतं भवेत्॥" १॥ अष्टांग संग्रह

(ii) "संयोगे योषितः पुंसां कण्डूतिरपनुद्यते।
तच्चाभिमान संसृष्टं सुखमित्यभिधीयते॥" वात्स्यायन

† (i) "न ह्यसत्यांभाव प्राप्तौ गर्भः संभव इति बाभ्रवीयः।" वात्स्यायन

(ii) "तृप्तिश्च बीज ग्रहणं च योन्यां गर्भस्य सद्योनुगतस्य लिंगम्॥" चरक

प्राय: यह माना जाता है कि यदि पुरुष का शुक्राणु प्रबल होगा, तो संतान पुरुष होगी और जब डिम्ब प्रबल हो और शुक्राणु निर्बल, तो स्त्रीलिंग उत्पन्न होगा ‡।

प्रसव किस प्रकार से होता है—जब बच्चे के नौ मास पूर्ण हो चुके होते हैं, उस समय गर्भाशय का मांस संकुचित होने लगता है। यह संकोच धीरे-धीरे लहरों के रूप में होता है। इन लहरों के साथ माता को पीड़ा होती है। इस संकोच के कारण अन्दर का स्थान तंग होने लगता है और अन्दर की वस्तु बाहर आने लगती है। इस दबाव में गर्भ के ऊपर की झिल्ली फट जाती है और 'गर्भोदक'—गर्भ के चारोंओर का पानी बह जाता है। इस संकोच के उत्तरोत्तर बढ़ने से गर्भाशय का मुख भी धीरे-धीरे चौड़ा होजाता है और शिर गर्भाशय के मुख पर आ जाता है और लगातार संकोच के कारण शिर योनि मार्ग से बाहर होजाता है। शिर के पीछे स्कन्ध, नितम्ब आदि और भी अवयव बाहर आ जाते हैं।

गर्भनाल—इस नाल या रज्जु के कारण शिशु गर्भाशय में माता के साथ जुड़ा होता है। यह नाल रक्तवाहिनियों का एक जत्था है, जिसमें धमनी और शिरायें होती हैं। इस नाल के द्वारा ही शिशु को रक्त, जीवन मिलता है। गर्भाशय से गर्भ के निकलने पर यह भी वहाँ से छूटकर बाहर आजाती है। जब शिशु श्वास-प्रश्वास लेने लगता है, उस समय यह व्यर्थ होजाती है और चिकित्सक या धात्री इसको कैंची से काट देती है।

चेतना-यन्त्र

(Nervous system)

"तद्वाऽथर्वण: शिरो देवकोष: समुब्जित: ।
तत्प्राणोऽभिरक्षति शिरोऽन्नमथो मन: ॥" अथर्ववेद

मस्तिष्क और चेतना-यंत्र—शरीर के अन्दर चलते हुये व्यापार को और शरीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाले बाहर के व्यापार को संदेश के रूप में लेजानेवाले तन्तुओं को मज्जा-तन्तु (चेष्टावह और संज्ञावह) कहते हैं।

‡ "रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं, शुक्रेणतेऽत्र द्विविधिकृतेन ।
बीजेन कन्यां च सुतं प्रसूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन ॥" चरक.

इन तन्तुओं के समूह-चक्रों को "चेतनाचक्र" (Nerve-centres) कहते हैं; और इस सब व्यापार को और इससे सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रदेश को चेतना-यंत्र (Nervous-system) कहते हैं। इस चेतनायंत्र का मुख्य भाग मस्तिष्क और पृष्ठवंश में रहता है। मस्तिष्क और करोड़रज्जु का कुछ वर्णन दूसरे प्रकरण में किया जा चुका है; परन्तु मस्तिष्क और उससे निकलते हुये चेतना-तन्तु शरीर में क्या कार्य करते हैं, इस बात का विचार यहाँ करेंगे। इस चेतना-यंत्र को समझने के लिये प्रथम इसके उत्पत्ति-स्थान और मस्तिष्क-सम्बन्धी कुछ ज्ञान होना चाहिये।

'पृष्ठवंश' (Spine) इस पृष्ठवंश की सहायता से हमारे शिर, धड़ टिके हुये हैं। यह वंश अँगूठी के आकार के ३३ मणकों से जुड़कर बना है। यह पृष्ठवंश कहीं पर अन्दर को गया है और कहीं पर बाहर को। वृद्धावस्था में यह कमर पर से और भी बाहर निकल आता है। यह जितना ही अधिक सीधा रहता है, उतनी ही मनुष्य की आयु लम्बी होती है।

कहना है कि गर्भावस्था में सबसे प्रथम बालक में यही बनता है। योगशास्त्र में जिसको मेरुदंड कहा है, वह यही पृष्ठवंश है। शरीर को धारण करने के अतिरिक्त यह वंश मस्तिष्क-व्यापार में बहुत सहायता पहुँचाता है; क्योंकि इन ३३ मणकों के बीच का छिद्र खोखला है और जब ये मणके ईंट की भाँति एक दूसरे पर चिनकर रक्खे होते हैं, तब ये छिद्र एक सीध में आजाते हैं। इस छिद्र में से मगज-तन्तु मस्तिष्क में से निकलकर इस मार्ग से सम्पूर्ण शरीर में फैलते हैं।

बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum)—चेतना-यंत्र का मुख्य स्थान मस्तिष्क है और दूसरा स्थान पृष्ठ-वंश है। यह अपना मस्तिष्क दो गोलार्द्धों में बँटा हुआ है। इन दोनों गोलार्द्धों के बीच में बाह्य पट का परदा आया हुआ है। इन गोलार्द्धों की ऊपरी पृष्ठ पर गहरी सीतायें पड़ी हैं। प्रत्येक अर्ध-गोलक के बीच में एक पोल होती है। इस प्रत्येक पोल के अन्दर अत्यन्त आवश्यक अवयव होते हैं। अन्दर दो उभार हैं, इन्हीं के ऊपर स्पर्श और गति का आधार है। आर्यशास्त्र के अनुसार, या योगशास्त्र में जिसको "ब्रह्मरन्ध्र" कहते हैं, वह स्थान इसी भाग में है। मस्तिष्क के इस भाग के नीचे मध्य मस्तिष्क (Ponsvirolii) होता है। पृष्ठवंश द्वारा आये हुये संदेशों को मस्तिष्क में पहुँचाने का, और मस्तिष्क की आज्ञाओं को पृष्ठवंश

के तन्तुओं में देने का कार्य मस्तिष्क का यही मध्यभाग करता है। यहीं पर दृष्टि तन्तु भी विभक्त होते हैं। यह एक प्रकार से तन्तुओं का परस्पर 'क्रौस' होने का स्थान है।

इस भाग में से बारह तन्तु जोड़ों के रूप में निकलते हैं। जो कि निम्न प्रकार हैं। ये सब तन्तु शरीर के सब मुख्य अंगों में और पंच ज्ञानेन्द्रियों में पहुँचते हैं। यथा—

बारह तन्तु युग्म—

(१) दर्शन-तन्तु—मस्तिष्क के 'ओपटिक थैलिमा' और 'कोरपरा-क्याडिजिम्रा' नाम के प्रदेशों से निकलकर दोनों पार्श्वों के समस्त तन्तु-प्रवाहों के आसपास लिपट जाते हैं।

(२) घ्राण-तन्तु—मस्तिष्क के तलेटी प्रदेश में घ्राणतन्तुओं की जड़ों के पास से निकलकर मस्तिष्क की तलेटी के अग्र भाग में होते हैं। और वहाँ से अपनी बीस शाखाओं के रूप में नासिका के अन्दर फैले हैं।

(३-४-६)—संख्या के तन्तु युग्म अक्षिगोलकों में प्रविष्ट होकर नेत्र-संचालक पेशियों के साथ जुड़ते हैं ये तीनों क्रिया-तन्तु हैं।

(५) पाँचवे नम्बर का तन्तु युग्म 'त्रिशिरा' तन्तु युग्म है। इसका विशेष सम्बन्ध मुख के साथ है।

(७) सातवाँ तन्तु मुखाभिगम तन्तु है।

(८) श्रौतिक तन्तु है—यह प्राय: सुनने का कार्य करता है।

(९) मिश्र तन्तु है—यह तीन प्रकार से विभक्त होता है।

(१०) 'वेगस' या 'न्यूमो थोरेकेस'।

(११) सहानुभूति प्रदर्शक तन्तु युग्म।

(१२) जिह्वाधःरीय तन्तु युग्म।

मनुष्य की बुद्धि का मुख्य आधार मस्तिष्क है। जिस मनुष्य के मस्तिष्क की सीतायें मोटी, गहरी और गुंचणदार अधिक होती हैं, वह अधिक बुद्धिमान होता है। मस्तिष्क के इन सीताओं में धूसर पदार्थ भरा होता है। इस पदार्थ की अधिकता ही बुद्धि का आधार है। इस मस्तिष्क में बाह्य ज्ञान को ले जानेवाले तन्तु और उनके लाये हुये ज्ञान को संस्मरणों के रूप स्थिर रखने के लिये यहाँ पर तन्तु होते हैं। शरीर में उत्पन्न होनेवाली इच्छायें और दूसरे "ऐच्छिक" व्यापार इस मस्तिष्क द्वारा प्रकट होते हैं। स्मृति आदि

१०

धर्म भी इसी मस्तिष्क के द्वारा प्रगट होते हैं । विषयों को समझने, उनके संस्कारों को स्मरण रखने, विचार करने, आदि सब ज्ञान का आधार यही है। कोई भी सन्देश इस वृहत मस्तिष्क में पहुँचे बिना अंत:करण नहीं पहुँच सकता । मस्तिष्क में चोट पहुँचने पर कोई कार्य नहीं हो सकता ।

लघु मस्तिष्क (Creuellum)—मस्तिष्क के पिछले भाग में, शिर की अस्थि के नीचे यह लघु मस्तिष्क रहता है। यह एक छोटी नारंगी के आकार का होता है । इसको काटने पर इसमें पुस्तक के पन्नों की भाँति छोटे-छोटे पत्र मालूम होते हैं । इस लघु मस्तिष्क में ज्ञान और विचार के तन्तु नहीं होते । यह ऐच्छिक गतियों को (यथा—चलने, फिरने, हाथ को उठाने, गिराने आदि) शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में पहुँचाता है । इसका कार्य गति देना और शरीर के स्नायु-मांसपेशियों पर अंकुश रखना है ।

मध्य मस्तिष्क (Porvs Virolii)—वृहत मस्तिष्क के नीचे यह भाग आया है । ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश में चार कोनोंवाला एक चौड़ा स्थान है । इसी को 'सेतु' या मध्य मस्तिष्क कहते हैं । सामने के भाग में यह ज़रा लम्बा है, और पिछला भाग 'मैडूल्या औवलैगेठा'-"सुषुम्ना काण्ड" के साथ जुड़ा हुआ है । यह सेतु श्वेत तन्तुओं से बना हुआ है ; ये तन्तु वृहत् मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों को परस्पर मिलाते हैं । सुषुम्ना, सुषुम्ना काण्ड इन दोनों भागों को यही सेतु मस्तिष्क की तलेटी में रहनेवाली पोल के साथ जोड़ता है । मस्तिष्क की तलेटी में से ९ तन्तु युग्म निकलते हैं । उन तन्तुओं का इस सेतु के साथ सम्बन्ध रहता है । वृहत् और लघु दोनों मस्तिष्कों को यदि काट भी दिया जाय, तो भी इस सेतु में इच्छाशक्ति चलती रहती है और मन को ज्ञान का भास होता है । मस्तिष्क से जो चेतना-तन्तु (संज्ञावहा) बाहर जाते हैं, वे इस सेतु ही से होकर जाते हैं, और जो संज्ञावह तन्तु मस्तिष्क में आते हैं, वे भी इसीमें से होकर मस्तिष्क में पहुँचते हैं । एक प्रकार से यह "सेन्ट्रल टेलीफ़ोन" का कार्य करता है ।

सुषुम्ना काण्ड—इसका वर्णन आगे किया जायगा । यह बहुत ही सुकोमल भाग है, शरीर के सम्पूर्ण जीवन का आधार इसी पर है । इसको यदि थोड़ी-सी हानि पहुँचे तो प्राणहानि होजाय । इसको इसलिये "प्राण-ग्रन्थि" भी कहते हैं । इतनी आवश्यक वस्तु को भगवान ने मस्तिष्क की

तलेटी में छिपाकर रक्खा है, जिससे किसी प्रकार का नुक़सान इसको न पहुँचे।

चेतना चक्र (Nerul Centres)—मस्तिष्क का निर्माण सूक्ष्म तन्तुओं अथवा सूक्ष्म अणुओं के द्वारा होता है। ये तन्तु श्वेत पतले सूक्ष्म पदार्थ के तन्तुओं से (Filres) बने हैं। ये तन्तु भिन्न-भिन्न मूलों में से निकलते हैं। इन मूलों को 'चेतन चक्र' या 'नर्व सेन्टर' कहते हैं। सूर्य के चारों ओर जिस प्रकार किरणें बिखरी रहती हैं, उसी प्रकार इन चक्रों के चारों ओर तन्तु निकलते रहते हैं। सब प्रकार के ज्ञान और क्रिया का बीज इन चेतना चक्रों में रहता है। इस प्रकार के चेतना चक्र हजारों हैं। ये चक्र दो प्रकार के हैं। एक चेष्टावहा —अर्थात् चेष्टा को ले जानेवाले, जो कि लघु मस्तिष्क में रहते हैं और दूसरे संज्ञावहा-ये संज्ञा को ले जाते हैं-ये वृहत् मस्तिष्क में रहते हैं और मध्य मस्तिष्क में आकर इनसे उत्पन्न तन्तु आपस में मिलकर सुषुम्ना काण्ड के द्वारा पृष्ठवंश में पहुँच जाते हैं और वहाँ से सब अंगों में फैल जाते हैं। *

पृष्ठवंश—मस्तिष्क के सब तन्तु (चेष्टावहा और संज्ञावहा दोनों प्रकार के) सुषुम्ना कन्द के रूप में रज्जु के आकार में इकट्ठे होकर गुदा तक पहुँचे हुये हैं। पृष्ठवंश में से कुछ तन्तु स्थान-स्थान पर जोड़ों के रूप में बाहर निकल आते हैं। ये तन्तु वही होते हैं, जो कि मस्तिष्क से मेरुदण्ड के अन्दर वाले छिद्र में से नीचे रस्सी के रूप में गुदा तक जा रहे होते हैं। ये तारों के रूप में फटते हैं और बाहर आकर फिर एक रस्सी के रूप में बँट जाते हैं।

इस प्रकार के तन्तु युग्म इकतीस हैं। जो कि पृष्ठवंश के दोनों ओर फटे हुये हैं और शरीर के भिन्न-भिन्न भागों तक पहुँचे हुये हैं। शरीर की गति और ज्ञान-शक्ति का सारा आधार इन्हीं तन्तुओं पर है। इनका विभाग इस प्रकार से है—

(क) ग्रीवा के अन्दर सात मणकें हैं—अतः ग्रीवा प्रदेश से निकलनेवाले तन्तु युग्म सात हैं, और ये दोनों हाथ, गरदन और चेहरे में जाते हैं।

---

* प्राणाः प्राण भृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते ॥ (चरक)

(ख) पृष्ठवंश में बारह मणकें हैं—इसलिये इस भाग में बारह तन्तु युग्म निकलते हैं। जो कि छाती, पार्श्व और पसलियों में फैले हुये हैं।

(ग) कटि-प्रदेश में पाँच मणकें हैं—अतः इस भाग में पाँच तन्तु युग्म बाहर आते हैं। ये तन्तु पेट, वस्ति और पांव में जाते हैं।

(घ) त्रिक-प्रदेश पाँच मणकों के जुड़ने से बना है—इसमें से भी पाँच ही तन्तु युग्म बाहर जाते हैं। जो कि पेडू के अन्तः अवयवों में, जङ्घा, आंत्र, मूत्राशय, स्त्रीयोनि, जननेन्द्रिय तथा दोनों पैरों के पिछले भाग में जाते हैं।

(ङ) गुदास्थि—यहाँ से दो तन्तु युग्म निकलते हैं। ये गुदा के भाग में ही जाते हैं।

इन दोनों प्रकार के तन्तुओं के निकलने में भी भेद है। चेष्टावहा तन्तु मणकों के सम्मुख और पार्श्ववर्त्ती भागों में से निकलते हैं। और संज्ञा वहा तन्तु पिछले भाग में से निकलते हैं। यदि इन चेष्टा वहा तन्तुओं को काट डालें तो जिन-जिन भागों में ये तन्तु पहुँचते हैं, उन-उन भागों में क्रिया की शक्ति का नाश होजाता है, और यदि ज्ञान तन्तुओं का मूल काट दिया जाय तो जिन भागों में ये तन्तु पहुँचते हैं, वहाँ इनकी संज्ञा नष्ट हो जाती है। इन संज्ञावह तन्तुओं के साथ एक और भी विशेषता है, वह यह कि जिस भाग में ये तन्तु होते हैं, यदि उस स्थान का पोषण बन्द हो जाय तो ये संज्ञावह तन्तु भी उस स्थान के निर्बल हो जाते हैं।

मस्तिष्क से जो भी ज्ञान या क्रिया चलती हैं, वह इन तन्तुओं के द्वारा शरीर के अंगों में पहुँच जाती है, परन्तु हाथ या पैर से जो संज्ञा या चेष्टा ज्ञान मस्तिष्क की ओर जाता है, वह उसी रज्जु या तन्तु के द्वारा ऊपर नहीं जाता। परन्तु सामने की रज्जु में जाकर उसके द्वारा यह ज्ञान मस्तिष्क में ऊपर चढ़ता है। यदि पृष्ठवंश के वाम ओर के तन्तु काट दिये जायँ तब इसके विरुद्ध के अंगों में ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाता है। इस प्रकार से ज्ञान तन्तुओं के तारों के अगले भाग गति तन्तुओं के साथ मिलकर एक दूसरे के विरुद्ध दो भागों में बँटकर चले जाते हैं। अर्थात् दक्षिणी पार्श्व में मस्तिष्क से चले हुये तन्तु वाम पार्श्व से पहुँच कर समाप्त होते हैं। शरीर के ऊपर जो ऊष्णता या शीत का ज्ञान होता है, वह ज्ञान सुषुम्ना

दण्ड में से निकलते हुये ज्ञान-तन्तुओ द्वारा सुषुम्ना दण्ड में पहुँचता है और पीछे सुषुम्ना दण्ड में से मस्तिष्क में पहुँचता है। मस्तिष्क के पीछे यह ज्ञान अन्तःकरण में पहुँचता है।

सुषुम्ना काण्ड (medula-oulangata)—सुषुम्ना दण्ड के मूल भाग को यह नाम दिया गया है। सुषुम्ना काण्ड का मूल स्थान मस्तिष्क की तलेटी में है। वहाँ पर इसका आकार छोटे गोलकन्द के रूप में रहता है। इसका मध्य मस्तिष्क के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। यह प्रदेश बहुत ही कोमल होता है। इसलिये ही इसको मस्तिष्क में खूब छिपाकर रक्खा है। जिससे किसी प्रकार का आघात इस तक नहीं पहुँचता। सुषुम्ना दण्ड और सुषुम्ना काण्ड यह एक ही वस्तु के दो भाग हैं। मनुष्य के जीवन का आधार इस सुषुम्ना काण्ड पर ही है। यदि संपूर्ण मस्तिष्क काट दिया जाय, और यह स्थान सुरक्षित रहे तो भी मनुष्य कुछ समय तक जीवित रह सकता है। उसका श्वास-प्रश्वास चलता रहता है, परन्तु इस भाग के कटने से तत्काल मृत्यु हो सकती है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया इस सुषुम्ना काण्ड के एक भाग की प्रेरणा से हो रही है। इस भाग में से एक तन्तुयुग्म (न्युमोगैस्ट्रीक) निकलता है; जो कि मस्तिष्क से निकलने वाले बारह तन्तुओं में से दसवाँ है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया इस कन्द की परावर्त्तन शक्ति से होती है। श्वास-प्रश्वास के इच्छाधीन और अनिच्छाधीन व्यापार भी इसी भाग में से होते हैं। छींकना, उल्टी करना, मल-मूत्र का त्याग और गर्भ का गर्भाशय से बाहर निकलना (आपान वायु के कर्म भी) आदि कार्य भी श्वास क्रिया के ही एक अंगमूल हैं। अतः आयुर्वेद में ये कार्य उदान, अपान आदि वायु के बताये हैं, जो कि प्राण वायु के ही भेद हैं। और इन सबका आधार यह अपना सुषुम्ना काण्ड ही है। जहाँ कि दसवाँ तन्तु युग्म निकलता है। और यही तन्तु जिस प्रकार अपनी शाखाओं द्वारा फेफड़ों और हृदय में फैला है, उसी प्रकार आंत्र, मूत्राशय, गर्भाशय और आमाशय में फैलता है। इस सुषुम्ना काण्ड के ऊपर ही जीवन का आधार होने से इनको "प्राण-ग्रन्थि" भी कहते हैं। बोलना आदि कार्य भी इसी दसवें तन्तु की सहायता से होते हैं।

सहानुभूति-प्रदर्शक तन्तुओं की ग्रन्थिमाला—पृष्ठवंश के दोनों ओर कुछ ग्रन्थियाँ चेन के रूप में रक्खी हुई हैं। यह ग्रन्थिमाला उपरोक्त सब

तन्तुओं से, सब चक्रों से भिन्न है। इन ग्रन्थियों के द्वारा शरीर के अन्दर नियमित व्यापार चल रहा है। बाह्य शरीर का नियंत्रण मस्तिष्क और सुषुम्ना के ज्ञान तन्तु या क्रियातन्तुओं से होता है। परन्तु अन्त: शरीर का यथा—हृदय, फेफड़े, आमाशय, आंत्र आदि का नियमन इस ग्रन्थिमाला के द्वारा ही होता है। जैसे कि यदि मनुष्य चाहे कि नाक पर बैठी मक्खी को उड़ाऊँ, या मेज पर की पुस्तक को उठाऊँ, तो मस्तिष्क से चली हुई चेष्टावहा नाड़ी हाथ को गति देकर वैसा करा देती है; परन्तु मनुष्य यदि यह चाहे कि आमाशय गति न करे, या आंत्र गति न करे तो वह इसको नहीं रोक सकता। इसमें विकार तभी होगा जब कि इन पर अंकुश रखनेवाले अवयव में अन्तर आ जावे। और अंकुश रखनेवाला अवयव यह ग्रन्थिमाला है। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थिमाला का नियंत्रण "अनैच्छिक" मांसपेशियों पर है। और मस्तिष्क और सुषुम्ना का नियंत्रण "ऐच्छिक" मांसपेशियों पर है। ग्रन्थि-माला की हजारों शाखायें रक्त-वाहिनियों में, हृदय में, फेफड़ों में, छाती के प्रदेश में, वस्ति में, आंत्र में, मूत्राशय में, वृक्कों में, यकृत में, सब अवयवों में फैली हुई हैं। और सारे शरीर की खबर रखती हैं। जब देखती हैं कि शरीर के एक भाग में रक्त कम पहुँच रहा है तो उसकी सूचना मस्तिष्क को देकर उस स्थान में रक्त की मात्रा बढ़ा देती हैं; इस प्रकार से सब स्थानों पर रक्त समान पहुँचता है और रक्त-वाहिनियों का संकोच-विकास भी एक समान होता है। सब प्रकार के मानसिक भावों का प्रदर्शन इन्हीं ग्रन्थमाला के द्वारा होता है। जैसे कि—स्त्री के देखने से पुरुष में कामेच्छा का उत्पन्न होना, या क्रोध के उत्पन्न होने से मुँह पर लाली आना, बच्चे को देखकर माता के स्तनों से दूध का चूना, दु:ख के कारण आँखों से पानी आना आदि कार्य सब ग्रन्थिमाला के द्वारा होते हैं। इसी प्रकार आमाशय, या आंत्रों को अब किस वस्तु की जरूरत है, वह इसी माला से अनुभव होता है। इसी प्रकार मूत्र से मूत्राशय के भरने पर उसको त्याग करने की इच्छा भी इसी के द्वारा होती है।

इस उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञान दो प्रकार का है। एक ज्ञान तो तन्तुओं के द्वारा मस्तिष्क में पहुँचता है। दूसरा ज्ञान, जिसके द्वारा भूख, प्यास, मूत्र-त्याग या मल त्याग की इच्छा या अनुभव होती है, वह है। यह ज्ञान इस सहानुभूति प्रदर्शक ग्रन्थिमाला के द्वारा अनुभूत होता है। संक्षेप से

विचार-शक्ति, मनन-शक्ति का स्थान मस्तिष्क में रहता है। जिसके द्वारा मनुष्य यह सोचता है, कि मैं नाक पर बैठी मक्खी को उड़ाऊँ, या नहीं; मैं आग के समीप और अधिक देर रहूँ या नहीं; यह सब विचार और निर्णय मस्तिष्क में होता है। इस निर्णय के अनुसार अपना लघु मस्तिष्क कार्य कराता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान का स्थान सुषुम्ना और यह ग्रन्थिमाला है। इसमें मनुष्य का कोई वश नहीं होता।

शरीर में असंख्य तन्तु, जाल के रूप में फैले हुये हैं। ये बहुत ही पतले तागे की तरह हैं। इनके अन्दर तेल जैसा स्वच्छ पदार्थ भरा होता है। इस पदार्थ में तन्तुओं का गुण रहता है। बिजली के तार में जिस प्रकार अन्दर धातु रहती है और ऊपर गटापर्चे का लेप होता है, उसी प्रकार इन सूत्रों के अन्दर ही अन्दर प्रवाही तरल पदार्थ रहता है, और ऊपर सूत्र तन्तु। इस प्रकार अनेक तन्तु एकत्रित होकर बंडल बनाते हैं, और कई बंडल मिलकर एक स्थूल तन्तु बनाते हैं। अपने सब ज्ञान इसी तरल पदार्थ के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचते हैं और इसी के द्वारा मस्तिष्क से आते है। यह काम तार वर्की के समान चलता है। जिस प्रकार यहाँ के तार लाखों मील तक पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार पैर का ज्ञान मस्तिष्क में पहुँच जाता है। संदेशा ले जानेवाला यही प्रवाही द्रव है। प्रत्येक तन्तु के दो छोर होते हैं। एक छोर मस्तिष्क में रहता हैं और दूसरा शरीर के उस भाग में जहाँ कि तन्तु पहुँचा होता है। शरीर के अन्दर नख से लेकर शिर तक ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ ये तन्तु न हों। यदि किसी कारण से यह तन्तुओं के तार टूट जायें, या इसमें कोई विकार हो जाये, तब मस्तिष्क तक ज्ञान नहीं होता। उदाहरण के लिये जिस प्रकार कि पक्षाघात रोग में, जब कि पृष्ठवर्त्ती तन्तु मर जाते हैं, तब स्पर्श-ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार यदि स्पर्श-ज्ञान के केन्द्र पर चोट आ जाय तो इस ज्ञान को अनुभव करने का स्थान नष्ट होजाता है। इससे भी स्पर्श-ज्ञान नहीं हो सकता। तीसरी बात यह है कि स्पर्श-ज्ञान को ले जानेवाला तन्तु बीच में से कट जाय, तब भी मस्तिष्क तक ज्ञान नहीं पहुँच सकता। इसलिये तीनों साधन ठीक हों तभी हमको ज्ञान हो सकता है। ज्ञान करनेवाला, ज्ञान ले जानेवाला और ज्ञान को लेने (ग्रहण करनेवाला) वाला तीनों वस्तुयें सही सलामत होने पर ही ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं।

शरीर की सब आन्तरिक और बाह्य क्रियायें मस्तिष्क तथा इसके अंगभूत वात संस्थान के अधीन हैं। तन्तु या सूत्र इसके जासूस हैं। इनमें ज्ञान-तन्तु (संज्ञा वहा) सब प्रकार की खबरें मस्तिष्क में पहुँचाती हैं। मस्तिष्क उन पर विचार करता है और फिर गतितन्तुओं (चेष्टा वहा) को आज्ञा देता है। उनके द्वारा उस अवयव की मांसपेशी गति करती है। उदाहरण के लिये नाक पर मक्खी बैठती है; नासिका के संज्ञावहा तन्तुओं ने मस्तिष्क में खबर दी कि नाक पर मक्खी बैठी है, मस्तिष्क ने (मन द्वारा) सोचा कि उसका बैठना अच्छा नहीं, फौरन हाथ को आज्ञा हुई कि इसको उड़ाओ। उसी समय लघु मस्तिष्क में से हाथ के चेष्टावहा तन्तुओं को आज्ञा हुई। उन्होंने हाथ को ऊँचा करनेवाली और घुमानेवाली पेशियों को गति दी; हाथ ने नासिका के पास जाकर मक्खी को हटाया। यह कार्य इतनी शीघ्रता से होता है, कि आदमी कल्पना भी नहीं कर सकता। यही तो उस परब्रह्म का आश्चर्य है। 'किमाश्चर्य्यं मतः परम्'।

ज्ञानेन्द्रियाँ (Organs of senses)

"पंचाभिभूतस्त्वथ पंचकृत्वा, पंचेन्द्रियं पञ्चसुभावयन्ति।"
पंचेन्द्रियं पंचसुभावयित्वा पंचत्वमायान्ति विनाश काले ॥ सुश्रुत

इन पाँच भूतों से बने, छः अंगोंवाले शरीर में ज्ञान का साधन पाँच इन्द्रियाँ हैं। यथा—कान, नाक, जिह्वा, त्वचा और आँख। ये इन्द्रियाँ भी पंच महाभूतों से उत्पन्न हुई हैं। यथा, कान आकाश से, नाक पृथ्वी से, जिह्वा-जल से, त्वचा-वायु से और आँख तेज से उत्पन्न हुई हैं। इसलिये ये अपने-अपने विषय को स्वयं ही ग्रहण करती हैं। यथा—कान आकाश से उत्पन्न होते हैं, अतः अपने विषय शब्द की ओर प्रवृत्त होते हैं; उसे ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार नासिका गन्ध को; जिह्वा रस को, त्वचा-स्पर्श को; और आँख रूप को ग्रहण करती है। इन इन्द्रियों में इसी प्रकार के ज्ञान-तन्तु लगे होते हैं। अर्थात् आँख में रूप को देखने के ही तन्तु लगे होते हैं। इन सब तन्तुओं का सम्बन्ध मस्तिष्क के साथ होता है। वही इस सबका आधार या आदि स्रोत है। बाहर के सब पदार्थों का ज्ञान इन्हीं पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है। प्रत्येक ज्ञान के लिये तन्तु भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिये

ज्ञानेन्द्रियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। बिजली की चमक के आँख देखती है, परन्तु उसके शब्द को कान सुनते हैं। इसी प्रकार पुष्प की गन्ध को नासिका ग्रहण करती है, परन्तु उसके रंग को आँख देखती है।

२—नासिका-घ्राणेन्द्रिय—यह इन्द्रिय शरीर में गन्ध का साधन है। इसके द्वारा हम किसी पदार्थ में रहनेवाली सुगन्धया दुर्गन्ध का ज्ञान करते हैं। नाक के अन्तिम भाग में से श्वास-नलिका प्रारम्भ होती है और नाक के ऊपरी भाग में घ्राण-तन्तु फैले हुये हैं। यह तन्तु मस्तिष्क से उत्पन्न होनेवाली प्रथम तन्तु युग्म की शाखा-प्रशाखायें हैं। इसकी बीस शाखायें इस स्थूल इन्द्रिय में फैली हैं। स्थूल नासिका इन तन्तुओं के रहने का घर, और श्वास-प्रश्वास का साधन है। सच्ची इन्द्रिय तो अपने मस्तिष्क में ही रहती है, जिसके द्वारा हम यह ज्ञान करते हैं कि यह वस्तु गन्ध में अच्छी है, यह बुरी है। घ्राण शक्ति सब प्राणियों में एक समान नहीं होती। मांसाहारियों में और प्राणियों की अपेक्षा अधिक होती हैं। कई व्यक्तियों में यह शक्ति मन्द या नष्ट हो जाती है। इससे वे किसी प्रकार की गन्ध को नहीं पहिचान सकते। कई बार रोग आदि के कारण (यथा—जुकाम) भी यह शक्ति नष्ट होजाती है।

३—आँख (दृष्टेन्द्रिय)—आँख के अन्दर मुख्य तीन पर्त पड़ हैं और अन्दर किरणों को पुनः एकत्रित करने के लिये तीन ही नेत्र रस हैं। ये पर्त बाह्यपर्त, मध्यम पर्त और अन्तिम नेत्रदर्पण है। और रस-जल रूप रस, स्फटिक रूप रस और काच रूप रस—ये तीन रस हैं। बाह्यपर्त मोटा, श्वेत और अपारदर्शक है। इसके बीच का मध्य भाग—जो कि कृष्णमण्डल—काला दिखता है, वही भाग पारदर्शक है। बाह्यपर्त के अन्तः पृष्ठ के पार्श्वों में काले रंग का एक मध्यम पर्त है और कृष्ण मण्डल के पीछे एक मांसमय परदा है। इस मांसमय परदे को कनीनिका का मण्डल कहते हैं। इस परदे के बीच में एक छेद है। इस छेद को "की-की" कहते हैं। मध्य पर्त का अधिक भाग सूक्ष्म रक्त वाहिनियों से बना हुआ है। इस मध्यम पर्त के भी दो पर्त हैं। बाह्य पर्त में रक्त नालियाँ रहती हैं और अन्दर का पर्त काले पदार्थ से भरा है। इस काले लेप के अन्तःपार्श्व पर नेत्र दर्पण रहता है। कनीनिका मण्डल का परदा गोल है, और कृष्ण मण्डल के पीछे एवं स्फटिक रस के आगे, जल रस में टँगा हुआ है। इस परदे के मध्य में "की-की" का

छेद है। किरणें इस छिद्र में से होकर जाती हैं। जब यह परदा छोटा और बड़ा होता है, तो "की-की" भी छोटी और बड़ी होती है, और 'की-की' के छोटा बड़ा होने से किरणें भी थोड़ी या अधिक आँख में जाती हैं। इस परदे का पिछला पार्श्व काला होने से 'की-की' भी काली दिखाई देती है। यह पर्त मांस से बना होता है, इसलिये मांस के रेशे, काले, नीले, भूरे, जिस रंग के होंगे, 'की-की' के अन्दर से भी वही रंग दिखाई देगा। तीसरा पर्त नेत्र-दर्पण बहुत आवश्यक है। इसके अन्दर काचरूप रस रहता है। बाह्य पदार्थों की फोटो इस परदे पर उतरती है। इस दर्पण में भी तीन सूक्ष्म पर्त हैं। अन्दर की तीसरी पर्त दर्शन तन्तुओं से बनी है। यह दर्शन तन्तु मस्तिष्क से उत्पन्न होनेवाले दूसरे तन्तु युग्म की शाखायें हैं; जो कि सूक्ष्म जाल के रूप में इस परदे के अन्दर फैली होती हैं। इस प्रकार से यह आँख मुख्य रूप में तीन पर्तों से बनी है। आँख के अन्दर तीन रस हैं। इन रसों के अन्दर किरणों को इकट्ठा करने की शक्ति है। इसके साथ ही प्रकाश की जो किरणें तीव्र, अधिक चमकदार होती हैं, उनकी उग्रता इस द्रव से घट जाती है। जिस प्रकार कि फोटो लेने के कैमरे के अन्दर बड़ी से बड़ी वस्तु की फोटो उतर सकती है, उसी प्रकार इस आँख में बड़ी से बड़ी वस्तु का रूप समा सकता है। कैमरे का लैन्स वस्तु के सब भागों से किरणों को इकट्ठा करके प्लेट पर फेंकता है और वहाँ उस वस्तु का एक्स उतर आता है। यही कार्य आँख में होता है। आँख का द्रव भाग भी सब किरणों को लेकर अन्तिम पर्त पर फेंकता है, वहाँ उसी का रूप दिखने लगता है। सब से प्रथम किरणें डोले के सफेद पर्त में से प्रथम खंड में आती हैं। वहाँ से 'की-की' में होकर रसपड़ में जाती हैं; और वहाँ से रतन पर एकत्रित होती हैं। रतन में से निकलकर यह किरणें पिछले खंड के बिलौरी पदार्थ में मिलकर, वहाँ से चलकर तन्तुवाले पड़ के ऊपर एकत्रित होती है। वहाँ पर मूल वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इस प्रतिबिम्ब का ज्ञान मस्तिष्क को होता है। वृद्धावस्था में आँख का यह रसपड़ अपारदर्शक हो जाता है, तब भली प्रकार दिखाई नहीं देता। इस अवस्था को "मोतिया" कहते हैं। अँधेरे में पड़ी चीजों से किरणें नहीं निकलतीं, अतः अन्धकार में पड़ी वस्तुओं का ज्ञान भी नहीं होता! इससे स्पष्ट है कि सूर्य या तेज के बिना आँख रूप का ग्रहण नहीं करती।

वस्तु की किरणों को एकत्रित करने के लिये कैमरे में जिस प्रकार

लैन्स को आगे पीछे करना पड़ता है, उस प्रकार इस आँख की प्राकृतिक लैन्स को हिलाने की जरूरत नहीं होती। दूर से दूर की वस्तु और पास से पास की वस्तु अपने असली रूप में, इस आँख से दिखाई देती है। यह कितना आश्चर्य है। कई बार इसमें अन्तर आ जाता है, उसके लिये कृत्रिम साधन, ऐनक आदि की आवश्यकता पड़ती है। दूसरी विशेषता इस आँख में यह है कि कैमरे के अन्दर लैन्स के कारण परदे पर फोटो उल्टी आती है। अर्थात् ऊपर का भाग नीचे और नीचे का भाग ऊपर। परन्तु इस आँख में वस्तु जैसी होती है, वैसी ही दिखाई देती है।

आँख का सम्पूर्ण आधार शरीर के वीर्य पर निर्भर है। जिस पुरुष में वीर्य का रक्षण जितना अधिक होगा उसकी दृष्टि शक्ति भी उतनी उज्जवल होगी।*

कान (श्रवणेन्द्रिय)—शब्द को सुनने का साधन कान हैं। इसके तीन भाग हैं—बाह्य भाग, मध्य भाग और अन्तः भाग। अध्यापक लोग जिस कान को पकड़कर खींचते हैं, यह तो अपना बाह्य कान है। असली कान तो मस्तिष्क के अन्दर रहता है और जो छेद दिखाई देता है, वह बीच में जाने का रास्ता है। इस छिद्र के अन्दर एक छोटी पतली जगह है। मध्य कान के बाह्य पार्श्व में कान का परदा है। मध्यकान में एक नली है, जिसका एक मुख मध्य कान में है, और दूसरा मुख गले के अन्दर रहता है। इसके द्वारा मुख में से वायु कान के अन्दर आती है। कान का परदा मध्यकान और बाह्य भाग की नली के बीच में रहता है। यह परदा अर्द्ध-पारदर्शक है। मध्यकान में तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ हैं। यहाँ पर स्नायु भी हैं। अन्तःकर्ण तीन अर्द्धचन्द्राकार नलियों से बना है, इन नालियों में एक प्रकार का द्रव रहता है। जिस समय किसी प्रकार का ऊँचा शब्द यथा भेरी या पटह की जोरदार आवाज इस कान में पहुँचती है, उस समय उसकी तीव्रता इसी पानी के द्वारा कम हो जाती है। ठोस वस्तु में आवाज जोर से जाती है, पानी में उसकी तीव्रता घट जाती है। इसी प्रकार से यही अन्तःकरण श्रवण-तन्तुओं की रक्षा करता है। श्रवण-तन्तु जो कि मस्तिष्क से निकलनेवाले बारह तन्तु युग्मों में से एक है, वह इसी अन्तःकर्ण में आकर समाप्त होता है। इसके अतिरिक्त इसी

*"दृष्टिस्तेजोमयि प्रोक्तः शुक्रं तेजश्च केवलम्।
तस्माद् दृष्टि बलापेक्षि तेजो वृद्धिं समाचरेत्॥" चरक टीका

अन्तःकर्ण में एक भाग और है, उसका आकार शंख के समान चक्करदार है। इसके अन्दर से शब्द के गुजरने से उसकी तीक्ष्णता घट जाती है। यह सब परमात्मा की अद्भुत रचना को स्मरण कराती है।

इन अर्धचन्द्राकार प्रणालियों का एक और लाभ है। ये हमारा गुरुत्व ठीक रखती हैं। जिस समय इनके अन्दर का पानी बहुत हिलता रहता है, उस समय हमको दिशा का भान नहीं रहता। जहाज आदि पर नये यात्री को गुरुत्व न ठीक रहने से ही चक्कर आते हैं और जिनको अभ्यास पड़ जाता है, उनको कष्ट नहीं होता।

त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) यह अपनी त्वचा दो भागों से बनी है। ऊपर का पृष्ठ बहुत ही पतला है। यह पर्त शरीर की रक्षा करता है। इसका निचला भाग या पृष्ठ बहुत सख्त और मोटा है, इस भाग पर ज्ञान-तन्तुओं का सूक्ष्म जाल बिछा हुआ है। आवश्यकता होती है, तो चेष्टावहा तन्तुओं को आज्ञा मिलती है। रगों आदि में इन्हीं ज्ञान-तन्तुओं में विकार आता है, इसी से स्पर्श-ज्ञान में भी अन्तर आ जाता है। इन ज्ञान-तन्तुओं के साथ-साथ सूक्ष्म रक्त-वाहिनियाँ भी इस त्वचा में फैली हैं। इन वाहिनियों के मुख और तन्तुओं के छेद उपरिपृष्ठ तक पहुँचे होते हैं। रक्त-वाहिनियाँ त्वचा के उपरिपृष्ठ पर नहीं आतीं।

त्वचा के नीचे छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ हैं। इनके द्वारा शरीर का मल पसीने के रूप में बाहर होता है। इस मल के निकलने के लिये शरीर में छेद बने हुये हैं। ये छेद बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। एक वर्ग इञ्च त्वचा पर २८०० छिद्र होते हैं।

पसीना एक तरल पदार्थ है, यह लगातार त्वचा से बाहर होता रहता है। गरमियों में अधिक होता है, और सर्दियों में कम। इस पसीने के द्वारा शरीर के बहुत से हानिकारक पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस त्वचा से एक चिकना पदार्थ बाहर निकलता है, जिसके कारण त्वचा कोमल रहती है।

त्वचा पर बाल दिखाई देते हैं। इन बालों की जड़ें त्वचा के अन्दर गहरी गई हुई हैं। ये बाल बीच से खोखले होते हैं। इनके अन्दर से पसीना बाहर आता है और इन्हीं के द्वारा चिकास बाहर आता है। कई व्यक्तियों में बाल बहुत अधिक और बहुत मोटे होते हैं। उनके अन्दर पसीना बहुत

होता है। इसी प्रकार मोटे चर्बीवाले आदमियों में भी पसीना बहुत आता है और यदि ये शरीर को शुद्ध न रक्खें तो इनके शरीर से बहुत दुर्गन्ध आती है। इन बालों के द्वारा या रोमकूपों-द्वारा शरीर की त्वचा पर मले हुये तेल आदि का शोषण होता है, जिससे औषधि आदि शरीर के अन्दर पहुँच सकती है।

जिह्वा (रसना) मुँह के अन्दर रहनेवाली, मांस से बनी है। देखने में यह मांस से बनी है, परन्तु इसके अन्दर छः रसों का ज्ञान करनेवाले तन्तु और रक्त-वाहिनियाँ तथा चेष्टावहा तन्तु फैले हुये हैं। इन चेष्टावहा तन्तुओं की सहायता से हम सब प्रकार के वर्णों का उच्चारण इस जिह्वा के द्वारा कर सकते हैं। इसमें फैले हुय ज्ञान-तन्तु मस्तिष्क से उत्पन्न होनेवाले बारह तन्तु युग्मों में से हैं। पाँचवें तन्तु-युग्म की एक शाखा, और नवें तन्तु-युग्म के कुछ सूत्र तथा बारहवाँ तन्तु-युग्म सम्पूर्ण इसमें आता है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय रस के लिये जिह्वा में भिन्न-भिन्न तन्तु बिखरे हुये हैं। यथा कटु-रस को अनुभव करनेवाले तन्तु जिह्वा के अग्र भाग में रहते हैं। इस प्रकार मधुर रस के तन्तु जिह्वा के पिछले भाग में, अम्ल और लवण रस को अनुभव करनेवाले तन्तु पार्श्वों में रहते हैं।

शरीर के अंदर यही एक इन्द्रिय है जो कि दो कार्य करती है। रस-ज्ञान और बोलने का और सब इन्द्रियाँ एक ही कार्य करती हैं। परमात्मा ने उनको दो-दो बनाया है, परन्तु इसको एकही बनाया है। अतः औरो से इसका कार्य कम होना चाहिये। अर्थात् कम खाना और कम बोलना चाहिये। देखना और सुनना अधिक चाहिये।

शरीरस्थ जीव पञ्च महाभूतों से उत्पन्न इन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विश्व के समस्त पदार्थों का उपभोग कर रहा है। उसको कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। केवल इच्छामात्र ही पर्याप्त है, कि तत्काल वस्तु आकर उपस्थित होजाती है। वह एक प्रकार से इस विश्व पर राज्य कर रहा है। इन्द्रियाँ उसके नौकर हैं।*

*उपनिषदों में कहा है कि 'आत्मा' रथी है, और शरीर रथ है। मन सारथी है, और घोड़े इन्द्रियाँ हैं, और विषय लगाम है। मन को चाहिये कि इन्द्रियों को विषयों से खींचकर रक्खे। अर्थात अपने वश मे रक्खे।

सप्तधातु

"रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा, मज्ज्ञः शुक्रं प्रजायते ॥"

जो पदार्थ इतने बड़े शरीर को धारण कर रहा है, उसको "धातु" कहते हैं। प्राचीन वैद्यक के अनुसार इस शरीर को धारण करनेवाले सात धातु हैं। इनके द्वारा शरीर का धारण और पोषण होता है। ये धातु सात हैं। यथा—

१. रस = शरीर के अंदर तृप्ति और तरावट करता है।
२. रक्त = शरीर में जीवन देता है।
३. मांस = लेपन करके अवयवों को जोड़ता है।
४. मेद = स्नेहन अर्थात् चिकास देता है।
५. अस्थि = शरीर को धारण कर रही है।
६. मज्जा = अस्थियों की नलियों को भरती है।
७. वीर्य = शरीर का सत्व है और प्रजा उत्पन्न करता है।

स्त्रियों के अंदर एक और आठवीं धातु है, जिसका नाम "आर्त्तव" है। यह प्रति मास गर्भाशय से आता है। इसका वर्णन प्रथम आ गया है।

जिस प्रकार कि गर्भाशय में गर्भ के अंदर पाँच तत्त्व इकट्ठे होकर इस शरीर को बाँधते हैं, उसी प्रकार ये धातु भी उत्पन्न होकर शरीर का निर्माण करते हैं। जिस प्रकार दूध के ऊपर मलाई आती है और उसको हटा लेने पर फिर भी आती है, इसी प्रकार इस आहार रस से ये सात धातु भी मलाई की भाँति उत्पन्न होते हैं।

रस—जिस समय चार प्रकार का भोजन (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय) मुँह में जाता है और दाँतों की चक्की में पीसा जाता है, उसमें लाला रस मिलता है, तब उसके अंदर एक मधुर रस उत्पन्न होता है। यही रस अंदर पहुँचता है। आमाशय और आंत्र के अंदर पाचन हुये भोजन से भी "रस" उत्पन्न होता है। यह रस, जलरूप, प्रवाही, श्वेत, शीत, मधुर, स्निग्ध और गतिवाला है। इस प्रकार का रस सारे शरीर में होता है। इसका मुख्य स्थान हृदय है। यह रस शरीर में फैली हुई रस वाहिनियों द्वारा सम्पूर्ण

शरीर में फैलकर सब धातुओं का पोषण करता है और जब यह रस घट जाता है, या बढ़ जाता है, तब शरीर में अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। उस समय यही रस विष का कार्य करता है। साधारण बोली में इसको "अजीर्ण" कहते हैं।

रक्त—यही रस जिस समय यकृत और प्लीहा में पहुँचता है, उस समय वहाँ के पित्त द्वारा रँगा जाता है। इस रँगे हुये रस का नाम "रक्त" होता है। यह रक्त भी सम्पूर्ण शरीर में रहता है। रक्त सम्पूर्ण जीवन का आधार है। यह रक्त स्निग्ध, तथा गतिवाला है। रक्त के विकृत होने से, पित्त भी विकृत हो जाता है, तब शरीर में विकार हो जाता है। इस विकार को रक्त-विकार कहते हैं। यकृत और प्लीहा इस रक्त के उत्पत्ति स्थान हैं।

मांस—रक्त जब परिपाक होकर घन अथवा सान्द्र बन जाता है, तब इसका नाम मांस हो जाता है। इस मांस का विभाग होकर शरीर में ५०० पेशियाँ बन गई हैं। जिनके द्वारा यह शरीर सुडौल, भरावदार, सुगठित दिखता है। इसी मांस के अन्दर मनुष्य का बल स्थिर है।

मेद—मांस का परिपाक होने से मेद बनता है। इस मेद के द्वारा शरीर में स्थूलता आती है। जिस पुरुष में यह मेद बढ़ी होती है, उसके उदर और नितम्ब भारी हो जाते हैं।

अस्थि—शरीर का ढाँचा इन्हीं से बना है। ये अस्थियाँ "मेद" के परिपाक से उत्पन्न होती हैं। ये अस्थियाँ इतनी सुदृढ़ होती हैं कि शरीर के अन्य धातु नष्ट हो जायँ, परन्तु ये चिरकाल में जाकर नष्ट होती हैं। इनकी कुल संख्या २०६ है।

मज्जा—यह धातु अस्थियों के परिपाक से उत्पन्न होता है और अस्थियों के अन्दर भरा रहता है। इसका रंग हल्का गुलाबी होता है। इससे रक्त की विशेष पुष्टि होती है।

शुक्र—यह धातु मज्जा के परिपाक द्वारा उत्पन्न होता है। यह सार भूत पदार्थ है। इसका संक्षेप वर्णन प्रथम आ चुका है।

संक्षेप से—इस सम्पूर्ण क्रिया का आधार अपना रक्त है। वही इन सब पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला अवयवों को शक्ति दे रहा है और यह रक्त रस से बनता है। जिस समय आहार रस आमाशय, आंत्र आदि

से चूसा जाकर रस-वाहिनियों द्वारा हृदय में पहुँचता है, उस समय वहाँ इसका परिपाक होता है। जिससे तीन भाग उत्पन्न होते हैं। एक स्थूल भाग, दूसरा सूक्ष्म भाग और तीसरा मल भाग। स्थूल भाग उसी धातु की अर्थात् रस की वृद्धि करता है। सूक्ष्म भाग-अगले धातु का अर्थात् रक्त में परिवर्तित हो जाता है और मल भाग शरीर से बाहर हो जाता है। इस प्रकार से यह क्रिया चलती जाती है और धातु तथा मल बनते जाते हैं, परन्तु जब सातवाँ धातु "शुक्र" बनता है, उस समय इसके परिपाक से कोई मल नहीं निकलता। इसका सूक्ष्म भाग "ओज" कहलाता है।

इन सब धातुओं का परिपाक शरीरस्थ पित्त रूपी अग्नि से होता है। * क्योंकि इसके अतिरिक्त शरीर में किसी दूसरी अग्नि की उपलब्धि नहीं होती। इसलिये कहा जाता है कि पुरुष के अन्दर यदि अग्नि शान्त हो जाय तो वह मर जाता है और यदि यह स्वस्थ रहे तो मनुष्य चिरकाल तक जीवित रहता है। इसमें विकार आने से शरीर भी विकृत हो जाता है। इस अग्नि रूपी पित्त का आधार शरीरस्थ रक्त है। अतः इस रक्त को जीवन कहा है। इसके द्वारा ही अन्य सब धातुओं में वृद्धि होती है। रस के बढ़ने से शरीर में रक्त भी बढ़ता है, और रस के घटने से शरीर में रक्त भी कम हो जाता है। इसी प्रकार अन्य धातुओं को भी समझना चाहिये।

शरीरस्थ मल—इस परिपाक हुये रस से निम्न प्रकार धातुओं से मल निकलते हैं—

रस में से निकलनेवाला मल.........कफ
रक्त में से निकलनेवाला मल.........पित्त
मांस में से निकलनेवाला मल.........कान का मल
मेद में से निकलनेवाला मल.........पसीना
अस्थि में से निकलनेवाला मल.........नख-केश
मज्जा में से निकलनेवाला मल.........नेत्रमल
शुक्र के सारभूत होने से उसमें से कोई मल नहीं निकलता।

इन धातुओं का शरीर पर प्रभाव—शरीर के अन्दर इन सप्त धातुओं के बढ़ने या घटने से शरीर के अन्दर विषमता आ जाती है। अर्थात् रस के बढ़ने से-उबकाई आना, डकार आना और लालास्राव होता है और यदि

---

*न खलु पित्त व्यतिरिक्तोऽग्नि रूप लभ्यते ॥ (सुश्रुत)

शरीर में रस घट जाय तब हृत्पीड़ा, कम्प, शोष और प्यास अधिक लगती है। इसके बढ़ने से शरीरस्थ कफ भी बढ़ जाता है और घटने से कफ की मात्रा में भी न्यूनता आ जाती है। इसी प्रकार—

धातु	धातुओं के बढ़ने का लक्षण	धातुओं के घटने का लक्षण	मलों का परिणाम
रस	उँबकाई आना, डकार आना, लाला का स्राव होना	हृत्पीड़ा, कम्प, शोष और प्यास	इन धातुओं के जो-जो मल हैं, धातुओं के बढ़ने में वे भी बढ़ते हैं, और घटने में घट जाते हैं। यथा अस्थियों के बढ़ने में नेत्र और बाल भी बढ़ जायेंगे और मोटे आदमियों में, जिनमें कि मेद बढ़ी होती है, उनमें पसीना बहुत आता है। इसके कारण एक दुर्गन्ध आती है। यथा रीछ के शरीर में।
रक्त	धमनियों का भरा होना, रक्त की चाह	त्वचा में कठोरता, शीत की प्रार्थना, शिराओं में शिथिलता	
मांस	नितम्ब, गाल, ओष्ठ जंघाओं में मांस वृद्धि और शरीर का भारीपन	नितम्ब, गाल, वक्ष, कक्षा, पिंडली में शुष्कता, शरीर में रौक्ष्यता, धमनियों की शिथिलता	
मेद	स्निग्धता, उदर में वृद्धि, कास, श्वास और दुर्गन्ध	प्लीहा का बढ़ना, सन्धिशून्यता रूक्षता	
अस्थि	चणकास्थियों का बनना और दाँतों का अधिक बनना	अस्थिशूल, दाँत और नखों का टूटना और रूक्षता	
मज्जा	सब अंगों में और नेत्र के अंदर भारीपन	शुक्र की कमी, जोड़ों का टूटना, अस्थियों में आवाज़ होना	
शुक्र	शुक्राश्मरी का बनना सम्भोग की इच्छा	शिश्न और वृषण में दर्द, मैथुन में अशक्ति, देर में वीर्य का क्षरण और राशि में थोड़ा	

निन्दित पुरुष—इस शरीर-शास्त्र के अनुसार आठ पुरुष निन्दित माने जाते हैं। यथा—अति स्थूल, अति कृश, अति दीर्घ, अति कृश, अति-लोम, अलोम, अति कृष्ण और अति गौर। इन आठों पुरुषों में भी प्रथम

प्रकार के दो व्यक्ति अर्थात् बहुत मोटे और बहुत पतले व्यक्ति निन्दित हैं। इनमें भी बहुत मोटा आदमी सबसे अधिक निन्दित है।*

शरीर में स्थूलता और कृशता का कारण यह आहार रस ही है। जो पुरुष अधिक कफकारक पदार्थों का सेवन करता है, बहुत अधिक खाता है, व्यायाम नहीं करता, दिन में सोता है, उसका अपरिपक्व आहार-रस मेदे को बढ़ाता है। इस कारण उसमें मोटाई आ जाती है, और कई बार यह मोटाई माता-पिता के मोटे होने से भी आती है। इस शरीर में मेद ही सबसे अधिक बढ़ती है और अन्य धातु उतने अधिक पुष्ट नहीं होते। इस कारण इस व्यक्ति की आयु कम होती है, बुढ़ापा जल्दी आता है, मैथुन में अशक्ति होती है, शरीर निर्बल रहता है, और उससे बहुत दुर्गन्धि आती है। इस स्थूलता को कम करने के लिये मेद वृद्धि के कारणों को छोड़ दे। शिलाजीत, त्रिफला, लौह, व्यायाम का उपयोग करे। रूक्षता उत्पन्न करनेवाली वस्तुयें सेवन करे।

इसी प्रकार बालों के बढ़ने या न होने का कारण अस्थियाँ हैं। जिनके यह मल हैं। अतः शरीर के निन्दित या प्रशंसित होने का मुख्य कारण यह अपना आहार-रस ही है। बालों के अधिक होने से शरीर से पसीना अधिक मात्रा में निकलेगा, शरीर से बदबू आती रहेगी और बालों के न होने से पसीना बाहर नहीं निकलेगा।

तीन दोष

वात, पित, कफ।

Vat, Pita, Couph

"वात पित्त श्लेष्मणः एव देह संभव हेतवः तैरेवशव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्व"
"सन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिः तिस्टभिरतश्च त्रिस्थूण माहुरेके। त एव च व्यापन्नः प्रलय हेतवः॥" —सुश्रुत

जिस प्रकार इस प्रकृति को बनानेवाले सत्त्व, रज और तम, ये तीन गुण हैं, और जिस प्रकार इस चराचर विश्व को धारण करनेवाले सोम, सूर्य और वायु ये तीन पदार्थ हैं, उसी प्रकार इस देह को धारण करनेवाले, वात,

*अत्यन्त गर्हिता वेतौ सदा स्थूल कृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्य शरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः॥ सुश्रुत

पित्त और कफ ये तीन दोष हैं। यद्यपि ये शरीर को धारण करते हैं, तथापि इनको 'दोष' शब्द से कहा जाता है। क्योंकि शरीर के अन्दर जब विकार या रोग उत्पन्न होता है, तो सबसे प्रथम ये तीन पदार्थ ही विकृत होते हैं। इनके विकृत होने पर शरीर को धारण करनेवाले सात धातु भी विकृत हो जाते हैं। अतः इन, वात, पित्त, कफ को दोष कहते हैं, और सात धातुओं को 'दुष्य' कहते हैं।

यद्यपि ये तीनों दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं, तथापि मुख्य भेद से इनके तीन स्थान हैं। यथा—वायु का स्थान शिरोगुहा, पित्त का स्थान उरोगुहा और कफ का स्थान उदरगुहा है। विकृत होने पर यह अपने स्थान में विकार उत्पन्न करते हैं, और उसके साथ ही दूष्यों को दूषित करके अन्य स्थानों में भी विकार उत्पन्न कर देते हैं। आर्य-वैद्यक शास्त्र इन तीन स्तम्भों पर ही खड़ा है।

वात—शरीर के अन्दर जो कुछ गति है, वह सब इसके द्वारा होती है। जैसे कि संज्ञावहा या चेष्टावहा तन्तुओं का कार्य, रक्त का सम्पूर्ण शरीर में चक्कर काटना, श्वास-प्रश्वास की क्रिया। कार्य भेद से यह एक वायु पाँच प्रकार का है। यथा—

(क) प्राणवायु—इसका स्थान मुँह, नासिका और फेफड़े हैं। इसके कारण जीवन रहता है। इसके कुपित होने से हिचकी आती है।

(ख) अपानवायु—इसका स्थान मुख्य करके वस्ति, पक्वाशय गुदा में रहती है। इसका कार्य शरीर की उदर गुहा से मल-मूत्र, रज, शुक्र और गर्भाशय से गर्भ का बाहर निकालना है। जिस समय यह कुपित होती है तो वस्ति, पक्वाशय आदि में तीव्र दर्द उत्पन्न करती है।

(ग) व्यानवायु—यह वायु सम्पूर्ण शरीर में रहती है। रस-वाहिनियों में रस को, धमनियों में शुद्ध रक्त को, शिराओं में अशुद्ध रक्त को, ज्ञानतन्तु में चेष्टा को यह वायु उत्पन्न करती है। इसी प्रकार आँख को घुमाना, हाथ-पाँव को गति देना भी इसी वायु का कार्य है। इस वायु के कुपित होने से सम्पूर्ण शरीर में कोप होता है।

(घ) समानवायु—इसका स्थान आमाशय और पक्वाशय है। जठरस्थ पित्त के साथ मिलकर अन्न को पचाती है, रसों का विभाग करती

है। मल और मूत्र को पृथक करती है। इस वायु के कोप से मंदाग्नि, गुल्म और अतिसार आदि रोग होते हैं।

(ङ) उदानवायु—उदानवायु का स्थान नासिका और गला है। वर्णोच्चारण इसी वायु के द्वारा होता है। इसके कुपित होने से ग्रीवा से ऊपरे भाग में रोग होते हैं।

संक्षेपत: शरीर में सब प्रकार की चेष्टाओं को प्रवृत्त करनेवाली "वायु" है। प्रकृति में जो स्थान "रज" का है, वही स्थान शरीर में "वात" का है। इसका स्वभाव रुक्ष, शीतल और हल्का है।

पित्त—इसका गुण उष्ण, प्रवाही, पीला, लाल, सारक, तीक्ष्ण और कड़वा है। शरीर के अन्दर जो भी उष्णिमा हम को मिलती है वह, और जो रंग दिखाई देता है यथा—मल-मूत्र में या रक्त में, वह सब इसी पित्त के कारण है। शरीर में इसका स्थान प्रकृति के "सत्त्व" गुण के समान है। पित्त के कारण ही बुद्धि स्मृति होती है। कार्य भेद से इसके पाँच भेद हैं। यथा—

(क) पाचक पित्त—यह भोजन को पचाता है। अग्नि को बढ़ाता है। मल मूत्र का विरेचन करता है। रस को रंग देता है। रूप धारण करना, कान्ति बढ़ाना, इस पित्त का कार्य है।

(ख) रंजक पित्त—रस को रुधिर बनाता है। रक्त के अन्दर रङ्ग इसी के कारण आता है। स्थान, यकृत और प्लीहा हैं।

(ग) साधक पित्त—बुद्धि, धृति, स्मृति आदि को उत्पन्न करता है। इस पित्त का स्थान अन्त:करण में है।

(घ) आलोचक पित्त—यह रूप अर्थात आकार को ग्रहण करता है। इसका स्थान आँख है।

(ङ) भ्राजक पित्त—इस पित्त का स्थान त्वचा है। जिसके द्वारा शरीर के ऊपर लगाये हुये तेल, आदि शरीर के अन्दर प्रविष्ट होते हैं।

कफ—इसका गुण श्वेत, भार, स्निग्ध, शीतल, मीठा और जोड़नेवाला है। कफ के कारण ही यह अपना शरीर स्थिर रहता है। प्रकृति में जो स्थान "तम" का है, वह स्थान शरीर में कफ का है। कफ के कारण शरीर में भार होता है। इसके भी पाँच भेद हैं।

(क) क्लेदनक—अन्न को क्लिन्न बनाता है। रस का ग्रहण करता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों को तृप्त करता है।

(ख) अवलम्बक—अन्त:करण हृदय और त्रिक इस श्लेष्मा का स्थान है। यह शरीर का अवलम्बन करता है। इस श्लेष्मा के विकार के कारण त्रिकशूल आदि रोग होते हैं।

(ग) बोधक—इस श्लेष्मा का स्थान मुख है। इसके मिलने से आहार के रस प्रकट होते हैं।

(घ) तर्पक—नासा, मस्तिष्क और शिर को स्निग्ध रखता है।

(ङ) श्लेष्क—मिलानेवाली श्लेष्मा का नाम श्लेष्क है। यह श्लेष्मा सन्धियों को जोड़कर रखता है।

संक्षेप से—यह श्लेष्मा शरीर को पित्त वृद्धि से बचाती है। यथा आमाशय को पित्त से बचाने के लिये यहाँ पर क्लेदनक पित्त रक्खा है। इसी प्रकार दो आवरणों को रगड़ से बचाने के लिये उनमें भी द्रव रक्खा है, उसका नाम श्लेष्मा है।

जिस समय यह वात, पित्त और कफ तीनों धातु समानावस्था में रहते हैं, उस समय शरीर भी स्वस्थ रहता है। और जिस समय इनमें से किसी एक में भी विकार आ जाता है, तो सम्पूर्ण शरीर में अन्तर आता जाता है। जिस प्रकार की एक समान बाहुवाले त्रिभुज में एक भुजा के भी बड़ा छोटा होना से उसकी शेष दो भुजाओं में भी अन्तर आ जाता है। उसी प्रकार इस त्रिभुज में [जिसकी एक भुजा वात है, दूसरी पित्त और तीसरी कफ] भी अन्तर आ जायगा।

इस भेद के कई कारण हैं। कुछ तो प्राकृतिक कारण हैं। यथा—

बचपन में कफ प्राधान्य बलवान रहता है।
युवावस्था में पित्त प्राधान्य बलवान रहता है।
वृद्धावस्था में वात प्राधान्य बलवान रहता है।
भोजन के पीछे प्रथम प्रहर में कफ बलवान होता है।
भोजन के पीछे मध्यम प्रहर में पित्त बलवान होता है।
भोजन के पीछे अन्तिम प्रहर में वात बलवान होता है।
रात्रि के प्रथम भाग में कफ बलवान होता है।

रात्रि के द्वितीय भाग में पित्त बलवान होता है।
रात्रि के तीसरे भाग में वात बलवान होता है।
दिन के प्रथम भाग में कफ बलवान होता है।
दिन के मध्यम भाग में पित्त बलवान होता है।
दिन के अन्तिम भाग में वात बलवान होता है।

इसी प्रकार वर्षा ऋतु में वात, शरद ऋतु में पित्त और हेमन्त ऋतु में कफ का प्राबल्य रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ अप्राकृतिक कारण हैं—यथा आहार विहार की विषमता। इसका विचार आगे करेंगे। इस विषमता से भी इन दोषों में अन्तर आ जाता है। जिस समय ये तीनों समानावस्था में रहें वही स्वस्थ अवस्था है। इनकी विषमता प्रलय-मृत्यु है, इनकी समानता उत्पत्ति या जीवन है। इसलिये इनको तीन स्तम्भ कहा है।

स्वाभाविक वेग (Natural Calls)

"न वेगान्धारयेत् धीमान् जातान्मूत्र पुरीषयोः।
न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च॥ १॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान्क्षुत् पिपासयोः।
न बाष्पस्य न निद्राया निश्वास्य श्रमेण च॥
एतान्धार यतो जातान् वेगान्रोगा भवन्ति॥ २॥" चरक

उपरोक्त सात धातु और तीन दोषों के अतिरिक्त और भी कुछ वस्तुयें हैं, जो कि इस शरीर को धारण किये हुये हैं। इनमें से कुछ वस्तुयें पुरीष-मल, मूत्र और स्वेद आदि हैं। इनके द्वारा शरीर का धारण होता है। अतः इनके विषय में भी सामान्य ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिये।

शरीर के अंदर कुछ ऐसे कार्य हैं, जो कि अपनी इच्छा के अधीन नहीं। यथा—छींक का आना या मूत्रत्याग की इच्छा का होना। ये कार्य स्वाभाविक हैं। इनको बलपूर्वक रोकने से शरीर में नाना प्रकार के रोग होते हैं। अतः इनकी प्रवृत्ति को नहीं रोकना चाहिये। ये वेग या इच्छायें निम्न हैं—

(१) मल—शरीर में इसका कार्य शरीर का, वायु और अग्नि का धारण करना है। यह मल भोजन का निरुपयोगी अंश होता है, जिसको कि शरीर गुदा मार्ग से बाहर फेंकता है। जिस समय गुदा में यह मल पहुँचता

है, उस समय अपान वायु इसको बाहर फेंकने का प्रयत्न करती है। इस समय को इच्छा को रोकने से अपान वायु का मार्ग उल्टा हो जाता है, अर्थात् वही अपान जो बाहर जानी चाहिये थी, अब पक्वाशय में बृहदांत्र के अंदर ऊपर की ओर जोर करती है। जिससे कि मल रुक जाता है, वह रुक्ष हो जाता है, पक्वाशय में दर्द होता है, शिर के अन्दर दर्द होता है। इस प्रकार से बराबर आदत पड़ने से क्षय-रोग भी हो जाता है ऐसा आयुर्वेद में लिखा है। अतः इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को नहीं रोकना चाहिये।

(२) मूत्र—वृक्कों में बना हुआ मूत्र बूँद-बूँद करके मूत्राशय में पहुँचता है। जिस समय मूत्राशय भर जाता है, उस समय मनुष्य को मूत्र-त्याग की इच्छा होती है। यदि मनुष्य इस इच्छा को रोकना चाहे तो रोक सकता है। परंतु बच्चे के अंदर यह शक्ति नहीं होती। इसलिये रात्रि में मूत्र शिशु की बिना इच्छा के ही बिस्तर में निकल जाता है। इससे स्पष्ट है कि उसमें इस इच्छा को रोकनेवाले तंतु उत्पन्न नहीं हुये। ८ या १२ साल की आयु में यह तंतु सुदृढ़ बन जाते हैं। अतः इस आयु में मनुष्य मूत्र को रोक सकता है। यदि मूत्र को देर तक मूत्राशय में रोका जाय तब वस्ति-मूत्राशय, शिश्न में दर्द होता है और मूत्र भी रुक-रुककर आता है। शिर में दर्द होता है। पेट में वायु का आध्मान होजाता है। अतः इस वेग को नहीं रोकना चाहिये।

(३) वीर्य—मल और मूत्र की भाँति वीर्य की प्रवृत्ति हर समय नहीं होती। परन्तु जिस समय कामेच्छा के कारण वीर्य उत्पन्न होता है, और वीर्याशय में पहुँच जाता है, उस समय इसकी प्रवृत्ति होती है। उस समय बने हुये वीर्य को रोकने से—बाहर न निकलने देने से—शिश्न और वृषणों में दर्द होता है, शरीर टूटने लगता है, और अन्तःकरण में एक प्रकार की वेदना होती है। इस वीर्य के रोकने से कई बार शुक्राश्मरी भी बन जाती है, जो कि प्रायः बालकों में होती है। कई बार यह वीर्य स्वप्नावस्था में निकल जाता है। यह क्रिया इतनी शीघ्र होती है, कि मनुष्य को उसका ज्ञान तभी होता है, जब कि वीर्य निकल चुकता है। कई बार मालूम भी नहीं होता।

वीर्य को बनने से पूर्व ही रोकना अच्छा है, और बन जाने पर उसका निकल जाना ही उत्तम है। इसके लिये कामेच्छा को उत्पन्न होते ही रोक देना उत्तम है। 'शुक्रं चोपस्थितं मोहान्न संधार्यं कथं चन'। (सुश्रुत)

(४) अधोवायु—गुदा के द्वारा जो वायु बाहर मल के साथ बाहर निकलती है, उसका नाम "अपान वायु" है। इसका कुछ वर्णन प्रथम आ चुका है। जिस समय यह वायु अन्दर रुक जाती है, उस समय मल को कड़ा कर देती है। इसके अतिरिक्त पेट को फुला देती है। शरीर थका-सा होजाता है, शरीर में दर्द होता है। इसके कारण कई बार मूत्र भी रुक जाता है। शिर घूमने लगता है। इसलिये इस वायु को कभी नहीं रोकना चाहिये।

(५) उल्टी—जिस समय उल्टी चालू हो, उस समय इसको बल-पूर्वक रोकने से अरुचि, ज्वर, मुँह का टेढ़ा होना, जी का मिचलाना आदि कई रोग होते हैं। उल्टी के द्वारा प्रकृति शरीर के लिये अयोग्य पदार्थ को बाहर करती है, अतः इस क्रिया में रुकावट डालना हानिकारक है, परन्तु जिस समय इसका वेग न हो, उस समय उचित उपायों से कारण को समझकर बन्द करना चाहिये।

(६) छींक—छींक एक प्राकृतिक वेग है। इसको रोकने से ग्रीवा में दर्द, शिरः शूल, मुँह का एक ओर मुड़ जाना, आधे सिर में तीव्र दर्द, इन्द्रियों में कमजोरी आ जाती है। आती हुई छींक को नहीं रोकना चाहिये, परन्तु इसके कारण की चिकित्सा करना चाहिये।

(७) उद्‌गार-डकार—उद्‌गार के रोकने से हिचकी, खाँसी, अरुचि कम्प और छाती में दर्द होता है।

(८) जम्भाई—आती हुई जम्भाई को रोकने से अंग टूटने लगते हैं, त्वचा शून्य हो जाती है, संधियाँ संकुचित हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त आँख, नाक, कान और मुख के बहुत से दर्द उत्पन्न होते हैं।

(९) भूख—शरीर में निरन्तर क्रिया के होने से जो पदार्थ घट जाते हैं, उनके पोषण के लिये आहार चाहिये। इस आहार की इच्छा का नाम भूख है। इसको रोकने से शरीर में कृशता, दुर्बलता, विवर्णता-रंग का बदलना होता है। अंग टूटने लगते हैं। अरुचि रहती है। शिर में चक्कर आता है। हठात् क्षुधा-भूख को रोकना (सामर्थ्य के न होने पर भी इसमें प्रवृत्त होना), अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है। अतः उपवास आदि शरीर के बल को देखकर करना चाहिये।

(१०) प्यास—भूख की भाँति प्यास भी स्वाभाविक है। इसके रोकने

से गला और मुख सूख जाते हैं। कानों से सुनना बन्द हो जाता है। शरीर थक जाता है। कलेजे में दर्द अनुभव होने लगता है।

(११) आँसू—अत्यन्त हर्ष के कारण या दुःख के कारण आँखों में आँसू आ जाते हैं। इसके साथ ही आँख में कोई वस्तु गिरने से भी पानी निकलने लगता है। ये आँसू आँख में आई हुई रक्त-वाहिनियों के रक्त से बने होते हैं। हर्ष और शोक के कारण आँख का रक्त-संचार बढ़ जाता है। इसलिये यदि इन आँसुओं को रोका जायगा, तब प्रतिश्याय, आँख के रोग, शिर दर्द, अरुचि आदि हो जाती हैं।

(१२) थकान से उत्पन्न श्वास—व्यायाम आदि से बढ़े हुये श्वास को बलपूर्वक रोकने से, अर्थात शीघ्र-शीघ्र श्वास-प्रश्वास की क्रिया न होने देने से गुल्म, हृदय-रोग और मूर्च्छा आती है। इसलिये इसको नहीं रोकना चाहिये।

(१३) निद्रा—शरीर को धारण करनेवाली यह नींद है। दिनभर कार्य करने के पीछे शरीर विश्राम चाहता है। शरीर-क्रिया के बन्द होने के साथ मानसिक अवयव भी शान्त होकर सो जाते हैं। यदि शरीर और मन को पूर्ण विश्राम न मिले तो जम्भाइयाँ आने लगती हैं, शरीर का अंग-अंग टूटने लगता है, तन्द्रा से शरीर में भारीपन होता है, शिर में दर्द होता है। ※ अतः इस वेग को नहीं रोकना चाहिये।

स्वस्थ वृत्त

"स्वस्थ वृत्तं यथो दिष्टं यः सम्यगनु तिष्ठति।
स समाः शतमव्याधि रायुषा न वियुज्यते॥"—चरक

परब्रह्म परमात्मा ने संसार के सब पदार्थ इस मानव देह के उपभोग के लिये, उसको सुख पहुँचाने के लिये बनाये हैं। परंतु यदि मनुष्य इनकी विधि को न समझे, या अज्ञान में रहें तो उसको कई प्रकार की हानियाँ

※ (i) "त्रयः उपस्तम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति॥"

(ii) "यदातुमनसि क्लान्ते कर्मात्मनः क्लमान्वितः।
विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥"

(iii) "निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्।
वृषता क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च॥" (चरक)

पहुँचती हैं। जैसे—नमक एक खाने की वस्तु है, इसके बिना किसी भी शाक आदि में स्वाद नहीं आता। शरीर के लिये यह एक आवश्यक वस्तु है। परंतु यही नमक यदि मात्रा से अधिक खाया जाय तो शरीर में शिथिलता, ग्लानि और दुर्बलता आ जाती है। इसलिये संक्षेप में अपने इस शरीर के सम्पर्क में प्रतिदिन आनेवाली वस्तुओं की उपभोग विधि प्रत्येक मनुष्य को जाननी चाहिये।

इसके अतिरिक्त यह प्रकृति भी हर समय एक समान नहीं रहती। कभी गरमी होती है, कभी सरदी और कभी बरसात होती है। इस भिन्नता के कारण मनुष्य को रहन-सहन में भी परिवर्तन करना पड़ता है। परंतु यह परिवर्तन यदि वह समझ-बूझकर नहीं करता, तो कभी न कभी इस भिन्नता के कारण अस्वस्थ हो जाता है। यह भिन्नता स्वाभाविक है। इस भिन्नता के कारण शरीर पर होनेवाले प्रभाव को भी समझना चाहिये, साथ ही इस भिन्नता से शरीर को स्वस्थ रखने की विधि भी जाननी चाहिये।

इस चर और अचर सब प्रकार की सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला कोई होगा ही ? क्योंकि घड़े जैसी छोटी वस्तु भी बिना बनानेवाले के नहीं बनती। अतः इस समस्त विश्व को, जिसमें सूर्य, चंद्र, तारे से लेकर चींटी जैसे सूक्ष्म प्राणी बने हैं, कोई न कोई बनानेवाला होना चाहिये। पिछले प्रकरणों में शरीर की आश्चर्यकारक योजना देखी है। वह योजना किसी अद्भुत महान् शक्ति के बिना नहीं बन सकती है। अतः इस महान् शक्ति को दिन में एक बार अवश्य ही स्मरण करना चाहिये। इस महान् शक्ति के किये हुये उपकारों को न मानना कृतघ्नता है, और कृतघ्न व्यक्ति होना सब सब से बड़ा पाप है।*

इसके अतिरिक्त कुछ नियम हैं; जिनको कि सद्वृत्त या सदाचार के नियम कहते हैं। इन नियमों का पालन करना जहाँ वैयक्तिक जीवन के लिये लाभकारी है, वहाँ अन्य मनुष्यों के लिये समाज के लिये भी लाभदायक होता है। यदि सब व्यक्ति अपने घरों को साफ़ रक्खें, तो समाज के मुखिया उस मैल को इकट्ठा करवाकर सुगमता से साफ करवा सकते हैं। इसी प्रकार यदि सब व्यक्ति इन नियमों का पालन करने लगें तो उनका, समाज का, जीवन सुखी और आनन्दमय बन सकता है।

* "पातकेभ्यः परं चैतत्पातकं नास्तिकग्रहः" ॥ चरक

इस प्रकरण को इसलिये निम्न भागों में बाँटा है:—

(१) दिनचर्य्या और रात्रिचर्य्या।

(ख) ऋतुचर्य्या

(ग) सद्वृत्त

(४) अन्य उपयोगी बातें, यथा—वायु, पानी, आहार

दिन-चर्या

प्रातःकाल उठना—स्वास्थ्य की कामना करनेवाले, निरोगी मनुष्य को यथासम्भव "ब्राह्म-मुहूर्त्त" में उठना चाहिये। यह समय घड़ी के अनुसार चार और पाँच के बीच का होता है। इस समय शरीर में उत्साह और मन में स्फूर्ति रहती है। बुद्धि साफ और जागृति होती है। कठिन कार्य भी सुगमता से थोड़े समय में समाप्त हो जाता है। इस समय उठने से शरीर के लिये अन्य उपयोगी नियमों का पालन भी भली प्रकार हो सकता है। इस समय साधारणतः नींद पूरी हो चुकी होती है। (स्वप्न-दोष, वीर्य का निकलना और स्वप्न आदि प्रायः इस समय होते हैं,) यदि मनुष्य हठ करके पड़ा रहता है, तो नींद अधकची रहती है। स्वप्न और वीर्यनाश प्रायः इसी अधकची नींद के ही परिणाम हैं। अतः मनुष्य को चाहिये कि यथासम्भव शीघ्र उठे। **"जल्दी सोना और जल्दी उठना, यह स्वास्थ्य का और सुखी रहने का मन्त्र है।"** एक बार जागकर फिर बिस्तर पर नहीं सोना चाहिये।

ईश्वर स्मरण—बिस्तर से उठकर उस जगन्नियन्ता परब्रह्म परमात्मा का स्मरण करना चाहिये; जिसकी असीम कृपा से हमारी रात सुख-पूर्वक बीती। उससे प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारा दिन भी इसी प्रकार सुख से बीते। वे दुखियों के आश्रयदाता हैं, उनकी शरण में आया हुआ व्यक्ति कभी निराश नहीं होता।* इस समय की करी हुई प्रार्थना को भगवान् अवश्य सुनते हैं, चूँकि यह स्वच्छ बुद्धि से की जाती है।

उषापान—ब्राह्म-मुहूर्त्त में—पिछली चार घड़ी रात्रि में उठकर जो पानी पिया जाता है, उसको 'उषापान' कहते हैं। यह पानी मिट्टी या ताम्र के पात्र में रात्रि को रख देना चाहिये। इसकी मात्रा १५ से २० तोला होनी चाहिये। इस पानी को पीने से आयुष्य की वृद्धि होती है, अर्श, मल-बन्ध,

* "कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥" (भगवद्गीता)

प्रतिश्याय आदि रोग दूर होते हैं। इस उषापान में कोई-कोई व्यक्ति प्रकृति-भेद के कारण पानी के स्थान में घी, मधु-शहद और दूध का भी उपयोग करते हैं। दूध यदि पीना हो तो धारोष्ण दूध पीना चाहिये। परन्तु सबसे सस्ती, सरल और लाभकारी वस्तु "पानी" ही है। पानी का निषेध कहीं पर नहीं होता †। पानी प्राणियों का प्राण है, परन्तु देर में उठने से इस पानी का वह असर नहीं रहता। 'पान' उषाकाल में ही होना चाहिये।

मल-मूत्र त्याग—प्रातःकाल उठकर मल-मूत्र त्याग करने से शरीर मे निरोगता बढ़ती है। आयु लम्बी होती है। उषापान मल को उतारने में सहायता करता है। इस समय सबसे प्रथम मल त्याग करने से शरीर हल्का हो जाता है, और अगले कार्यों में प्रवृत्ति होती है। इस समय मल को रोकने से शरीर-दूषित परमाणु शरीर के अन्दर पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार मूत्र को भी रोकना हानिकारक है। यदि इस समय मल-त्याग की प्रवृत्ति न हो तो लगातार नित्यप्रति प्रवृत्ति करने से मल-त्याग की आदत इस समय पड़ जाती है।

नियम—

१. दूसरे से किये मल-मूत्र के स्थान पर मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिये।
२. मल-मूत्र त्याग करते समय बोलना नहीं चाहिये।
३. मल या मूत्र को ज़ोर करके बाहर न करे। $
४. देर तक उकड़ूँ (घुटनों को ऊँचा करके) नहीं बैठना चाहिये। यदि मल नहीं आता तो फिर जाना चाहिये।
५. मल-मूत्र त्याग करने के पश्चात् हाथ, मुँह और पैरों की शुद्धि करनी चाहिये।
६. टट्टी आदि में यदि मल त्याग करना पड़े तो उस स्थान को स्वच्छ रखना चाहिये। उसको किसी डिसइन्फैक्ट वस्तु से धुलवा देना चाहिये। और यदि कुछ न हो तो प्रत्येक मनुष्य मल-त्याग के बाद राख या चूना मलपर डाल दे, जिससे दूषित परमाणु न उड़ें।

---

† "पानीयं प्राणिनां प्राणाः विश्वमेव च तन्मयम्।
अतोऽत्यन्त निषेधेन न क्वचिद् वारिवार्यते॥" (अष्टांग हृदय)

$ "नोर्ध्व जानु चिरं तिष्ठेत्। न वेगान् निःसारयेत् बलात्॥" (चरक)

७. मल त्याग के समय कान और नाक तथा मुख के छिद्रों को दूषित परमाणु से बचाना चाहिये।

८. मल त्याग या मूत्र त्याग के पश्चात् पानी का उपयोग अवश्य करना चाहिये और वह पानी ठंडा होना चाहिये। इससे गुदा की रक्त वाहिनियों की दीवार संकुचित हो जाती है।

मुख शुद्धि— (दातुन)—नित्य कर्मों में दातुन का करना आवश्यक है। रात्रि को सोते समय दुर्गन्धित श्वास और आमाशय के अन्न रस के परमाणु आकर दाँत और जिह्वा पर मैल के रूप में जमते हैं। इनको निकालना शरीर से दूर करना आवश्यक है। यदि इनको वहाँ से न हटाया जाय तो यह स्थान दूषित रहता है। और इस स्थान से जानेवाली वस्तुयें भी दूषित हो जाती हैं। यथा—आहार और श्वास जिनका कि रास्ता इसी मार्ग में से गुजरता है। इसके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति के सामने मुँह करके बोलते समय मुँह से दुर्गन्ध आती है। दाँतों पर मैल जमकर उनकी जड़ों को निर्बल कर देती हैं। अतः इस मैल को दूर करना आवश्यक है।

इसके लिये प्रतिदिन दातुन, मंजन या ब्रुश करना चाहिये। यदि दातुन प्राप्त हो सके तो सब से उत्तम है। यह आक, कीकर, दहीया, तेजबल, नीम आदि की होनी चाहिये। जिसकी कूची अच्छी बन जाय, या जिसके अन्दर तिक्त या कड़ुवा रस हो। जिससे दूषित पानी निकल जाय। दातुन इतनी लम्बी होनी चाहिये कि सुगमता से पकड़ी जा सके। न बहुत मोटी न बहुत पतली होनी चाहिये। साधारणतः कनिष्ठिका अंगुली के समान होनी चाहिये। दातुन से साफ करके उसको बीच में से चीरकर जीभ को साफ करना चाहिये।

यदि ब्रुश करना हो तो उसे किसी दूसरे को नहीं देना चाहिये। ब्रुश को प्रतिदिन गरम पानी में कोई डिसइनफैक्ट (कृमिनाशक) दवा यथा (लाईजोल) डालकर धो देना चाहिये। ब्रुश के बाल खुले होने चाहिये।

१—प्रत्येक दाँत को अलग-अलग साफ़ करना चाहिये।

२—दाँतों को ऊपर से नीचे (निचले दाँतों को) और नीचे से ऊपर (ऊपर के दाँतों को) साफ़ करना चाहिये।

३—दातुन या ब्रुश इस प्रकार से करना चाहिये कि मसूड़ों को हानि न पहुँचे।

४—एक-एक दाँत को साफ़ करना चाहिये।

५—दातुन करने के पश्चात् प्रत्येक दाँतों के बीच में धागा फेरना चाहिये।

६—दाँतों को अन्दर की तरफ़ से और ऊपर से भी साफ करना चाहिये।

मंजन—कई बार दातुन के अभाव में मञ्जन का उपयोग करना पड़ता है। मंजन में तीन गुण होने चाहियें। यथा १—वह क्षारीय गुण रखता हो; परन्तु मृदु, २—जन्तुओं को मारनेवाला और दुर्गन्ध नाश करने वाला, ३—दाँतों को साफ़ करे; परन्तु दाँतों की बनावट को हानि न करे।

कुछ मंजन—(१) सेंधा लवण और तेल (कड़वा-सरसों का) मिलाकर प्रतिदिन करना चाहिये।

२—बकुल की छाल, माजूफल, अकरकरा, फिटकरी, सेंधा नमक यह भी उत्तम मंजन है।

३—आक, नीम, खैर, चिरचिटा इनकी राख में नमक मिलाकर करना भी उत्तम है।

रेत या कोयला करना हानिकारक है, इससे दाँतों पर रेखायें पड़ जाती हैं। दातुन करने के पश्चात् मुख को ख़ूब अच्छे प्रकार पानी से साफ़ करना चाहिये साथ ही में आँखों पर ठण्डे पानी के छींटे भी देने चाहियें। जिससे आँखों का मल दूर हो जाय।

तैलाभ्यंग—शरीर के ऊपर प्रतिदिन तैल मर्दन करने से त्वचा के ऊपर झुर्रियाँ नहीं पड़तीं। त्वचा कोमल, चिकनी रहती है। त्वक् में रहने वाली रक्तवाहिनियों में रक्त-संचार बढ़ता है। इसको प्रतिदिन करना चाहिये। इसके करने से निम्न लाभ होते हैं।

१. शरीर के अवयव कोमल और दृढ़ होते हैं।

२. रस और रक्त के बन्द हुये मार्ग खुल जाते हैं।

३. रक्त की गति बढ़ जाती है। शरीर की कान्ति बढ़ती है।

४. जिस प्रकार पानी के सिंचन से अंकुर बढ़ता है, उसी प्रकार तैल के सिंचन से धातुओं की वृद्धि होती है।

अभ्यंग-ऋतु के अनुसार और प्रकृति को देखकर घी या तैल से करना चाहिये। तैलों में सरसों का तेल सर्वोत्तम है। चूँकि तीक्ष्ण होने से शरीर के रोम कूपों में घुस जाता है। यदि सम्पूर्ण शरीर पर तैल लगाना सम्भव न हो तो; कान, शिर और पैर के तलुवे पर प्रतिदिन लगाना चाहिये। इससे नींद भली प्रकार आती है, और शिर ठंडा रहता है। कानों में तेल डालने से शिर और कान के रोग नहीं होते। सप्ताह में एक बार अवश्य तैल स्नान या तैलाभ्यंग करना चाहिये। तैल की चिकास निकालने के लिये आँवले का उबटन, या स्नान रज चूर्ण* का उपयोग स्नान के समय पर कर लेना चाहिये; और यदि साबुन लगाना हो तो कम क्षार वाला साबुन काम में लाना चाहिये। तैलाभ्यंग करके कुछ समय धूप में बैठना चाहिये; जिससे कि तैल शरीर के अन्दर घुस जाय।

व्यायाम—शरीर में जिस कार्य से थकान का अनुभव हो, वह व्यायाम है। यह थकान मांस पेशियों की भी हो सकती है, और ज्ञान तन्तुओं की भी, परन्तु यहाँ पर मांस पेशियों की थकान से अभिप्राय है। व्यायाम इतनी देर तक करना चाहिये कि श्वास-प्रश्वास की संख्या साधारण अवस्था से दुगुनी हो जाय। अर्थात् यदि श्वास-प्रश्वास एक मिनिट में १८ बार आता है, तो जब ३६ बार आने लगे, तब व्यायाम बन्द कर देना चाहिये। व्यायाम के अन्दर मात्रा का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। व्यायाम ऐसा होना चाहिये कि शरीर के प्रत्येक अंग का व्यायाम हो जाय। व्यायाम नित्य-प्रति एक ही समय करना उत्तम है। व्यायाम से मांस पेशियों का संकोच और विकास-शक्ति नष्ट नहीं होने देना चाहिये। चलना, प्राणायाम, तैरना, योग के कुछ आसन, तथा दण्ड, बैठक, मुग्दर आदि व्यायाम उत्तम हैं।

लाभ—व्यायाम स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध और युवा प्रत्येक के लिये उचित रूप में आवश्यक है। इसके सेवन करने से शरीर सुडौल भराव-दार बनता है।

२. शरीर में कान्ति, प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का विभाग, लघुता, शरीर का हल्कापन, कार्य करने में शक्ति, और आरोग्यता व्यायाम से प्राप्त होती है।

३—शरीर के दोषों का नाश होना है, जठराग्नि बढ़ती है। शीत,

* स्नान रज चूर्ण = हरड़, लोध्र निम्ब पत्र, सरसों का आटा, आम की त्वचा, अनार की छाल, इनका चूर्ण रात्रि में दूध के अन्दर भिगोकर प्रतिदिन लगाना चाहिये।

थकान, गरमी आदि को सहने की शक्ति व्यायाम से आती है। मोटाई को कम करने के लिये व्यायाम से उत्तम कुछ और नहीं है।

४—व्यायाम करनेवाले मनुष्य में बुढ़ापा, व्याधि, और अन्य शारीरिक कष्ट शीघ्रता से नहीं होते।

५—व्यायाम का सेवन शीत और वसन्त ऋतु में अवश्य करना चाहिये। ग्रीष्म में बहुत साधारण व्यायाम करना चाहिये।

६—शरीर के बल से अधिक व्यायाम करने से कई बार कास, श्वास, शोष, ज्वर आदि रोग होते हैं।

७—भोजन के पश्चात या स्त्री सेवन के उपरान्त व्यायाम नहीं करना चाहिये।

उद्वर्त्तन (उबटन)— व्यायाम के पीछे शरीर को उबटन से मलना चाहिये। पीली सरसों को बारीक पीसकर रात्रि में कच्चे दूध में भिगोकर रख देना चाहिये। प्रात: इसको लगाना चाहिये। इसके लगाने से शरीर की कान्ति (विशेषत: स्त्रियों में) बढ़ती है इसके द्वारा मुँह या शरीर की छोटी-छोटी फुंसियाँ, जाती रहती हैं। शरीर हल्का बन जाता है। कफ और चर्बी को नष्ट करता है।

स्नान—स्नान या नहाना एक बाह्य शरीर की शुद्धि है। इसके द्वारा थकान, नींद का आलस्य, पसीना, और अन्य मल दूर होते हैं। स्नान शरीर की शुद्धि लिये आवश्यक है। इसीसे इसको "धर्म" माना गया है। शुद्धि न करना, केवल बदन पर पानी उड़ेल लेना धर्म नहीं है। स्नान के लिये कुछ नियम हैं, प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह उनको समझ ले।

१—स्नान यथा सम्भव ताजे, ठण्डे पानी से करना चाहिये* विशेषत: यदि कुयें का पानी प्राप्त हो सके और यदि यह सम्भव न हो तो शिर और आँखों पर कभी भी गरम पानी नहीं डालना चाहिये। इससे बालों को और आँखों को नुकसान होता है। आँखें निर्बल हो जाती हैं; और बाल गिरने लगते हैं। जिस प्रकार कि गरम पानी के देने से वृक्ष का अंकुर सूख जाता है।

* कुंये का पानी, बड़ की छाया और श्यामा स्त्री में यह गुण होता है कि ये तीनों वस्तुयें शीतकाल में गरम होती हैं, और ग्रीष्मकाल में शीत होती हैं।

१—कटि से निचले भाग को गरम पानी से धोया जाय तो उत्तम है। इससे अंगों का बल बढ़ता है।

२—स्नान एकान्त में करना चाहिये-जिससे प्रत्येक अंग का शोधन भले प्रकार का हो जाय।

३. स्नान के पीछे शरीर को शुष्क रूमाल या तौलिये से भली प्रकार पोंछना चाहिये, जिससे कि शरीर पर पानी का निशान न रहे।

४. स्नान करते समय भी यदि स्पंज या खद्दर के गीले टुकड़े से बदन को रगड़ा जाय तो बहुत उत्तम है। इससे रक्त-संचार बढ़ जाता है।

५. शीत-ऋतु में थोड़े गरम पानी से स्नान किया जा सकता है। भोजन के पीछे या ज्वर-अतिसार की अवस्था में स्नान नहीं करना चाहिये।

स्नान करने से मनमें प्रसन्नता होती है, कार्य में उत्साह बढ़ता है। व्यायाम से उत्पन्न पसीना दूर हो जाता है।

वस्त्र—वस्त्र या कपड़े श्वेत, निर्मल होने चाहिये। शरीर की उनके द्वारा पूरी रक्षा होनी चाहिये। यदि वे सच्छिद्र हों तो अच्छा। जिससे कि शरीर का पसीना सुखा लें। वायु का स्पर्श शरीर को हो सके। शरीर की गति में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न करें। त्वचा के साथ सदा कोई सूती, हल्का वस्त्र पहनना चाहिये। अधिक गरम वस्त्र त्वचा को हानि पहुँचाता है।*

भोजन—भोजन के विषय में भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रिवाज है। भारतवर्ष में भोजन प्रायः सायंकाल और मध्याह्न में किया जाता है। भोजन जो भी हो वह सुपच, रुचिकारक और शरीर के लिये पोषणकारी होना चाहिये। भोजन शुद्ध और पवित्र होना चाहिये। भोजन के ऊपर शरीर के सब कार्यों का आधार है। जैसा अन्न खायँगे वैसी ही बुद्धि और मन

---

* "काम्यं यशस्यमायुष्यं मलघ्नमीश प्रहर्षणम्।
श्रीमत्परिषदं शस्तं निर्मलाम्बर धारणम्॥" (चरक)

■ "आहारः प्राणीनां सद्यो बलकृद् देह धारकः।
आयुस्तेजो समुत्साहस्मृत्योजोऽग्निवर्धनम्॥" (सुश्रुत)
"सायं प्रातमनुष्याणां भोजनं विधि निर्मितम्।
नान्तरे भोजनं कुर्यात् अग्नि होत्र समो विधिः॥" (वाग्भट्ट)

बनेगें। अन्न की पवित्रता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। सात्विक अन्न यथा सम्भव खाना चाहिये। निम्न बातों को भोजन के समय अवश्य देखना चाहिये।

१. भोजन कड़ा होना चाहिये। कठोर भोजन-रोटी आदि खाकर नर्म भोजन पीछे खाना चाहिये।

२. भोजन को गरम खाना चाहिये। गरम भोजन अच्छा लगता है, जल्दी पच जाता है, वात और श्लेष्म को कम करता है।

३. स्निग्ध भोजन खाना चाहिये। अग्नि को बढ़ाता है, जल्दी पच जाता है। बल बढ़ाता है।

४. मात्रा के अनुकूल-जितनी भूख हो उतना-खाना चाहिये। यह बिना कष्ट के पच जाता है।

५. प्रथम भोजन के जीर्ण होने पर, पच जाने पर, खाना चाहिये। अजीर्ण में किया हुआ भोजन नुकसान करता है।

६. वीर्य के विरुद्ध नहीं खाना चाहिये। जो वस्तुयें आपस में नहीं मिलतीं, उनको नहीं खाना चाहिये। यथा—दूध को मछली के साथ नहीं खाना चाहिये। या दूध में नमक डालकर नहीं खाना चाहिये।

७. इष्ट-अनुकूल स्थान पर खाना चाहिये। जिससे भोजन में अरुचि उत्पन्न न हों।

८. बहुत जल्दी-जल्दी नहीं खाना चाहिये। इससे भोजन के रस का पता नहीं चलता, देर में पचता है।

९. बहुत देर में भी नहीं खाना चाहिये। इस प्रकार देर में खाने से पेट नहीं भरता।

१०. बिना बोले, बिना हँसे खाना चाहिये। कई बार भोजन हँसने या बोलने से नाक में आ जाता है।

११. आत्मा के अनुकूल भोजन खाना चाहिये। यह मेरे शरीर के योग्य है, यह शरीर के योग्य नहीं है, यह बात देखकर भोजन खाना चाहिये।

१२. भोजन में सबसे प्रथम मधुर खाना चाहिये, उसके पीछे नमकीन फिर तिक्त, कटु और कषाय रस सबसे पीछे खाने चाहिये।

१३. भोजन से पूर्व नमक और आर्द्रक से जिह्वा को साफ करना चाहिये ।

१४. रात्रि को दही या छाछ नहीं खानी चाहिये । खानी हो तो शर्करा के साथ खानी चाहिये ।

१५. भोजन के साथ पानी यथा सम्भव नहीं पीना चाहिये । विशेषत: प्रथम भाग में तो पीना ही नहीं चाहिये ।

१६. रात्रि में दिन की अपेक्षा हल्का भोजन करना चाहिये ।

१७. भोजन के पीछे आँखों पर मलकर हाथों को लगाना चाहिये । इससे आँखों के रोग दूर होते हैं ।

१८. भोजन के पश्चात् १०० कदम घूमना चाहिये । तुरन्त लेटने या सोने से स्थूलता आती है ।

१९. भोजन के पश्चात् स्नान या व्यायाम नहीं करना चाहिये ।

२०. भोजन के पीछे दाँतों को भली प्रकार साफ करना चाहिये ।

२१—भोजन का समय निश्चित रखना चाहिये । बार-बार भोजन नहीं करना चाहिये ।

२२—भारी भोजन थोड़ी मात्रा में खाना चाहिये । यथा—लड्डू, वासुदी, पायस-दुग्धपाक आदि ।

भोजन के समय माता, या स्त्री होनी चाहिये । जो कि भोजन के समय आनन्द और प्रसन्नता से भोजन करा सके ।

मुखवास—भोजन के पश्चात् खूब अच्छी प्रकार पानी से कुल्ले करना चाहिये । इसके पश्चात् कोई सुगन्धित वस्तु यथा, भुना हुआ धनिया, या इलायची खानी चाहिये । अपने देश में पान, और सुपारी खाने का बहुत रिवाज है । पान में कत्था, चूना, सुपारी और तम्बाकू रखकर खाते हैं । कत्था और चूना दाँतों के लिये उपयोगी अवश्य हैं; परन्तु बहुत थोड़ी मात्रा में । अधिक मात्रा में दाँतों को हानि करते हैं । दाँतों पर काली रेखायें पड़ जाती हैं । रात को सोते समय जब इनके छोटे-छोटे टुकड़े मुँह में रह जाते हैं, तो यह सड़कर दाँतों में मवाद उत्पन्न कर देते हैं । अत: इनको यथा शक्ति कम खाना चाहिये । और यदि खाना हो तो रात के समय मुँह को

धोकर, कुल्ले करके सोना चाहिये। सौंफ या धनिया मुँह साफ करने के लिये अच्छा है। साधारणतः यह आदत अच्छी नहीं है।*

नींद—दिन भर परिश्रम से थके हुये शरीर को रात्रि में सोने की या विश्राम की आवश्यकता होती है। यदि दिन भर परिश्रम न किया जाय, या दिन में सोया जाय, तो रात्रि को पूरी रीति से नींद नहीं आती। रात्रि में अधिक खाने से या पेट भरा होने से नींद भली प्रकार नहीं आती, या रात्रि को स्वप्न आते हैं। परमात्मा ने दिन काम करने के लिये बनाया है; और रात्रि सोने या विश्राम करने के लिए। रात्रि में सोने के लिए निम्न नियमों का ध्यान रखना चाहिये।

१—बिस्तर बहुत सख्त, या बहुत अधिक कोमल नहीं होना चाहिये। अधिक गद्दों पर सोने से प्रायः रात्रि में वीर्यनाश होता है।

२—पेट भरकर या सोने से पूर्व पानी आदि नहीं पीना चाहिये।

३—उत्तर दिशा की ओर सिर करके नहीं सोना चाहिये। विशेषतः यदि भूमि पर सोना पड़े। क्योंकि पृथ्वी में चुम्बक धारा उत्तर और दक्षिण में बह रही है। उसके समानान्तर होने से शरीर को हानि पहुँचती है।

४—सोने का स्थान स्वच्छ, हवादार होना चाहिये। उस स्थान में और सामान नहीं रखना चाहिये। यदि वायु बहुत आती हो तो किवाड़ों को कुछ तिरछा बन्द कर देना चाहिये।

५—सोने के कमरे में मिट्टी का तेल, या कोयले नहीं जलाने चाहियें।

६—सोते समय मुँह खुला रहना चाहिये। श्वास नासिका से लेना चाहिये। एक पार्श्व के बल (दक्षिण) सोना चाहिये। पीठ के भार सोने से स्वप्न-दोष होता है।

७—सोने से पूर्व हाथ, पाँव गरम पानी में या शीत पानी में धोकर सुखा लेने चाहियें।

८—रात्रि को सोते समय दूध पीना चाहिये। यह नियम गृहस्थियों के लिये है।

९—सब प्रकार की चिन्ताओं को दूर करके, भगवान् का नाम स्मरण करके सोना चाहिये।

*अपने प्राचीन ग्रन्थों में पान का खाना आवश्यक बताया गया है। उसके गुणों की असीम प्रशंसा की गई है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप में दाँतों को हानि करता हुआ दिखता है। अतः उससे बचना ही उत्तम है।

१०—सोते समय बदन पर कोई तंग कपड़ा नहीं पहनना चाहिये।

यहाँ पर संक्षेप से दिन-चर्य्या के नियम लिख दिये हैं। इनका अधिक विस्तार चरक-सुश्रुत आदि ग्रन्थों में देख सकते हैं। जिस प्रकार कि एक नागरिक अपने घर की देख-भाल करता रहता है, और जिस प्रकार एक रथी अपने रथ की देख-रेख करता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी चाहिये कि वह अपने शरीर की देख-रेख करता रहे।

सदाचार

"वैष्णव जन तो तेने कहिये, जो जाने पीर पराई रे।
पर उपकार कर तोये, मन अभिमान न माणे रे॥" नरसिंह मेहता

आर्य-चिकित्सा शास्त्र में और अर्वाचीन चिकित्सा शास्त्र में मुख्य भेद यही है कि नवीन चिकित्सा शास्त्र, रोगों की चिकित्सा बताता है, परन्तु प्राचीन चिकित्सा शास्त्र जहाँ रोगों की चिकित्सा को बताता है, वहाँ रोगों से बचने के उपाय भी बताता है। अर्थात् स्वस्थ मनुष्य किन उपायों से सम्पूर्ण आयु तक स्वस्थ रह सकता है, इसके उपाय भी प्राचीन शास्त्र बताता है। इन उपायों में से एक उपाय "सदाचार" का पालन भी है। उसके कुछ नियम यहाँ नीचे दिये जाते हैं। जिस प्रकार दिन-चर्य्या का सम्बन्ध बाह्य शरीर के साथ है, उसी प्रकार सदाचार का सम्बन्ध मन के साथ है।

१. सब प्राणी सुख की कामना करते हैं; सुख बिना धर्म नहीं होता, अत: धर्म का पालन करना चाहिये। धर्म क्या है? इसकी चर्चा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। जिसको जिस पर श्रद्धा हो, उसके लिये वही धर्म है। इस पुस्तक में श्रद्धा ही धर्म है।*

२. अपना भला चाहनेवाले मित्रों पर प्रेम रखना चाहिये और शत्रुओं से बचना चाहिये।

३. कायिक, मानसिक और वाणी के पाप कर्मों से बचना चाहिये।

४. ग़रीब पुरुषों पर या अपांग व्यक्तियों पर दया करनी चाहिये।

* "स्वर्ग का कारण धर्म है उस धर्म का पालन करना चाहिये। कहा भी है—
ऊर्ध्व बाहू विरोम्येष न च कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मात् अर्थश्च कामश्च, धर्मः किं न सेव्यते।" (महाभारत)

यथा शक्ति जो बने वह उनको देना चाहिये। और न हो तो प्रिय वाणी से उनको उत्तर देना चाहिये।

५. देवता—जिसमें अपनी श्रद्धा हो, गाय, ब्राह्मण श्रोत्रिय-वेद पाठी, वृद्ध पुरुष, वैद्य, अतिथि और राजा गुरुजनों में आदर की दृष्टि रखनी चाहिये।

६. कीड़े जैसे सूक्ष्म प्राणी के लिये भी शरीर में दया रखना।

७. अपकार करनेवाले व्यक्ति के लिये भी उपकार का भाव रखना चाहिये। उपकार करनेवाले के लिये तो सब आदमी उपकार करते ही हैं। उपकार करके किसी से कहना नहीं चाहिये।

८. सम्पत्ति और विपत्ति में मन को सुखी या दुःखी नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य उदय होता हुआ भी लाल होता है और अस्त समय में भी लाल रहता है।

९. प्रसंग बिना बोलना नहीं चाहिये। जहाँ तक बने सत्य बोलना चाहिये। वह सत्य भी कल्याणकारी और सुन्दर होना चाहिये। (सत्यं शिवं सुन्दरम्)।

१०. सदा प्रसन्न मुख, प्रथम बोलने वाला, होना चाहिये। अकेला सुख का उपभोग नहीं करना चाहिये।

११. सब स्थानों पर विश्वासी नहीं होना चाहिये और न सब स्थानों पर अविश्वासी रहना चाहिये।

१२. कोई मनुष्य मेरा शत्रु है, या मैं किसी का शत्रु हूँ; यह बात किसी को नहीं कहनी चाहिये। और न किसी दूसरे से किये हुये अपने अपमान को कहना चाहिये।

१३. जो आदमी जिस प्रकार से प्रसन्न होता है, उसको उसी प्रकार से प्रसन्न करना चाहिये।

१४. इन्द्रियों को बहुत दुःख नहीं देना चाहिये और न उनकी बहुत लालसा करनी चाहिये।

१५. जिस काम में धर्म, अर्थ, और काम इन तीनों में से एक की भी प्राप्ति नहीं होती, उस काम को नहीं करना चाहिये। इन तीनों का इस प्रकार से सेवन करना चाहिये कि इनमें से किसी एक में बाधा न हो। अर्थात् तीनों का समान मात्रा में सेवन करना चाहिये।

१६. एक ही वस्तु पर आसक्ति नहीं करनी चाहिये।

१७. बाल, नख, दाँत आदि को शुद्ध रखना चाहिये। इसी प्रकार नाक के बालों को नहीं उखाड़ना चाहिये। और न दाँतों से नखों को काटना चाहिये।

१८. नित्य प्रति स्नान करना चाहिये। श्वेत, उज्ज्वल वस्त्र पहनने चाहिये। वेश इस प्रकार का होना चाहिये, जिसमें अभिमान, उद्धतपन दिखाई न दे।

१९. जूता और छतरी तथा छड़ी (स्टिक) लेकर जाना चाहिये। चलते समय चारों ओर का ध्यान रखकर चलना चाहिये। धूप, वायु, वर्षा, और सरदी से शरीर को बचाना चाहिये।

२०. रात्रि को अकस्मात् बाहर जाना पड़े तो साथी लेकर जाना चाहिये। शिर पर पगड़ी बाँधनी चाहिये।

२१. बल करके नदी को तैरना नहीं चाहिये, अग्नि के ऊपर से नहीं लाँघना चाहिये। दुष्ट यान पर-टूटी हुई नाव पर नहीं बैठना चाहिये। नंगा होकर पानी में नहीं नहाना चाहिये। पानी में मूत्र या मल का त्याग नहीं करना चाहिये।

२२. छींक या जम्भाई के समय मुख पर हाथ रखना चाहिये। भूमि पर रेखा नहीं खींचना चाहिये। हाथ पाँव अथवा शरीर के किसी अंग को नहीं बजाना चाहिये।

२३. रात्रि को वृक्ष के नीचे नहीं सोना चाहिये। देर तक घुटने के बल नहीं बैठना चाहिये।

२४. देवालय, चबूतरा, चौसरा, वृक्ष आदि स्थानों पर या एकान्त स्थान में, जंगल में, श्मशान में रात्रि के समय नहीं रहना चाहिये और न पवित्र स्थानों पर मल-त्याग करना चाहिये।

२५. सूर्य के सामने देखना नहीं चाहिये। शिर पर भार नहीं उठाना चाहिये। तेज या मन्द प्रकाश में नहीं पढ़ना चाहिये। न हिलते हुये या अपवित्र, अप्रिय रूप को न देखना चाहिये।

२६. मद्य और मांस का पान या भोजन नहीं करना चाहिये।

२७. पूर्व दिशा की वायु, पूर्व का प्रकाश, उड़ती धूल, कठोर वायु से बचना चाहिये।

२८. शरीर को टेढ़ा करके या मुँह बिगाड़कर हँसना, छींकना नहीं चाहिये।

२९. दुष्ट पशुओं से, जहरीले जानवरों से, सींगवाले पशुओं से बचना चाहिये। नीच पुरुषों की सेवा नहीं करनी चाहिये।।

३०. सन्ध्याकाल के समय स्त्री-सेवा, निद्रा, अभ्यास, भोजन नहीं करना चाहिये।

३१. शव-मृत देह को देखकर हँसना व उसका चक्कर नहीं लेना चाहिये। स्त्रियों का बहुत अधिक विश्वास नहीं करना चाहिये, और न उनको अधिक स्वतंत्रता देनी चाहिये।

३२. पूज्य गुरुजनों, माता-पिता, आचार्य और वृद्ध पुरुषों के अनुकूल रहकर बरतना चाहिये।

३३. रात और दिन किस प्रकार से व्यतीत होते हैं, इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये।

३४. सड़ा हुआ मांस, बूढ़ी स्त्री के साथ सम्भोग, उदय होता हुआ सूर्य, अधकच्ची दधि, प्रातःकाल का सोना, प्रातःकाल का सम्भोग, ये छः वस्तुयें जल्दी प्राणों को ले लेती हैं।

३५. शिर को नीचा रखकर नहीं सोना चाहिये। न उत्पन्न हुये स्वाभाविक वेगों को रोकना चाहिये। राजपुरुषों से विरुद्ध होकर न रहे, और न उनके शत्रु से मित्रता करे।

३६. बिना स्नान किये, बिना अतिथि या गुरुजनों को खिलाये, बिना पाठ किये, बिना मुख धोये, बिना अग्नि में डाले, भोजन नहीं करना चाहिये।

३७. रास्ते में मल-मूत्र आदि का त्याग नहीं करना चाहिये। प्रतिज्ञा भंग नहीं करना चाहिये। बालक, वृद्ध, भीरु, लोभी के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये। मद्य, जुये या वेश्या प्रसंग में न फँसे। किसी की गुप्त बात न सुने। गाय को डण्डे से न मारे। आलसी न बने।

इसके अतिरिक्त सम्भोग सहवास के भी कुछ नियम हैं। मनुष्यों के अन्दर खाने की इच्छा, पानी की इच्छा, सोने की इच्छा और सम्भोग की इच्छा ये चार इच्छायें स्वाभाविक हैं। इनमें और इच्छाओं के विषय में साधारण नियम दिये जाते हैं।

१. स्त्रियों का अपमान कहीं नहीं करना चाहिये, इनका अधिक

विश्वास न करे, इनको गुप्त बात न सुनावे, इनको अधिकार नहीं देना चाहिये।

२. रजस्वला, रोगी, अपवित्र, कुरूप, अकुशल (फूहड़), बिना कामेच्छा के उत्पन्न हुये दूसरे को चाहनेवाली, अन्य स्त्री के साथ; अन्य पशु आदि की योनि में, योनि के अतिरिक्त अन्य स्थानां में मैथुन नहीं करना चाहिये।

३. पानी या औषधि खाकर, अपवित्र रूप में, बिना संकल्प किये, बिना उत्तेजना हुये, खाली पेट, या खूब पेट भरे, विषमावस्था में, मूत्र आदि वेग से पीड़ित होकर या प्रकट स्थान में मैथुन न करे।

४. झुककर या पार्श्व के बल लेटकर स्त्री को सम्भोग नहीं करना चाहिये। पीठ के भार लेटकर ही शुक्र ग्रहण करना चाहिये।

५. गर्भिणी स्त्री के साथ, योनि दोषयुक्त, समान गोत्रवाली, गुरुपत्नी के साथ, सन्यासिनी के साथ, सन्ध्या या पर्व काल में, दुपहर को या आधी रात में, स्त्री के साथ सम्भोग नहीं करना चाहिये।$

६. दिन के समय सम्भोग नहीं करना चाहिये।*

फैलनेवाले रोगों से बचने का उपाय

सभ्य देशों में नियम रहता है कि राज्य की ओर से सफ़ाई का एक विभाग अलग रहता है। इस विभाग का कार्य शहर की सफ़ाई की देख-रेख करना है। यह विभाग तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि जनता उसको सहयोग न देवे। अर्थात् वह अपने घर की सफ़ाई न करे, या सफ़ाई के नियमों का पालन न करे। जैसे—मल और मूत्र-त्याग इनके उचित स्थानों पर ही करना चाहिये। इसके साथ ही राजकीय विभाग का भी कर्त्तव्य है कि वह शरीर या नगर सम्बन्धी-आवश्यक बातें लोगों को सिखावे। इसके लिये—

(१) स्थान-स्थान पर मोटे इश्तिहार लिखकर लगा देने चाहियें। जिनमें शरीर सम्बन्धी आवश्यक बातें लिखी हों।

(२) छोटे-छोटे बच्चों की रीडरों में शरीर सम्बन्धी बातें, हवा

$ स्त्री में कामेच्छा के उत्पन्न किये बिना जब पुरुष बलपूर्वक प्रवृत्त होता है, तब उसको अवदारिका (पेराकाई मोसिस) रोग हो जाता है। यह प्रायः उनमें होता है, जिनका अगला मूत्र-छिद्र तंग होता है। वात्स्यायन सूत्र की टीका।

* प्राणा वा एते पुरस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। प्रश्नोपनिषद्

और पानी का वर्णन, तथा उनसे किस प्रकार रोग फैलते हैं; इत्यादि बातें बड़े सुन्दर रूप में चित्रों के साथ दी जानी चाहियें।

(३) स्थान-स्थान पर जादू की लालटैन (मैजिक लैन्टर्न) के द्वारा बच्चों को चित्र दिखायें जायें, कि नित्य नियम पालन से यह लाभ होता है।

(४) सदाचार या नित्य के नियमों का उसको बचपन से ही अभ्यास डालना चाहिये। बच्चा जो सीखता है, वह बचपन में ही सीखता है।

(५) घरों में जाने के लिये शिक्षित धात्रियाँ, या स्त्रियाँ नौकर रखनी चाहियें, जो कि बच्चों को और परिवार के अन्य आदमियों के स्वास्थ्य का मूल्य बतावें और बतावें कि स्वास्थ्य किन बातों पर टिका हुआ है।

कई बार यह देखने में आया है कि विज्ञान की उच्च श्रेणी में पढ़ता हुआ विद्यार्थी, जो कि पानी के बनाने की वस्तुओं को भली प्रकार जानता है, उसको यह मालूम नहीं होता कि पानी भी हैजे को फैला सकता है। इसी प्रकार वायु मण्डल को समझनेवाला विद्यार्थी उसमें होनेवाले विकार को नहीं समझता। यह कितने अज्ञान की बात है, कि हम अपने नित्य प्रति काम में आनेवाले शरीर के लिये उपयोगी बातों को भी नहीं जानते। इस शिक्षा से शरीर के स्वास्थ्य पर कोई अच्छा प्रभाव न पड़कर ईश्वर प्रदत्त यह अमूल्य शरीर नष्ट हो जाता है। इसके फल-स्वरूप बुढ़ापा जल्दी आ जाता है।

एक बच्चा बड़ा होता है, कालेज से बी० ए० या एम० ए० पास कर लेता है, परन्तु उसको यह पता नहीं होता कि किस महीने में क्या चीज नहीं खानी, और किस प्रकार से रहन-सहन किस समय, किस ऋतु में करना चाहिये। जिस अज्ञान के कारण वह कहीं न कहीं फँस जाता है। यह शिक्षा आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र भी नहीं देता। वह तो केवल उत्पन्न रोग का प्रतिकार बताता है। यह इतनी मामूली बातें समझी जाती हैं कि मनुष्य इनकी ओर ध्यान देना भी आवश्यक नहीं समझता। पर शरीर का स्वास्थ्य इन्हीं पर निर्भर करता है। अतः इनको जानना प्रत्येक व्यक्ति का कार्य है।

अपने प्राचीन रीति-रिवाजों में कुछ नियम थे, जिनका कि एक आवश्यक महत्त्व होता था। आजकल की शिक्षा ने उनके प्रति भी मनुष्य के विचार बदल दिये। यथा–शरद्-ऋतु की पूर्णिमा के दिन एक वृहत् यज्ञ होता था। गुजरात में यह दिन आज भी बड़ी पूजा और आनन्द के साथ मनाया

जाता है। इस यज्ञ के द्वारा यह सिद्ध होता था कि अब रोगों की शान्ति हो गई। इस प्रकार के यज्ञ प्रत्येक ऋतु परिवर्त्तन में या भयानक, व्यापक रोग (यथा—प्लेग आदि) फैलने पर भी किये जाते थे। इनके द्वारा वायु साफ़ हो जाती है। परन्तु आजकल शिक्षित व्यक्ति भी इसको एक निरर्थक कार्य मानते हैं। यह शिक्षा का अभाव ही है।

इसी प्रकार व्यापक रोग फैलने पर क्या करना चाहिये? इत्यादि बातों के लिये संकेत, स्थान-स्थान पर लगा देना चाहिये। उनसे बचने के उपाय बच्चों को स्कूल में पढ़ा देना चाहिये। जिस समय ये शिक्षित व्यक्ति, नागरिक बनेंगे, उस समय स्वास्थ्य के विभाग को बहुत ही सरलता अपने कार्य में हो जायगी।

यहाँ पर व्यापक-भयानक प्लेग आदि रोगों से बचने के लिये कुछ नियम दिये जाते हैं। जिनको समयानुसार पालन करने से मनुष्य भयानक रोगों के पंजे में आने से बच सकता है। शिक्षित व्यक्तियों को चाहिये कि ये नियम अपने पास रहनेवाले अशिक्षित व्यक्तियों को भी बता दें।

साधारण नियम ये हैं—व्यापक रोग जब फैलता है, तो उसका कारण ऐसी वस्तु में होता है, जो कि सब के लिये एक समान है। उदाहरण के लिये- यदि कुयें का पानी खराब होगया तो इस पानी को पीनेवाले सब व्यक्ति रोगी हो जायेंगे। अतः ऐसी वस्तु से बचना चाहिये। ये वस्तुयें वायु, पानी और भोजन हैं। इनमें—

(१) पानी से बचने के लिये उत्तम है कि, जो कुआँ खराब होगया हो, उसका पानी न बरतें। परन्तु कई बार यह करना असम्भव होता है। इसके लिये सबसे अच्छा है कि पानी को उबालकर काम में लाना चाहिये। उबा- लने से पानी का स्वाद खराब हो जाता है, परन्तु मनुष्य रोगों से बच जाता है।

(२) पानी से बचने का दूसरा उपाय यह है कि उसमें कोई ऐसी दवा (पोटासियम परमैंगनेट*) डाल दी जाये, जिससे कि रोग का कारण नष्ट हो जाये।

(३) रोगी के घरवालों को सबसे अलग कर देना चाहिये।

*पोटाशियम पारमैंगनेट एक प्रकार की दवाई है, जिसको पानी में डालने से जामुनी रंग का हो जाता है।

इसी प्रकार वायु से बचने के लिये साधारण बातें यह हैं। परन्तु पानी की अपेक्षा वायु से बचना अधिक कठिन है। पानी के खराब होने पर एक कुयें या तालाब के खराब होने से दूसरे स्थान से पानी का उपयोग किया जा सकता है। परन्तु वायु से बचकर कहाँ जाना होगा? परन्तु तो भी इसके शुद्ध करने के उपाय हैं। यथा—

(१) जिस समय वायु खराब हो जाती है, उस समय उसको शुद्ध करने के लिये खूब बड़े-बड़े यज्ञ करने चाहिये। जिस प्रकार उबालने से पानी शुद्ध होता है, उसी प्रकार आग के द्वारा वायु भी शुद्ध हो जाती है। क्योंकि आग जलाने से, आग के आस-पास की वायु हल्की हो जाती है; हल्की होने से वह ऊपर चली जाती है। उसका स्थान लेने के लिये और वायु आती है, और वह भी हल्की होकर ऊपर जाती है। इस प्रकार से सब वायु शुद्ध हो सकती है। अग्नि-सब वस्तुओं को शुद्ध कर देती है।*

(२) दूसरा सरल उपाय यह है कि—जहाँ तक वायु मण्डल खराब हो, वहाँ तक बचकर अन्य स्थानों में जाना चाहिये। ये स्थान खुले हुये, जङ्गल होने चाहियें। जहाँ कि प्रकृति अभी स्वस्थ हो।

(३) इस समय विशेष रूप से ब्रह्मचर्य्य का पालन करना चाहिये। व्रत उपवास आदि करने चाहिये। जिससे कि शरीर की जीवन शक्ति बनी रहे।

तीसरी वस्तु आहार है। यह भोजन प्राय: एक परिवार के ही कार्य में आता है। अत: इससे फैलनेवाले रोग प्रारम्भ में परिवार तक ही सीमित रहते हैं। अत: उनको वहीं रोक दिया जाय तो उत्तम है। इसके लिये—

(१) रोगी मनुष्य को पृथक् कर देना चाहिये, उसके बर्त्तन और वस्त्र भी अलग रखने चाहियें।

(२) यदि हो सके तो उसकी सेवा करने वाले भी अलग कर देने चाहियें।

---

*सत्यं भूते दयादानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमोगुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिराना मुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्य्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
सङ्कथा धर्मशास्त्राणां महर्षिणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्ध संमतैः॥ चरक॥

(३) यदि यह न हो सके तो उनको चाहिये कि खूब अच्छी तरह हाथ धोकर, वस्त्र बदलकर वे दूसरों से मिलें।

(४) आहार या भोजन में विष प्राय: मक्खियों द्वारा फैलता है। ये विष को एक स्थान से उठाकर दूसरी जगह ले जाती हैं। अत: इनसे भोजन को अवश्य बचाकर रखना चाहिये। शहर में प्राय: मिठाई आदि खुली रहती है, मक्खियाँ उस पर भिनभिनाती रहती हैं; अत: इससे बचना चाहिये।

(५) सड़े फल, मांस या अन्य भोजन की वस्तु फेंक देना चाहिये।

ऋतुचर्य्या

"द्वादश प्रधय: चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राहता: त्रीणि शतानि शंकव: सृष्टिश्च कीला अविचा चलाये॥" अथर्व

बारह परिधियाँ—वर्ष के बारह महीने; तीन नाभ हैं—तीन ऋतुयें—वर्षा, ग्रीष्म और शरद; उसमें ३६० कीलें—दिन हैं।

जिस प्रकार कि मनुष्य की सारी ज़िन्दगी एक समान नहीं बीतती, उसी प्रकार यह साल भी कभी एक समान नहीं रहता। कभी साल में गरमी होती है, फिर सरदी होती है, और फिर बरसात पड़ती है। ये तीनों इतनी प्राकृतिक हैं, और स्वाभाविक हैं, कि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि इस समय बरसात होगी, इस समय सरदी होगी, या इस समय गरमी होगी। जब कभी बरसात या गरमी अपने समय पर नहीं होती, तभी मनुष्य कहने लगते हैं कि इस साल बरसात देर में शुरू हुई या जल्दी शुरू हुई है।

उनको इन प्राकृतिक बातों का ज्ञान है, और वे इनके समय से परिचित हैं, इसीसे वे इनके आने से पूर्व ही अपना बन्दोबस्त कर लेते हैं। इनके अनुसार ही खेतों में बीज बो देते हैं। और इनके अनुसार अपने शरीर के कपड़े बना लेते हैं। ये बातें भी स्वाभाविक सी हो गई हैं। प्रत्येक अशिक्षित व्यक्ति भी इन बातों से परिचित होता है।

परन्तु यदि उनसे पूछा जाय कि भाई! यह हरसाल क्यों होता है, क्यों जेष्ठ-आषाढ़ में गरमी पड़ती है? तो उनके पास एक ही जवाब होगा कि "कुदरत की माया है," इसके सिवाय उस परवरदिगार के कौन जानें? ये उत्तर भी इतने स्वाभाविक हैं कि किसी गाँव में जाकर सुने जा सकते हैं।

ऋतुभेद के कारण—प्रत्येक प्राणी के लिये कुछ नियम बने होते हैं। ये नियम चाहे जैसे बने हों, या परब्रह्म ने बनाये हों। इसी प्रकार जड़ पदार्थों के लिये भी नियम हैं-यथा-सूर्य का सबेरे पूर्व दिशा से निकलना, और सायंकाल पश्चिम में छिप जाना। चन्द्रमा का धीरे-धीरे बढ़कर एक दिन पूरा होना, और फिर घटकर एक दिन सर्वथा छिपे रहना। और फिर अगले दिन थोड़ा-सा निकलना। ये सब बातें स्वाभाविक हैं या नियम से चलती रहती हैं। इसमें किसी का भी दखल नहीं होता। इन नियमों को हम प्राकृतिक या कुदरत के बनाये हुये कहते हैं। चूँकि इनमें किसी का दखल नहीं होता अतः इनमें अन्तर भी नहीं आता। साल के बारह महीने या ३६५ दिन यह एक समान चलते रहते हैं। रोज़ सूर्य निकलता है, और सायंकाल छिपता है इसका नाम दिन; और जब तक छिपा रहता है—उसका नाम रात। सूर्य निकलता और छिपता प्रतिदिन है, परन्तु इन ३६५ दिनों में कभी तो देर से निकलता है, और जल्दी छिप जाता है इससे दिन का परिमाण घट जाता है, अर्थात् दिन छोटा होता है। और कभी सूर्य जल्दी निकल आता है, और देर में छिपता है; इससे दिन बड़ा हो जाता है। जब दिन बड़ा होगा तो रात छोटी होगी, और जब दिन छोटा होगा तो रात बड़ी होगी; क्योंकि वही २४ घण्टे हैं। चाहे इधर घटा लो, तो उधर बढ़ेंगे, चाहे इधर बढ़ा लो, तो उधर घटेंगे। यह भी स्वाभाविक ही है। इस वर्ष जिन दिनों सूर्य देर में निकलता है, और जल्दी छिपता है, अगले साल भी इन्हीं दिनों सूर्य देर से निकलेगा और जल्दी छिपेगा। यह एक चक्कर है।

इस चक्कर के दो भाग किये हुये हैं। एक तो वह भाग-जब कि दिन बड़े होते हैं, और रात छोटी होती हैं—इसको "उत्तरायण" कहते हैं। और जब दिन छोटे होते हैं, और रातें बड़ी होती हैं, उसको "दक्षिणायन" कहते हैं। उत्तरायण काल में गरमी अधिक होती है, और दक्षिणायन में सर्दी अधिक होती है। इन दोनों विभागों को बनानेवाला "सूर्य" भगवान ही है। उसकी गति के कारण ये दोनों विभाग हो जाते हैं। इसी से उत्तरायण काल में सूर्य का तेज बढ़ा होता है, और दक्षिणायन काल में सूर्य का तेज घटा रहता है। जिस समय सूर्य का तेज बढ़ा होता है, उस समय चन्द्रमा का तेज घटा रहता है; और जब सूर्य का तेज घट जाता है, उस समय चन्द्रमा का तेज बढ़ जाता है।

इन दो विभागों को करनेवाली रेखा है—और दोनों विभागों में एक-एक दिन आता है, जब कि दिन और रात बराबर-बराबर (१२ घंटे के) होते हैं। वह दिन अँग्रेज़ी महीनों में २३ जून और २३ दिसम्बर हैं। इन विभागों के समझने के लिये एक कल्पित रेखा पूर्व से पश्चिम तक खींचनी चाहिये। सूर्य जब इस रेखा से उत्तर की तरफ़ होगा तब गरमी अधिक होगी, और जब दक्षिण की ओर रहेगा तो सर्दी अधिक होगी। अर्थात् ये दोनों विभाग सूर्य के कारण किये हुये हैं।

सूर्य गरमी को देनेवाला है, और चन्द्रमा सर्दी को देनेवाला है। गरमी के कारण सब पदार्थ सूख जाते हैं, और सर्दी के कारण पदार्थों में तरी आती है। जिस प्रकार गर्मियों में थाली में रक्खा पानी सूख जाता है; और सर्दी की ऋतु में जमीन पर या पत्तों पर पानी "ओस के रूप में पड़ा होता है। अर्थात् सूर्य खींचता है, अर्थात् लेता है, और चन्द्रमा देता है।*

यह बात बहुत ही स्वाभाविक है। वर्ष रूपी चक्कर के एक भाग में पदार्थों का शोषण होता है, और दूसरे भाग में उनका पोषण होता है। यह शोषण कार्य उत्तरायण में होता है; जबकि सूर्य बलवान होता है, और पोषण कार्य दक्षिणायन में होता है; जबकि चन्द्रमा बलवान होता है। उत्तरायण काल में सब तालाब, वृक्षों के पत्ते सूख जाते हैं। और पशु भी पतले हो जाते हैं। और दक्षिणायन में सब बनस्पति और तालाब भरे रहते हैं। अतः उत्तरायण को 'आदानकाल' लेनेवाला समय कहते हैं; और दक्षिणायन को "विसर्ग काल" अर्थात् देने का समय कहते हैं। †

इन दोनों समयों के और भी छोटे विभाग कर रक्खे हैं; यथा—जिस समय गरमी अधिक होती है, उसको "ग्रीष्म ऋतु" कहते हैं, और जब सरदी अधिक होती है, उसको "हेमन्त ऋतु कहते हैं, और जब बरसात होती है, उसको "वर्षा ऋतु" कहते हैं इन तीनों ऋतुओं को भी और तीन भागों में विभक्त किया है यथा—

---

* सतपोतप्यत्। सतपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिंच प्राणं च। आदित्यो वै प्राणः रयिरेव चन्द्रमा। उपनिषद्

† सुश्रुत ने वर्षा, शरद और हेमन्त काल को विसर्ग काल माना है। शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म को आदान काल।

उत्तरायण काल	दक्षिणायन काल
वसंत ऋतु—फागुन और चैत्र ग्रीष्म ऋतु—बैशाख और ज्येष्ठ वर्षा ऋतु—आषाढ़ और श्रावण	शरद् ऋतु—भाद्रपद और आश्विन हेमंत ऋतु—कार्तिक और मार्गशीर्ष शिशिर ऋतु—पौष और माघ

इन महीनों के हिसाब में कुछ फर्क रहता है। कोई तो चैत और बैशाख में वसन्तु ऋतु मानते हैं। इस प्रकार से गिनती करनेवाले साल का प्रारम्भ चैत्र मास से मानते हैं। दूसरे बैशाख से मानते हैं, और प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु से करते हैं। तीसरे व्यक्ति वर्ष का प्रारम्भ मार्गशीर्ष से करते हैं। इनका प्रारम्भ हेमन्त ऋतु से अर्थात् मार्गशीर्ष और पौष से होता है।

वसन्त ऋतु में ग्रीष्म ऋतु का प्रारम्भ होता है, और शीत ऋतु का अन्त होता है, इसी प्रकार शरद् ऋतु में वर्षा ऋतु की समाप्ति और हेमन्त ऋतु का प्रारम्भ होता है।

ऋतुओं में होनेवाला शरीर पर परिवर्त्तन—जिस प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, उसी प्रकार इन ऋतुओं का भी शरीर पर प्रभाव पड़ता है। गरमियों में जिस प्रकार शरीर के रस क्षीण हो जाते हैं, उसी प्रकार सरदियों में यह रस पुन: प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार से इन ऋतुओं का प्रभाव शरीर को धारण करनेवाले वात, पित्त और कफ पर भी पड़ता है। अर्थात् किसी ऋतु में ये धातु बढ़ जाते हैं और किसी में घट जाते हैं। यथा—

	वसन्त ऋतु	ग्रीष्म ऋतु	वर्षा ऋतु	शरद् ऋतु	हेमन्त ऋतु	शिशिर ऋतु
बढ़ती होती हैं	×	वायु	पित्त	×	×	कफ
घटती हैं	×	कफ	×	वायु	पित्त	×
कुपित होते हैं	कफ	×	वायु	पित्त	×	×

उदाहरण के लिये शिशिर या ठण्ड की ऋतु में शरीर के अन्दर कफ

का संचय होता रहता है; और वसन्त ऋतु में जब गरमी पड़ने लगती है; उस समय गरमी पड़ने से कफ पिघलने लगता है, जिससे कि वह कफ अन्य रोगों को उत्पन्न करता है और ग्रीष्म काल में यही कफ फिर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार ग्रीष्म काल में वायु बढ़ती है, वर्षा ऋतु में वायु का कोप होता है, और शरद् ऋतु में वायु शान्त हो जाती है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में पित्त एकत्रित होता रहता है, और शरद् ऋतु में कुपित होता है और हेमन्त में शान्त हो जाता है। ये दोष कुपित हों इससे पूर्व ही इनको आहार-विहार द्वारा शान्त कर देना चाहिये। शरीर की प्रकृति के अनुसार ये दोष अपनी-अपनी ऋतुओं में अधिक कष्टदायक होते हैं। यथा—वात प्रकृतिवाले को या वात रोगी को वर्षा ऋतु खराब होती है; कफ प्रकृतिवालों के लिये या कफ रोगियों के लिये वसन्त-ऋतु; और पित्त प्रकृति वालों के लिये या पित्त रोगियों के लिये शरद् ऋतु खराब होती है।

जिस प्रकार इन छः ऋतुओं का शरीर की प्रकृति के साथ सम्बन्ध है, उसी प्रकार भोजन के छः रसों के साथ भी इन ऋतुओं का सम्बन्ध है; और इन रसों का सम्बन्ध शरीर की प्रकृति-वात, पित्त और कफ के साथ है। इनमें से कुछ रस इन प्रकृतियों को बढ़ाते हैं, और कुछ घटाते हैं। जैसे मीठा अधिक खाने से शरीर में कफ की बढ़ती होती है, और कड़वी, तीखी-सोंठ आदि खाने से कफ की शान्ति होती है। इसी प्रकार तिक्त, कटु और कषाय रस से वायु की वृद्धि होती है, और मधुर-अम्ल और लवण से वात शान्त होती है। अम्ल, लवण से पित्त बढ़ता है, और कषाय और मधुर रस से पित्त शान्त होता है।

वसन्त ऋतु— फाल्गुन और चैत्र मास में यह ऋतु आती है। इस ऋतु के अन्दर सब वनस्पति आदि में नये-नये पत्ते आ जाते हैं। फूल निकल आते हैं। सुगन्धित वायु सब स्थानों पर बहने लगती है। संक्षेपतः इस ऋतु में प्रकृति-वानस्पतिक जगत् में गर्भाधान क्रिया कर रही होती है। इसी ऋतु में हेमन्त और शिशिर ऋतु में संचित हुआ कफ सूर्य की गरमी के कारण कुपित होता है। शीत ऋतु में ठंड होने से कफ जम जाता है, शीत दूर करने के लिये मनुष्य भी मधुररस—घी-दूध शर्करा आदि पदार्थ अधिक खाते हैं। सूर्य का तेज बढ़ने से यही कफ पिघलने लगता है, और रोग उत्पन्न करता है। जैसे, शिरोगुहा के अन्दर सञ्चित हुआ कफ सूर्य की गरमी से पिघलकर

गले में आने लगता है; जिससे कि प्रतिश्याय, जुकाम, खाँसी आदि रोग तथा छाती में दर्द होता है। इसी प्रकार छाती का कफ पिघलकर उदर में आता है; इससे अग्नि मन्द पड़ जाती है, पेट में मरोड़ा होता है। इस कफ को शान्त करने के दो उपाय हैं। या तो कफ को निकाल देना चाहिये, या शरीर के अन्दर ही उसको शान्त कर देना चाहिये। शरीर के अन्दर कफ को या अन्य दोषों को शान्त करने के लिये आहार-विहारादि के नियम हैं। इन नियमों से यथा—लंघन-पाचन आदि से ये दोष दब तो जाते हैं, परन्तु फिर कालान्तर में, समय पड़ने पर कुपित हो जाते हैं। परन्तु जो दोष शरीर के अन्दर से निकाल दिये जाते हैं, उनका फिर कोप नहीं होता। इसके लिये वमन और रेचन साधन हैं। इनके द्वारा शरीर का कफ बाहर निकल जाता है। परन्तु ये उपाय उन्हीं के लिये उपयोगी हैं; जिनके शरीर में सामर्थ्य हो। निर्बल व्यक्तियों के लिये प्रथम उपाय ही है।

वसन्त ऋतु में पालन करने योग्य नियम—

(१) इस ऋतु में कफ कुपित होकर रोग उत्पन्न करे, इससे पूर्व ही वमन आदि करा देना चाहिये।

(२) गुरु—भारी भोजन—दही आदि अम्ल-स्निग्ध-घृत आदि, मधुर-शहद आदि, नवीन धान्य इस ऋतु में नहीं खाने चाहिये। और न दिन में सोना चाहिये—इससे कफ बढ़ता है। कफ को घटाने के लिये व्यायाम, उद्वर्त्तन, आँखों में अञ्जन करना चाहिये। उबटन से कफ शीघ्र नष्ट होता है। स्नान के लिये गरम-कवोष्ण पानी काम में लाना चाहिये।

(३) जौ और गेहूँ का भोजन इस ऋतु में अच्छा है। अरिष्ट-आसव इस ऋतु में उत्तम है। युवती स्त्रियों का अनुभव तथा जंगल में घूमना-कफ को कम करता है। मेहनत करनेवाले व्यक्तियों में कफ इस समय भी कुपित नहीं होता।

ग्रीष्म ऋतु—वैशाख और ज्येष्ठ मास में यह ऋतु आती है। इस ऋतु में कफ घटने लगता है। वह शान्त हो जाता है। इस ऋतु में सूर्य का तेज बढ़ता है। वह शरीर के रस को सुखा देता है। शरीर के रस सूखने से, शरीर कमजोर हो जाता है। पसीना निकलने से, पानी का भाग कम हो जाता है। इस समय शरीर के अन्दर वायु संचित होने लगती है। इस

समय गरम पदार्थ और नुकसान करते हैं। इस समय ऐसे पदार्थ खाने चाहियें, जिनसे शरीर में रस की मात्रा बढ़े। इस ऋतु में मधुर रस विशेष लाभदायक होता है। मधुर रस सूखते हुये शरीर को थाम लेता है।

नियम — ग्रीष्म-ऋतु में पालन करने योग्य नियम—

१. नमक, तीखे, कड़वे पदार्थ (करेला आदि), रूखी चीजें— बाजरा आदि नहीं खाना चाहिये। व्यायाम, धूप में बैठना, चलना आदि कार्य नहीं करने चाहियें। मसाला, आचार, सिरका आदि नहीं खाने चाहियें।

२. मधुर, मीठा, हल्का चिकना, शीत और तरल पदार्थ विशेष रूप में खाने चाहियें। इस ऋतु में शर्करा के साथ जौ का सत्तू विशेषरूप से लाभदायक होता है।* बेल (श्रीफल) का शर्बत इस ऋतु में विशेष उपयोगी और ठण्डा होता है। प्रातःकाल पीने से गरमी शरीर पर असर नहीं करती।

३. इस ऋतु में मद्य नहीं पीना चाहिये; क्योंकि गरम होने से शरीर को हानि करता है। यदि पीना ही हो तो उसमें खूब अधिक पानी मिलाकर पीना चाहिये, जिससे उसकी तेजी कम हो जाय।

४. चावल, दूध की खीर, श्रीखण्ड खाना चाहिये। नये मिट्टी के बर्तन में रक्खा हुआ पानी पीना चाहिये। रहने के घरों के दरवाजों पर पानी से तर चिक या टट्टियाँ लगवा दें। किसी प्रकार गरमी से शरीर को बचाकर अन्धकार में शीतल ठण्डे घरों में दिन का समय बिताना चाहिये। इस ऋतु में स्त्री-सम्भोग नहीं करना चाहिये।

वर्षा-ऋतु—आषाढ़ और श्रावण मास वर्षा-ऋतु के हैं। इस समय ग्रीष्म-ऋतु में संचित हुई वायु कुपित होती है। इसलिये शरीर में नाना प्रकार के दर्द होते हैं। वायुमण्डल में स्निग्धता (पानी के कारण) होने से, तथा काम-काज के कम होने से शरीर की क्रिया मन्द हो जाती है; इसलिये जठराग्नि मन्द हो जाती है। भूख कम हो जाती है, खाया हुआ अन्न पचता नहीं। पानी अशुद्ध और कच्चा होता है। अर्थात् उसमें बरसात का पानी मिल जाता है। वनस्पतियों में रस-पानी भरा होता है। परन्तु शक्ति उत्पन्न नहीं होती। पानी की इतनी अधिकता के कारण शरीर का पित्त दब जाता है।

*पूर्व में जहाँ गरमी बहुत पड़ती है, वहाँ सत्तू खाने का विशेष रिवाज़ है।

यह ऋतु वात प्रकृतिवालों के लिये, या वात रोगियों के लिये हानिकारक है। इस ऋतु में निम्न नियम पालन करने चाहियें।

१. इस ऋतु में मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु आदि सब रसों का सेवन करना चाहिये, जिससे अग्नि बढ़ती रहे। इस ऋतु में जठराग्नि का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिये। पुराना अन्न इस ऋतु में खाना चाहिये।

२. नदी, तालाब, कुयें आदि में बरसात का पानी मिल जाता है। अतः वह नहीं पीना चाहिये। पानी ऐसा होना चाहिये जिसमें यह पानी न मिला हो। अथवा बरसात के पानी को एकत्रित करके पीना चाहिये।

३. दिन में सोना, रात्रि में पड़नेवाली ओस, व्यायाम, धूप, मैथुन इनसे बचना चाहिये। हलके, सूखे वस्त्र पहनने चाहियें। पैरों को बरसात के पानी से बचाना चाहिये।

४. दही में नमक डालकर उसका सेवन करना चाहिये। आम, नींबू, फल विशेष उत्तम हैं। सत्तू का खाना इस ऋतु में नुकसानकारक है।

शरद्-ऋतु—भाद्रपद और आश्विन मास का नाम शरद् ऋतु है। इस ऋतु में आकाश निर्मल होजाता है। वनस्पतियों के अन्दर रस परिपाक होने लगता है। इस समय उठती हुई गरमी के कारण शरीर में रहने वाला पित्त कुपित होता है। पित्त चूँकि अग्नि है; अतः इस समय विकार होने से प्रायः सारा शरीर विकृत हो जाता है। इसी से कहा जाता है कि "रोगाणां शारदी माता" रोगों की माता—जन्म देनेवाली यह शरद् ऋतु है। इस ऋतु में उत्पन्न हुये रोग बड़ी कठिनता से अच्छे होते हैं। इस ऋतु में प्रायः करके "ज्वर" होता है। यही "ज्वर" सब रोगों का राजा है।

इस ऋतु में वर्षा का संचित पित्त कुपित होता है। अतः उसको शान्त करना चाहिये। जिस प्रकार कफ को शान्त करने के लिये वमन; वायु को शान्त करने के लिये तैल, उसी प्रकार पित्त को शान्त करने के लिये विरेचन सबसे उत्तम वस्तु है। विरेचन के द्वारा शरीर की गरमी बाहर निकल जाती है। इसी प्रकार इस ऋतु में पित्तनाशक पदार्थ परवल आदि के खाने से शरीरस्थ गरमी कम होजाती है, वह रोग उत्पन्न नहीं करती। तीसरा उपाय शरीर से रक्त निकालना है। इसके लिये जोंक या सींग उत्तम है। यदि ऊपर लिखे हुये दोनों उपाय काम में लाये जायें, तो इस उपाय की आवश्यकता

नहीं होती। विरेचन के लिये बड़ी हरड़, निशोथ आदि किसी का उपयोग करना उत्तम है। इस ऋतु में घी का उपयोग भी पित्त को शान्त करता है।

इस ऋतु में पालने योग्य नियम—

१. मधुर, लघु, पुराने अन्न—गेहूँ, चावल आदि, शीत पदार्थ खाने चाहियें। तिक्त और कषाय रस भी उत्तम हैं। पड़वल, मूँग, चावल, आँवला विशेष खाना चाहिये।

२. जो पानी दिन भर सूर्य की किरणों से गरम रहता हो, और रात्रि को चन्द्रमा की किरणों से ठण्डा होता है, ऐसा पानी नहाने, पीने में काम लाना चाहिये। नदी या तालाब का पानी इस ऋतु में उत्तम होता है। यह पानी न तो बहुत ठण्डा होता है, और न गरम।

(३) इस ऋतु में दूध और भुने हुये चावल अति उत्तम भोजन हैं। गन्ने का उपयोग भी उत्तम है। इसके द्वारा शरीर का पित्त कम हो जाता है।

(४) ओस, क्षार-नमक आदि, दही, तैल, चर्बी, धूप, तेजमद्य, दिन में सोना, सामने से आती वायु—इन चीजों से अपने शरीर को बचाना चाहिये।

यमदंष्ट्रा—आश्विन मास का अन्तिम सप्ताह और सम्पूर्ण कार्त्तिक मास, इन दिनों को यमदंष्ट्रा कहते हैं। इसमें थोड़ा खानेवाला मनुष्य ही जीवित रहता है। कारण—भारी ख़ुराक अजीर्ण उत्पन्न कर देता है, और अजीर्ण के कारण शरीर में और रोग उत्पन्न होते हैं।

हेमन्त ऋतु—और शिशिर ऋतु—कार्त्तिक और मार्गशीर्ष के मिलने से हेमन्त ऋतु बनती है, और पौष और माघ के मिलने से शिशिर ऋतु बनती है। इन दोनों ऋतुओं में शीत की प्रधानता रहती है। इस समय शरीर के अन्दर बढ़ा हुआ पित्त शान्त हो जाता है। पित्त शरीर के अन्दर रुकने से भूख को बढ़ा देता है। इस समय यदि शरीर में भोजन न मिले तो वह शरीर के धातुओं का ही पाचन करना आरम्भ कर देता है। इसलिये इस ऋतु में मधुर भारी, देर में पचने योग्य भोजन करने चाहिये।

इस ऋतु में सूर्य दक्षिणायन होते हैं, इसलिये चन्द्रमा का बल बढ़ा होता है। इस बल के बढ़ने के कारण शरीर के सब धातुओं का पोषण होता

है। वनस्पतियों के अन्दर भी रस, वीर्य, विपाक आदि पक जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जो रस खींचा होता है, इस ऋतु में वह रस पुनः प्राप्त हो जाता है।

इस ऋतु में वायु के अन्दर रुक्षता आ जाती है। पानी भी रूखा हो जाता है। अतः इस ऋतु में तैल का उपयोग अवश्य करना चाहिये।

नियम—

१. तैल-मर्दन, व्यायाम, स्नान करना चाहिये। शरीर में गरमी रहे इसलिये केशर, कस्तूरी आदि का लेप करना चाहिये। उष्ण परन्तु हलके वस्त्र पहिनने चाहियें। धूप की किरणों को पीठ की ओर से सेकना चाहिये। गरम पानी का उपयोग करना चाहिये।

२. नया अन्न, घी, मीठा, कचौरी, हलुवा आदि भारी चीजें, दही खाना चाहियें।

३. घरों को अँगीठी से गरम रखना चाहिये।*

४. इस ऋतु में सम्भोग करने में हानि नहीं होती। पौष्टिक पदार्थों के उपभोग के साथ मनुष्य स्त्री-संग करता हुआ भी निर्बल नहीं होता।†

इस ऋतु में प्रायः वाजीकरण (जिनके द्वारा स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है) औषधियों का उपभोग करना होता है; अतः इस विषय में निम्न नियम हैं—

१. मधुर पदार्थ, स्निग्ध पदार्थ, भारी पदार्थ, जीवन और बृंहण पदार्थ और मन की प्रसन्नता सबसे उत्तम वृष्य है।

२. घी और दूध का खानेवाला व्यक्ति, व्याधि-रोग रहित, युवा व्यक्ति, संकल्प रखनेवाला व्यक्ति सदा स्त्रियों में समर्थवान रहता है।

३. क्षय से; रोग के कारण, भय से, विश्वास के न होने से, शोक से, स्त्री का दोष देखने से, स्त्रियों की प्रकृति न जानने से समर्थता नष्ट हो जाती है।

४. अति स्त्री संभोग से—शूल, कास, ज्वर, श्वास आदि रोग और बुढ़ापा होता है।

*"हेमन्त कालेऽग्नि वियोगि काले, शीतस्य रुक् पश्य न तस्य यस्य।
अङ्के हसन्ति दयिता हसन्ति पार्श्वे हसन्ति वसनानि सन्ति" ॥ सिद्धभैषज्यमणिमाला

† "पीवरोरु स्तनः श्रोण्यां सुमदः प्रमदाप्रियाः।
हरन्ति शीतमुष्णांगोधूमकुंकुम यौवने ॥" चरक

५. हेमन्त और शिशिर में प्रत्येक तीन अन्तर के दिन से स्त्री-सेवन किया जा सकता है। गरमियों में पन्द्रह-पन्द्रह दिन के अन्तर से जाना चाहिये।

६. सम्भोग करने के पश्चात् स्नान करना चाहिये, दूध पीना चाहिये, सोना चाहिये। इससे पुनः शुक्र बढ़ जाता है।

७. सम्भोग रात्रि के समय करना चाहिये। दिन में करने से शरीर-शक्ति-प्राण का ह्रास होता है।

८. शास्त्र में पुत्र की इच्छा से सम्भोग करने का विधान करता है।

९. शीत ऋतु में धातु-भस्म खानेवाला कभी दुःखी नहीं होता। स्त्रियाँ सदा धातु—वीर्य को ग्रहण करती हैं; (खाती हैं)। इससे वे आग्नेय गुण रहती हैं--उनका सहवास सर्दी को हटाता है। पुरुष सौम्य हैं और स्त्रियाँ आग्नेय गुणवाली होती हैं।* अतः तीसरे दिन सहवास करना कहा है।

ऋतु-सन्धि—जिस समय ऋतु का अन्तिम सप्ताह चालू होता है; और अगले ऋतु का प्रथम सप्ताह प्रारम्भ हो जाता है, इन दो सप्ताहों को अर्थात् पन्द्रह दिनों को ऋतु-सन्धि कहते हैं। इन दिनों में पूर्व ऋतु का आहार-विहार घटाते जाना चाहिये, और नई ऋतु का आहार-विहार धीरे २ ग्रहण करना चाहिये। एकदम ऋतु का आहार-विहार छोड़ने से या ग्रहण करने से कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं अतः इस ऋतु-सन्धि में विशेष चौकस रहना चाहिये।

तन्दुरुस्ती की कीमत—निरोगता या स्वास्थ्य संसार की वस्तुओं में एक न्यामत है। यह इस प्रकार की वस्तु है कि धनी या राजा इसको धन देकर नहीं खरीद सकते। इसकी कीमत एक रोगी मनुष्य समझ सकता है। रोगी होना, यह केवल अपने लिये दुःखदायी नहीं होता, अपितु अपने आस-पास रहनेवालों को भी दुःखी कर देता है। विशेषतः जब कि सारा परिवार उस एक व्यक्ति पर आश्रित हो। उसकी चिकित्सा में, और उसके विशेष भोजन में खर्च होता है।

---

* सौम्यं शुक्रमार्तव माग्नेयम्। सुश्रुत

"सेवेत कामतः कामं तृप्तो वाजिकृतां हिमे।
प्रकामं तु निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे॥" योगरत्नाकर

शरीर निरोग रहे इसका यत्न करना चाहिये। रोगी होकर उसको अच्छा करना दूसरी बात है। कपड़े पर मैल न चढ़े तो अच्छा। मैल लगाकर धोना बुद्धिमानी नहीं है। शरीर के रोगी होने पर सब दवा करने दौड़ते हैं, परन्तु शरीर को रोग से बचाने का कोई उपाय नहीं करता।

शरीर रक्षा के नियम कुछ तो दैव या प्रकृति के अधीन हैं; कुछ नियम राज्य के अधीन हैं, कुछ नियम लोक समुदाय के अधीन हैं, और कुछ नियम प्रत्येक मनुष्य के अधीन हैं। हवा आदि में परिवर्त्तन होने से प्लेग आदि का फूट निकलना दैवाधीन है। गन्दगी आदि से रोग फैलना राज्य के अधीन है। बाल्यावस्था में विवाह, आदि कुरीतियों का होना लोक समुदाय के हाथ में है। खान-पान आदि से शरीर में रोग उत्पन्न होना यह प्रत्येक मनुष्य के अज्ञान का फल है। यदि प्रत्येक मनुष्य को स्वास्थ्य के नियमों का पता हो जाय, तो इससे समाज का सुधार होगा; और समाज का सुधार होने से राज्य के अधिकारी भी मदद करेंगे। इस प्रकार से प्रत्येक मनुष्य अपने लिये, अपने समाज के लिये हितकारी बन सकता है।

स्वास्थ्य के नियम किसी कालेज या स्कूल में नहीं सिखाये जाते। इन नियमों की शिक्षा घर में होती है। वह भी बचपन में। शैशवकाल में बच्चे के अन्दर जैसी आदतें डाली जायेंगी, वैसा ही वह बड़ा होगा। यह आदतें उसके अन्दर पढ़ाकर नहीं डाली जा सकतीं। बच्चा बचपन में जो सीखता है, वह अनुकरण से सीखता है। अतः उसके सामने जैसा रहन-सहन होगा, वह वैसा ही करेगा। व्यायाम करना, प्रातःकाल उठना, श्वेत वस्त्र पहिनना ये आदतें बचपन से ही डाली जा सकती हैं। आरोग्यता के नियम तथा और बातें वह घर के स्कूल में सीखता है, जहाँ पर अध्यापक उसके माता, पिता होते हैं।

प्रकरण दूसरा

मनुष्य-जीवन का आधार तीन बातों पर निर्भर है। एक—आहार, दूसरा नींद—सोना और तीसरा ब्रह्मचर्य। पिछले पृष्ठों में नींद और ब्रह्मचर्य के विषय में थोड़ा बहुत लिखा जा चुका है। यहाँ पर आहार के विषयमें कुछ लिखना है।

आहार—शब्द साधारणत: भोज्य पदार्थ के लिये समझा जाता है; परन्तु यहाँ पर इस शब्द के अन्दर वायु और पानी का भी समावेश किया जाता है। मनुष्य इनका भी आहार ग्रहण करता है। इन तीनों के बिना देर तक मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। भोजन के बिना मनुष्य कुछ दिनों तक पानी और वायु की सहायता से जीवन व्यतीत कर सकता है और पानी के बिना भी केवल वायु की सहायता से कुछ समय काट सकता है। परन्तु वायु के बिना साधारणावस्था में पाँच मिनिट से अधिक मनुष्य जीवन धारण नहीं कर सकता।

जिस प्रकार इन तीन वस्तुओं के ऊपर जीवन खड़ा है, उसी प्रकार इनके कारण शरीर का नाश भी हो सकता है। इन तीनों में विकार आने से शरीर भी रोगी हो जाता है। अत: इनकी स्वस्थ अवस्था और विकृत अवस्था समझनी चाहिये। किस रूप में ये शरीर के लिये उपयोगी हैं, और किस रूप में शरीर के लिये हानिकारक हैं। इसी के लिये यह प्रकरण उतारा गया है।

हवा (Air)

जिस समय शिशु गर्भाशय रूपी गुहा से बाहर आता है, उस समय उसका प्रथम कार्य 'रोना' होता है। बस यही कार्य उसके जीवन का प्रारम्भ कर्त्ता है। और जब मरता है, तब भी "रोता" है। ये दोनों कार्य स्वाभाविक हैं। जन्म के समय लिया हुआ श्वास उसकी श्वास प्रश्वास क्रिया को चला देता है। गर्भाशय में बच्चा न तो रोता है, और न श्वास लेता है। उसका मुँह जरायु से लिपटा होता है। प्रथम श्वास वही होता है, जो रोते

समय लिया गया है। और इस समय जिस वायुमण्डल में यह प्रसव होता है, श्वास भी उसी वायुमण्डल में से लिया जाता है। यदि यह वायु शुद्ध है, तो श्वास भी शुद्ध होगा, और यदि वायु अशुद्ध है, तो श्वास भी खराब होगा।

वायु को हम आँखों से नहीं देख सकते—केवल त्वचा के द्वारा उसका अनुभव करते हैं। मुँह से यदि त्वचा पर फूंक मारें तो उस फूँक की वायु का स्पर्श ही होता है। जिस वायु में हम या और प्राणी श्वास लेते हैं, उस वायु का एक समुद्र है जिस प्रकार कि पानी का समुद्र है। यह वायुमण्डल भी उतना ही गहरा है, जितना कि समुद्र। जिस प्रकार समुद्र की तली में मच्छ आदि रहते हैं, वैसे ही हम लोग इस वायुमण्डल रूपी समुद्र में रहते हैं। जिस प्रकार समुद्र के नीचे अधिक नीचे जाने में श्वास लेने में कठिनता होती है, उसी प्रकार वायुमण्डल में ऊपर उड़ने पर भी श्वास में कठिनता अनुभव होती है; क्योंकि ऊपर वायु की घनता कम हो जाती है। वह पतली हो जाती है। यह पतलापन हमारे लिये अधिक उपयोगी है। जिस समय वायु को दूर भेजना हो, उस समय उसे हल्का-पतला कर देना चाहिये। बस वह ऊपर चली जायगी; और दूसरी भारी वायु वहाँ आजायगी। यह क्रिया आग जलाने से बहुत ही सरल रूप में हो जाती है (आग के कारण वायु भारी बनानेवाले पदार्थ (पानी के वाष्प आदि) कम हो जाते हैं।

स्वच्छ वायु के तत्त्व—वायु के अन्दर देखने में कुछ और मिला हुआ प्रतीत नहीं होता। परन्तु वैज्ञानिकों ने इस वायुमण्डल की वायु का विश्लेषण किया है। उनको इस वायुमण्डल में मुख्य वस्तुयें चार मिली हैं। १—ओषजन या औक्सीजन २—नत्रजन या नाइट्रोजन ३—कार्बोनिक एसिड गैस ४—पानी के वाष्प। इनके अतिरिक्त वायुमण्डल में और भी वस्तुओं के परमाणु आदि हैं। उनकी यहाँ पर गिनती करना निरर्थक है।

इनमें ओषजन को प्राण-वायु भी कहते हैं; क्योंकि यही ओषजन सब प्राणियों को प्राण देती है। इसके अभाव में प्राणी मर जाते हैं। निमोनिया आदि रोगों में जब कि इस वायु को मनुष्य वायुमण्डल में से लेने में असमर्थ रहता है, और उसको यह वायु प्राप्त न हो तो वह मनुष्य मर जाता है। अतः इस वायु को "प्राण" कहते हैं। यह वायु जहाँ शरीर में प्राणों को देती है वहाँ इस वायु के और भी गुण हैं।

सम्पूर्ण स्थानों में जो दहन क्रिया या जलन क्रिया हो रही है, वह भी इसी वायु के कारण होती है। इसके अभाव में किसी प्रकार की जलन नहीं होती। एक बर्त्तन में से यदि इस वायु को निकाल दिया जाय, तो उसमें दियासलाई की बत्ती नहीं जलेगी। इससे स्पष्ट है कि जलन इसी वायु की उपस्थिति में होती है। इसके साथ ही इस वायु में तीक्ष्णता बहुत है। यदि इस तीक्ष्णता को कम न किया जाय, तो यह "प्राणवायु" प्राणियों के लिये निरर्थक है। अत: इस वायु की तीक्ष्णता को कम करनेवाली दूसरी वस्तु "नत्रजन" है। उसका परिमाण भी इस वायुमंडल में "ओषजन" से अधिक है। अत: वह इसकी तेजी को कम करती है। श्वास और प्रश्वास की वायु में इस "नत्रजन" का परिमाण एक समान रहता है। इसके अन्दर रक्खा हुआ दिया बुझता नहीं; परन्तु जलता रहता है। वायुमण्डल में इस वायु का परिमाण एक और चार है। अर्थात् यदि ओषजन एक भाग है, तो नत्रजन चार भाग होती है।

प्राय: सम्पूर्ण वायुमण्डल इन दो वायुओं से बना हुआ है। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी वायु "कार्बनिक एसिड गैस" है। यह गैस—वायु कोयलों के जलने से बनती है। कोयला या कोई पदार्थ जलकर कार्बन बनता है। चूँकि जलन-क्रिया ओषजन की उपस्थिति में हो रही होती है; अत: कार्बन और ओषजन के मिलने से यह गैस बनती रहती है। इस गैस का मुख्य गुण यह है कि जलती हुई बत्ती फ़ौरन् बुझ जायगी। इस वायु का श्वास भी प्राणियों को मार देता है। यही कारण है कि पुराने कुओं में या गहरे अन्धकारयुक्त घरों में जब मनुष्य जाता है, तो फ़ौरन मर जाता है। इन अवस्थाओं में प्रथम दियासलाई जलाकर देख लेना चाहिये। यदि बत्ती जलती रहे तो अन्दर जाना चाहिये, नहीं तो अन्दर नहीं जाना चाहिये। श्वास वायु में इसकी मात्रा नहीं होती। परन्तु प्रश्वास वायु में इसकी मात्रा बहुत अधिक होती है। यदि शरीर के अन्दर इसकी मात्रा उचित परिमाण से अधिक होजाय तो श्वास घुटने लगता है। यह वायु यद्यपि हमारे लिये निरुपयोगी है, परन्तु वनस्पति-जगत के लिये लाभदायक है। वनस्पतियों का पोषण इसी वायु की सहायता से होरहा है। यदि यह वायु उनको न मिले तो वे मर जायें। वनस्पति इस वायु को लेते हैं और ओषजन को छोड़ते हैं। यह क्रिया दिन के समय होती है। रात्रि में वे भी इस कार्बनिक एसिड गैस

को छोड़ते हैं, अतः रात्रि में उनके नीचे नहीं सोना चाहिये। इस प्रकार से प्राणी कार्बनिक एसिड गैस के स्रोत हैं, और वनस्पतियाँ "ओषजन" के। वायुमण्डल में इस वायु की मात्रा बहुत कम है। इसका परिमाण कुल ३/२५०० है। इतनी थोड़ी मात्रा में रहने से यह शरीर को नुक़सान नहीं करती।

वायु में चतुर्थ वस्तु पानी के वाष्प हैं। ये वाष्प सूर्य की उष्णता के कारण हैं तथा प्राणियों के प्रश्वास से निकलते हैं। इन वाष्पों के जुड़ने से बादल बनता है, उससे वर्षा होती है। वह पानी पृथ्वी पर आता है, उस पानी को सूर्य की गरमी सुखाती है। इससे वाष्प बनकर फिर वायुमण्डल में पहुँच जाता है। यदि वायुमण्डल में वाष्प न हो तो सूर्य की गरमी से अपना शरीर जलने लगता है। जिस ऋतु में (यथा शीतकाल में) वायुमण्डल में पानी के वाष्प अधिक रहते हैं, उस ऋतु में धूप सुहाती भी है। परन्तु गरमियों में असह्य हो उठती है। अतः यह वाष्प भी हमारे लिये उपयोगी हैं।

वायुमण्डल में यदि ये चारों वस्तुयें उचित प्रमाण में रहें तो उस वायु को शुद्ध समझना और यदि कम-अधिक हो जायें तो वायु को दूषित समझना चाहिये।

हवा को दूषित करनेवाले कारण—जीवन के लिये वायु आवश्यक है, और वह वायु स्वच्छ होनी चाहिये। अस्वच्छ वायु हमको जीवन नहीं दे सकती। वह हमारे शरीर को हानि पहुँचाती है। इससे वह "विष" है। इस दूषित वायु रूपी विष को उत्पन्न करने के कई कारण हैं। मनुष्य को चाहिये कि वह इन कारणों से बचे। यह दूषित वायु एकही समय अनेक प्राणियों का जीवन ले सकती है। सुना जाता है कि इस शताब्दी के योरोपीय महायुद्ध में जर्मन लोगों ने वायु को दूषित करके अनेक प्राणियों का वध किया था। प्राचीन काल में भी राजा लोग अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये वायु को दूषित कर देते थे।* यह दूषित वायु एक साथ ही अनेक प्राणियों का संहार कर देती है। वायु को दूषित करनेवाले साधारण कारण निम्न हैं।

---

* (१) "राज्ञोऽरिदेशे रिपवः तृणाम्बु मार्गांश्च धूम श्वसाञ्चविषेण।
संदूष्यतेभिरतिप्रदुष्टान् ॥"
(२) "धूमेऽनिलेवा विषसंप्रयुक्ते खगाः श्रमार्त्ताः प्रपतन्ति भूमौ ॥" सुश्रुत

वायु में बिगाड़ करनेवाले कारण अनेक हैं। उनमें से मुख्य कारण नीचे लिखे हैं। यथा—

(१) प्रश्वास के रूप में निकलती हुई वायु—जो वायु हम श्वास के रूप में लेते हैं, वही वायु दूषित होकर प्रश्वास के रूप में बाहर होती है। यह दूषित वायु "कार्बनिक एसिड गैस" है, जिसकी मात्रा वायु-मंडल में बहुत कम है। प्रश्वास से निकली वायु वायुमंडल में मिल जाती है। यदि इस प्रश्वास वायु को हम वायुमंडल में मिलने न दें, अर्थात् नाक और मुँह को ढाँपकर प्रश्वास निकालें, और मुँह ढके हुये श्वास लें, तो थोड़े समय में श्वास में प्राण-वायु का अभाव हो जायगा, और अब केवल प्रश्वास में निकली हुई वायु ही वहाँ रहेगी। इस वायु का जब श्वास लिया जायगा, तो अवश्य मृत्यु हो जायगी। इसी प्रकार यदि बहुत से आदमी एक कमरे में बैठे हों, या कोयलों की अँगीठी जल रही हो, और मकान के सब दर्वाजे बन्द हों, जिससे कि अन्दर की वायु बाहर न जा सके, या बाहर की वायु अन्दर न आ सके, तो कुछ समय यह सब वायुमंडल प्रश्वास से निकली वायु "कार्बनिक एसिड गैस" से भर जायगा और मनुष्यों का दम घुटने लगेगा। यदि अब भी दर्वाजे नहीं खोले जायेंगे तो दूसरे क्षण में सब मनुष्य मर जायेंगे। श्वास की वायु में जो स्थान प्राण-वायु का है, वही स्थान प्रश्वास वायु में कार्बनिक एसिड गैस का है। इसलिये कभी भी मुँह या नाक बन्द करके नहीं सोना चाहिये। जिस मकान में सोना या बैठना है, उसमें पर्य्याप्त स्थान वायु के आने-जाने के लिये छोड़ना चाहिये।

प्रश्वास वायु में निकलनेवाली अन्य वस्तुयें 'पानी के वाष्प' और 'कुछ कचरा' है। पानी के वाष्प प्राय: पर्य्याप्त मात्रा में रहते हैं, परन्तु पानी का अधिक भाग पसीने या मूत्र के रूप में बाहर होता है। 'गन्दा कचरा' इस पदार्थ में रोगों के कीटाणु या रोगों के या शरीर के दूषित भाग के अणु होते हैं। यथा—क्षय रोगी की या इन्फ्लुएञ्जा अथवा जुकाम की अवस्था में कीटाणु श्वास-वायु के द्वारा एक से दूसरे में जाते हैं। विशेषत: यदि स्थान गरम है, और हवा तंग हो। यथा रात्रि में नाटक या सिनेमा हॉल में। अथवा किसी मनुष्य के साथ मिलकर सोने में। माता जब बच्चे को छाती के साथ लगाकर सुलाती है, तो दोनों एक दूसरे के प्रश्वास को

कुछ न कुछ श्वास के रूप में ले लेते हैं। इसलिये दोनों को यथा सम्भव दूर-दूर सोना चाहिये।

(२) **त्वचा**—से निकला हुआ पसीना वाष्प के रूप में होकर वायु को दूषित करता है। एक मनुष्य के शरीर में २४ घन्टे के अन्दर लग-भग ३० औंस वाष्प निकलता है।

(३) **जलाने की क्रिया से वायु बिगड़ती है**—जिस समय घर में दिया, कोयला, या लकड़ी जलाई जाती है, तो उस समय प्राण-वायु की जरूरत होती है। जिस प्रकार हमको प्राण-वायु की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार पदार्थों को भी जलने के लिये प्राण-वायु की आवश्यकता रहती है। जलनेवाली चीजें जलते समय वायुमंडल में से 'ओषजन' को लेते जाते हैं, और 'कार्बन' पदार्थ के साथ मिलाकर 'कार्बनिक एसिड गैस' बनाते जाते हैं, जिससे कि इस वायुमंडल में ओषजन की मात्रा घट जाती है, और कार्बनिक एसिड गैस की मात्रा बढ़ जाती है। 'कार्बन' पदार्थ वस्तुओं के जलने से बनता है, जिसको बोलचाल की भाषा में 'कोयला' कहते हैं। इसलिये रात्रि को सोते समय बन्द घर में कभी कोयले या कोई वस्तु जलाकर नहीं सोना चाहिये।

(४) **सड़ांद**—जिस समय कोई प्राणी मर जाता है, या पत्ते गिरकर किसी स्थान पर ढेर हो जाते हैं, या कहीं पर कचरा-कूड़ा इकट्ठा होता है, उस पर जब पानी पड़ता है, तो फिर उसमें से एक प्रकार की दुर्गन्ध आने लगती है। इस दुर्गन्ध का कारण दुर्गन्धित वाष्प और कार्बनिक एसिड गैस है, जो कि सड़ने से उत्पन्न होती है। इसलिये ये वस्तुयें अपने रहने की जगह से दूर फेंकनी चाहिये। अच्छा यही है कि इनको जलाकर राख कर दिया जाये। चमार लोग, कसाई लोग, रंगरेज आदि भी वायु को खराब करते हैं। अतः इनको शहर से एक ओर रहने की जगह देनी चाहिये।

(५) **घर की नालियाँ**— इनसे भी दूषित वायु उत्पन्न होती है। घर के कारण उनमें सड़ांद रहती है। अतः इन नालियों को प्रतिदिन पानी से धोना चाहिये और इनमें कोई जन्तुनाशक पदार्थ फिनाइल आदि डाल देना चाहिये।

(६) **कारखाना**—कपड़े बुनने के, लोहा बनाने के, कोयला निकालने के, रँगने के, धोने के, रुई के, सब प्रकार के कारखाने वायुमंडल

को खराब करते हैं। अतः इनको शहर से बाहर स्थान देना चाहिये। इनमें से रुई आदि के कण वायु में सदा उड़ते रहते हैं, जो कि श्वास वायु के साथ छाती में पहुँचते हैं और वहाँ रह जाते हैं। अतः इन कारखानों में कार्य करनेवाले प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह नदी या तालाब के किनारे घूमने जाये, और वहाँ प्राणायाम करे। विशेषतः ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर घूमना चाहिये, जब कि वायु शुद्ध हो।

इन कारणों के अतिरिक्त "तम्बाकू" का पीना, यह तो वायु को खराब करता है। इसके कारण तो 'कॉर्बनिक एसिड गैस' उत्पन्न होता है। तम्बाकू से जहाँ वायु खराब होती है, फेफड़ों में काला रंग बैठ जाता है। जिस प्रकार कि नली में या हुक्के के पानी में रंग आ जाता है। इस रंग के कारण शरीर के तन्तु मर जाते हैं। शक्ति घट जाती है। और शरीर में कॉर्बनिक एसिड गैस बढ़ने लगती है। अतः बीड़ी का पीना तम्बाकू पीना हानिकारक ही है।

वायु के खराब होने के कारण और भी कई कारण हैं, परन्तु मुख्य कारण यही हैं। मनुष्य को चाहिये कि वह इन कारणों से बचे। बहुत से कारण ऐसे हैं, जिनसे कि मनुष्य सुगमता से बच सकता है। जो प्राणी जितना बड़ा होगा उसको उतनी ही अधिक प्राण-वायु चाहिये, और वह उतने ही अधिक मात्रा में वायु को दूषित करता है। इस नियम से मनुष्य को पशुओं के बँधने के स्थान पर नहीं सोना चाहिये।

कुदरती होनेवाली वायु की शुद्धि—यदि प्रकृति इस वायुमण्डल का शोधन न करे, तो कुछ समय बाद यह सारा वायुमण्डल अशुद्ध हो जाय। क्योंकि ऊपर लिखे कारण इसको रात-दिन अशुद्ध कर रहे हैं। अतः प्रकृति ने इस वायु-मण्डल को शुद्ध रखने के लिये कुछ उपाय बनाये हैं। उन उपायों में सबसे बड़ा उपाय गति है। गति के कारण एक स्थान की खराब हवा दूसरे स्थान पर चली जाती है, वहाँ की शुद्ध हवा इस स्थान पर आ जाती है। गति के कारण वायु-मण्डल में होनेवाले कण बिखर जाते हैं टूट जाते हैं; इस गति के कारण हमारा प्रश्वास वृक्षों तक पहुँच जाता है, वे इसमें से अपनी खुराक ले लेते हैं। उनका छोड़ा हुआ श्वास हमारे तक आ जाता है, उसमें से हम अपनी उपयोगी वस्तु ले लेते हैं।

गति के कारण ही आग जलाने से हल्की होकर उस स्थान की वायु ऊपर चली जाती है, उसका स्थान लेने के लिये चारोंओर की वायु आजाती है, वह भी हल्की होकर ऊपर चली जाती है। इस प्रकार से एक चक्कर बन जाता है। और वायु शुद्ध हो जाता है।

गति के अतिरिक्त सूर्य की गरमी भी वायु को शुद्ध कर रही है। क्षय आदि रोगों के परमाणु वायु में उड़ते हुये इस गरमी से मर जाते हैं और वायु शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार बरसात भी वायुमण्डल को धो डालती है। वायुमण्डल में उड़ते हुये परमाणु पानी में घुलकर भूमि पर आ गिरते हैं।

शुद्ध वायु प्राप्त हो सके इसके लिये मकान बनाते समय ध्यान रखना चाहिये। मकान में वायु और धूप सूर्य का प्रकाश भली प्रकार आ सके, इस बात का ध्यान रखना चाहिये। मकान किस स्थान पर बनाना चाहिये; इसका ज्ञान इंजिनियरों (Engineers) या कारीगरों से प्राप्त करना चाहिये।

समुद्र के किनारे या समुद्र में अथवा पहाड़ के ऊपर वायु अधिक शुद्ध होती है। जहाँ की वायु जितनी शुद्ध होगी, वहाँ पर शरीर भी अधिक स्वस्थ रहेगा। वायु से रक्त के अन्दर लाली या पोषण आता है। इसलिये जितनी वायु शुद्ध होगी रक्त भी उतना ही अधिक उज्ज्वल और पोषक बनेगा। जिस प्रकार की आहार की पवित्रता पर मन की पवित्रता निर्भर है, इसी प्रकार वायु की शुद्धता पर रक्त की शुद्धता निर्भर है। रक्त से ही पोषण मिलता है।

यद्यपि दूषित वायु सहसा मृत्यु का कारण प्राय: कम बनती है; परन्तु इस वायु के परमाणु शरीर के अन्दर इकट्ठे होते रहते हैं और जब अधिक मात्रा में संचित हो जाते हैं, तब मृत्यु का कारण बनते हैं। ये परमाणु रक्त के अन्दर या शरीर के अन्य तन्तुओं में इकट्ठे होते हैं। जिस प्रकार कि थोड़ा-थोड़ा खाया हुआ संखिया या पारा पीछे से हानिकारक होता है, उसी प्रकार यह दूषित वायु भी पीछे से हानि पहुँचाती है।

रोगी व्यक्ति के पास अवश्य ही शुद्ध वायु रहनी चाहिये। इसके लिये कमरे में भीड़ अधिक नहीं करनी चाहिये। उसमें वायु जाने और आने के लिये पर्याप्त रास्ते होने चाहियें।

मनुष्य के लिये वायु की आवश्यकता—साधारणतः एक युवा व्यक्ति के लिये (२४ घन्टों के लिये) ४०० घन फ़ीट वायु चाहिये। श्वास-वायु में कार्बनिक एसिड गैस का भाग बहुत कम होता है; परन्तु प्रश्वास-वायु में इसकी मात्रा अधिक होता है। इस नियम से एक मनुष्य के रहने-सहने के लिये ७ से १० फीट चौरस जगह या घर पर्याप्त है। इसमें अधिक आदमी हों तो अधिक स्थान चाहिये। इसके साथ ही वायु के आने-जाने के मार्ग पर भी स्थान का परिमाण निर्भर करता है। यदि दूषित वायु सहसा दूर होती जाय और नवीन शुद्ध वायु मिलती हो तो, थोड़ा स्थान भी पर्याप्त हो सकता है।

किसी घर की या स्थान की वायु शुद्ध है या नहीं—इसको पहचानने का सरल उपाय यह है कि बाहर शुद्ध वायुमण्डल से एकदम घर में जाना चाहिये। यदि श्वास में कुछ परिवर्त्तन या बदबू प्रतीत हो तो, उस स्थान की वायु शुद्ध नहीं। साधारणतः वायुमण्डल में कार्बनिक एसिड गैस की मात्रा एक हज़ार भाग में $\frac{४}{१०}$ है। यदि यह मात्रा बढ़कर $\frac{६}{१०}$ भी हो जाये, तो भी शरीर के लिये हानिकारक नहीं होती। परन्तु इससे अधिक मात्रा शरीर को हानि पहुँचाती है।

पानी (Water)

पानी का महत्त्व—वायु से उतरकर शरीर के लिये उपयोगी वस्तु पानी ही है। पृथ्वी पर तीन भाग पानी का और एक भाग स्थल या सूखी ज़मीन का है। परमात्मा ने ऐसा कोई पदार्थ नहीं बनाया, जिसमें पानी का अंश न हो। यह आवश्यक नहीं कि हम पानी को पानी के रूप में ही पियें। बच्चा दूध के रूप में पानी को पीता रहता है। इसी दूध से उसका पोषण होता है। युवा आदमी जो भोजन खाता है, उसमें भी पानी का भाग शरीर के अन्दर जाता है। शरीर के अन्दर जो सात धातु-रस, रक्त, मांस आदि हैं; उनके अन्दर भी पानी की मात्रा है। यदि मनुष्य का भार साधारणतः ७५ सेर माना जाये तो ५६ सेर इसमें पानी का भाग है। धान्य या अन्य पदार्थ को शरीर के लिये उपयोगी बनाने के लिये भी पानी की आवश्यकता होती है। शरीर से जो मल निकलते हैं, उनमें सबसे अधिक राशि में

निकलनेवाला पदार्थ पानी ही है। मूत्र के रास्ते, पसीने के रास्ते, श्वास के रूप में पानी निकलता रहता है। पानी की इस कमी को पूरा करने के लिये शरीर को पानी की आवश्यकता होती है। यदि शरीर को पानी न मिले तो गला-मुख सूखने लगता है, ओठ खुश्क हो जाते हैं। पानी जहाँ शरीर को धारण कर रहा है, वहाँ शरीर का शोधन भी इसी के द्वारा होता है। नहाने से बाह्य शरीर की शुद्धि होती है, और पानी पीने से शरीर के अन्दर का प्रक्षालन होता है। जिस प्रकार एक वृक्ष को पानी की आवश्यकता रहती है, जिससे कि इस द्रव भाग में वह वृक्ष, अपने लिये उपयोगी पदार्थों को जड़ों के द्वारा खींचकर, इस पानी के द्वारा वृक्ष की चोटी, उसकी टहनियों में और पत्तों में पहुँचा सके; इसी प्रकार शरीर को भी इस द्रव की आवश्यकता रहती है। इस द्रव भाग की सहायता से रक्त पोषक पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता है। जिन रोगों में शरीर से द्रव भाग अधिक निकल जाता है (यथा हैजे में), उनमें पानी की प्यास बढ़ जाती है; और रक्तघन—सान्द्र बन जाता है। इससे सूक्ष्म रक्तवाहिनियाँ इस घन हुये रक्त को बहाने में असमर्थ रहती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वृक्क या गुर्दों में मूत्र नहीं बन सकता। अतः मूत्र बन्द रहता है। मूत्र के बन्द रहने से विष शरीर के अन्दर ही लीन होने लगता है, जिसका परिणाम मृत्यु होती है।

पानी के गुण—पानी प्राणियों का प्राण है। यह पानी वायु की भाँति स्वच्छ और शुद्ध होना चाहिये। जिस प्रकार अशुद्ध वायु शरीर के लिये निरुपयोगी है, उसी प्रकार स्वच्छ या दूषित पानी भी शरीर के लिये निरर्थक है। पानी के अन्दर कोई किसी प्रकार का रस नहीं होना चाहिये। यदि उसके अन्दर कोई खट्टा या मीठा स्वाद आता है, तो वह उस भूमि के कारण होता है, जहाँ कि वह लिया गया है। क्योंकि आकाश से गिरनेवाले पानी में अपना न कोई स्वाद, न कोई रंग, न कोई गन्ध होती है। पानी के अन्दर जो गन्ध या रंग दिखाई देता है, वह पृथ्वी के संसर्ग से आ जाता है।

पानी की प्राप्ति के स्रोत—पृथ्वी पर पानी कई स्थानों में प्राप्त किया जा सकता है। कुयें से, तालाब से, नदी से या बरसात से। परन्तु सब प्रकार के पानी का आदि स्रोत 'आकाश' ही है। आकाश से जो पानी बरसता है, उसका कुछ भाग भूमि के अन्दर चला जाता है, जो कि कुयें या

चश्मों के रूप में निकलता है। कुछ नदियों के रूप में बहता हुआ समुद्र में पहुँचता है। और कुछ गड्ढों में एकत्रित रहता है। सूर्य फिर इसी पानी को अपनी किरणों से खींचता है, और फिर बरसाता है। इस प्रकार से यह एक चक्कर चलता रहता है।* गरमियों में सूर्य की तेजी बढ़ी होती है, अतः पानी वाष्प के रूप अधिक उड़ता है। इसलिये तालाब आदि सूख जाते हैं। इसलिये आन्तरिक्ष-जल और दूसरा भूमि-जल। इस भूमि-जल के अन्दर ही सब नदी, कुयें, तालाब आदि के जल का समावेश होजाता है।

१. अन्तरिक्ष-जल—बरसात का पानी भूमि पर गिरने से पहले इकट्ठा कर लिया जाय तो वह अन्तरिक्ष का जल कहा जाता है। कई बार रात्रि में गिरी हुई ओस को भी इकट्ठा कर लेते हैं। ओस को इकट्ठा करने की सरल विधि यही है कि, किसी महीन श्वेत वस्तु का टुकड़ा लेकर खेत में पौदों के पत्तों पर फेरा जाय, या रात्रि को घास पर पतले वस्त्र को बिछा दें, और प्रातः सूर्य निकलने से पहले साफ बर्तन में निचोड़ लें। यह पानी आश्विन और कार्तिक मास में अच्छा होता है। दूसरा अन्तरिक्ष का पानी इस प्रकार से इकट्ठा करते हैं—बरसात हो चुकी हो, और फिर दूसरी बार पानी बरसने लगे या एक आध घन्टा जब वर्षा हो चुके तब साफ स्थान पर, छत आदि पर एक चौड़ा बर्तन परात आदि रख देना चाहिये। इससे भी पानी इकट्ठा कर सकते हैं। तीसरा आकाश का पानी 'ओलों' के रूप में हमको प्राप्त होता है। यदि ओलों को इकट्ठा कर लिया जाय तो गरमी से पिघलकर इसका पानी बन जाता है।

यही पानी जब भूमि पर गिरता है, तब इसमें भूमि के पदार्थ मिल जाते हैं। अन्तरिक्ष से गिरते समय वायुमण्डल की भी कुछ चीजें इसमें मिल जाती हैं। अतः बरसात से वायुमंडल धुल जाने पर और भूमि पर गिरने से पूर्व इसको इकट्ठा कर लेना चाहिये। आश्विन और कार्तिक मास में एकत्रित किया हुआ पानी विशेष उत्तम होता है। यह पानी सब समय उपयोग करने के लिये उत्तम है।

*१—"पानीयमन्तरिक्षमनिर्देश्यरसममृतं जीवनं तर्पणं धारणमाश्वासजननं... ...एकान्ततः पथ्यतमं च॥" सुश्रुत

२—"जलमेक विधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्।
तत् पतत् पतितं चैव देशकालावपेक्षते॥" चरक

२. भूमि-जल—जो पानी आकाश से भूमि पर गिरता है और फिर हम उसको भूमि से लेकर काम में लाते हैं; ऐसे पानी को 'भूमि-जल' कहते हैं। यह भूमि-जल सात प्रकार का है। १—नदी से प्राप्त होता है, २—कुयें से प्राप्त होता है, ३—तालाबों से प्राप्त होता है, ४—झरनों से, ५—छोटी-छोटी बावलियों से, ६—छोटे-छोटे तालाब (पाखुर = जोहड़), ७—चश्मा।

भूमि दो प्रकार की है। एक तो वह स्थान जहाँ पानी कम होता है, वृक्ष कम होते हैं, धूल अधिक होती है, वायु में रूक्षता अधिक रहती है। पानी बहुत गहरा खोदने पर मिलता है। इस भूमि का नाम 'जांगल' प्रदेश है। यथा—राजपूताना। दूसरा—वह स्थान जहाँ पानी बहुत हो, वृक्ष भी बहुत हों और वायु में स्निग्धता हो। इस स्थान को 'आनूप' देश कहते हैं। यथा बंगाल। जांगल देश का पानी लघु—शीघ्र पचनेवाला, पुष्टि-कारक और पथ्य होता है और आनूप देश का पानी भारी, कफ बढ़ानेवाला और मीठा होता है।

३. नदी-जल—सब नदियों का पानी एक समान गुण नहीं रखता; क्योंकि पानी कई प्रकार के स्थान से जाता है। अतः उसमें उस-उस स्थान की मिट्टी, वनस्पति के गुण-दोष मिलते जाते हैं। वेग से बहनेवाली, पथरीली भूमि पर से जानेवाली नदियों का पानी अधिक उत्तम माना जाता है। यदि नदी की जमीन खारी है, तो उस पर से बहनेवाला पानी भी खारा हो जायगा। वर्षा ऋतु में नदियों का पानी खराब हो जाता है। क्योंकि उनमें सब प्रकार का मैल पानी के साथ बहकर मिल जाता है। इसी प्रकार जंगल या वनस्पतियों में से बहनेवाली नदी का पानी भी अधिक अच्छा नहीं होता। बहुत-से छोटे-छोटे गाँवों में लोग छोटी नदी का पानी कई बार पीते हैं। इससे उनको कई प्रकार के रोग हो जाते हैं। क्योंकि मनुष्य सब प्रकार की शुद्धि इसी पानी से करते हैं।* लोग इसी पानी में नहाते हैं, कपड़े धोते हैं,

*इंगलैण्ड के अन्दर किसी नदी के किनारे रहनेवाली बस्ती में "टाईफाईड" ज्वर के बहुत से रोगी होगये। उनमें रोग फैलने के कारण जाँचने के लिये लोग नदी के बहाव के ऊपर गये। वहाँ एक झोपड़े में एक लड़का इसी रोग से पीड़ित था। उसकी माता उसका मल और कपड़े उसी नदी के पानी में धोती थी। जिसका प्रभाव बस्ती में फैला।....प्रैक्टिस ऑफ मैडिसन....औसलर

और जानवरों को भी इसी में पिलाते हैं; परन्तु बहुत से गाँवों में नदी न होने से वे अपना कार्य एक छोटे से पाखुए से करते हैं। इस अवस्था में तो बहुत ही दयनीय दशा उन लोगों की होती है। प्रबन्ध ऐसा करना चाहिये कि वस्त्र धोने आदि के लिये या नहाने के लिये लोग नदी में से पानी अलग लेकर अपना कार्य करें। परन्तु यदि नदी जोरदार हो तो सब कचरा बह जाता है, या बैठ जाता है। इस प्रकार से पानी साफ़ हो जाता है।

४. कुएँ का पानी— इस पानी के गुणों का मुख्य आधार भूमि के गुणों पर निर्भर है। गहरे कुएँ का पानी, उथले कुवों के पानी से अधिक अच्छा, पाचक और बलदायक होता है। कुएँ के आसपास की ज़मीन कम-ज़ोर होती है। अतः पानी उसमें से छनकर शीघ्र कुएँ के पानी से मिल जाता है। यही कारण है कि बरसात आदि में चारोंओर का पानी कुएँ में पहुँचकर पानी को बढ़ा देता है। यह पानी भूमि में जाते हुये समीपवर्ती गन्दगी को भी ले जाता है। अतः बरसात में कुओं का पानी भी खराब हो जाता है। जिस प्रकार स्याहीचूस का एक सिरा पानी में डूबने से सारा स्याहीचूस गीला हो जाता है उसी प्रकार भूमि में भी ऊपर का पानी नीचे पहुँच जाता है। दोनों वस्तुओं में छेद हैं; जिनकी सहायता से पानी पहुँचता है। जो कुएँ गहरे होते हैं, उनमें पानी को बहुत नीचे उतरना होता है। इन गहरे कुवों की भूमि भी सूखी-रेतीली रहती है। इससे पानी को बहुत छनकर जाना पड़ता है। थोड़ा पानी ही नीचे पहुँचने पाता है, अधिक भाग भूमि ही पी जाती है। इस प्रकार से छना होने के कारण पानी अधिक स्वच्छ रहता है। यदि कुएँ के आसपास की भूमि खारी होगी तो पानी भी खारा होगा। गहरे कुओं का पानी मीठा होता है।

दूसरी बात यह है कि जिन कुओं के पास वृक्ष होते हैं, उनके पत्ते उसमें गिरते रहते हैं। सूर्य की धूप उसमें आ नहीं सकती अतः पानी मैला, अशुद्ध हो जाता है। पानी को साफ़ रखने के लिये उसमें धूप का जाना आवश्यक है। कुएँ के आसपास ५ फ़ीट तक चारोंओर पक्का फ़र्श बना देना चाहिये। किसी प्रकार की गन्दगी कुवे के पास इकट्ठी नहीं करनी चाहिये।

५. **टङ्की का पानी**—आजकल सभ्य शहरों में स्वास्थ्य विभाग ने पानी का प्रबन्ध अपने हाथ में ले रक्खा है। अतः इस विषय में लोग अधिक जानने का परिश्रम नहीं करते। सरकार कहीं पर पानी को एकत्रित-स्वच्छ करके नलों द्वारा सम्पूर्ण शहर में पानी पहुँचाती है। यह पानी या तो कहीं पर बरसात आदि में इकट्ठा हो जाता है, उसीको घेरकर शहर के लिये सुरक्षित कर लिया जाता है; यथा बम्बई में। अथवा कहीं-कहीं पर बड़ी-बड़ी टंकियाँ बनाई जाती हैं, उनमें बरसात का पानी भर लेते हैं। या कहीं पर किसी नदी से, या गहरे कुएँ बनाकर पानी का प्रबन्ध किया जाता है।

कई बार लोग अपने घरों पर ही टंकियाँ बनवा लेते हैं और उसमें बरसात का पानी भर देते हैं। इन टंकियों को यदि ताम्र का बनाया जाय तो अच्छा। परन्तु ताँबे के महँगा होने से जस्ते की चादरों की टंकियाँ बनाई जाती हैं। इन टंकियों को प्रति वर्ष बरसात से पूर्व साफ कर देना चाहिये। इस पर ढकना रखना चाहिये जो कि समय पर बन्द किया जा सके। शीत ऋतु में प्रातःकाल और रात्रि में खुला रखना चाहिये। बरसात होने से पूर्व पानी निकाल देना चाहिये। कई बार इन टांकियों में सीसा मिला होने से पानी में सीसा घुलकर तकलीफ देता है, इससे कभी-कभी पानी की परीक्षा किसी विज्ञान शास्त्री से करवा लेनी चाहिये। यह पानी साल भर तक बरता जा सकता है।

६. **तालाब का पानी**—भूमि में बने हुये गड्ढों में जो पानी रुक जाता है, उसे तालाब या पोखर का पानी कहते हैं। यह पानी न तो नदी के पानी की तरह कहीं बढ़ता है और न कुयें के पानी की तरह भूमि के अन्दर जाता है। तेज गरमी पड़ने से कभी-कभी गर्मियों में सूख जाता है। जहाँ पर पानी का और कोई उपाय नहीं होता, वहाँ पर लोग इसी पानी को काम में लाते हैं। इस पानी से ही सब प्रकार के कार्य किये जाने के कारण यह पानी जल्दी ही अशुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त चूँकि यह भूमि नीची होती है, अतः चारोंओर का पानी बहकर इसी में आता है। यह गन्दगी कुछ दिनों में नीचे बैठ जाती है और पानी निर्मल हो जाता है। यदि इस पानी को अपने अज्ञान से बिगाड़ा न जाय तो यह पानी मीठा, भारी, रुचिकर और त्रिदोष हर होता है। परन्तु इसमें नहाने से, कपड़े धोने

से, पशुओं को पानी पिलाने से यह पानी खराब हो जाता है। अतः इन बातों से पानी को बचाना चाहिये।

७. चश्मे का पानी—यह पानी प्रायः कुयें के पानी की तरह होता है। इसमें अन्तर यही है कि चश्मा भूमि की सतह पर आकर फूटता है। यह पानी भी कुयें के पानी की तरह निर्मल होता है। कई बार इस पानी में गन्धक आदि मिली रहती है जो कि पानी के साथ बाहर आती है और अपना स्वाद पानी में देती है।

पानी को शुद्ध करने के उपाय—स्वच्छ निर्मल पानी में न तो किसी प्रकार की गन्ध होती है, न किसी प्रकार का स्वाद होता है, और न किसी प्रकार का रंग होता है। वह पारदर्शक होता है। उबालने से उसमें किसी प्रकार की गन्ध नहीं होती, स्वच्छ पानी के रखने पर उसमें किसी प्रकार निक्षेप—बर्त्तन की तलैटी में नहीं बैठता।

पानी में दो प्रकार की अशुद्धियाँ होती हैं। एक तो वे जो पानी के अन्दर मिली रहती हैं, जैसे पानी में घुला हुआ नमक। दूसरी प्रकार की अशुद्धियाँ वे होती हैं, जो कि कुछ समय तक तो पानी में मिली-सी रहती हैं, परन्तु थोड़े समय बाद स्वयं अलग हो जाती हैं। जैसे पानी में घुला हुआ रेत, थोड़ी देर रक्खा रहने से बर्त्तन के नीचे बैठ जाता है, और ऊपर निर्मल पानी आ जाता है। इस प्रकार से हम पानी को साफ कर सकते हैं।

प्रथम प्रकार की अशुद्धियों को दूर करने का उपाय यह है कि, इस पानी को खूब गरम करो यहाँ तक कि यह पानी वाष्प बनकर उड़ने लगे। यदि इन वाष्पों को हम इकट्ठा करते जायँ तो इस पानी में अब कोई स्वाद नहीं रहेगा। और वह पदार्थ बर्त्तन के अन्दर रह जायगा। समुद्र के पानी से जो नमक बनाया जाता है, वह इसी प्रकार से अलग करते हैं। क्यारियों में भरा हुआ पानी समुद्र की गरमी से सूख जाता है। नीचे नमक रह जाता है। ये दोनों उपाय तो कृत्रिम हैं। इसके अतिरिक्त और भी उपाय पानी को शुद्ध करने के हैं। यथा—

१—पानी के अन्दर फिटकड़ी या निर्मली डालकर पानी को रख देना चाहिये। इनसे पानी में अधघुले कण नीचे बैठ जाते हैं।

२—पानी को कपड़े में से छानकर पीना चाहिये। कपड़ा मोटा और श्वेत तथा साफ़ होना चाहिये।

३—एक हाँड़ी में रेत, दूसरी में कोयला आधा-आधा भरकर एक दूसरे के ऊपर एक-एक फ़ीट की उँचाई पर टाँग देना चाहिये। नीचे एक अच्छा घड़ा रख देना चाहिये, जिसमें पानी एकत्रित होता रहे। ऊपर पानी का घड़ा भरकर टाँग देना चाहिये। पानी के घड़े के नीचे, रेत की और कोयले की हाँड़ी के नीचे छेद बना देना चाहिये। इनमें से टपकता हुआ पानी निचले घड़े में भरेगा। यह पानी शुद्ध और निर्मल होगा। इसको पीना चाहिये।

४—इसके अतिरिक्त नदी या तालाब के पानी को सूर्य की किरणें तपाकर शुद्ध कर रही हैं। नदियों का प्रवाह, पथरीली भूमि, पानी का वेग ये सब बातें पानी की शुद्धि कर रही हैं।

५—लोहे को लाल गरम करके या मिट्टी के ढेले को पकाकर पानी में बुझाने से भी पानी का शोधन हो जाता है। वह पानी हलका होता है। शीघ्र पच जाता है। दोनों का अनुलोमन करता है। गरम किये हुये पानी के समान गुण रखता है।*

ऋतुओं के अनुसार पानी का उपयोग—हेमंत तथा शिशिर-ऋतु में सरोवर और तड़ाग का पानी हितकर है। बसन्त और ग्रीष्म-ऋतु में कुयें का पानी या बावली अथवा झरने का पानी पीना चाहिये। बरसात में पुराना पानी अर्थात् तड़ाग या सरोवर का पानी, अथवा कुयें का पानी पीना चाहिये। शरद् ऋतु में नदी का पानी या जो पानी दिन भर सूर्य की किरणों से गरम होता हो और रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से ठंढा हो रहा हो, उसको पीना चाहिये। यह पानी अन्तरिक्ष के पानी के समान गुणकारी होता है। वैद्य विद्या एक प्राचीन विद्वान का कहना है कि "पौष में सरोवर का, माघ मास में तालाब का, फाल्गुण में कुयें का, चैत्र में पहाड़ी के चश्मे का, बैशाख में झरने का, ज्येष्ठ में चश्मे का, अषाढ़ में कुये का, श्रावण में आकाश से गिरने वाला, भाद्रपद में कुये का; आश्विन में पहाड़ के चश्मे का और कार्त्तिक तथा मार्गशीर्ष में सब जलाशयों का पानी पीने लायक होता है।

सब प्रकार के भूमि जलों का संग्रह प्रतिदिन प्रातःकाल में करना

*विस्तार के लिये लेखक की स्वास्थ्य विज्ञान पुस्तक देखिये।

चाहिये । उस समय पानी में स्वच्छता, शीतता और समयों से अधिक होती है । पानी के यही दो शुद्धता और शीतता सबसे बड़े गुण हैं ।

खराब पानी से होनेवाले रोग

अच्छा पानी जहाँ शरीर का पोषण करता है, वहाँ खराब पानी बहुत-से रोगों को शरीर में उत्पन्न करता है । पानी के द्वारा बहुत-से रोग एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँच जाते हैं । इसमें कई रोग पानी के सबब ही से फैलते हैं । उदाहरण के लिये—

ज्वर—टाईफ़ाइड ज्वर का कीटाणु इस पानी के द्वारा बहुत दूर तक फैल सकता है । मलेरिया ज्वर का पराश्रयी इस पानी की सहायता ही से अपनी ज़िन्दगी व्यतीत करता है । यदि पानी में इनको नष्ट कर दिया जाय, तो मनुष्य इनसे बच सकते हैं । इसकी सरल उपाय यह है कि बरसात का पानी जिन गड्ढों में भरा हो, उनको या तो भठवा दिया जाय, या उनके किनारों पर मिट्टी का तेल डाल दिया जाय । इससे ये पराश्रयी मर जायँगे ।

अतिसार-संग्रहणी—हैजा या अतिसार पानी के खराब होने से होता है । हैजे का कीटाणु पानी में बहुत देर तक रह सकता है । पानी में घुली गन्दगी से, या बरसात ऋतु में यह रोग विशेषरूप से होता है । यदि पानी को उबालकर पिया जाय, तो इन रोगों से बचा जा सकता है ।

अजीर्ण-कब्जीयत—कई स्थानों का पानी मल को रोक देता है । इससे पाचन-शक्ति मन्द पड़ती है । इस बात का प्राय: सबको कहीं न कहीं अनुभव हो जाता है । कहीं का पानी ख़ूब भूख लगाता है, कहीं का कम करता है ।

कृमि जन्तु—खराब पानी से शरीर के अन्दर और बाहर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं । स्वच्छ पानी कृमियों को नष्ट भी करता है । कई प्रकार के कृमि इसी पानी के आश्रय से जीते हैं ।

नारवा—यह एक प्रकार का कीड़ा होता है, जो कि ३-४ फ़ीट लम्बा, धागे के समान पतला होता है । यह कीड़े अन्दर नहाते या पीने के साथ शरीर में पहुँच जाते हैं और बहुत ही अधिक कष्ट देते हैं ।

इनके सिवा हाथी-पग (एलफिन्टायसिस), जिसमें कि पाँव बहुत

जाता है; कद्दूदाना (हुक वार्म) आदि कृमि मनुष्य के शरीर में पहुँच जाते हैं और शरीर का नुकसान करते हैं। यह भी देखा गया है कि कृमि या जोंक योनि-मार्ग से शरीर के अन्दर पहुँचते हैं और हानि करते हैं।

त्वचा के रोग—दाद, कण्डू, खुजली आदि रोगों के उत्पन्न होने में पानी बड़ा भारी सहायक है। इन वस्तुओं को पानी का बड़ा सहारा रहता है। जन्तु-नाशक दवाइयों से ये रोग नष्ट हो जाते हैं।

पथरी—कई स्थानों के पानी में कई प्रकार के क्षार, यथा—मैगनेसियम, कैलसियम आदि मिले होते हैं। ऐसे पानी के पीने से शरीर में भी क्षार बढ़ जाते हैं। इन क्षारों को मूत्राशय का छनना साफ नहीं कर सकता। अतः उसी छनने में या वृक्क में इकट्ठे होकर ये पथरी को बना देते हैं। लोगों की यह मिथ्या धारणा है कि मिट्टी या कंकड़ी खाने से यह उत्पन्न होता है।

पानी का औषध के रूप में उपयोग

कई रोगों में पानी "अमृत" का काम करता है। जहाँ यह अशुद्ध पानी कई प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है, वहाँ शुद्ध पानी कई रोगों को शान्त भी करता है। ऊपर कहे हुये रोगों से बचने के लिये पानी को शुद्ध करके—उबालकर काम में लाना चाहिये। औषध या उपचार के रूप में दोनों प्रकार का पानी—शीत और उष्ण—काम में आता है। इस पानी का उपयोग किस प्रकार से किया जाता है, उसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

शीतोपचार

शीत पानी रक्तस्तम्भक, दाह-शमक, संकोचक और शान्ति देनेवाला है। बहते हुये रक्त को रोकता है; गरमी को शान्त करता है, नसों को ताकत देता है। नीचे लिखे रोगों में बहुत अधिक उपयोगी है।

रक्त का स्राव—(क) नकसीर—नाक से जब रक्त गरमी के कारण निकलता हो, उस समय शिर पर ठंडे पानी का उपयोग धारा के रूप में करने से नकसीर रुक जाती है। यदि इस प्रकार रक्त न रुके, तो नाक के अन्दर पानी के छींटे डालने चाहियें; या ठंडे पानी में कपड़े की पतली बत्तियों को गीला करके नाक में रखना चाहिये। (ख) किसी स्थान में घाव या चोट लगने से उसी समय गीले पानी की पट्टी बाँधने से रक्त का बहाव

रुक जाता है, पीड़ा शान्त हो जाती है और थोड़े दिन में घाव भर जाता है। (ग) अंडकोश आदि पर चोट लगने से या प्रसूति के पश्चात् गर्भाशय से रक्त के अधिक बहने पर; अण्डकोश या गर्भाशय पर पानी की गद्दी रखने से या बर्फ की थैली रखने से रक्तस्राव रुकता है, पीड़ा दूर होती है और सूजन घटती है। (घ) गर्भपात या गर्भस्राव होने का डर हो, तो उसी समय बिस्तर पर लेटकर पेड़ू, गर्भाशय पर ठंडे पानी की गद्दी रखनी चाहिये। (ङ) जवानों में वीर्य-स्राव को रोकने के लिये रात्रि के समय शिश्न को ठंडे पानी से धोकर सोना चाहिये। (च) स्त्रियों में जब ऋतुस्राव अधिक मात्रा में आता हो, उस समय इस पानी का उपयोग उस स्राव को कम कर देता है।

संकोचन—ठंढा पानी स्नायुओं को सिकोड़ता है। इससे किसी स्थान पर चोट लगने से, जब स्थान सूज गया हो, उस समय ठंढे पानी की गद्दी दर्द को और सूजन को कम करती है। प्रदर—स्त्रियों के अन्दर में योनिमार्ग से निकलता हुआ श्वेत लाल-सा पानी ठंढे पानी की पिचकारी से बन्द हो जाता है। इसी प्रकार बच्चों को गुदभ्रंश—गुदा का नीचे निकल आना या स्त्रियों में कमलमुख का योनिमार्ग से निकलना, शीत पानी के उपचार से बन्द हो जाता है।

दाह-शमक—ठंढा पानी शरीर के अन्दर या बाहर के दाह को बन्द करता है। जब ज्वर के कारण शरीर खूब गरम हो रहा होता है, और ताप परिणाम बढ़ा होता है, उस समय विज्ञ चिकित्सक रोगी को शीत पानी से स्नान कराते हैं। शीत बस्ति देते हैं, सिर पर ठंढे पानी की पट्टी रखते हैं। इसी प्रकार आँख के गरमी से दुखने पर शीत पानी का परिषेक दो-तीन बार करने से सूजन और जलन घट जाती है। ऊपरवार या हिस्टीरिया आदि रोगों में मूर्च्छा दूर करने में ठण्ढे पानी के छींटे, शिर और मुँह पर देने चाहियें। इससे मूर्च्छित आदमी होश में आजाता है।

उष्णोपचार

जिस प्रकार शीत पानी कई रोगों में फ़ायदा करता है, उसी प्रकार गरम पानी भी कई रोगों में लाभ करता है। यथा--सेक करने में, भपारा देने में, पिचकारी—गलाले करने में, पानी में बैठने से लाभ होता है।

सेक—सब प्रकार के दर्दों में, चाहे पसलियों का हो, या पेट

का या सूजन का हो, सब स्थानों पर गरम पानी का सेक बड़ा लाभ करता है। इस सेक के लिये पानी को उबाल देना चाहिये और उसमें दो ऊनी फलालैन के वस्त्र डाल देने चाहियें। फिर एक-एक वस्त्र को निकालकर, निचोड़कर स्थान पर रखना चाहिये। तीन मिनट बाद दूसरा कपड़ा निचोड़कर उस स्थान पर रखना चाहिये; और पहिला कपड़ा पानी में गेर देना चाहिये। इस प्रकार बारी-बारी से सेक करना चाहिये। मूत्र रुकने पर भी पेड़ू पर किया हुआ सेक पेशाब को ला देता है।

भपारा—गरम पानी का वाष्प नाक और मुँह से लेने पर शरीर मे पसीना आता है. और कफ बाहर निकलता है, शरीर हल्का पड़ता है। सरदी—इन्फ्लुयञ्जा आदि रोगों मे भाप लेना अच्छा है।

पिचकारी—कठोर मलबन्ध की अवस्था में, जब कि विरेचन की दवाई लाभ नहीं करती, उस समय गरम पानी की पिचकारी लाभ करती है।

गलाले—मुँह के दर्दों मे, दाँत के रोगो में पानी को गरम करके उसमे नमक डालकर गलाले करने मे पीड़ा शान्त होती है। दाँत उखाड़ने के पीछे पानी से गलाले करने पर रक्त बन्द हो जाता है।

स्नान—कई रोगों मे पानी के अन्दर बैठना बहुत लाभदायक है। पानी से कई रोगों का इलाज इसी स्नान विधि से हो जाता है। आक्षेप, मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में पानी के अन्दर बैठने मे रोग शान्त हो जाता है। गरम पानी इतना होना चाहिये, जितना कि सहा जा सके। स्त्रियों के ऋतु-दोष में, जब कि रज कठिनता से आता हो, उस समय पानी के अन्दर बैठना अति लाभदायक होता है।

प्रकरण तीसरा

खान-पान

भोजन की आवश्यकता—शरीर के अन्दर से कई पदार्थ बाहर निकलते रहते हैं। यथा—मलरूप में, पसीने के रूप में। इन निकले हुये पदार्थों को पूरा करने के लिये वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। इसके अतिरिक्त रात-दिन कार्य करने में भी शक्ति का व्यय होता है; उस शक्ति को पूरा करने के लिये भी भोजन की आवश्यकता रहती है।

यह शरीर एक एंजिन की भाँति है। एंजिन को चलाने के लिये कोयला और पानी की जरूरत रहती है। कोयले के जलने से पानी गरम होकर उसको चलाने की शक्ति देता है। जले हुये कोयलों को राख के रूप में फेंक दिया जाता है। यही कार्य अपने इस शरीर में भी होता है। भोजन शरीर में अग्नि उत्पन्न करता है, उस अग्नि के कारण यह शरीर गति करता है। यदि शरीर में भोजन न जाय, तो अग्नि कम हो जाती है। अग्नि के कम होने से शक्ति भी घट जाती है।

इसके अतिरिक्त शरीर के अन्दर टूटना-फूटना और बनना लगा रहता है। यदि शरीर के अन्दर सदा टूटना ही रहे और उसकी मरम्मत न हो, तो कुछ समय बाद सारा शरीर क्षीण हो जाय। इसी प्रकार यदि शरीर के अन्दर सदा बनना ही रहे, तो कुछ समय पश्चात् शरीर के अन्दर जमा हो जायं। यदि आय और व्यय का खाता समान रक्खा जाय, तो किसी प्रकार हानि नहीं आती—यह स्वस्थ अवस्था होती है। और जब आय कम हो और व्यय अधिक हो, तो कुछ दिनों में दिवाला निकल जाता है। और यदि आय अधिक हो और व्यय कम हो तो, पेट में जमा हो जाती है; जिससे पेट बढ़ जाता है। ये पिछली दोनों अवस्थायें रोग की हैं। होना यह चाहिये कि शरीर में जितना खर्च हो, उतना ही उसमें जमा भी हो जाय। दिनभर की मेहनत से, या व्यायाम से (चाहे वह शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का क्यों न हो) जो कमी शरीर में आती है, उसको प्रतिदिन

पूरा कर लेना चाहिये। इसके साथ टूटना-फूटना, बनना आदि यह तो लगा ही रहता है। विज्ञान-शास्त्रियों का कहना है कि सात साल के पश्चात सम्पूर्ण शरीर बदल जाता है। इसका अर्थ यह है कि शरीर के परमाणु बदल जाते हैं। अर्थात अस्थि का जो परमाणु आज है, सात वर्ष के पश्चात उसकी जगह दूसरा परमाणु ले लेता है। इस परमाणु के भी गुणदोष प्रथम परमाणु के अनुसार होते हैं।

इन परमाणुओं का निर्माण खाये हुये भोजन या आहार से होता है। यह आहार प्रत्येक मनुष्य के लिये भिन्न-भिन्न होता है। बचपन में जो आहार पर्य्याप्त समझा जाता है, युवावस्था में उससे कहीं अधिक आहार की ज़रूरत होती है। बचपन में जो पदार्थ शरीर के लिये आवश्यक नहीं समझे जाते, युवावस्था में उनकी ज़रूरत पड़ जाती है। इसी प्रकार कार्य-भेद से, रहन-सहन के कारण आहार की राशि में, उसके घटकों में परिवर्त्तन आ जाता है। मेहनत करनेवालों के लिये, कम मेहनत करनेवालों की अपेक्षा अधिक भोजन चाहिये। इसी प्रकार जवान पुरुषों को बच्चे और बूढ़े की अपेक्षा अधिक भोजन चाहिये।

इसके अतिरिक्त कई पुरुष प्रकृति से बलवान होते हैं। वे शीघ्र भोजन को पचा लेते हैं। उनको अधिक भोजन की ज़रूरत रहती है। और कइयों को दो पतली चपातियाँ भी हज़म नहीं होतीं। उनको कम भोजन चाहिये। इसलिये भोजन की मात्रा निश्चित करनी असम्भव है।

दूसरी बात यह है कि कोई वस्तु जल्दी पच जाती है। जैसे चावल का भोजन गेहूँ या बाजरे की अपेक्षा जल्द पच जाता है। जिस पदार्थ में घी और शर्करा अधिक होती है, वह भोजन देर में पचता है। इसी प्रकार कोई भोजन राशि में थोड़ा होने पर भी शरीर को अधिक शक्ति देता है। यथा घी और मीठा। और कोई भोजन राशि में अधिक शक्ति नहीं देता। यथा चावल। जिस प्रकार मजबूत खैर या कीकर अथवा बेर की लकड़ी का कोयला अथवा पत्थर का कोयला जितनी कम राशि में जितनी तेज आँच दे सकता है; उतनी आँच, उसी राशि में ढाक की लकड़ी का कोयला नहीं दे सकता। इसलिये भोजन की मात्रा का निश्चित करना सर्वथा असम्भव रहता है।

साधारणतः एक युवा व्यक्ति के लिये चालीस तोला भोजन कम से

कम होना चाहिये और अधिक से अधिक ८० से १०० तोला तक। मल्ल-कुश्ती करनेवाले या मथुरा के चौबों को इस राशि से दुगना, तिगुना चाहिये।

दृढ़ मजबूत शरीर, ऊँचा डील-डौल, प्रबल जठराग्नि, पुष्कल खान-पान, उत्तम बुद्धि, ये ईश्वरीय कृपा की निशानियाँ हैं, जोकि पुण्य से प्राप्त होती हैं। छोटा-नाटा शरीर, कमजोर-रोगी देह, मन्द जठराग्नि, थोड़ा खान-पान, बुद्धि का अभाव, ये वस्तुयें ईश्वरीय अपकृपा के चिह्न हैं, जोकि पाप के कारण प्राप्त होती हैं।

शरीर और मन के श्रम के कारण जो कमी होती है, उस कमी को पूरा करने के लिये अन्न ग्रहण करने की जो रुचि होती है, उसका नाम है "भूख"। भूख लगने पर प्रत्येक मनुष्य को आहार—भोजन लेना चाहिये। यदि कम मात्रा में लिया जायगा, तो शरीर को पूरा नहीं पड़ेगा, इससे शरीर निर्बल रहैगा। और अधिक लेने से, वह पूरा पचेगा नहीं, बेकार जायगा। और शरीर से बाहर न निकला, तो रोग उत्पन्न करेगा।

खुराक के वर्ग

भोजन के दो मुख्य विभाग हैं। १—वनस्पति और २—मांस। वानस्पतिक भोजन करनेवालों को निरामिष-भोजी कहते (Vegetarian) कहते हैं, और मांस भोजन करनेवाले को आमिष-भोजी (Non-Vegetarian) कहते हैं। आमिष-भोजी मनुष्यों के भोजन में वानस्पतिक पदार्थ भी होते हैं। उनके भोजनों में भी अधिक भाग वनस्पति से बने पदार्थों ही का होता है।

यद्यपि घी और दूध भी प्राणी से उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनको वनस्पति ही में गिना जाता है; क्योंकि घास-पत्ते आदि खानेवाले पशुओं का ही दूध बरता जाता है। वह दूध वनस्पति से बनता है। कुछ लोग "अण्डे" को "मांस" नहीं गिनते। परन्तु "अण्डा" स्त्री और पुरुष के रज और वीर्य से उत्पन्न होता है। और उसी अण्डे से कुछ समय बाद बच्चा भी उत्पन्न हो जाता है। अतः वह भी मांस ही में गिना गया है।

मनुष्य के लिए कौन-सा आहार उत्तम है; इस विषय में बहुत वाद-विवाद है। जिसकी चर्चा यहाँ पर उठाना निरर्थक है। आहार से शरीर, मन और बुद्धि का पोषण होता है। यदि आहार पवित्र, सात्त्विक होगा, तो यह शरीर, मन और बुद्धि भी पवित्र एवं सात्त्विक बनेगी और यदि आहार मैला,

अपवित्र, तामसिक होगा, तो मन और बुद्धि भी वैसी बनेगी । इसलिये सात्विक आहार, जोकि वनस्पतियों से प्राप्त होता है, उसकी ओर ही ध्यान रखना चाहिये । इसलिये मनुष्य का वास्तविक भोजन वानस्पतिक है ।

जीवन के लिये उपयोगी खुराक

हम ½ सेर या एक सेर भोजन करते हैं । यह सारा भोजन हमारे शरीर में नहीं लग जाता । बहुत-सा भाग बाहर निकल जाता है । इसी प्रकार हम दूध, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, दाल, मूंग आदि कई पदार्थ खाते हैं । ये सब बदलकर हमारे शरीर में सात धातु ही बनाते हैं । इससे प्रतीत होता है कि हम भोजन चाहे किसी रूप में क्यों न लें, अन्त में वह एक रूप में आजाता है । विज्ञान-शास्त्रियों ने परीक्षा करके यह बताया है कि कोई भी भोजन आप किसी भी रूप में खाइये—चाहे आप चावल और दूध खाइये, चाहे दाल चावल खाइये और चाहे खीर खाइये, ये सब उन्हीं रूपों में आजायेंगे । ये रूप पाँच हैं । इनको तत्त्व कहते हैं । चूँकि इन रूपों के पश्चात् और परिवर्त्तन इनमें नहीं आता; अतः इन तत्त्वों को जीवनोपयोगी "तत्त्व" कहते हैं । यथा १—पौष्टिक । २—चरबीवाले । ३—आटे सत्त्व भाग जिसको स्टार्च या निशास्ता कहते हैं । ४—क्षार और ५—पानी ।

शरीर के सब तत्त्व, सातो धातु-रस, रक्त, मेद आदि, मंद आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, सब का पोषण इन्हीं पाँच तत्त्वों से होता है । इसलिये अपने प्रतिदिन के भोजन में इन पाँच तत्त्वों का होना आवश्यक है ।

पौष्टिक-खुराक शरीर के पोषण और वृद्धि के लिये आवश्यक है । प्राय: सब धान्यों में थोड़ा या बहुत पौष्टिक तत्त्व होता है । परन्तु यदि घी, मक्खन अथवा शर्करा प्रतिदिन खाई जायँ, तो शरीर में यह पदार्थ नहीं पहुँचता । इसी प्रकार साबूदाने में मुख्य पदार्थ स्टार्च का है । पौष्टिक पदार्थ शरीर में गरमी देते हैं । जिस समय शरीर के अन्दर ज्वर आदि से गरमी बढ़ जाती है, उस समय भोजन बन्द करके लंघन या उपवास करते हैं । अथवा विरेचनों द्वारा शरीर की गरमी बाहर करते हैं । और जब गरमी घट जाती है, उस समय नत्रजनवाले पदार्थ गेहूँ आदि या फल विशेषरूप में दिये जाते हैं । फलों में पौष्टिक पदार्थ पर्य्याप्त मात्रा में रहता है । ये पदार्थ शरीर-रूपी एंजिन में कोयला या ईंधन का काम करते हैं ।

चरबीवाले

पदार्थों में घी, तेल, मक्खन और चरबी आती है। अनाजवाले पदार्थों में चिकनाई का भाग कम से कम एक प्रतिशतक गेहूँ में है और अधिक से अधिक छः प्रतिशतक मकई में है। चरबीवाले पदार्थ शीत ऋतु में विशेष खाने चाहियें। उस समय जठराग्नि प्रबल होती है और शरीर का बल बढ़ा होता है, अतः सब पच जाता है।

आटे का—सत्त्व अर्थात् स्टार्चवाले पदार्थों में मुख्य शक्कर, खाँड़, गुड़, चावल और दूसरे धान्य हैं। शरीर के अन्दर जो श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती है, वह "कार्बन" नामक एक पदार्थ से होती है। और यह "कार्बन" इस खूराकवाले पदार्थों में से और चरबीवाले पदार्थों में से उत्पन्न होती है। गरम देशों में तथा ग्रीष्म-ऋतु में स्टार्ची तत्त्ववाले पदार्थ अधिक अनुकूल होते हैं, अतः गर्मियों में खाँड़ का शर्बत या चावल उत्तम रहता है

क्षार—शरीर का प्रत्येक भाग क्षार के मिलने से बना है। दूध में भी क्षार का भाग होता है। रक्त में भी क्षार का भाग होता है। भोज्य पदार्थों में प्रायः थोड़ी बहुत मात्रा में क्षार अवश्य रहता है। अस्थियों का निर्माण प्रायः क्षार ही से होता है। अस्थियों के पोषण के लिये क्षार की आवश्यकता रहती है। क्षार की कमी के कारण अस्थियाँ निर्बल रहती हैं। बच्चों की अस्थियाँ प्रायः मुड़ जाती हैं। उनका कारण भी क्षार की कमी है। छोटे बालकों का पोषण केवल दूध से होता है, उसमें भी क्षार होता है। शरीर को उचित मात्रा में क्षार चाहिये। अधिक खाने से यही क्षार शरीर को नुकसान पहुँचाता है।

पानी—शरीर के पोषण के लिये पानी की आवश्यकता है। यह पानी द्रव के रूप में शरीर के अन्दर पहुँचता है। रक्त की नियमित गति के लिये रक्त में प्रवाहीपन की आवश्यकता है। यदि शरीर के रक्त में प्रवाहीपन कम हो जाय, तो रक्त गाढ़ा हो जायगा, जिससे सुगमता से नहीं बह सकता। यह प्रवाही पदार्थ पानी की भाँति भोजन में से भी शरीर को मिलता रहता है। गेहूँ, बाजरा, मकई, चावल में भी पानी का भाग है। तरकारी, शाक, भाजी में तो पानी पर्य्याप्त होता है।

शरीर के पोषण के लिये इन पाँचों तत्वों में से कौन पदार्थ कितना चाहिये, इसका साधारण हिसाब नीचे दिया जाता है। परन्तु शरीर की प्रकृति के लिहाज से, कार्यक्रम के भेद से इसके अन्दर परिवर्त्तन आवश्यक होता है।

पौष्टिक तत्त्वोंवाली खूराक—नित्य		१० रु० भार	१ रु० = १ तोले के
चरबीवाले	खूराक	८ रु० भार	
आटे का सत्त्व	खूराक	३० रु० भार	
क्षार	खूराक	४ रु० भार	
पानी		१५० रु० भार	

पानी या प्रवाही तत्त्व प्रायः सब पदार्थों में रहता है। चरबीवाले पदार्थों में इसकी मात्रा नहीं के बराबर होती है। ऊपर जो परिमाण दिया गया है, उनमें पानी का अंश निकालकर दिया है। और यदि इन तत्त्वों को पानी के साथ गिना जाय, तो परिमाण दुगुना आयेगा। अर्थात् ऊपर कुल ५२ तोले खूराक का वजन दिया है। पानी का अंश मिलाकर १०४ तोला अंश आयेगा। और पानी इससे अलग रहा। मिश्र तत्त्वों में ये तत्त्व मिले रहते हैं। उदाहरण के लिये एक मनुष्य को प्रतिदिन ४ तोला क्षार चाहिये। यह क्षार चाहे तो क्षार—नमक के रूप में ४ तोला खाया जाना चाहिये, अथवा अन्य पदार्थों के साथ में—यथा फलों के रूप में—शरीर के अन्दर जाना चाहिये। इस प्रकार से उन पदार्थों ही से ४ तोला क्षार पूरा हो जाना चाहिये। अर्थात ये पदार्थ किसी न किसी प्रकार से इस मात्रा में शरीर के अन्दर जाने चाहियें। घी को चाहे घी के रूप में खायें, या दूध या दही के रूप में शरीर के अन्दर लें। ये दोनों बातें एक ही हैं। घी की मात्रा ८ तोला होनी चाहिये।

खूराक की मुख्य चीजों में पाँच तत्त्वों का प्रमाण बतानेवाला कोठा

खूराक की मुख्य चीजों में पौष्टिक तत्त्व (नाइट्रोजन), चरबी (फैट), आटे का सत्त्व (स्टार्च), क्षार और पानी प्रति सैकड़े में कितना भाग है, इस बात को निचला कोठा बताता है। चरबीवाले और स्टार्चवाले पदार्थों में कार्बन अधिक होती है।

१०० भाग में (एक सौ भाग में)					
भोजन की चीजें	नाइट्रोजन वाला पौष्टिक तत्त्व	चरबी का सत्त्व	स्टार्च अर्थात् आटे का तत्त्व	क्षार का तत्त्व	प्राणी का प्रवाही तत्त्व
चावल	५	० ३/४	८३ १/४	० १/२	१०
साबूदाना	०	०	८२	०	१८
गेहूँ	१४ १/२	१	६९	१ १/२	१४
ज्वार	१२ १/२	४	७०	१ १/२	१२
बाजरा	१०	४ १/२	७१ १/४	२ १/२	११ ३/४
मूंग	२२ १/४	२ १/२	५४	५ ३/४	१० ३/४
चना	२२	३	६२	२	११
उड़द	२४ १/२	१ १/४	५८ १/२	३	१२ १/२
अरहर	२२	१	६२	३	१०
लोभिया	२२	२	५३	२	१५
मसूर	२५	१ १/४	६०	२	११ ३/४
जव	१३	२	६८	२	१५
मकई	१०	६ ३/४	६४ १/२	१ १/२	१३ १/२
कुलथी	२३ १/४	२ १/२	५९ १/२	३ १/४	१५
आलू	१ १/२	१/१०	२३ १/२	१	१३ १/२
गोभी	१/४	१/२	५ १/२	३/४	१२
गाजर	१/२	१/४	८ १/२	३/४	७४
कशेरकंद	०	०	९६ १/२	१/२	९१
दूध	४	३ ३/४	५	१/२	८५
मक्खन	० १/४	९१	०	२ १/२	३
घी	०	१००	०	०	८६ ३/४
अण्डा	१३	११ १/२	०	१	६
बकरी का मांस	२२	८	०	१ १/२	०
मछली	१४	७	०	०	७३ १/२

विज्ञान-शास्त्रियों ने भोजन का विश्लेषण करके उसके अन्दर कौन पदार्थ कितनी मात्रा में है, इसका हिसाब लगाया है। उसीको बताने के लिये ऊपर का कोठा है। शरीर को जब जिस समय वस्तु की आवश्यकता हो, उसीके अनुसार वह पदार्थ भोजन कर लेना चाहिये।

गुणों के अनुसार भोजन के दो भेद हैं। १—पुष्टिकारक खूराक और २—गरमी देनेवाला भोजन। शरीर के भागों को जो भोजन पुष्टि देते हैं, उनको पुष्टिकारक भोजन कहते हैं। और जो भोजन शरीर को गरमी देते हैं, उनको गरमी देनेवाला भोजन कहते हैं। पुष्टिकारक पदार्थों में नाइट्रोजन का भाग अधिक रहता है, और गरमी देनेवाले पदार्थों में "कार्बन" नामक पदार्थ अधिक होता है। गरमी देनेवाले पदार्थ शरीर की गरमी को एक समान रखते हैं। सर्दियों में जब पारा ३२ डिग्री से भी नीचे उतर जाता है, वहाँ पर भी शरीर की गरमी एक समान रहती है। सर्दियों में गरमी देनेवाले पदार्थ विशेष रुचिकर होते हैं और वे पच भी जाते हैं। गरमियों में जब कि गरमी की आवश्यकता नहीं होती, उस समय ये पदार्थ हानि करते हैं। यही कारण है कि शरीर का ताप सब ऋतुओं में एक समान रहता है। इस अग्नि या ताप के ऊपर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर रहता है।

जिस प्रकार के भोजन से शरीर के अन्दर यह गरमी रहती है, उस प्रकार के भोजन के अन्दर दो प्रकार के तत्त्व हैं। एक "कार्बन" और दूसरा "हाइड्रोजन"। ये दोनों पदार्थ ऑक्सीजन के साथ मिलकर शरीर के अन्दर गर्मी पैदा करते हैं। इनमें "कार्बन" का वर्णन पहले कुछ आ चुका है। यह हाइड्रोजन बड़ी जलनेवाली होती है और सब प्रकार की वायुओं से हल्की है। इधर "कार्बन" भी जलने का गुण रखता है। "ऑक्सीजन" (प्राण-वायु) स्वयं नहीं जलती; परन्तु जलने में सहायता करती है। इसकी उपस्थिति के बिना ज्वलन नहीं हो सकता। अब जब यह ज्वलन किसी व्याधि या भोजन की कमी से कम हो जाता है, या बढ़ जाता है, तो शरीर रुग्ण हो जाता है।

जिस प्रकार एंजिन में अधिक कोयला डालने से आग भी तेज जलती है, उसी प्रकार पौष्टिक भोजन के खाने से शरीर के अन्दर विशेष

शक्ति आती है। रक्त की गति बढ़ जाती है, उसमें जोर आजाता है। रक्त शिर, हृदय और यकृत में ज़ोर से दौड़ने लगता है। यदि शरीर निर्बल हो और इस गरमी को शरीर थाम न सके, तो कई रोग हो जाते हैं। अतः पौष्टिक भोजन खानेवालों को उसी प्रमाण में मेहनत करनी चाहिये।

भोजन इस प्रकार का होना चाहिये कि शरीर के लिये उपयोगी सब पदार्थ उसमें से मिलते जायँ। घी, मक्खन, अण्डा आदि में नत्रजनीय पदार्थ बिलकुल नहीं होता। केवल एक वस्तु "दूध" ऐसा है, जिसमें शरीर के उपयोगी सब पदार्थ होते हैं और उचित आवश्यक मात्रा में रहते हैं। घी में केवल चर्बी है, चावलों में आटे का सत्त्व अधिक है, दाल में पौष्टिक पदार्थ अधिक है; इसलिये इन सब को खाने से मनुष्य का आहार पूरा होता है। दाल में पड़ा नमक सार को पूर्ण करता है। बालकों को चरबी की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी युवकों को रहती है। गेहूँ में चरबी का भाग बहुत कम होता है—अतः घी लगाकर खाना चाहिये। तरकारी—शाक भाजी में विशेषतः पानी और क्षार की मात्रा अधिक रहती हैं। चूँकि भूमि के कारण ये दोनों पदार्थ उनमें बहुत पहुँचते हैं, अतः क्षार की कमी के लिये शाक-भाजी की जरूरत इन से पूरी होती है। इसके अतिरिक्त इनको "व्यञ्जन" कहते हैं। इनके कारण भोजन में रस-स्वाद आता है। अतः इनको अवश्य खाना चाहिये।

भोजन के छः रस—शरीर के लिये आवश्यक भोजन में जो भी रस हमको लगते हैं, उन सबका अन्तर्भाव नीचे लिखे छः रसों में हो जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि "रस" पानी के अन्दर ही है। जबतक पानी न मिले, कोई पदार्थ रस उत्पन्न नहीं कर सकता। ये रस छः हैं। यथा—मीठा, खट्टा, खारा, तीखा, कड़वा और कषाय। ये रस नीचे लिखे तत्त्वों से मिलकर बनते हैं।

पृथ्वी और पानी के गुण की अधिकता से मीठा—मधुर रस उत्पन्न होता है।

पृथ्वी और अग्नि के गुण की अधिकता से खट्टा—अम्ल रस उत्पन्न होता है।

पृथ्वी और वायु के गुण की अधिकता से तुर—कषाय रस उत्पन्न होता है।

पानी और अग्नि के गुण की अधिकता से खारा—लवण रस उत्पन्न होता है।

वायु और अग्नि के गुण की अधिकता से तीखा—तिक्त रस उत्पन्न होता है।

वायु और आकाश के गुण की अधिकता से कड़ुवा—कटु रस उत्पन्न होता है।

इन रसों के गुण निम्न प्रकार से हैं—

मधुर रस—रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य और ओज तथा स्त्रियों के दूध को बढ़ाता है। आँख के लिये हितकारी है, बाल और वर्ण को उत्तम-स्वच्छ करता है। बलवर्द्धक है। टूटे हुए अंगों को शीघ्र जोड़ देता है। बालक, वृद्ध और चोट या व्रण से क्षीण मनुष्य के लिये हितकारी है। तृषा, मूर्च्छा और दाह को शान्त करता है। सब इन्द्रियों को प्रसन्न करता है। कृमि और कफ को बढ़ाता है। यही रस अधिक खाने पर कास, श्वास, अलसक, उल्टी, मुँह में बेहद मीठा स्वाद, स्वर-भंग, कृमि रोग और गलगण्ड उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त अर्बुद, श्लीपद, वस्ति रोग, अभिष्यन्द, मधु-प्रमेह उत्पन्न कर देता है।

अम्ल रस—आहार को जारण करनेवाला, भोजन को पचानेवाला, दीपन, वायु को कम करनेवाला, मल-मूत्र आदि वेगों को निकालनेवाला, कोष्ट में विदाह करनेवाला, क्लेदन—शरीर के अंगों को गीला करनेवाला, और रुचिकर होता है। बाहर लेप करने से शरीर को ठण्डा करता है। इसके अति सेवन से दाँतों में अम्लता—जड़ता उत्पन्न करता है। आँख को बन्द करना, शरीर को रोमाञ्चित करना, श्लेष्मा का नाश, शरीर में शिथिलता उत्पन्न करता है। यही रस व्रणों को पकाता है और कण्ठ, छाती तथा हृदय पर जलन—खट्टास उत्पन्न करता है।

लवण रस—शरीर का शोधन करता है, भोजन या दोषों को पचाता है, कफ को या अन्य पदार्थों को अलग-अलग करता है; शरीर को

गीला रखता है, शिथिलता उत्पन्न करता है, सब रसों के विपरीत है, सम्पूर्ण शरीर को कोमल बनाता है। इसके अति सेवन से खुजली, कोढ़, शोथ—विवर्णता, पुरुषार्थ का नाश, शुक्र का नाश होता है, मुख और आँखों की शक्ति को कम करता है (सैन्धा नमक को छोड़कर) रक्त को बिगाड़कर वात, रक्त-रोग उत्पन्न करता है। इसके अधिक सेवन से भी अम्लता उत्पन्न होती है।

तिक्त रस—(लाल मिर्च आदि)—अग्नि-दीपक, पाचक तथा मल-मूत्र का शोधन करता है। कण्डू, कोठ, तृष्णा, मूर्च्छा और ज्वर को कम करता है। दूध का शोधन करता है। मल-मूत्र, पसीना, मेद, वसा को सुखाता है। इसके अधिक सेवन करने से ग्रीवा की नसें जकड़ जाती हैं, नाड़ियाँ खींचती हैं, शरीर में पीड़ा होती है, चक्कर आते हैं. शरीर टूटता है, मुँह का स्वाद बिगड़ता है।

कटु रस—दीपन, पाचन, मल-मूत्र का शोधन करनेवाला, स्थूलता को घटाता है। आलस्य को दूर करता है, कफ, कृमि और कुष्ठ तथा कण्डू को नष्ट करता है। सन्धियों को ढीला करता है, उत्साह कम करता है; दूध, वीर्य और चर्बी का नाश करता है। इसके अति सेवन से भ्रम, मद, गले, तालु और ओठ में शुष्कता आती है। बल की हानि होती है। कम्प, पीड़ा आदि रोगों को उत्पन्न करता है। हाथ-पाँव आदि में वायु उत्पन्न करके दर्द करता है।

कषाय रस—मल को बन्द करता है, व्रण को भरता है, रक्त को रोकता है, मूत्र का शोधन करता है, कफ आदि का लेखन करता है, कफ आदि का शोष उत्पन्न करता है, गीलेपन को सुखाता है, पस को कम करता है। इसके अति सेवन करने से हृदय में पीड़ा होती है, मुँह सूखता है, पेट में अफारा होता है, नसें जकड़ जाती हैं, शरीर काँपता है, शरीर संकुचित होता है।

भोजन में नित्यप्रति छः रसों का उपभोग करना चाहिये। कड़ुवा रस और कषाय रस प्रायः स्पष्ट रीति से खाने में नहीं आता। परन्तु यह रस भी दातुन के रूप में या अन्य रूप में शरीर के अन्दर पहुँचता है। सब

रसों का खाना ही शरीर को स्वस्थ रख सकता है। तीनों दोष इसी कारण समान रह सकते हैं। किसी एक रस पर विशेष बल या ज़ोर नहीं देना चाहिये।

दुग्ध वर्ग					
प्राणी	प्रोटीन	वसा	शर्करा	लवण	पानी
यूरोपियन स्त्री का दुध	१.५	३.५	७·०	०·२	८७.८०
बंगाली स्त्री	१.२	२.८०	५.९०	०·२४	८९.८६
गाय	३.५	४.०	३.५	०·७५	८७·२५
घोड़ी	२.०	१.२०	५.६५	०·३६	९०·७९
गधी	२.२५	१.६५	६.००	०.५०	८९.६९
बकरी	४.३	४.७८	४.४३	०.०५	८५·७१
भैंस	६.११	७.८५	४·०७	०·८७	८१४१

मांस वर्ग					
प्राणी	प्रोटीन	वसा	शर्करा	लवण	पानी
गाय-बैल	२०.०	१.५	०.६	१·२	७६·७
सुअर	१९.९	६·२	०·६	१·१	७२·६
घोड़ा	२१.६	२·५	०·६	१·०	७४·३
मुर्गी	२२.७	४.१	१·३	१·१	७०·४
मछली	१८.३	०.७	०.९	०·८	७९·३
बकरा	१८.०	५·०	×	१.०	७६.०
हिरन	१९.७	१.९	×	१·१	७५.७
खरगोश	२२.३	१.१	×	१·१	७४·७

प्रोटीन को पौष्टिक पदार्थ नत्रजन या नाइट्रोजन ही समझना चाहिये। ये दोनों वस्तुयें एक ही हैं, केवल नाम-भेद है। इसी प्रकार वसा, चर्बी का नाम-भेद है।

भोजनों के कुछ नमूने

मजदूरों के लिये भोजन		मानसिक श्रम करनेवालों का भोजन		फौजियों का भोजन	
भोजन २४ घण्टे में	मूल अवयव	भोजन २४ घण्टे में	मूल अवयव	भोजन २४ घण्टे में	मूल अवयव
चावल १० छटाँक दाल २ छ० तैल ½ छ० शाक थोड़ा-सा	प्रोटीन ५० माशे कार्बन ५०० माशे वसा ३३ ,,	आटा ७ छ० चावल २ छ० दाल २ छ० घृत १ छ० दूध १२ छ० शर्करा १ छ० शाक	प्रोटीन १०५ माशे वसा ९६ माशे कार्बन ५१४ माशे	आटा ६ छ० चावल ४ छ० दाल १ छ० दुग्ध ८ छ० मांस २ छ० घृत ½ छ०	प्रोटीन ११० माशे वसा ५४ माशे कार्बन ४९० माशे

मानसिक श्रम करनेवालों के भोजन में दूध, दही, मलाई, रबड़ी, घी आदि की मात्रा अधिक सेवन करनी चाहिये। अधिक शारीरिक परिश्रम करनेवालों को चावल और शर्करा अधिक खानी चाहिये।

ऊपर दिये हुये मानसिक श्रम करनेवालों के भोजन में वसा की मात्रा बढ़ाकर १ छटाँक के स्थान १¼ कर देनी चाहिये, और आटा ७ छटाँक कर दिया जाय तो अच्छा। यह भोजन गुरुकुल कांगड़ी में १८ से २५ वर्ष की आयुवाले विद्यार्थियों को दिया जाता है, जिनका वजन लगभग १½ होता है।

आहार की वस्तुओं का वर्गवार वर्णन

चावल— कई जाति के होते हैं। इनके मुख्य श्रेष्ठ चावल और दूसरा कुधान्य—निकम्मे धान्य हैं। दो भाग हैं। एक में लाल चावल, वासमति, साठी, कृष्ण चावल हैं प्रथम प्रकार के [illegible] कोदो, मंडवा आदि होते हैं। इसके अतिरिक्त और कुधान्यों में साँवक, अंतर होता है। [illegible] इनके बोने, आदि में भी

गुण—सब चावल, मधुर, शीत, शीघ्र पचनेवाले, बल देनेवाले हैं। पित्त को कम करते हैं, स्निग्ध, मल को बाँधते हैं। मूत्र को अधिक लाते हैं।

उपयोग—चावलों में लाल चावल साठी बहुत उत्तम हैं। इनमें लाल चावल मोटे दानेवाले होते हैं। चावलों में पौष्टिक और चरबी का भाग बहुत कम होता है। इसलिये पचने में बहुत हल्के होते हैं। इसीसे बालकों और रोगियों के लिये बहुत उत्तम भोजन है। "साबूदाना" यद्यपि चावलों की जात में नहीं है; परन्तु चावलों से हल्का तथा उनके गुणोंवाला है। अत: बच्चों और रोगियों के लिये विशेष लाभदायक होता है। चावल विशेषत: शुक्र को बढ़ाते हैं।

चावल एक साल का पुराना अच्छा होता है। नया चावल—चालू वर्ष का चावल भारी और वायुकारक होता है। चावल के साथ दाल खाने से शरीर में पौष्टिक पदार्थ पर्य्याप्त मात्रा में पहुँचता है। चावलों के साथ दाल पकाकर खिचड़ी के रूप में खाने से शीघ्र पच जाती है।

गेहूँ— गुण—पुष्टि, स्थिरता देनेवाले, वृष्य शुक्र बढ़ानेवाले, स्निग्ध, शीत, मल को निकालनेवाले और भारी होते हैं, देर में पचते हैं। टूटे हुये स्थानों को जोड़ते हैं, वृहण हैं, वायु और पित्त को नष्ट करते हैं। नये साल का गेहूँ कफकारक है; परन्तु एक साल का पुराना गेहूँ कफ नहीं करता।

उपयोग—गेहूँ की दो मुख्य जातें मिलती हैं। एक लाल दूसरी श्वेत या पीली। पीली की अपेक्षा लाल गेहूँ अधिक पुष्टिदायक है। गेहूँ में पुष्टिदायक और गरमी देनेवाले पदार्थ रहते हैं। इसलिये धान्य-वर्ग की अन्य चीजों की अपेक्षा गेहूँ शरीर का पोषण विशेष रूप से करता है। गेहूँ में वसा और क्षार [illegible]ग बहुत कम है। अत: मनुष्य गेहूँ में नमक गेरकर या रोटी को घी से चु[illegible] [illegible]ाते हैं। नमक, दाल आदि में डालकर इस कमी को भी पूरा कर लेते [illegible]। गेहूँ [illegible] आटे में से लोग "मैदा" निकालते हैं; यह पचने में बहुत भारी हो[illegible] है। इस[illegible] पूरी या अन्य वस्तु बनाते हैं। जिन पुरुषों की पाचन-शक्ति मन्द हो, उनको यह नहीं खाना चाहिये। गेहूँ के आटे से बहुत-सी वस्तुयें बनती हैं। [illegible] को मोटा दरकच करके उससे दलिया, या सत्तू बनाते हैं। गेहूँ के साथ घी खा[illegible]ने से वायु या वादी नहीं होती।

बा[illegible]रा—गुण—[illegible]रम, रूक्ष, पौष्टिक, हृदय के लिये हितकर, स्त्रियों में काम की वृद्धि करनेवाला, पचने में भारी और वीर्य को नुकसान

उपयोग—बाजरा गरम होने से पित्त को कुपित करता है, इसलिये पित्त प्रकृतिवालों को यथासम्भव बाजरा कम खाना चाहिये। बाजरा रुक्ष होने से वायु को बढ़ाता है। जहाँ पर गेहूँ कम होता है और बाजरा अधिक होता है, वहाँ के लोग प्रायः इसीको बचपन से खाते हैं। अतः यह उनको पथ्य होजाता है; जिस प्रकार कच्छ और काठियावाड़ में। पोषण-तत्व बाजरे में प्रायः गेहूँ के समान होते हैं। बाजरे में वसा का भाग गेहूँ की अपेक्षा अधिक रहता है। अतः कम घी के चल जाता है।

ज्वार—गुण–ठण्डी, मधुर, रुक्ष, हल्की और पौष्टिक।

उपयोग—ज्वार में बाजरे के समान ही पौष्टिक तत्व हैं। ज्वार में चरबी का भाग बाजरे जितना ही है। ज्वार ठंडी और रुक्ष होने से वायु करती है। परन्तु नित्य के उपयोग से पथ्य हो जाती है। काठियावाड़ में और राजकोट में प्रायः ग़रीब लोग इसी पर जीवन व्यतीत करते हैं। उत्तरी हिन्दुस्तान में इसको खाने की प्रथा नहीं है।

मूँग— गुण–शीत, ग्राही, हल्का, स्वादिष्ट, कफ तथा पित्त को शान्त करनेवाला, रक्त-स्राव को रोकनेवाला, नेत्रों के लिये हितकारक, और थोड़ी वायु करता है।

उपयोग—शमी धान्यों में मूँग सबसे उत्तम है। प्राचीन वैद्यक-शास्त्र में मूँग की बहुत अधिक प्रशंसा की गई है। मूँग की दाल या उसका पानी प्रायः सब रोगों में पथ्य समझा जाता है। कई स्थानों में यह दूध से भी श्रेष्ठ है। त्रिदोष जन्य या नवज्वर में जहाँ दूध का देना हानिकारक समझा जाता है, वहाँ मूँग की दाल का पानी सुखपूर्वक दिया जा सकता है। सम्पूर्ण मूँग वायु करता है, परन्तु मूँग की दाल का पानी वायु नहीं करता। मूँग के कई भेद हैं। इन सबमें हरा मूँग सबसे अच्छा है।

अरहर— गुण—मधुर, कषाय, भारी, रुचिकर, संग्राही—मल को बाँधकर लानेवाला, ठंडा, त्रिदोषहर और किसी कदर वायुकारक है।

उपयोग—रक्त-विकार, अर्श, ताव और रक्त पित्त में उपयोग होता है। अरहर का उपयोग दाल के रूप में होता है। अरहर की दाल गुजरात और पूर्व में अधिक बरती जाती है। पूर्व में अरहर का दाना बड़ा होता है। त्रिदोषहर होने के कारण मूँग से उतरकर रोगी के लिये यही पथ्य है।

यदि इसमें घी डालकर खाया जाय, तो वायु नहीं करती। अरहर की दाल में इमली, अमचूर, कोकम (गुजरात या दक्षिण में अधिक आते हैं, एक प्रकार की खटाई है) डालकर खाने से अधिक रुचिकर होती है। परन्तु इस मसाले से उसका असली स्वाद छिप जाता है।

उड़द—गुण—अति पौष्टिक, वीर्य को बढ़ानेवाले—निकालनेवाले मधुर, तृप्तिकारक, मूत्रल, मल को निकालनेवाले, स्तनों में दूध बढ़ानेवाले, मांस तथा मेद को बढ़ानेवाले, कफकारक, वातनाशक, गरम पर स्निग्ध, तथा बलकारक होते हैं।

उपयोग—श्वास, वायु तथा अर्दित मुँह का एक ओर मुड़ जाना तथा अन्य कई वात-रोगों को उड़द पथ्य है। शीत ऋतु में तथा वात-प्रकृतिवालों के लिये हितकारक है। पचने के पश्चात् उड़द खट्टा रस उत्पन्न करता है। इससे पित्त-प्रकृतिवालों को नुकसानकारक है। उड़द की दाल रुचिकर और पौष्टिक है। पंजाब-प्रान्त में इस दाल का व्यवहार बहुत अधिक होता है। इसके अतिरिक्त उड़द की दाल के लड्डू और अन्य पौष्टिक पाक, उड़दियाँ तथा बड़ियाँ बनती हैं।

चना—गुण—हल्का, ठंढा, रूक्ष, वायुकारक, कफ, रक्त पित्त और पुंस्त्व (पुरुषार्थ) को नाश करता है, बल को बढ़ाता है।

उपयोग—कफ तथा पित्त के रोग में चना लाभ करता है। ज्वर-रोगी के लिये उत्तम है; क्योंकि इससे गर्मी कम होती है। परन्तु वायुकारक होने से वायु करता है और कब्ज़ीयत करता है। इसलिये खूब घी डालकर देना चाहिये। खाने में चने का उपयोग कई प्रकार से होता है। सबूत चने का पानी या शाक बनाते हैं। चने को दाल के रूप में काम लाते हैं। चने का आटा—बेसन कई वस्तुओं में पड़ता है। चने में भी गेहूँ के समान वसा—चिकनाई का भाग कम होता है; अत: बेसन के पकोड़े या अन्य वस्तुओं को घी या तैल की पर्याप्त मात्रा के साथ काम में लाना चाहिये। इसी प्रकार बेसन के लड्डुओं में भी घी पर्याप्त डालना चाहिये। नहीं तो शरीर में वायु करते हैं।

मोठ—रुचिकर, ग्राही, रूक्ष, हल्के, शीत और वायुकारक होते हैं। कफ और पित्त को नष्ट करते हैं। मोठ के गुण प्राय: मूँग के समान होते हैं। कफ, पित्त, ज्वर, रक्त पित्त, दाह, कृमि रोग तथा उन्माद रोग में मोठ पथ्य है।

मटर—वायुकारक और संग्राही होते हैं। इनके गुण प्राय: चने से मिलते हैं। परन्तु पचने में यह अधिक सरल होते हैं, ज्वर या रक्त पित्त में लाभकारक हैं।

कुलत्थी—कफ और वायु को नाश करनेवाली है, संग्राही, उष्ण, और रक्त पित्त को उत्पन्न करती है।

उपयोग—इसका उपयोग दाल या शाक में किया जाता है। मेथी आदि शाकों में इसको डालकर पकाते हैं। शुक्र दोष, अश्मरी रोगवाले, गुल्मरोगी, कास-श्वास रोगी और पीनसवाले के लिये उपयोगी है। रक्त-स्राव, बवासीर और हिक्का उत्पन्न करती है।

लोबिया—यह एक प्रकार का दाना होता है, जो कि अंडाकार, एक ओर से चपटा और ऊपर से गोल होता है। गुजरात प्रान्त में इसका उपयोग शाक के रुप में बहुत होता है। गुण—मधुर—कषाय, भारी, दस्त लानेवाला, रुक्ष, वायुकारक, रुचिकर, दूध बढ़ानेवाला, वीर्य को बिगाड़नेवाला आदि—त। ... नेवाले

उपयोग—वायुकारक होने से कम खाना चाहिये। इसको ... इसमें तेल बहुत डालते हैं। खाने में मीठा है, परन्तु पचने में अम्लता उत्पन्न करता है। दस्त साफ लाता है। रुक्ष होने से पेट में वायु करता है उष्ण होने से शरीर को सुखाता है, वीर्य का नाश करता है। वीर्य का नाश करने से दृष्टि के तेज का नाश करता है।

तिल—दो प्रकार के होते हैं। एक श्वेत और दूसरे काले। गुण—मधुर, तिक्त, संग्राही, पित्तकारक, गरम बलकारक, स्निग्ध हैं। दाँतों के लिये उपयोगी हैं, अग्नि और बुद्धि को बढ़ानेवाले, त्वचोपयोगी, मूत्रल, बालों के लिये हितकर, वायुनाशक और गुरु होते हैं। तिलों को कूटकर उनको घी में भूनकर फिर शक्कर मिलाकर खाने के काम आते हैं। इसको तिलकूट कहते हैं। इसके अतिरिक्त तिलों की पुलटिस व्रण के लिये अधिक उपयोगी होती है। तिलों का तेल प्राय: खाने में और बालों में लगाने के काम आता है। तिलों में काले तिल श्रेष्ठ होते हैं।

नये धान्य—जौ, गेहूँ, उड़द, तिल ये चारों चीजें नये वर्ष की अपेक्षा साल की पुरानी अच्छी हैं। चावल पुराने बरतने चाहिये। जिन चावलों को एक वर्ष हो जाय, वे चावल उत्तम होते हैं।

शाक

नित्य खान-पान की वस्तुओं में कौन-सी भाजी—शाक उपयोगी है, और कौन-सा निरुपयोगी या हानिकारक, इस विषय को आर्य वैद्यक-शास्त्र के अन्दर वर्णन किया गया है। साधारणतः सब शाक मल को रोकनेवाले, पेट को फुलानेवाले, भारी, रूक्ष, मल को बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न करनेवाले, वायुकारक होते हैं। शाक चूँकि प्रायः अम्लता उत्पन्न करते हैं; अतः इनका उपयोग अति मात्रा में नहीं करना चाहिये। एकान्ततः इनका उपयोग करने से अस्थियों को भंग करता है; आँखों के तेज को कम करता है; शरीर के वर्ण, रक्त तथा कान्ति बिगड़ती है; बुद्धि को कम करता है, और बाल श्वेत हो जाते हैं। स्मृति-शक्ति को कम करते हैं। सब शाकों में प्रायः रोग रहते हैं, और रोग शरीर को नुक़सान करते हैं। अतः शाकों का उपयोग कम करना चाहिये। शाकों में प्रायः क्षार भाग अधिक होता है। उसी क्षार भाग की अधिकता के कारण ऊपर की हानियाँ कहीं [illegible] पानी में धोकर या उबालकर [illegible] क्षार भाग को यदि कम कर [illegible]या जाय, तो उतनी हानियाँ नहीं रहतीं, जितनी शास्त्र में दिखाई हैं। क्षार का अधिक उपयोग शरीर को हानि करता है, और यह क्षार अधिकतः शाकों में रहता है, अतः शाकों का एकान्ततः उपयोग करना हानिकारक और रोगकारक है।

शाक या तरकारी छः रूप में प्राप्त होती है। किसी वनस्पति के पत्ते काम में आते हैं, यथा सरसों या पालक; किसी का फूल—यथा गोभी के, किसी का फल—यथा मटर के, किसी की नाल—यथा भिस; किसी की जड़ कन्द—यथा मूली, और किसी की छत—यथा खुम्भी—बरसात में जो सफेद-सी छतरी निकल आती है। इनमें पत्तों का शाक सबसे हल्का होता है, और खुम्भी सबसे भारी होता है।

चौलाई—हल्का, ठण्डा, रूक्ष, मल-मूत्र को उत्पन्न करनेवाली, रुचिकर, अग्निदीपक, विषनाशक, पित्त और कफनाशक तथा रक्त-विकार को अच्छा करता है। प्रायः सब प्रकार के दर्दों में यह शाक पथ्य रहता है। रक्त-विकार, वात-रक्त में यदि इसकी भाजी रोज खाई जाय, तो शरीर में खुजली या जलन बन्द हो जाती है। चूँकि यह शरीर में गरमी नहीं करता, इसलिये कफ और पित्त को भी नष्ट करता है। यह मल साफ लाता है,

पेशाब बढ़ाता है, स्वच्छ करता है। पेशाब में जलन तथा गरमी कम करता है। पित्त के जोर को कम करता है, किसी दवाई का विष शरीर में रह गया हो, तो तांदुल जो का रस या इसकी भाजी विष को मूत्र के साथ बाहर कर देती है। चौलाई के शाक को जितना अधिक पानी में उबाला जायगा, उतना ही अधिक वह लाभ करेगा और स्वादिष्ट बनेगा। दाह, रक्तदोष, मेद, रक्त पित्त, त्रिदोष-ज्वर, कफ, खाँसी और अतिसार के रोग में तांदुल जो अधिक उपयोगी है।

बथुवा—पाचक, रुचिकर, हल्का, दस्त को साफ लानेवाला रक्त-विकार में उपयोगी है। कृमि, प्लीहा बढ़ने में, अर्श—बवासीर में और त्रिदोष ज्वर में लाभदायक है।

गोभी—भारी होने से कुछ संग्राही है, रुचिकर है। वात-पित्त रोग में हितकर है। दूध और वीर्य को बढ़ाती है।

सुवा की भाजी—तीनों दोषों को नष्ट करनेवाली, बुद्धि के लिये हितकारी, रुचिकर और सामान्य रीति से सब रोगों में पथ्य है।

लुणी की भाजी—गरम, कषाय, मधुर, रुचिकर और पाचक है।

सरसों की भाजी—गुरु, मूत्र को बन्द करनेवाला, त्रिदोष—वात-पित्त और कफ को बिगाड़नेवाला और रुचिकर है।

मेथी की भाजी—दुर्जर, पित्तकारक, और ग्राही है। वायु और कृमि का नाश करती है।

अरणी—अरणी के पत्तों का शाक रक्त पित्त रोग में उत्तम है; परन्तु मल को रोककर वायु उत्पन्न करता है।

मोघरी—तीक्ष्ण तथा उष्ण है। वायु तथा कफ-प्रकृतिवालों के लिये हितकारी है।

गणजीभि—गणजीभि के पत्ते हल्के होते हैं। कोढ़, रक्त-विकार, मूत्रकृच्छ्र तथा ज्वर की अवस्था में लाभकारी है।

मूली—छोटी मूली गले के लिये अच्छी है, लघु होती है, जल्दी पच जाती है, सब दोषों को नष्ट करती है। खाने में कड़वी, तीखी होती है, रुचिकर होती है और अग्नि को बढ़ाती है। यही जब बड़ी हो जाती है, इसमें रेशे आजाते हैं; तब इसके खाने से पेट में वायु भर जाती है, तीनों

दोषों को कुपित करने लगती है। इसको यदि पका लिया जाय, तो वायु का नाश करती है। यदि सुखाकर रख लें, तो शोथ—सूजन को कम करती है, विष दोष को हरती है और पचने में हल्की है। इसका फल कफ और वायु को नष्ट करता है।

पोई—मल को निकालती है, स्निग्ध, बल्य, श्लेष्मा को करनेवाली और ठंढी होती है। इसके पत्तों के शाक से पित्त के विकार नष्ट होते हैं। पत्तों से मूत्र कृच्छ्र रोग हटता है। वृष्य—शुक्रवर्द्धक है। वात-पित्त और मद को दूर करता है।

पालक—मल और मूत्र को बाँधनेवाला, कफ को नष्ट करनेवाला और चौलाई के समान गुणकारी है।

परवल—इसके पत्ते पित्त को नष्ट करते हैं, इसका फल-वात, पित्त और कफ को नष्ट करता है। हृदय के लिये हितकारक, बलवर्द्धक, पाचक, हल्का और स्निग्ध है। रक्त-विकार, कृमि और पित्त-विकार में अत्यन्त हितकर है। ज्वर के लिये यह उत्तम है। फल-वर्ग के शाकों में परवल सबसे अच्छा है।

दूधी—शीतल, पित्त को नष्ट करनेवाली, धातुवर्द्धक, बलवर्द्धक, पौष्टिक और रुचिकर है। गर्भ का पोषण करती है। दूधी का शाक हल्का होने से रोगियों के लिये पथ्य है।

कुम्हड़ा (कूष्माण्ड)—पित्तनाशक, हल्का, दीपक, वस्ति-मूत्र को शोधन करता है। सब दोषों को हटाता है, पथ्य है। रक्त पित्त के लिये या क्षय, खाँसी के लिये अति उत्तम है। वीर्य को बढ़ाता है, पुष्टिकारक है। भ्रान्ति और श्रम को दूर करता है। पित्त, रक्त—विकार, दाह तथा वायु को मिटाता है। अधपका कोम्हड़ा कफकारक है। क्षार के साथ पचाने से अग्निदीपक, मूत्राशय को साफ करनेवाले और पित्त के रोग को नष्ट कर देता है।

बैंगन—यह दो प्रकार का होता है, काला और श्वेत। बैंगन नींद उत्पन्न करता है, रुचिकर, भारी और पौष्टिक है। श्वेत बैंगन दाहक और पाचक होता है। गोल बैंगन (निम्बु के आकार का) कफ और वायु प्रकृतिवालों के लिये उत्तम है। खुजली, विसर्प, ताप, पांडु और अरुचि के लिये हितकारी है।

घियातोरी—स्वादिष्ट तथा मधुर है। वायु तथा पित्त को मिटाती है। ज्वर-रोगी के लिये भी हितकारी है।

तुरई—वात-कोपक, शीत और मीठी होती है। कफ-कोपक, पित्त-शमक, दम, खाँसी, ज्वर में लाभदायक है।

करेला—कड़वा, गरम, रुचिकर, हल्का और अग्निदीपक है। प्राय: सब प्रकृतिवाले मनुष्यों के लिये उपयोगी है। अरुचि, कृमि और ज्वर में पथ्य है।

कटौला—हल्का, अग्निदीपक, रुचिकर, मधुर है। गुल्म, शूल, पित्त, कफ, खाँसी, ज्वर, प्रमेह, वायु और हृदय-रोगों में अच्छा है।

घीलोड़ा—भारी है; शीत है, बलकारक है। दूध को बढ़ाता है, मलबन्ध करता है, पित्त, रक्त-दोष, शोथ, दाह तथा खाँसी के रोगों में उत्तम है। बुद्धि को बिगाड़ता है।

ककड़ी—ठण्डी, रुक्ष, दस्त बन्द करनेवाली, मधुर, भारी, रुचिकर और पित्त को दूर करनेवाली होती है। पक्की ककड़ी अग्नि तथा पित्त को बढ़ाती है।

खीरा—पित्त-नाशक होता है। पकने पर कफकारक और जीर्ण होने पर अम्लता उत्पन्न करता है।

चीभड़ा—तीनों दोषों को उत्पन्न करता है। कच्चा चीभड़ा कफ और वायु करता है। पका हुआ वायु और कफ करता है।

सरगवानी सींग—मधुर, कषाय, कफहर, पित्तहर और अत्यन्त अग्नि-दीपक है। शूल, कोठ, क्षय, श्वास तथा गुल्म की व्याधि में बहुत पथ्य है। सींगवाले सब शाक वायु-कारक होते हैं।

सूरन—अग्निदीपक, रुक्ष, कषाय, हल्का, पाचक, पित्तकर, तीक्ष्ण, मलस्तम्भक और रुचिकर है। अर्श, शूल, गुल्म, कृमि, कफ, मेद, वात, अरुचि, श्वास में उत्तम है। खुजली या दादवालों के लिए उत्तम नहीं है। अर्श (बवासीर) में इसका शाक दवा की तरह प्रभाव करता है। सब प्रकार के कन्द शाकों में सूरन का शाक अच्छा है।

आलू—ठण्डा, मधुर, रुक्ष, मल तथा मूत्र रोकनेवाला, पोषणकारक, बलवर्द्धक, वीर्य और धातु को बढ़ाता है। रक्तपित्त को नष्ट करता है। वायु-

कोपक है, परन्तु घी में भूनकर खाने से वायु नहीं करता। पानी में उबाला हुआ तले हुये आलू की अपेक्षा हल्का होता है। शरीर के पोषण के लिये विशेष अच्छा है। आग में भूनकर खाने से विशेष गुण करता है।

रतालू—पौष्टिक तथा मधुर है। मल को रोकनेवाला और कफ-कारक है।

गाजर—मधुर, रुचिकर और ग्राही है। रक्त-विकार में उत्तम नहीं है, पौष्टिक है।

प्याज—बल-वर्द्धक, तीखा, भारी, रुचिकारक और वीर्य-वर्द्धक है। कफ तथा निद्रा उत्पन्न करता है। क्षय, क्षीणता, रक्तपित्त, उल्टी, कॉलरा, कृमि, अरुचि, स्वेद, शोथ तथा रक्तदोष के रोग में हितकारक है। लोग तेज गन्ध के कारण इसकी निन्दा करते हैं।

सिंघाड़ा—गुरु, पचने में भारी, वायु करनेवाला परन्तु ठण्ढा होता है।

केला—बलकारक, पित्तनाशक और पचने में भारी है।

खुम्भ—ठण्ढे, कषाय, स्वाद—मधुर, भारी, वमन, अतिसार, ज्वर एवं कफ-कारक होते हैं। इनको साँप की छतरी कहते हैं।

पकाने की युक्ति के कारण तथा और वस्तुओं के मिलने से शाकों के गुणों में अन्तर आजाता है। यदि शाक में वायु-कारक गुण हो, तो उसको खूब घी में तलना चाहिये। जो शाक पचने में भारी हों, उनको प्रथम पानी में खूब उबालना चाहिये और फिर मसाला डालना चाहिये। कन्द-शाक—सूरन-आलू आदि को प्रथम पानी में उबालकर फिर घी में छौंकना चाहिये। शाक के साथ मिर्च वा मसाले अधिक नहीं खाने चाहिये। अधिक मसालों से पाचन-शक्ति खराब होती है।

शाकों में अच्छे शाक—छोटी नर्म मूली, चौलाई, बथुवा, मटर, परवल उत्तम हैं।

दुग्ध-वर्ग

दूध के सामान्य गुण—मधुर, शीत, पित्तनाशक, पोषणकारक, मल साफ करनेवाला है। जीवन देनेवाले पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ है। वीर्य और ओज के समान गुणवाला होने से इनको विशेष रूप से बढ़ाता है।

शरीर में बल देता है। वात को नष्ट करता है, परन्तु कफ को बढ़ाता है। जवानी को स्थिर रखता है, मैथुन-शक्ति को बढ़ाता है। रसायन है, बुद्धि-वर्द्धक है। सब रोगों में पथ्य है, टूटे हुये अवयव या सन्धि को जोड़ता है। स्त्री-सेवा के अति योग से उत्पन्न क्षीणता को दूर करता है। भूखे, बालक, वृद्ध, युवक सब के लिये प्राणदायक है। वीर्य को बढ़ाने के लिये इससे उत्तम वस्तु नहीं है।

गाय का दूध—कफ को अधिक नहीं बढ़ाता, स्निग्ध है, भारी है, रसायन है। रक्त-पित्त, रक्त-स्राव को दूर करता है। इसीसे यह ओज को सब दूधों से अधिक बढ़ाता है। तत्काल प्रसूता गाय का दूध तीनों दोषों को उत्पन्न करता है। बच्चा देने के चार मास पीछे गाय का दूध उत्तम रहता है। इसके अतिरिक्त दूध का गुण भोजन के ऊपर निर्भर रहता है। जैसी चीजें खाने को दी जायँगी, वैसा ही दूध होगा।

भैंस का दूध—बहुत ही अधिक कफकारक, अग्नि को कम करने-वाला, नींद उत्पन्न करता है। गाय के दूध से अधिक ठण्ढा, चिकना और भारी है। स्वाद में मीठा है। पित्त या वात-रोगियों के लिये अच्छा है। कमजोर पुरुषों के लिये गाय का दूध उत्तम है।

बकरी का दूध—कषाय, मधुर, शीत, ग्राही, और लघु होता है। दीपन—अग्नि-वर्द्धक है। रक्त-पित्त, अतिसार, क्षय, कास और श्वास में उपयोगी है। क्षय-रोगियों के लिये एकान्ततः पथ्य है। यह दूध सब रोगों को दूर करता है; क्योंकि बकरियों का शरीर छोटा होता है, वे कड़वा तीखा सब प्रकार का भोजन करती हैं (छः रस खाती हैं), वे बहुत अधिक पानी नहीं पीतीं और दिनभर चलती-फिरती हैं, उनका व्यायाम होता रहता है। इसलिये यह दूध सब रोगों में उत्तम है,

भेड़ का दूध—भारी, देर में पचनेवाला, स्वादु, स्निग्ध, उष्ण, गरम, कफ और पित्त को करता है। केवल वात-रोगियों के लिये पथ्य है।

घोड़ी का दूध—गरम, बलकारक, हाथ और पाँव में वायु-रोग उत्पन्न करता है। स्वाद में थोड़ा खट्टा-मीठा होता है। पचने में हलका होता है। लवण रस के समान गुणकारी है। एक खुरवाले सब प्राणियों का दूध इसी प्रकार के गुण रखता है।

ऊँटिनी का दूध—रूक्ष, गरम, स्वाद में नमकीन, पचने में लघु होता है। शोथ—सूजन में, गुल्म, उदर-रोग में, प्लीहा आदि के बढ़ने में, बवासीर में, कृमि-रोग में और कुष्ट-रोग में उत्तम है। शोथ और उदर-रोग में अति उत्तम है।

गधी का दूध—मधुर, खारा, ज़रा खट्टा, गरम, बल देनेवाला, अग्नि-दीपक, बुद्धि को मन्द करनेवाला और बालकों को बलदायक है।

स्त्रियों का दूध—मधुर—मीठा, कषाय रसवाला, शीत, पचने में लघु, अग्निवर्द्धक, जीवन देनेवाला है। नस्य और आँख के रोगों के लिये पथ्य है।

हथिनी का दूध—मधुर, वृष्य, कषाय रस, भारी, स्निग्ध, स्थिरता उत्पन्न करनेवाला, शीत, आँखों के लिये हितकर और बल-वर्द्धक है।

धारोष्ण दूध—ताजा दुहा हुआ दूध—जबतक उसके अन्दर गरमी रहती है और झाग नहीं मरता, तबतक वह दूध उपयोगी रहता है। यह दूध विशेषत: शुक्रवर्द्धक और कफकारक है। इसमें थोड़ा पानी मिलाकर पीने से या कच्चा पीने से शुक्र-दोष नष्ट होता है। यह दूध पचने में थोड़ा भारी है। गाय, भैंस और बकरी के सिवा किसी का भी कच्चा दूध नहीं पीना चाहिये। दूध में किसी प्रकार का कृमि या विकार न हो, तभी कच्चा दूध पीना उत्तम है; अन्यथा उबालकर पीना चाहिये।

गरम दूध—दूध के ठण्डा होने पर उसको उबालकर काम में लाना चाहिये। गरम-गरम दूध वायु और कफ-रोगियों के लिये पथ्य है। पित्त-प्रकृतिवालों के लिये गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध उत्तम है। जिन मनुष्यों या रोगियों को दूध पचता न हो, उनके लिये—दूध में चार गुना पानी डालकर उबालना चाहिये। और जब सारा पानी जल जाय, उस समय दूध का भाग बचे रहने पर देना चाहिये। अधिक कढ़ा हुआ दूध भारी होता है। अत: रोगी या निर्बल पाचन-शक्तिवालों के लिये अहितकर है। दूध की मात्रा पाचन-शक्ति पर निर्भर है।

प्रात:काल का दूध—रात्रि में पशु कहीं फिरते नहीं, किसी प्रकार का परिश्रम नहीं करते और रात में सर्दी होती है, इसलिये पशुओं का प्रात:काल का दूध भारी, वायु करनेवाला, ठण्डा होता है।

सायंकाल का दूध—दिन में सूर्य की गरमी के कारण, जंगल में फिरने आदि से, सायंकाल का दूध वात-नाशक, मल को निकालनेवाला, थकान को दूर करनेवाला, आँखों के लिये हितकर होता है।

ख़राब दूध—जो दूध ख़राब होता है, उसका रंग बदल जाता है, स्वाद बदल जाता है, उसमें खटास आजाती है, उसकी गन्ध बिगड़ जाती है, उसमें फुटकियाँ पड़ जाती हैं। यह दूध पीने में नुक़सान करता है। दूध को उबालकर पीना अच्छा है। गरम दूध दस घण्टे पीछे बिगड़ जाता है।

दूध के साथ अन्य भोजन—दूध के अन्दर जितनी मात्रा क्षार या खटास की रहती है, उससे अधिक मात्रा शरीर को हानि करती है। दूध के साथ खट्टा या क्षारीय भोजन यथा—पत्तों के शाक आदि खाने से नुक़सान होता है। दूध को यथासम्भव अकेला ही पीना चाहिये। दूध पीने का सबसे उत्तम प्रातःकाल या रात्रि को सोने का समय है। दूध के साथ यदि कुछ पदार्थ लेना हो, तो वह मीठा होना चाहिये। रोगी व्यक्ति चावलों के साथ दूध भली प्रकार ले सकता है।

नीचे कुछ पदार्थ दिये जाते हैं, जिनके साथ दूध खाया जा सकता है और जिनके साथ नहीं खाया जा सकता।

दूध के मित्र	दूध के शत्रु
१—दूध में मधुर-रस है—इसलिये शक्कर डालकर खा सकते हैं।	१—दूध के साथ सब नमक नुकसान करते हैं। सेन्धा नमक आँखों के लिये हितकर है और नमक सब आँखों को हानि करते हैं, इससे यह खा सकते हैं। उत्तम यही है कि इससे बचा जाय। दूध के साथ नमक खाने से कोढ़, प्रमेह आदि रोग होते हैं।
२—दूध में अम्ल-रस है—इसलिये आँवला इसका मित्ररूप है।	२—दूध के साथ इमली आदि कोई भी खटाई नहीं खानी चाहिये।
३—दूध में तिक्त-रस है—इसलिये सोंठ मित्ररूप है।	३—दूध के साथ मछली नहीं खानी चाहिये।
४—दूध में कटु-रस है—इसलिये आर्द्रक—आद्रो मित्ररूप है।	४—दूध के साथ क्षार-शाक आदि अधिक नहीं खाना चाहिये; विशेषत: मूली।
५—दूध में कषाय-रस है—इसलिये हरड़ मित्ररूप है।	५—दूध के साथ मद्य, आसव, दारू नहीं खानी चाहिये।
६—दूध में लवण-रस है—इसलिये सेन्धा लवण मित्ररूप है।	

दूध के साथ खाये हुये नमक, क्षार आदि तुरंत अपना प्रभाव नहीं दिखाते। ये धीरे-धीरे शरीर में विष को एकत्रित करते रहते हैं। कालान्तर में खुजली, दाद आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं। अतः शास्त्र के वचन के अनुसार दूध एक ऐसा पदार्थ है, जिसके सेवन करने से सब धातुओं का पोषण होता है। इससे बल और बुद्धि बढ़ती है। खान-पान के सब पदार्थों में एक यही 'दूध' ऐसा पदार्थ है कि जिसमें पोषण के सब पदार्थ आजाते हैं। यही कारण है कि दूध के ऊपर बालक, रोगी कई साल तक अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। कितने ही व्यक्ति अकेले दूध पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। दूध सात्त्विक है, इसलिये मन और बुद्धि को बढ़ाता है। कई मनुष्य कहते हैं कि हमारी प्रकृति को दूध अनुकूल नहीं पड़ता। इसलिये वे दूध से नफ़रत करते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को चाहिये कि वे धीरे-धीरे इसका अभ्यास करें। यदि खाली पेट दूध न पचे, तो भोजन करने के पश्चात् पीना चाहिये, या किसी वस्तु के साथ लेना चाहिये। अभ्यास से विषैली वस्तुयें—अफ़ीम, संखिया आदि भी अनुकूल आजाते हैं। यह तो प्राकृतिक भोजन है। जरायु में उत्पन्न होनेवाले सब प्राणियों का प्रथम भोजन यही दूध होता है। पशु आदि इसीसे बड़े होते हैं। मनुष्यों ने भी यही आहार सब के लिये एक समान बनाया है। श्रीमन्त लोग दूध से बननेवाली वस्तुओं का उपयोग करते हैं। दूध की कमी के कारण ही हमारा शरीर निर्बल रहता है। श्रीमन्त लोग अपने यहाँ गाड़ी-घोड़ा रक्खें, इससे उत्तम है कि एक गाय-भैंस उनके अस्तबल में रखना चाहिये।

दूध का गुण और अवगुण उसके बनने के साधन घास आदि पर निर्भर हैं। गाँव के लोग जिन पशुओं को खली, बिनौले आदि खिलाते हैं, उनका दूध अधिक बलकारक और कफवर्द्धक होता है। और जिन पशुओं को ये पदार्थ नहीं मिलते, जो कि घास और पत्ते पर अपना गुजारा करते हैं, यथा पहाड़ में; वहाँ के दूध में उतनी जीवन-शक्ति नहीं होती। परन्तु वह अधिक सात्त्विक, निरोगी होता है। कलकत्ते आदि शहरों में जहाँ कि लोग घास को पानी में भिगोकर खिलाते हैं, उस दूध में पानी का भाग अधिक रहता है। इसी प्रकार भोजन के अनुसार दूध में अन्तर आजाता है।

घी

घी के सामान्य गुण—रसायन, बुद्धि, अग्नि, और शुक्र को बढ़ाता है। ओज को पुष्ट करता है। शरीर में मेद—चर्बी की वृद्धि करता है। स्मृति को पुष्ट करता है। कफकारक है, वात और पित्त का नाश करता है। विष, उन्माद, शोथ और क्षय तथा बुढ़ापे को हटाता है। सब स्नेह—चरबीवाले पदार्थों में उत्तम है। जिस पदार्थ के साथ देते हैं, उसीके गुण इसमें आजाते हैं—इसलिये यह योगवाही है। मधुर और शीत है। नेत्रों के लिये हितकारी है। कोष्ठबद्धता को दूर करता है। पाण्डु और जीर्ण-ज्वर के लिये तथा विष-दोष में अमृत के समान गुणकारी है। व्रणरोगी को शक्ति पहुँचाता है। त्वचा के रोगों के लिये, पित्तनाशक एवं शीत होने से अति उपयोगी है। मन्दाग्नि पुरुषों के लिये हानिकारक है।

गाय का घृत—सब प्रकार के घृतों में श्रेष्ठ है, चक्षु के लिये हितकारी, बलवर्द्धक है। विपाक में मधुर और वात, पित्त और विषनाशक है।

भैंस का घी—स्वादु, पित्त और रक्त तथा वायु का शमन करता है। ठंडा होता है।

बकरी का घृत—आँखों के लिये उत्तम, पचने में लघु, अग्नि और बलवर्द्धक है।

मक्खन—वृष्य, बलकारक, शुक्रवर्द्धक, शीत, वर्ण और बल तथा अग्नि को बढ़ाता है। मल को बाँधनेवाला है। वात, पित्त, रक्त, क्षय और अर्श, काश-खाँसी को हटाता है। रक्त-स्राव के लिये मक्खन बहुत ही उत्तम वस्तु है। भैंस का मक्खन गाय के मक्खन से भारी होता है। दाह और पित्त को कम करता है। मेद और कफ को बढ़ाता है।

पुराना घी—वात, पित्त, कफ को नष्ट करता है। प्रतिश्याय—जुकाम के लिये, शिरोरोगों के लिये तथा आँखों के लिये उत्तम है। मूर्च्छा, कुष्ठ, शिरोग, उन्माद आदि में उत्तम है।

जो घी दस साल तक एक हाँड़ी में रक्खा जाता है, उसको पुराना घी कहते हैं। इसका रंग लाख के रंग के समान लाल हो जाता है, गन्ध में तीव्रता—तेजी आजाती है। इसका प्रभाव शीत हो जाता है। यह घृत प्लेग की गिल्टी पर लगाने के लिये उत्तम है। इससे गरमी कम होजाती है।

दही

दही के सामान्य गुण—गरम, अग्निदीपक, भारी, पचने के पीछे अम्लता उत्पन्न करनेवाला, पित्तकारक एवं रक्त-दोष तथा मेदोवृद्धि करता है। मूत्रकृच्छ्र, जुकाम, शीतज्वर, अतिसार, अरुचि और दुर्बलता के लिये दही बहुत उपयोगी है।

दही के बनाने में भेद होने से दही में भी भेद आजाता है। यथा, दूध को गरम करके दही जमाया जाय, तो और तरह का बनता है, और यदि कच्चे दूध में दही जमावें, तो वह और प्रकार का बनता है। इसी प्रकार दूध में से सार भाग निकालकर (मलाई उतारकर) दही जमाने पर और गुण आता है। इसी प्रकार जामन की मात्रा से भी दही के स्वाद में अन्तर आजाता है। इस प्रकार से दही के मुख्य पाँच भेद बन जाते हैं। यथा—मन्द, स्वादु, स्वाद्वम्ल, अम्ल और अत्यम्ल।

१—मन्द दही—जब दही दूध के समान पतला और मीठा रहे, इसको मन्द दही कहते हैं। यह दही तीनों दोषों को, दाह को उत्पन्न करता है। मल और मूत्र को लाता है। विदाही भारी होता है।

२—स्वादु दही—जब दही भली प्रकार जमकर गाढ़ा हो जाय और स्वाद में मीठा हो और खाने में खटास न मालूम पड़े; इस प्रकार के दही को स्वादु दही कहते हैं। स्वादु दही सर्दी कफ और मेद को बढ़ाता है, वायुनाशक है, रक्त को लाभ पहुँचाता है।

३—स्वाद्वम्ल दही—मधुरता के साथ जब खटास मिला रहता है, तब इस प्रकार का दही बनता है।

४—अम्ल दही—जिस दही में से मीठापन जाता रहे, केवल खटास मालूम पड़े, इसको अम्ल दही कहते हैं। इस प्रकार का दही अग्नि को बढ़ाता है और पित्त, रक्त और कफ को बिगाड़ता है।

५—अत्यम्ल दही—जिस दही के खाने से दाँत खट्टे हो जायँ, शरीर रोमाञ्चित हो जाय, गले में जलन हो, इस प्रकार के दही को अत्यम्ल दही कहते हैं। यह दही अग्नि को बढ़ाता है, रक्त को बिगाड़ता है, और पित्त को बहुत कुपित करता है। इन सब प्रकार में स्वादु या स्वाद्वम्ल दही उत्तम है।

उपयोग—गरम किये हुये दूध से बना हुआ। दही कच्चे दूध से बने हुए दही की अपेक्षा अधिक गुणकारी है। यह दही रुचिकारक, पित्त तथा वायु को शान्त करनेवाला, धातुओं के बल को बढ़ानेवाला है। मलाई निकालकर बनाया हुआ दही दस्त को बन्द करता है। यह दही ठण्डा होता है, वायु करता है। पचने में हल्का होता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है। इसलिये पुराने संग्रहणी रोग में पथ्य है। कपड़े मे से छना दही बहुत स्निग्ध, वायु-नाशक परन्तु कफकारक होता है। पचने में भारी, बलदायक, रुचिकर, मधुर और पित्त-शामक होता है। शक्कर के साथ मिलाकर खाने से प्यास, पित्त, रक्त-विकार तथा जलन में उत्तम है। गुड़ डालकर खाने से दही वायु को मिटाता है, पुष्टि करता है और भारी है। रात्रि को दही नहीं खाना चाहिये। यदि खाना हो, तो उसमें घी, शहद, नमक डालकर खाना चाहिये, अथवा मूँग की दाल के साथ खाना चाहिये। रक्त, पित्त या कफ के विकार में दही का पीना अच्छा नहीं। ऋतुओं के अनुसार हेमन्त, शिशिर और वर्षा में दही का खाना उत्तम है। ग्रीष्म, वसन्त और शरद ऋतुओं में दही प्रतिकूल रहता है। दही के उपयोग से ज्वर, रक्त-विकार, पित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु, भ्रम, शोथ—सूजन आदि रोग दूर होते हैं। क्षय-रोग, पीनस और ज़ुकाम में दही अच्छा नहीं है।

दही के ऊपर जो मलाई आती है उसको "सर" कहते हैं। यह सर स्वादु, पचने में भारी, पौष्टिक, वायु-अग्नि को घटानेवाला, मूत्र को लानेवाला तथा पित्त और कफ को बढ़ाता है। दही के साथ जो पानी का भाग रहता है उसको "मस्तु" कहते हैं। यह मस्तु थकान को हटाने-वाला, बलकारक, पचने में लघु, खाने में रुचि करता है। सब स्रोतों को खोलनेवाला है। चित्त को प्रसन्न करता है। कफ और तृष्णा को दूर करता है। शुक्रवर्द्धक नहीं है; परन्तु पौष्टिक है। मल को तोड़ता है। दूध से भी [illegible] सुपच और लघु है।

वि[illegible]

दही के योग—नमक, घी, शक्कर, शहद, आँवला इनमें से कोई वस्तु [illegible] कर दही खाना चाहिये। गरम दही विष के समान होता है। घी के [illegible] दही खाने से वायु की शान्ति होती है। आँवले के साथ खाने से कफ [illegible] शान्ति होती है, शहद के साथ खाने से पाचन होता है। शक्कर के साथ

खाने से प्यास, दाह, पित्त और रक्त को शान्त करता है। गुड़ के साथ खाने से शरीर में बल आता है, वायु को दूर करता है। नमक के साथ खाने से वायुनाशक है।

तक्र

छाछ—दही से छाछ बनती है। पानी की मात्रा से इसके गुणों में अन्तर आजाता है। यथा—

१—यदि पानी बिना डाले और मलाई निकाले बिना इसको मथनी से मथा जाय, तब इसका नाम "घोल" होता है। यह घोल वायु और पित्त को नष्ट करता है। इसमें शक्कर मिलाकर पीने से प्यास को नष्ट करता है।

२—यदि पानी के बिना मथा जाय, तब इसका नाम मथित हो जाता है। यह कफ और पित्त को नष्ट करता है। पीने में मीठा लगता है।

३—यदि दही में आधा पानी मिलाकर मथा जाय, तब इसको "उदश्वित" कहते हैं। यह कफकारक है।

४—यदि दही में चौथाई पानी डालकर मथा जाय, तब इसको "तक्र" कहते हैं। यह तक्र वात, पित्त और कफ तीनों दोषों को हटाता है। अतिसार को बन्द करता है। इसको सेवन करनेवाला मनुष्य कभी रोगी नहीं होता।

५—जिस "तक्र" में से मक्खन निकाल लिया जाय, और बिना परिमाण के पानी मिलाया जाय, उसका नाम छिछका है। यह छिछका पित्त और श्रम को तथा तृषा को दूर करता है। वायु को दूर करता है। न[illegible] डालकर पीने से छाछ अग्नि को बढ़ाती है और कफ को कम करती है।

छाछ पीने की विधि—वात-प्रकृतिवालों के लिये या वात-रो[illegible] के लिये छाछ में नमक डालकर पीना अच्छा है। पित्त-प्रकृति या पित्त-रो[illegible] के लिये शक्कर डालकर; कफ-प्रकृति या कफ-रोगियों के लिये छाछ में खार वायु और संचल नमक डालकर पीना अच्छा है। इसके अतिरिक्त, जीरा, धनिया, [illegible] हींग आदि मसाला डालकर शीत-ऋतु में पीना अच्छा है। ग्रीष्म-ऋतु में दही को मथकर उसमें शक्कर और बर्फ डालकर पीने से थकाव[illegible]

और गरमी दूर हो जाती है। गुल्म और अर्श रोग में छाछ अति लाभकारक है।

छाछ पीने का निषेध—चोट लगने पर, सूजन होने पर, निर्बल शरीर में, मूर्च्छा, भ्रम, रक्त-पित्त, खुजली आदि रोगों में छाछ पीना नहीं चाहिये।

कई बार छाछ को धुआँ देकर बासी पिया जाता है। इसके लिये जलते कोयलों पर घी, हींग, लालमिर्च, डालकर जो धुआँ निकलता है, उसको एक मिट्टी की हाँड़ी में रख लेते हैं; ऊपर से उसमें "छाछ" डालकर हिला देते है। इसका स्वाद बहुत अच्छा होता है, यह अग्निवर्द्धक है।

प्रशंसा—आर्यवैद्यक-शास्त्र में तक्र की उपमा देवताओं के अमृत से दी है। यथा—

कैलाशे यदि तक्रमस्ति गिरिशः किं नीलकण्ठो भवेत् ,
वैकुण्ठे यदि कृष्णतामनुभवेद् अद्यापि किं केशवः।
इन्द्रो दुर्भगतां क्षयं द्विजपतिर्लम्बोदरत्वं गणः,
कुष्टित्वं च कुबेरको दहनतामग्निश्च किं विन्दति ॥ योग-रत्नाकर।

अर्थात् महादेव को यदि कैलाश पहाड़ पर तक्र नसीब होता, तो उनको आज कोई "नीलकण्ठ" (नीली गर्दनवाला) न कहता। तक्र विष-हर है। स्वर्ग में यदि कृष्ण महाराज को तक्र मिल जाता, तो उनका काला रंग दूर हो जाता। अर्थात् तक्र रंग को सुन्दर बनाता है। यदि इन्द्र को तक्र मिल जाता, तो उसको व्रण न होता। अर्थात् तक्र व्रण-पूरक है। चन्द्रमा को मिल जाता, तो उसका क्षय दूर हो जाता। यदि गणेश महाराज को मिल जाता, तो उनका पेट इतना न फैलता और यदि यक्षाधीश कुबेर को मिल जाता, तो उसका कुष्ट चला जाता और अग्नि को मिल जाता, तो उसकी ज्वाला शांत हो जाती।

वास्तव में तक्र ऐसा ही प्रभावशाली चीज है और भाग्यवानों ही के घरों में मिलती है। बड़े-बड़े श्रीमन्तों के घर इससे खाली रहते हैं। किसी कवि ने सत्य कहा है कि जहाँ पर दधि के बिलोने का शब्द सुनाई नहीं देता, और जहाँ बच्चों का कलरव नहीं है, वह घर नहीं, जंगल है।

फल-वर्ग

अपने देश में बर्ते जानेवाले फलों में आम, जामुन, बेर, अनार, केला, आँवला, नारंगी, द्राक्षा, मीठा नीबू, खजूर, फालसा, अमरूद, सेव आदि फल मुख्य हैं। बादाम, छुहारा आदि सूखे मेवे हैं।

आम— आम का फल हितकारक, रुचिकारक होता है। कच्चा आम गरम, खट्टा, ग्राही तथा रुक्ष होता है। पित्त, वायु, कफ और रक्त-दोष को उत्पन्न करता है। कण्ठ-रोग, वातमेह, योनि-दोष, व्रण, अतिसार और प्रमेह में लाभदायक है। पका आम बलवर्द्धक, कान्तिकारक, तृप्ति करनेवाला, मांस और बलवर्द्धक है। कफ करनेवाला होने से इसमें सोंठ मिलाकर खाना चाहिये। पका आम विशेषत: शुक्रवर्द्धक है।

जामुन—मल को बाँधकर कब्ज करनेवाला, मधुर, कफनाशक, रुचि उत्पन्न करनेवाला तथा वायुनाशक है। मधुमेह के रोगियों के लिये अति उत्तम पथ्य है। इसकी गुठली का चूर्ण मूत्र में शर्करा को कम करता है।

बेर—कच्चा बेर कफ और पित्त करता है। पक्का बेर पित्त और वायु को नष्ट करता है, स्निग्ध, मधुर, मल को लानेवाला है। सूख जाने पर कफ और वायु को नष्ट करता हैं, पित्त के लिये योग्य है। पुराना बेर प्यास को शान्त करनेवाला, थकान को दूर करनेवाला, लघु और अग्निवर्द्धक है।

अनार—कषाय रस, पित्त को शान्त करनेवाला, दीपक, रुचिकर, मन को प्रसन्न करनेवाला, अतिसार-रोग में उत्तम है। अनार दो प्रकार के होते हैं—एक खट्टा और दूसरा मीठा। मीठा अनार तीनों दोषों को नाश करता है और खट्टा अनार वायु और कफ करता है।

केला—भारी, शीतल, रुचिकारक और पित्तनाशक है। बलदायक, शुक्रवर्द्धक और तृप्तिकारक है। मांसवर्द्धक है, परन्तु कफ करनेवाला है। पचने में कठिनता से पचता है। प्यास, ग्लानि, पित्त, रक्त-विकार, प्रमेह, क्षुधा और नेत्र-रोग नष्ट करता है। भस्मक रोग में केला उत्तम है।

आँवला—खट्टा और कषाय रसवाला है। गुणों में रसायन, पित्तशामक, त्रिदोषहर, सारक, बल-बुद्धि-दायक, वीर्य-सुधारक, पौष्टिक, स्मृति-वर्द्धक, शीतल और शुक्रवर्द्धक है। आँवले का मुरब्बा प्राय: खाया जाता है। जो गुण कच्चे आँवले में हैं, वे मुरब्बे में नहीं होते।

नारंगी—पचने में दुर्जर, भारी, वायुनाशक है। खाने में मधुर, रुचिकारक, शीतल, पौष्टिक, जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाली, हृदय के लिये हितकारक है। प्यास में, मन्दाग्नि में, क्षय में, अरुचि में इसका रस बहुत लाभदायक है। खट्टी नारंगी से मीठी नारंगी उत्तम है।

द्राक्षा—दो प्रकार की होती है—खट्टी, मीठी। सफेद पीले रंग की, दूसरी काले रंग की। इसके अतिरिक्त मुनक्का भी इसीका भेद है। इसमें बीज होता है। मुनक्के को गरम करके नमक के साथ खाने से कफ होने का भय नहीं रहता। सूखी काली दाख प्रायः सब प्रकृतिवालों के अनुकूल होती है। यह मधुर है, तृप्तिकारक है, चक्षु को हितकारी है, श्रमनाशक है, सारक अर्थात् दस्त साफ लानेवाली है। पेशाब को खुलासा लाती है, पौष्टिक है। रक्त-विकार में, दाह, शोष, मूर्च्छा, ताव, श्वास, खाँसी, वमन, शोथ, वात, रक्त आदि में लाभदायक है। दोनों किशमिशें शुक्रवर्द्धक हैं। मुनक्का किशमिश से अधिक भारी है।

नीबू—मीठे नीबू को फलों में गिना जाता है। खट्टा नीबू मसाले के रूप में काम आता है। यह खट्टा नीबू वायु और कफ नष्ट करता है। पित्त को प्रकुपित करता है। प्यास, शूल, कफ के रोगों को, वमन को बन्द करता है। इसीका दूसरा भेद बिजौरा नीबू है, जिसके ऊपर बहुत मोटा छिलका चढ़ा होता है। यह नीबू खट्टा, जल्दी पचनेवाला, अग्नि-दीपक, श्वास-कास, अरुचि को नष्ट करनेवाला, प्यास को हटाता है। मीठा नीबू स्वादिष्ट, मधुर, तृप्तिकारक, अति रुचिकारक, हल्का, जन्तुनाशक है। जिसका पेट अकड़ गया हो, और मल बन्द होगया हो (बद्ध-गुदोदर रोग में) उस समय नीबू उपयोगी है। खाने-पीने की अरुचि में, पेट में वायु तथा शूल होने से रोगी के लिये नीबू लाभदायक है। ज्वर-रोग में भी नीबू लाभदायक है। खट्टे नीबू के रस का शर्बत पित्त-शामक, वमन को रोकनेवाला और अरुचि नष्ट करनेवाला है।

फालसा—कच्चा फालसा—वात को नष्ट करनेवाला, पित्तकारक और बहुत खट्टा होता है। पकने पर मीठा तथा वायु और पित्त को शान्त करता है। प्यास रोकता है, इससे ज्वर में पथ्य है।

सीताफल—मधुर, शीतल और पौष्टिक है। कफ और वायु बढ़ाता है।

अंजीर—ठण्डी और भारी है। कास-श्वास, रक्त-दोष, दाह, वायु और पित्त नष्ट करती है।

अमरूद—स्वादिष्ट, शीतल, रुचिकर, वीर्यवर्द्धक और त्रिदोषहर है। परन्तु तीक्ष्ण है, भारी है, कफकारक है, वातल अर्थात वायु कारक है। उन्माद-रोग में हितकारक है।

सेव—मधुर, रुचिकारक, हृदय के लिये हितकर, शीतल, ग्राही और पित्तहर है। अतिसार के रोग में पथ्य है, इसका मुरब्बा बनता है।

आलूबुखारा—हृदय के लिये हितकर, ठंडा, भारी, गरम तथा धातुवर्द्धक है। प्यास को मिटाता है, पित्त कम करता है, पाचन-शक्ति बढ़ाता है। आलूबुखारा बहुत खट्टा होता है, शर्करा के साथ खाने से रुचि पैदा करता है। चित्त प्रसन्न करता है।

इमली—इमली का कच्चा फल सदैव त्याग करना चाहिये। कच्चा फल रक्त-पित्त और आम रोग उत्पन्न करता है। पेट में दाह उत्पन्न करता है। अति ठंडा होने से सन्धियों को जकड़ता है और नसों को ढीला करता है। इमली का नित्य सेवन करना हानिकारक है। गरमी की ऋतु में दाल, शाक और मसाले में इसका उपयोग करना उत्तम है। भोजन में रुचि उत्पन्न करती है। मद्रास में इमली खाने का बहुत प्रचार है। नई इमली की अपेक्षा पुरानी इमली अधिक लाभदायक होती है।

नारियल—इसका फल पचने में भारी, स्निग्ध, पित्त को नाश करता है। स्वादु, शीतल, बल और मांसकारक, हृदय के अनुकूल, बृंहण और वस्ति-शोधक है।

ताल—मीठा, पकने पर भारी, पित्तनाशक है।

खजूर—पौष्टिक, स्वादिष्ट, मधुर, ग्राही, रक्त को साफ करनेवाला, हृदय के लिये हितकारक, त्रिदोषहर, श्वास, क्षय, विष, तृषा, शोथ और अम्ल-पित्त जैसे भयंकर रोगों में पथ्य और हितकारक है। पचने में भारी है। अतः छोटे-छोटे बच्चों के लिये उपयोगी नहीं है। खजूर को दूध के साथ खाने से अधिक पौष्टिक प्रभाव होता है। खजूर में लोहा होता है। व्रण-रोगी, क्षय-रोगी के लिये पथ्य है, शीतल है।

बादाम—पिस्ता, चिरौंजी, ख़ूबानी आदि सूखे मेवे हैं । ये वस्तु बहुत हितकारक हैं । सब प्रकार के पाक या लड्डुओं में इनका उपयोग किया जाता है । बादाम का प्रभाव मस्तिष्क पर बहुत होता है । कड़वा बादाम हानिकारक है, उसमें एक प्रकार का तेल होता है, जो बहुत हानिकारक होता है । बादाम पचने में भारी है । इसका तेल बहुत उपयोगी है, ठंडा है । नींद लाने के लिये बहुत उत्तम है ।

खान-पान की अन्य चीज़ें

गन्ने का रस

गुड़— गन्ने के रस में से बननेवाले पदार्थों में गुड़, खाँड़ और शक्कर मुख्य हैं । नये और पुराने गुड़ के गुण पृथक्-पृथक् होते हैं । नया गुड़ गरम, पचने में भारी, रक्त-विकार तथा पित्त-विकार करनेवाला है । पुराना गुड़ अधिक पथ्य और हितकारी है । अग्नि-दीपक है और रसायनरूप है । पाण्डु, पित्त और कफ को नष्ट करता है । गन्ने के रस में तैयार होने पर एक साल के पश्चात् गुड़ पुराना हो जाता है । तीन साल का पुराना गुड़ सबसे अधिक अच्छा गिना जाता है । औषधि में पुराना गुड़ काम में आता है । यदि शहद न मिलता हो, तो पुराना गुड़ उसके स्थान में काम आ सकता है । तीन वर्ष के पीछे गुड़ के गुण में विकार उत्पन्न हो जाता है । तीन वर्ष का गुड़ आर्द्रक के साथ खाने से कफ का, हरड़ के साथ खाने से पित्त का और सोंठ के साथ खाने से वायु का नाश करता है । गुल्म, अर्श, अरुचि, क्षय, खाँसी, खाँसी की जख्म, क्षीणता, पाण्डु इन रोगों में पुराना गुड़ योग्य औषधि के साथ खाया जाय, तो उत्तम लाभ करता है । नया गुड़ कफ, श्वास, खाँसी, कृमि, तथा दाह को बढ़ाता है । पित्त-प्रकृतिवालों को नया गुड़ नहीं खाना चाहिये । चूरमा, लप्सी और हलवे में विशेषतः गुड़ का उपयोग होता है । बहुत-से मजदूर किसान रोटी के साथ इसका उपयोग करते हैं । परन्तु जो गुड़ उत्तम और पुराना न हो, वह स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है । चूरमा, लप्सी आदि में गुड़ के साथ बड़ी मात्रा में यदि घी खाया जाय, तो वह शरीर के लिये गरम नहीं होता । जिसका शरीर निर्बल हो, कहीं पर व्रण हो, जिसको अर्श, श्वास और मूर्च्छा का रोग हो, जिसको चलने से थकान लगा हो, जिसको बहुत मेहनत पड़ी हो, जिसको विष चढ़ा हो, जिसको

मूत्र-कृच्छ्र या पथरी का रोग हो, जो जीर्ण ज्वर से पीड़ित हो, जिसको विषम ज्वर, तृषा, दाह, रक्त-पित्त, क्षय, और रक्त-विकार का रोग हो, इनको यदि युक्ति से पुराने गुड़ का उपयोग कराया जाय, तो विशेष लाभ करता है।

खाँड़—पित्त को मिटानेवाली, ठण्ढी, बल देनेवाली, नेत्र को फायदा करनेवाली और वीर्य को उत्पन्न करनेवाली है। खाँड़ कफ उत्पन्न करती है। इसलिये कफ-विकार में, रक्त-विकार से उत्पन्न शोथ में, ज्वर में, तथा कई रोगों में खाँड़ नुकसान करती है।

मिश्री—मधुर, ठण्ढी, बलवर्द्धक और मल-शुद्धिकारक है, परन्तु कफ करती है। क्षय, खाँसी, वमन तथा प्यास को दबाती है। भ्रांति, दाह, श्रम, अर्श, मोह, मूर्च्छा, मद, श्वास, उल्टी, अतिसार, रक्त-विकार, तथा पित्त के विकार में मिश्री पथ्य अर्थात् गुणकारी है। गुड़ में क्षार आदि पदार्थों का मेल होता है और उसमें मैल अधिक होता है। खाँड़ में मैल कम होता है और मिश्री में और भी कम होता है। नित्य उपयोग के लिये सबसे उत्तम मिश्री, उससे कम खाँड़ और सबसे कम गुड़ है।

खाँड़ आदि मिष्ट पदार्थों का आवश्यकता से अधिक उपयोग होने से ये शरीर को हानि पहुँचाते हैं। इसलिये स्वाद के लिये इनका अधिक उपयोग हानि करता है। विवाह आदि में जब जीमन होता है उस समय खाँड़ आवश्यकता से अधिक व्यवहार में आती है। पीछे से यही खांड़ नुकसान करती है।

गन्ने का रस—यह दो प्रकार का है। एक तो दाँतों से चूसा जाता है और दूसरा कोल्हू से निकलता है। इनमें प्रथम प्रकार का रस शीत, शुक्र को बढ़ानेवाला, तर्पण, जीवन देनेवाला और भारी है। वात, रक्त और पित्त को नष्ट करता है; स्वादु, स्निग्ध, पुष्ट करनेवाला है। यह दाँतों से चूसा हुआ रस कफकारक परन्तु विदाह उत्पन्न नहीं करता। कोल्हू से पेरा हुआ रस विदाही होता है; क्योंकि गन्ने की गाँठों का रस भी उसमें मिल जाता है। गन्ना जड़ में सबसे अधिक मीठा होता है, मध्य भाग में मध्यम और अगले भाग में नमकीन होता है।

पका हुआ—गरम हुआ रस भारी, स्निग्ध, तीक्ष्ण और कफ-वात को नष्ट करता है। पकाने से इसके ऊपर की निकाली हुई मलाई गुरु, कफकारक, पोषक और शुक्रवर्द्धक होती है।

प्रकरण छठा

रोग-परीक्षा

रोग-परीक्षा की कई विधियाँ प्रचलित हैं। आर्य वैद्यक-शास्त्र में दो प्रकार की, छः प्रकार की और आठ प्रकार की परीक्षा-विधियाँ प्रचलित हैं। यथा—अपने आप प्रत्यक्ष देखकर तथा अनुमान से रोग की परीक्षा करना, दो प्रकारी परीक्षा है। और जब इसी विधि में "आप्तोपदेश" किसी गुरु या ग्रन्थ की सहायता से परीक्षा की जाती है, तो यह तीन प्रकार की है। और जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा तथा रोगी से सहायता ली जाती है, उससे पूछकर रोग का निर्णय करते हैं, तो यह छः प्रकार की परीक्षा होती है। और जब इस छः प्रकार की परीक्षा में मल और मूत्र की परीक्षा, अथवा नाड़ी-परीक्षा मिला दी जाय, तो यह आठ प्रकार की परीक्षा हो जाती है।

नवीन चिकित्सा-शास्त्र में रोग-परीक्षा-विधि दो भागों में विभक्त है। एक—जिसकी चिकित्सक स्वयं परीक्षा करता है; दूसरी विधि—जो बातें रोगी से पूछकर जानता है। प्रथम विधि को फिर चार भागों में विभक्त किया है। यथा—निरीक्षण—अर्थात् आँखों से रोगी के शरीर का निरीक्षण करना, स्पर्शन—हाथों के द्वारा रोगी के शरीर का स्पर्श करना, शरीर के भिन्न-भिन्न भागों पर मृदु प्रहार करके उनके शब्द को सुनना और रोग को पहचानना; श्रवण—ध्वनि-यंत्र (स्टैथसकोप) के सहारे से निर्णय की खातरी करना।

रोगी से प्रश्न पूछते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी से निर्देशात्मक प्रश्न नहीं करने चाहियें। यथा—तुम्हारे पेट में दर्द है/न? इस प्रकार के प्रश्नों का परिणाम यह होता है कि वात-प्रकृति के रोगी दर्द का अनुभव करने लगते हैं, अथवा रोगी समझता है कि दर्द का होना आवश्यक है। इस प्रकार से वह ठीक उत्तर नहीं दे सकता, सन्देह में पड़ जाता है।

संक्षेप से इन सब विधियों का निम्न चार भागों में समावेश कर दिया गया है। यथा—

(१) **प्रकृति-परीक्षा**—रोगी के अन्दर वायु, पित्त, कफ, रक्त आदि दोषों में से कौन प्रधान है, इनकी शरीर में इस समय क्या स्थिति है; धातुवों का क्या रूप है, इस बात की परीक्षा को प्रकृति-परीक्षा कहते हैं।

(२) **स्पर्श-परीक्षा**—इस विधि में शरीर के भिन्न-भिन्न भागों पर स्पर्श करके उनकी अवस्था, उष्णता, शीतता, कठोरता या मृदुता का अनुभव करते है। इस परीक्षा को पूर्ण बनाने के लिये "थर्मामीटर" आदि साधनों का भी उपयोग किया जाता है।

(३) **दर्शन-परीक्षा**—कई बातें रोगी के शरीर-दर्शन से जानी जा सकती हैं। आँखों में पीलापन, शरीर में पित्त-वृद्धि को बता देता है। इसी प्रकार रोगी की जीभ, उसका मल-मूत्र बहुत-से रोगों का निर्णय करा देता है।

(४) **प्रश्न-परीक्षा**—बहुत-सी बातें रोगी से पूछकर जानी जाती हैं। जैसे रोग का प्रारम्भ किस प्रकार से हुआ, दर्दों का स्वरूप, उसके पहले आक्रमण आदि बातों का रोगी से पता चलता है।

प्रकृति-परीक्षा

आर्य वैद्यक-शास्त्र मे वात, पित्त और कफ के ऊपर विशेष ध्यान दिया जाता है। नाड़ी-परीक्षा में भी इसी बात का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। इस रोग में इस समय वात-नाड़ी है, पित्त-नाड़ी है, कफ-नाड़ी है, या मिश्रित है, ये बातें भी प्रकृति के ऊपर निर्भर रहती हैं। इसलिये प्रत्येक दोष की प्रकृति के स्वरूप को जानना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी प्रकृति से परिचित रहे। मेरी प्रकृति शान्त है, गरम है, तामसिक है इत्यादि बातों को समझना आवश्यक है। जो मनुष्य अपनी प्रकृति से परिचित होता है, वह यदि खान-पान के नियमों का पालन करे, उनके गुण दोष को समझे, तो अपनी प्रकृति को स्वस्थ रख सकता है।

वात, पित्त और कफ की समानावस्था का नाम प्रकृति है, जिस प्रकार बाह्य जगत् में सत्त्व, रज और तम का नाम प्रकृति है। इनमें

किसी पदार्थ में रज बहुत होता है और किसी में तम अधिक होता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य में वात की मात्रा अधिक होती है, किसी में पित्त की। तीनों धातु समानवाले मनुष्य बहुत कम मिलते हैं। किसी में कोई धातु, और किसी में दो धातु मिलकर प्रधानरूप से रहते हैं। जिस मनुष्य में जो दोष प्रधान रहते हैं, उसकी प्रकृति उसीके अनुसार समझी जाती है। यही कारण है कि एक वस्तु एक प्रकृतिवाले के अनुकूल आती है, परन्तु दूसरी प्रकृतिवाले के अनुकुल नहीं आती। पित्त प्रकृतिवाले को गरम वस्तुयें अनुकूल नहीं आतीं और कफवाले को ठण्डी वस्तुयें।

प्रकृति के मुख्य वर्ग चार हैं, १—वात-प्रधान प्रकृति, २—पित्त-प्रधान प्रकृति, ३—कफ-प्रधान प्रकृति और ४—रक्त-प्रधान प्रकृति। यदि इन प्रकृतियों के लक्षण परस्पर मिले हुये हों, तो मिश्र प्रकृति समझनी चाहिये। प्रकृतियों के साधारण लक्षण नीचे दिये जाते हैं।

१—वात-प्रधान प्रकृतिवाले मनुष्यों के शरीर के अवयव मोटे परन्तु अव्यवस्थित, छोटे-बड़े, बेडौल, शिर शरीर के परिमाण में बड़ा या छोटा, माथा छोटा, शरीर पतला और सूखा हुआ, शरीर का रंग फीका, रक्त की कमी, आँखों के चारोंओर काला रंग, बाल मोटे, काले परन्तु छोटे, चमड़ी तेज बिना रूक्ष परन्तु जल्दी स्पर्श का ज्ञान करनेवाली; मांस के टुकड़े कठिन परन्तु पतले; गति उतावली, चंचल परन्तु कम्पायमान; रक्त का संचार अनियमित होने से किसीका शिर गरम और हाथ-पाँव ठण्डे और किसीका शिर ठण्डा और हाथ-पाँव गरम रहते हैं। काम करने की प्रवृत्ति प्रबल, परन्तु मन चंचल और अस्थिर, काम क्रोधादि शत्रुओं को वश में करने की अशक्ति; प्रीति, अप्रीति तथा भय जल्दी उत्पन्न होता है। वायु प्रकृतिवाले मनुष्य में न्याय और अन्याय का सूक्ष्म विवेचन करने की शक्ति होती है। परन्तु वह अपने इन्साफी विचार को अमल में लाने के लिये असमर्थ रहता है। वायु-प्रधान प्रकृतिवाले मनुष्य की सम्पूर्ण जिन्दगी चंचल और अस्थिर वृत्ति की गुजरती है। इस प्रकृति का मनुष्य सब कार्यों में उतावला रहता है। इसको शारीरिक और मानसिक कष्ट प्रायः अधिक रहते हैं, उनको सहन करने में भी इसको कठिनता होती है। दूसरी प्रकृतिवालों में ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, उनका मन और शरीर मन्द पड़ता जाता है, परन्तु वात-प्रधान प्रकृतिवालों में शरीर और मन आयु

के बढ़ने के साथ-साथ कठिन और मजबूत बनता जाता है। इस प्रकृतिवाले पुरुषों में अजीर्ण रोग, कब्ज-कोष्ठ, अतिसार, पेट के रोग, शिर की पीड़ा, चस्का, विसर्प, फुस्फुस की सूजन, क्षय, उन्माद आदि रोग विशेष रूप से होते हैं। इस प्रकृतिवाले मनुष्यों की आयुष्य, बल तथा धन अल्प होता है। वात-प्रधान प्रकृति के मनुष्यों की तिक्त, चरपरा, गरमागरम तथा खारे पदार्थों पर विशेष प्रीति होती है। मीठे पदार्थों पर कम प्रेम होता है।

वात-प्रकृतिवाले मनुष्य को नींद कम आती है, शीत से द्वेष करता है, चोर, कृतघ्न, ईर्षालु, गान्धर्व रुचिवाला, क्रोधी, दाँत और नखों को खानेवाला, धैर्य-रहित, इसकी मित्रता दृढ़ नहीं होती। शरीर की धमनियाँ स्पष्ट दीखती हैं, बहुत बोलनेवाला तथा बिना सम्बन्ध के बोलनेवाला होता है।

पित्त-प्रधान प्रकृतिवाले मनुष्यों के शरीर के अंग और उपांग सुन्दर और सुगठित तथा मांस ढीला होता है। शरीर का रंग प्रायः पीला, बाल थोड़े तथा जल्दी श्वेत हो जाते हैं। शरीर पर छोटी-छोटी फुन्सियाँ हुआ करती हैं। भूख और प्यास इनको जल्दी लगती है; मुँह, बगल और शिर पर के पसीने से बदबू आती है; बुद्धिमान परन्तु क्रोधी और चिड़चिड़ा; आँख, मूत्र और मल का रंग ज़रा पीला, पराक्रमी, साहसी, उत्साही तथा क्लेश सहन करनेवाला; इसका बल, आयुष्य, द्रव्य तथा ज्ञान मध्यम होता है। इस प्रकृति के मनुष्यों को अजीर्ण और पित्त-विकार होना अधिक सम्भव हैं। पित्त-प्रकृतिवालों को मीठे एवं खट्टे-मीठे रस पर विशेष प्रीति होती है। तीखे और खारे पदार्थ पर अरुचि रहती है। इस प्रकृति का मनुष्य जल्दी ही कुपित होता है और जल्दी ही प्रसन्न हो जाता है।

कफ-प्रधान प्रकृतिवाले मनुष्यों का शरीर सुन्दर, भरावदार और मजबूत, अवयव सम्पूर्ण, शरीर का वर्ण सुन्दर, चमड़ी कोमल, बाल सुन्दर और कोमल, रंग स्वच्छ, आँखें चमकती, श्वेत अथवा धूसर रंग की, दाँत मैला सफेद, स्वभाव गम्भीर, बल और निद्रा अधिक, आहार थोड़ा, विचार-शक्ति कोमल तथा बोलने की शक्ति थोड़ी, याद-शक्ति उत्तम और विवेक-शक्ति विशेष, विचार न्याय-युक्त, व्यवहार साफ, तथा इस प्रकृतिवाले मनुष्यों के मानसिक भाव शारीरिक भावों से बड़े होते हैं। कफ प्रकृति-वाले मनुष्यों की गति मन्द, परन्तु दृढ़ होती है। इस प्रकृति के मनुष्य

बलवान, धनवान और आयुष्यवान् होते हैं। कफ-प्रकृतिवालों के सामान्य कारणों से रोग होते हैं। कफ के साथ रस की वृद्धि होती है, इस कारण शरीर भारी और चर्बीवाला हो जाता है। इससे शरीर आलसी तथा अशक्त रहता है। हाथ-पाँव मोटे और सन्धियाँ भी मोटी होती हैं। चेहरा विरस और फीका होता है। वीर्य की निर्बलता, शोथ, जल-वृद्धि, हाथी-पग (श्लीपद) आदि रोग इनको प्रायः होते हैं। कफ-प्रकृतिवालों को तीखे और खारे पदार्थों पर अधिक प्रेम रहता है। इस प्रकृति का मनुष्य कृतज्ञ, मधुर पदार्थों की रुचि रखनेवाला, सहिष्णु, निर्लोभी, बलवान और एक बार दुश्मन होने पर फिर मैत्री नहीं करता।

रक्त-प्रधान प्रकृतिवाले मनुष्य—वात, पित्त और कफ-प्रकृति के सिवा जिन मनुष्यों में रक्त की मात्रा अधिक होती है, उनके लक्षण नीचे लिखे अनुसार होते हैं। शरीर की अपेक्षा माथा छोटा, मुखमण्डल चौकोर, शिर बड़ा, कइयों का पीछे से ढलवाँ छाती चौड़ी, गम्भीर और लम्बी होती है। खड़े होने से नाभि पेट के बाहर या अन्दर दिखाई नहीं देती। चरबी थोड़ी, शरीर पुष्ट, लोहू से पूर्ण और बाल सुन्दर, सूक्ष्म, कुञ्चित, त्वचा कठिन, मांस-पेशियों के टुकड़े दिखाई देते हैं। नाड़ी पूर्ण और बलवान होती है। दाँत मज़बूत और पीलापन लिये होते हैं। पीने की द्रव वस्तुओं पर अधिक रुचि, पाचन-शक्ति प्रबल, मेहनत करने की शक्ति बहुत, मानसिक-वृत्ति कोमल, बुद्धि स्वाभाविक, सहनशील, संतोषी, लोकोपकारक, बोलने में कुशल, सरल भाषी और हिम्मतवान तथा किसी न किसी काम में फँसा रहना चाहता है। ख़ाली बैठक पसन्द नहीं करता। इस प्रकृति के मनुष्य को दाह, फेफड़े के पर्दों का सूजन, नज़ला, दाह-ज्वर रक्त-स्राव आदि रोग विशेष होते हैं।

प्रायः दो दोष आपस में मिले रहते हैं। इसीसे प्रकृति की सूक्ष्म विवेचना करने में कठिनता होती है। इसलिये दोनों दोषों के लक्षण मिले रहते हैं। इसलिये लक्षणों का सूक्ष्म विवेचन करके प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति का निर्णय कर सकता है।

प्रकृति का निर्माण उस समय ही हो जाता है, जब इस शरीर की आधार-शिला रक्खी जाती है। रज और वीर्य के मिलने के समय जो दोष प्रबल होता है, उसीके अनुसार मनुष्य की प्रकृति बनती है। जिस प्रकार

विष-कीट विष से नहीं मरता, उसी प्रकार दोष-युक्त प्रकृतिवाला मनुष्य भी उस दोष से दुःखी नहीं होता।

रोग की परीक्षा, उसका उपाय तथा पथ्यापथ्य का निर्णय, प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके, करने में सरलता रहती है। इसीसे प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी प्रकृति का ज्ञान रक्खे।

रोग और प्रकृति का आपस में कुछ सम्बन्ध है या नहीं? यह एक आवश्यक प्रश्न है। प्रायः प्रकृति में जो दोष प्रबल होता है, प्रायः रोग भी उसी दोष के कोप से होता है। यदि रोगी की प्रकृति वायु-प्रधान हो, तो उस मनुष्य को जो ज्वर आदि रोग होगा, वह वायु से सम्बन्धित होगा, इस प्रकार की सम्भावना करना उत्तम है। इसी प्रकार पित्त, कफ और रक्त-प्रकृतिवालों के लिये समझना चाहिये। रोग सदा मूलप्रकृति के दोष के साथ ही आता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रायः ऐसा भी होता है कि प्रकृति पित्त की है और रोग वायु का हो, अथवा प्रकृति वायु की हो और रोग पित्त का हो। कई बार ऐसा भी होता है कि प्रकृति के ऊपर रोग का बिलकुल आधार नहीं होता। तथापि रोगों की परीक्षा और उपचार के लिये प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है।

स्पर्श-परीक्षा

इस परीक्षा में (अ) नाड़ी-परीक्षा (ब) त्वचा-परीक्षा (स) थरमामीटर—गरमी मापने की नली, जिसमें पारा भरा होता है और स्टैथस्कोप—ध्वनि-यंत्र की परीक्षा शामिल है।

स्पर्श-परीक्षा का सबसे सरल और उत्तम साधन अपना "हाथ" है। रोग-परीक्षा में हाथ बहुत सहायता करता है, शरीर गरम है या ठण्डा; चिकना है या रूखा—इस बात को हाथ बता सकता है। शरीर के अन्दर अमुक अवयव नर्म है या कठिन, अथवा अन्दर के भाग में कहीं गाँठ है या शोथ—इसकी परीक्षा भी हाथ करता है। नाड़ी की परीक्षा करनेवाला भी हाथ है। नाड़ी के ज्ञान से शरीर की गरमी का भी पता चल सकता है। अनुभवी वैद्य और हकीम अपने अनुभव से नाड़ी-परीक्षा करके गरमी का ठीक-ठीक माप बता सकते हैं। जितना काम थर्मामीटर करता है, उतना ही काम चालाक हाथ और अनुभवी अँगुलियाँ कर देती हैं। शरीर की गरमी

मापने के लिये थर्मामीटर एक उत्तम साधन है। इसकी सहायता से कोई भी मनुष्य अपनी गरमी सुगमता से माप सकता है। हृदय में रक्त की गति तथा श्वासोच्छ्वास की क्रिया जानने के लिये स्टैथस्कोप नामक ध्वनि-यंत्र का आविष्कार किया गया है। यह ध्वनि-यंत्र हाथ और कान को मिलाकर परीक्षा को पूर्ण कर देता है।

(अ) **नाड़ी-परीक्षा**—हृदय से रक्त बाहर धमनियों मे फेंका जाता है। इससे धमनियों में एक विशेष स्पन्दन होता है। यह स्पन्दन धमनियो ही में रहता है, शिराओं में नहीं। यही स्पन्दन बड़ी धमनियों में से होकर छोटी धमनियों में पहुँचता है। वही स्पन्दन अंगुष्ठ के पासवाली धमनी में प्रतीत होता है। इसीको आर्यवैद्यक-शास्त्र की परिभाषा में "नाड़ी-ज्ञान" कहते हैं। इस नाड़ी-ज्ञान मे कई रोगों की परीक्षा हो सकती है। किसी भी धमनी (शुद्ध रक्त-वाहिनी) के ऊपर अँगुली रखने से रोग की परीक्षा हो सकती है। परन्तु कहीं-कहीं शरीर में धमनी मांस और चर्बी में छिपी रहती है। अतः उनका स्पन्दन ठीक अनुभव नहीं होता। जहाँ पर धमनी त्वचा के समीप और पृथक् हो, वहाँ पर स्पन्दन अच्छी प्रकार मालूम हो सकता है। यह स्थान अंगुष्ठ की जड़ मे उभार के पीछे, कलाई के समीप में उत्तम है। इसीसे प्रायः यहीं पर नाड़ी-ज्ञान किया जाता है।

नाड़ी-परीक्षा के लिये चिकित्सक और रोगी दोनों को शान्त और अनुद्विग्न मन से बैठना चाहिये। चिकित्सक अपने बायें हाथ से रोगी की दक्षिण कोहनी को सहारा देकर कोहनी को थोड़ा संकुचित कर दे। फिर कलाई पर अंगुष्ठ की जड़ से दो अँगुली पीछे तर्जनी, मध्यमा और अनामिका इन तीन अँगुलियों को बहिः प्रकोष्ठीया धमनी पर रक्खे। इस प्रकार तीन बार छोड़-छोड़कर परीक्षा करनी चाहिये। यद्यपि नियम यह है कि पुरुषों के दक्षिण हाथ में और स्त्रियों के बायें हाथ में परीक्षा की जाय; तथापि भ्रम न हो इसलिये दोनों के दोनों हाथों मे परीक्षा करनी चाहिये। नाड़ी-परीक्षा का समय सबसे उत्तम प्रातःकाल का है। इसलिये तत्काल स्नान करके, रति-क्रिया के पश्चात्, प्यास, व्यायाम आदि वेगों की अवस्था में नाड़ी नहीं देखनी चाहिये। जिस प्रकार बीणा से नाना प्रकार के शब्द

निकलते हैं; उसी प्रकार नाड़ी भी भिन्न-भिन्न प्रकार की अवस्थाओं का परिचय देती है।

सबसे प्रथम नाड़ी का वेग निश्चित करना चाहिये। नाड़ी-परीक्षा में कुशल वैद्य, अनुभवी हकीम नाड़ी के स्पर्श-मात्र से नाड़ी का वेग और उसकी गति पहचान लेते हैं। नाड़ी का स्पंदन घड़ी की सहायता से भली प्रकार गिना जा सकता है। एक हाथ में घड़ी रखकर दूसरे हाथ से नाड़ी के स्पन्दन गिनने चाहिये। इस प्रकार गिनने से जो संख्या आती है, वह संख्या हृदय के स्पन्दन की होती है, जो धमनी द्वारा नाड़ी तक पहुँची है। यदि यह गिनती ११० आये, तो इसका अर्थ यह है कि स्पन्दन एक मिनिट में ११० बार हो रहा है। कई बार एक मिनिट में पूरी संख्या न गिनकर आधे मिनिट तक गिनते हैं, फिर उसको दुगना कर लेते हैं। इस विधि से भूल प्रायः कम होती है। स्वस्थ मनुष्य में नाड़ी का स्पन्दन निम्न प्रकार से होता है—

आयु	एक मिनिट का स्पन्दन
गर्भावस्था में बालक की	१४० से १५०
सद्यः नवजात बालक की	१३० से १४०
पहले बरस में	११५ से १३०
द्वितीय बरस में	१०० से ११५
तृतीय बरस में	९५ से १०५
४ से ७ बरस में	९० से १००
७ से १४ बरस में	८० से ९०
१४ से २१ बरस में	७५ से ८५
२१ से ५० बरस में	७० से ७५
बुढ़ापे में	७५ से ८०

नाड़ी के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनायें— विद्वान चिकित्सकों ने परीक्षा करके ऊपर के आँकड़े निश्चित किये हैं; परन्तु भिन्न-भिन्न जाति और स्थिति के कारण इन में अन्तर आजाता है। (१)—ऊपर के आँकड़ों में एक स्वस्थ युवा व्यक्ति की नाड़ी-गति ७० से ७५ बताई है, परन्तु इसी उमर की स्वस्थ, निरोगी स्त्री की नाड़ी-गति पुरुष की गति से तेज होती है, यहाँ तक कि प्रायः इसमें दस स्पन्दनों का अन्तर रहता है। (२) मनुष्य

खड़ा हो, तो जो स्पन्दन उस समय होते हैं, बैठने पर वे घट जाते हैं और लेटने पर और भी कम हो जाते हैं। ३—कसरत करने से, दौड़ने या चलने से नाड़ी का वेग बढ़ जाता है। इसलिये नाड़ी-परीक्षा में इन बातों का ध्यान रखना चाहिये। ४—नाड़ी की परीक्षा दोनों हाथों में करनी चाहिये। कई बार नाड़ी अपने असली स्थान पर न मिलकर अँगूठे की जड़ के पीछे की ओर मिलती है। इससे यदि शरीर में रक्त-संचार हो तो दूसरे हाथ में मिल जायगी। ५—कई बार कलाई या चूड़ी या तंग पहुँचियाँ पहनने से, अथवा बाहु पर पट्टी के कारण, अथवा सिर के नीचे हाथ रखकर ठीक-ठीक मालूम नहीं पड़ता, इसलिये इन अवस्था देखना चाहिये। ६—कमजोर आदमी डर घबरा जाता है, इससे नाड़ी का वेग बढ़ ... शान्ति ... चाहिये। ७—श्रम करके आ... मनुष्य को शान्ति से ... उसे लेटाकर या बैठाकर नाड़ी देखनी चाहिये। खड़े हुये मनुष्य ... नहीं देखनी चाहिये। ८—बहुत रक्तवाले मनुष्य की नाड़ी जोर से और जल्दी चलती है। ९—प्रातःकाल की अपेक्षा नाड़ी सायंकाल में मन्द और कम चलती है। १०—भूख में जीमने के पीछे नाड़ी का जोर बढ़ जाता है, इसी प्रकार मादक वस्तुओं के पीछे यथा - चाय, शराब, कॉफी, तम्बाकू पीने के पीछे भी नाड़ी की गति बढ़ जाती है। इस प्रकार से जब स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी में अन्तर आजाता है, फिर रोगी मनुष्य की नाड़ी में कितने प्रकार का अन्तर आता होगा, इस बात की कल्पना करना असम्भव नहीं। इसलिये नाड़ी-परीक्षा की विधि में इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिये।

आर्य वैद्यक-शास्त्र के अनुसार नाड़ी-परीक्षा— अंगुष्ठमूल धमनी पर यथाक्रम से तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अँगुलियाँ चिकित्सक को रखनी चाहिये। इन अंगुलियों के नीचे क्रमशः वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष स्पष्ट होते हैं। तर्जनी के नीचे यदि स्पन्दन प्रबल और जोरदार हो, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर में वायु की प्रधानता है। इसी प्रकार मध्यमा के नीचे का स्पन्दन पित्त को और अनामिका के नीचे का स्पन्दन कफ को बताता है। आयुर्वेद के ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों में इस नाड़ी-

विषय के ऊपर कुछ लिखा हुआ नहीं मिलता। इनके पीछे बने ग्रन्थों में इस विषय की चर्चा मिलती है। उन्हींके आधार पर यहाँ लिखा जाता है।

१ वायु की नाड़ी—सर्प और जोंक की भाँति टेढ़ी होकर चलती है। इसमें तरंग रहती है।

२ पित्त की नाड़ी—कौवे, मेंढक की भाँति कूद-कूदकर चलती है।

३ कफ की नाड़ी—हंस, मोर, कबूतर की तरह गम्भीर, स्थूल, चलती है।

की नाड़ी—कभी सर्प के समान और कभी मेंढक के और मध्यमा अँगुली के नीचे विशेषत: प्रकट

कभी सर्प के समान और कभी हंस की नी और अनामिका अँगुली के नीचे विशेषत:

-कफ की नाड़ी—कभी क । मेंढक के समान और कभ समान गति करती हुई मध्यमा और अनामिका के नीचे प्रकट होती है।

७ सन्निपात की नाड़ी—कटफोड़े के समान या तीतर की भाँति जो नाड़ी तीन-चार लगातार आघात देकर रुक जाय और फिर चले और फिर अटके; या दो-तीन बार कुदककर पीछे बन्द हो जाय, इस प्रकार की नाड़ी को सन्निपात की नाड़ी या त्रिदोष की नाड़ी कहते हैं।

८ मृत्यु-नाड़ी—जिस समय नाड़ी का स्पर्श शरीर के और अंगों के स्पर्श के विरुद्ध हो, अर्थात नाड़ी-स्पर्श गरम हो और शरीर-स्पर्श ठण्डा उस समय यह नाड़ी मृत्यु-सूचक है। इसी प्रकार यदि नाड़ी अपना स्थान छोड़ दे, अथवा केवल तर्जनी के नीचे चलती प्रतीत हो, तो यह भी नाड़ी घातक है। यदि नाड़ी एक पतले धागे के समान क्षीण, चञ्चल हो, अथवा तर्जनी के नीचे नाड़ी में पित्त-गति (मेंढक की गति) अनुभव हो या कफ की, तो ये सब नाड़ियाँ मृत्यु के लिये होती हैं।

विशेष विगत—१ हल्की पड़कर फिर सरसर चलने लगे, तो समझना चाहिये कि नाड़ी दो दोषवाली है। जो नाड़ी अपना स्थान छोड़ दे, या रह-रहकर चले, जो नाड़ी बहुत क्षीण हो, या ठण्डी हो, तो ये भी

१० आम्लवक्त्रता—मुँह में खटास रहे।
११ स्वेद-स्राव—बहुत पसीना आये।
१२ अंगपाकता—शरीर पक जाय।
१३ क्लम—शरीर में ग्लानि रहे।
१४ हरितवर्णत्व—शरीर का रंग नीला हो जाय।
१५ पीतकायता—शरीर का रंग पीला हो जाय।
१६ अतृप्ति—जीमने के पीछे भी तृप्ति न हो।
१७ रक्त-स्राव—शरीर के किसी भाग में रक्त-स्राव हो।
१८ अंगदारण—त्वचा फट जाय।
१९ लोह गन्धास्यता—मुँह से रक्त-जैसी बदबू आये।
२० दौर्गन्ध्य—मुँह तथा शरीर से दुर्गन्धि आये।
२१ पीतमूत्रत्व—पेशाब का पीला आना।
२२ अरति—भोजन या अन्य वस्तुओं में अप्रीति।
२३ पीत विट्कता—पीला मल आना।
२४ पीतावलोकन—पीला दिखाई देना।
२५ पीतनेत्रता—आँखों का पीला होना।
२६ पीतदन्तता—दाँतों का पीला होना।
२७ शीतेच्छा—शीत पदार्थों की इच्छा।
२८ पीतनखता—नख पीले हो जायँ।
२९ तेजद्वेष—प्रकाश या तेज का सहन न हो।
३० अल्पनिद्रता—नींद कम आये।
३१ कोप—गुस्सा अधिक आये।
३२ गात्रसाद—गातों में वेदना हो।
३३ भिन्न विट्कत्व—अतिसार (मल टूटकर आये।)
३४ अन्धता—आँखें अन्धी हो जायँ।
३५ उष्णोच्छ्वासत्व- गरम साँस का आना।
३६ उष्णमूत्रत्व—पेशाव का गरम आना।
३७ उष्णमलत्व—मल का गरम आना।
३८ तमोदर्शन—आँखों के आगे अन्धेरा रहना।
३९ पित्तमण्डलदर्शन—पीले चक्कर दिखाई देना।

४० निःसरत्व—वमन और मल में पित्त अधिक आये।

शरीर में जब पित्त का प्रकोप होता है, तो ऊपर लिखे चालीस रोग अथवा इनमें कोई एक अधिक या कम लक्षण उत्पन्न होता है। इनमें कुछ रोग देखने से वायु के विकार प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिये अल्पनिद्रता, मति-भ्रम, क्लम, अरति, गात्रसाद, तमोदर्शन आदि। इनकी चिकित्सा यदि केवल वायु-दोष के अनुसार की जाय, तो लाभ नहीं होता। इसी प्रकार कई रोग देखने में पित्त या कफ के होते हैं; परन्तु मुख्यतः वे रोग वायु-प्रकोप से होते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी दोष अकेला रोग उत्पन्न नहीं कर सकता। कोई एक दोष प्रबल रहता है और दूसरे दोष उसके साथ अनुबन्ध रूप में लगे होते हैं। क्योंकि कोई भी शिरा या धमनी एक दोष का वहन नहीं करती। सब शिरायें सब दोषों का वहन करती हैं। इन दोषों में जो दोष प्रबल होता है, उससे रोग उत्पन्न होता है। शेष दोष उसके सहायक हो जाते हैं।

शरीरस्थ पित्त, रक्त और अग्नि इन तीनों के गुण और धर्म समान हैं। अतः कहीं-कहीं इनको पर्य्यायवाची भी रक्खा गया है।

कफ-प्रकोप के कारण

भारी, मधुर, अति चिकने (घृत तैल आदि) पदार्थों के सेवन से, दूध से, रस-गुड़ आदि से, बहुत तरल पदार्थों के अति सेवन से, दही से, दिन में सोने से, मालपूआ आदि पौष्टिक पदार्थों से, तथा हेमन्त-ऋतु में, दिन के प्रारम्भ में, भोजन के प्रारम्भ में एवं बसन्त-ऋतु में श्लेष्मा का प्रकोप होता है। इसी प्रकार नये अन्न के सेवन से कफ कुपित होता है।

जिस समय शरीर के अन्दर कफ की अधिकता होती है, उस समय नीचे लिखे हुए बीस रोग उत्पन्न होते हैं।

कफ-जन्य रोग (२०)

१ तन्द्रा—आँखों के सामने अँधेरा आना, नींद की अभिरुचि, आलस्य।

भी देता हो, तो उसको पीना अच्छा नहीं; क्योंकि कभी धोखा हो जायगा। इसलिये यदि कोई तुक्का बैठ गया, तो रोग अच्छा होगया; नहीं तो रोगी की मुश्किल। और यदि शास्त्री (ज्ञाता) वैद्य विष भी दे, तो उसका पीना अच्छा है, वह उसके परिणाम को जानता है और उसका प्रतीकार भी कर सकता है। इसलिये बुद्धिमान का कर्त्तव्य है कि वह योग्य चिकित्सक की सम्मति से कार्य करे; क्योंकि दवाइयाँ जहाँ रोगों को अच्छा कर सकती हैं, वहाँ नाना प्रकार के रोग भी उत्पन्न कर सकती हैं।

एक रोग दूसरे रोग का कारण

कई रोग जिस प्रकार मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार कई रोगों से भी वही रोग उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार मिथ्या आहार-विहार से ज्वर होता है, उसी प्रकार शरीर पर चोट लगने से भी ज्वर हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि एक रोग दूसरे को उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाता है और कई बार वह रोग शान्त नहीं होता और साथ में दूसरा रोग भी खड़ा रहता है। उदाहरण के लिये अतिसार संग्रहणी को उत्पन्न कर देता है, कास क्षय को उत्पन्न कर देता है। मिथ्या आहार से मन्दाग्नि होती है और (१) मन्दाग्नि से अजीर्ण, (२) अजीर्ण से अतिसार, (३) अतिसार से मरोड़, (४) मरोड़ से संग्रहणी, (५) संग्रहणी से अर्श और गुदभ्रंश रोग होते हैं। ये रोग स्वतंत्र रीति से भी उत्पन्न होते हैं और दूसरे रोग के कारण से भी।

२—**सर्दी**—"सर्दी" यह देखने में छोटा-सा रोग है, दो-तीन दिन में अच्छा हो जाता है। परन्तु कई बार यह रोग भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। सर्दी में खाने-पीने से दोष बढ़ते हैं। (१) खाँसी होती है, (२) कफ होता है, (३) फेफड़ों में दर्द होता है, (४) क्षय-रोग लागू पड़ जाता है, (५) पीनस रोग होता है।

३—**अजीर्ण**—देखने में यह भी एक सामान्य-सा रोग है। प्रायः अजीर्ण सरल उपायों से अपने आप ही मिट जाता है। जबतक शरीर में शक्ति रहती है, तबतक किसी विशेष प्रकार की हरकत नहीं आती; परन्तु

निर्बल मनुष्यों में यह साधारण रोग भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। विषूचिका (कॉलरा) तथा आतशक जैसे भयङ्कर रोग अजीर्ण ही से उत्पन्न होते हैं। अजीर्ण रोग कुछ समय पश्चात् स्थिर रोग हो जाता है। अजीर्ण को अँग्रेजी में "डिस्पेप्शिया" कहते हैं।

४--**ताव-ज्वर**--ज्वर से प्लीहोदर, यकृत-रोग, शोथ और जीर्ण-ज्वर जैसे असाध्य रोग उत्पन्न होते हैं।

५—**कृमि**—कृमि रोग को अलग गिना जाता है। परन्तु इसी कृमि-रोग से आक्षेप, शूल, हृदय-रोग, हिस्टीरिया और मस्तिष्क के रोग उत्पन्न होते हैं।

६—**धातु-बिगाड़**—सप्त धातुओं में से किसी एक में विकार आने से रोग होता है, यदि उसका प्रतीकार न किया जाय, तो वह दूसरे धातुओं को भी बिगाड़ देता है। जिस प्रकार "रस" के विकार से ज्वर आता है, यदि रस की चिकित्सा न की जाय, तब रक्त-मांस आदि अन्य धातुओं को भी बिगाड़ देता है और अन्त में क्षय-जैसे भयङ्कर रोग को उत्पन्न कर देता है।

७—**खाँसी**--"खाँसी" की यदि उपेक्षा की जाय, तो क्षय-जैसे भयङ्कर रोग को उत्पन्न करती है। लोगों में प्रचलित भी है कि "लड़ाई की जड़ हाँसी और रोगों की जड़ खाँसी"। इसका प्रतीकार शीघ्र करना चाहिये।

८—**मदात्यय**—अधिक मद्य-पान से जो रोग उत्पन्न होता है, उसको "मदात्यय" कहते हैं। मदात्यय से (१) अजीर्ण, (२) दाह (३) उन्माद, (४) भ्रम और (५) यकृत के रोग उत्पन्न होते हैं।

९—**उपदंश**—(दुष्ट संसर्ग से उत्पन्न गरमी के रोग) इसके कारण (१) विस्फोट, (२) ग्रन्थी, (३) वातरक्त, (४) विसर्प, (५) भगन्दर, (६) नाड़ी-व्रण, (७) अस्थि-विकार (८) वद आदि भयङ्कर रोग उत्पन्न होते हैं।

१०—**प्रमेह**—मूत्र-विकार से (१) मधु-मेह (२) मूत्र कृच्छ्, (३) मूत्राघात, (४) प्रमेह-पिटिका आदि भयङ्कर रोग उत्पन्न होते हैं।

प्रकरण पाँचवाँ

त्रिदोष-जन्य रोग

आर्य वैद्यक-शास्त्र के अनुसार सब रोगों के कारण तीन दोष—वात, पित्त और कफ हैं। जबतक ये तीनों दोष समानावस्था में या अपनी स्वाभाविक स्थित में रहते हैं, तबतक शरीर स्वस्थ रहता है। परन्तु यदि इनमें से एक या दो अथवा तीनों दोषों में थोड़ी-सी भी विषमता आजाय, तो शरीर रुग्ण हो जाता है। सब रोग इन्हींके कारण होते हैं। जिस प्रकार उड़ता हुआ पक्षी अपनी छाया को किसी प्रकार छोड़ नहीं सकता, उसी प्रकार ये रोग भी इन तीनों दोषों को छोड़कर नहीं हो सकते। इन तीनों दोषों में विकार आने का कारण कई बार शरीर के अन्दर होता है, और कई बार शरीर के बाहर। उदाहरण के लिये ज्वर—शरीर के आन्तरिक अजीर्ण आदि कारणों से होता है, परन्तु चोट आदि के कारण भी ज्वर हो जाता है। इस ज्वर का सम्बन्ध सब अवस्थाओं में वात, पित्त और कफ से होता है।

वात-प्रकोप के कारण

वायु—मूत्र तथा मल के वेग को रोकने से, कषाय, कटु, तिक्त पदार्थों के अति सेवन से, अति ठण्डे पदार्थों के खाने से, रात्रि में जागने से, अति स्त्री-सेवन से, अति परिश्रम करने से, अति खाने से, अति चलने से, अति बोलने से, भय से, रूखे पदार्थों के खाने से, उपवास करने से, बहुत भूलने से, या अधिक व्यायाम से, वाहन (घोड़े, बैल आदि की सवारी) के ऊपर चलने से, तथा वर्षा-ऋतु में अथवा बादलों के आने के कारण से वायु प्रकुपित होती है। इसी प्रकार नहाने के पीछे, पानी पीने के पीछे, दिवस के पिछले भाग में भोजन के पचने के पीछे, बहुत वायु-सेवन से शरीर में वायु का कोप बढ़ता है।

वात-जन्य रोग (८०)

आर्य वैद्यक शास्त्र के बहुत-से वातिक रोगों का समावेश एलोपैथिक के नर्वस सिस्टम के रोगों में हो जाता है। आर्य। वैद्यक-शास्त्र के

अनुसार शरीर में जब वायु कुपित होती है, तब नीचे लिखे अनुसार ८० प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं।

१ आक्षेप वायु—जब वायु शरीर की नसों में भरकर शरीर को इधर-उधर फेंकती है।

२ हनुस्तम्भ—वायु से जब जबड़े भिंच जायँ, जकड़ जायँ, जैसा कुचला विष में होता है।

३ ऊरुस्तम्भ—वायु जब जंघाओं को रोककर चलने में गति रोकती है।

४ शिरोग्रह—शिर की नसों में वायु भरकर शिर को जकड़ देती है और वेदना करती है।

५ बाह्यायाम—पीठ अर्थात् पृष्ठवंश की नसों में वायु भरकर शरीर को झुका देती है।

६ अभ्यन्तरायाम—छाती की तरफ से शरीर जब धनुष की भाँति झुक जाता है।

७ पार्श्व-शूल—पसलियों में वायु भरकर जब दर्द उत्पन्न करती है।

८ कटि-ग्रह—वायु कमर में रुककर जब कमर को जड़ की भाँति बना देती है।

९ दण्डायतानक—दण्ड अर्थात् लकड़ी की भाँति शरीर को कड़ा बना देवे।

१० खल्ली—पाँव, जंघा, हाथ में वायु भरकर उनको मरोड़ दे।

११ जिह्वास्तम्भक—वायु जीभ की नसों को पकड़कर बोलने की गति को रोक देती है।

१२ आर्दित—मुँह का आधा भाग एक पार्श्व में मुड़ जाता है, मुँह से सीटी नहीं बज सकती।

१३ पक्षाघात—वायु शरीर के आधे भाग में रुककर रसों का शोषण करके गति को बन्द करती है। इसे "अर्धांग" कहते हैं।

१४ क्रोष्टुशीर्ष—वायु रक्त का आश्रय करके घुटने में कठिन शोथ उत्पन्न करे।

१५ मन्यास्तम्भ—वायु कफ के साथ मिलकर गरदन की पिछली नसों को पकड़कर अटका देती है।

१६ पंगु—कमर तथा जंघा में वायु भरकर दोनों पाँवों को मोड़ देती है।

१७ कलाप-खञ्ज—चलते समय शरीर में कम्पन हो और पाँव इधर-उधर टेढ़ा-मेढ़ा पड़े।

१८ तूनी—पक्काशय में उत्पन्न हुई शूल गुदा और उपस्थ में जाती है (मूत्राशय शूल)।

१९ प्रतितूनी—तूनी की वेदना नीचे उतरकर पीछे नाभि की ओर जाय (गुदा की शूल)।

२० खञ्ज—पंगु के समान लक्षण होते हैं; परन्तु यह रोग एक टाँग में होता है और पंगु दोनों में।

२१ पादहर्ष—पाँव में खाली झनझनाहट हो, पाँव में शून्यता आजाय।

२२ गृध्रसी—कमर से एड़ी तक की गृध्रसी नस को पकड़कर जब वायु वेदना करती है।

२३ विश्वाची—हाथ-बाहु की नसों को पकड़कर जब वायु काम करने में अशक्त बना देती है।

२४ अपबाहुक—हाथ की नाड़ी के संकुचित होने से सारा हाथ खिंच जाय, दूसरे बाहु से लम्बाई में छोटा हो जाता है।

२५ अपतानक—वायु हृदय में जाकर दृष्टि को स्तब्ध करती है, ज्ञान और भाव का नाश करती है और कण्ठ से विलक्षण प्रकार की आवाज निकलती है। बार-बार हिस्टीरिया जैसा चक्कर आये। और जब वायु हृदय से दूर हो, उस समय होश आये।

२६ व्रण-याम—व्रण या चोट के आघात से उत्पन्न वायु शरीर में या व्रण में दर्द उत्पन्न करे।

२७ अपतन्त्रक—पाँव और शिर में पीड़ा हो, मोह हो, गिर जाय अथवा शरीर धनुष की भाँति टेढ़ा हो जाय, दृष्टि स्तब्ध हो जाय और आवाज कबूतर पक्षी के समान हो।

२८ भेद—वायु से चमड़ी फटे।

२९ शोष—वायु शरीर के या एक अंग के रक्त आदि धातुओं का शोषण कर दे।

३० वात-कण्टक—चलते हुए घुटने में दर्द हो।

३१ मिणमिणत्व—मुँह से निकलते हुये शब्दों में नासा का स्वर मिला हुआ हो।

३२ कल्लता—रुक-रुककर शब्द बोले जायँ (तुतलाकर बोलना)।

३३ अष्ठीलिका—नाभि के नीचे पथरी-जैसी गाँठ हो जाय (वातष्ठीला)।

३४ प्रत्यष्ठीला—जब यही गाँठ पेट में आड़े रूप से हो।

३५ वामनत्व—वायु गर्भाशय में भरकर गर्भ को विकृत कर दे, उस समय बालक टेढ़ा होता है।

३६ कुब्जत्व—स्कन्ध और पीठ में वायु भरकर मनुष्य को कुबड़ा बना दे।

३७ अंगपीड़ा—सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा हो।

३८ अंग-शूल—सम्पूर्ण शरीर में शूल एकत्रित होकर दर्द उत्पन्न करे।

३९ संकोच—वायु नसों को संकुचित करके शरीर को अकड़ा देवे।

४० स्तम्भ—वायु से शरीर जकड़ा जाय।

४१ रौक्ष्य—वायु के कोप से चेहरा निस्तेज हो जाय।

४२ अंग-भंग—वायु से शरीर टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो रहा हो।

४३ अंग-विभ्रंश—शरीर की एक सन्धि खिसक जाय।

४४ मूकत्व—बोलने की नाड़ी में वायु भरकर वाणी बन्द हो जाय (गूँगापन)।

४५ विट्ग्रह—आँतो में वायु कुपित होकर मल और मूत्र को रोक देता है।

४६ बद्ध-विट्कता—वायु से मल बहुत कठिन हो जाता है, इसको बद्ध-विट्कता कहते हैं।

४७ अतिजम्भान—वायु से जम्भाई बहुत आती है।

४८ प्रत्युद्गार—वायु के कोप से बहुत अधिक उबकाई आती हो।

४९ अंत्रकूजन—वायु के कोप से आँतों में वायु कुर-कुर करती फिरती है।

५० वात-प्रवृत्ति—वायु के कोप से अधोवायु बहुत निकलती हो।

५१ स्फुरण—वायु से किसी अंग में स्फुरण (फड़फड़ाहट) हुआ करे, जैसे हाथ में या आँख में होता है।

५२ शिरापूर्ण—वायु से शिरायें भर जायँ, इसको शिरापूर्ण कहते हैं।

५३ कम्प वायु—वायु से सब अंगों में और शिर में कँपकँपी होती है।

५४ कार्श्य—वायु के कोप से शरीर दिन-प्रतिदिन निर्बल पड़ता जाता है।

५५ श्यामता वायु से शरीर काला पड़ता जाय।

५६ प्रलाप जिस वायु से मनुष्य बहुत बोलता है, उसे प्रलाप कहते हैं।

५७ क्षिप्रमूत्रता—जिस वायु के वेग से बार-बार मूत्र आये।

५८ निद्रानाश वायु के कोप से नींद न आये।

५९ स्वेदनाश—वायु बढ़कर छिद्रों को बन्द करके पसीने को बन्द कर दे।

६० दुर्बलत्व—वायु के कोप से शरीर दुर्बल होता जाता है।

६१ बल-क्षय—वायु के प्रकोप से बल का नाश होता है।

६२ शुक्र-क्षय—वायु के कोप से शुक्र बहुत अधिक गिरता हो।

६३ शुक्र-कार्श्य- वायु शुक्र में पहुँचकर उसको सुखा दे।

६४ शुक्र-नाश—वायु शुक्र (वीर्य) को नष्ट कर दे।

६५ अनवस्थित चित्त—वायु मस्तिष्क में जाकर चित्त को अस्थिर बना दे।

६६ काठिन्य—वायु के कोप से शरीर की मृदुता नष्ट हो जाय।

६७ विरसास्यता—वायु के कोप से मुँह का रस (स्वाद) बदल जाय।

६८ कषायवक्त्रता- वायु के कोप से मुँह फीका पड़ जाय।

६९ आध्मान—वायु के कोप से नाभि के नीचे अफरा चढ़ता है।

७० प्रत्याध्मान—हृदय के नीचे और नाभि के ऊपर अफरा चढ़ जाता है।

७१ शीतता—वायु के कारण शरीर ठण्डा पड़ जाय।

७२ रोमहर्ष—वायु के कोप से शरीर का रोमांच हो जाय।

७३ भीरुत्व—वायु के कोप से शरीर में भीरुपन (डरपोकपन) आ जाय।

७४ तोद—शरीर में सुई चुभे, इस प्रकार का दर्द उत्पन्न हो।

७५ कण्डू शरीर में खुजली आती है।

७६ रसाज्ञता—मीठा कड़ुवा आदि रसों का ज्ञान न मालूम पड़े।

७७ शब्दाज्ञता—वायु श्रवण-तन्तुओं में भरकर कान से सुनाई न दे।

७८ प्रसुप्ति—स्पर्श का पता न चले।

७९ गन्धाज्ञता—नाक के तन्तुवों में वायु भरकर गन्ध-ज्ञान का नाश करे।

८० दृष्टि-क्षय—दृष्टि में वायु प्रवेश करके देखने की शक्ति बन्द करे।

इन अस्सी वात-रोगों के सिवा वायु के और भी लक्षण इस शरीर में देखने को आते हैं। वायु इन सब दोषों में प्रबल है। वायु के बिना पित्त, कफ और रक्त स्वयं गति नहीं कर सकते। इनको वायु ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाती है।

पित्त-प्रकोप के कारण

अतिशय गरम, तीखा, खट्टा खान-पान से, क्रोध से, उपवास से, धूप में बैठने से, स्त्रियों के सेवन से, तिल, अलसी, दधि, सुरा, सिरका के सेवन से पित्त प्रकुपित होता है। भोजन के जीर्ण होने के समय, शरद्-ऋतु में, मध्याह्न में, आधीरात में पित्त प्रकुपित होता है।

पित्त-जन्य रोग (४०)

शरीर में जब पित्त प्रकुपित होता है, तब चालीस प्रकार के रोग उत्पन्न करता है। इन रोगों के नाम इस प्रकार हैं—

१ धूमोद्गार—धुयें जैसा उद्गार आये।

२ विदाह—शरीर में बहुत जलन हो।

३ उष्णांगत्व—शरीर तपता हुआ गरम रहे।

४ मति-भ्रम—शिर में चक्कर प्रतीत हो।

५ कान्ति-हानि—शरीर के तेज का नाश।

६ कण्ठ-शोष—गले में शोष उत्पन्न हो।

७ मुख-शोष—मुख में शुष्कता रहे।

८ अल्पशुक्रता—धातु थोड़ा हो जाय।

९ तिक्तास्यता—मुँह का स्वाद कड़वा रहे।

तेल

तेल की कई जातियाँ हैं, परन्तु मुख्यतः तिल का तेल और सरसों ही का तेल काम में आता है। जिस प्रकार जंगम प्राणियों के स्नेह में घी है, उसी प्रकार स्थावर वस्तुओं में तेल है। स्थावर पदार्थों का तैल वातनाशक होता है। तेल शरीर के बाह्य उपचार में काम आने के अतिरिक्त खाने में भी वर्ता जाता है। धनी लोग प्रायः घी का उपयोग करते हैं। परन्तु गरीबों के लिये सबसे उत्तम चिकनाई तेल ही है। प्रत्येक देश के रीति-रिवाज के अनुसार इसका उपयोग होता है। गुजरात में तिल का तेल विशेष वर्ता जाता है और पूरब में सरसों का तेल। कई वस्तुयें इस प्रकार की हैं, जिनके लिये तेल का उपयोग आवश्यक होता है। शाक-भाजी तथा पकौड़ी आदि तलने में तेल का उपयोग सबसे उत्तम है। तेल के कारण इनका स्वाद अच्छा हो जाता है। इसलिये तेल के गुण-दोष जानने आवश्यक हैं।

गुण—शरीर पर लगाने से शरीर को दृढ़ करता है, बलदायक है, चमड़ी का वर्ण उत्तम करता है, वायु दूर करता है, पुष्टि देता है, अग्नि प्रदीप्त करता है, शरीर में तुरन्त घुस जाता है, कृमियों को मारता है। कान का दर्द, योनिशूल और माथे के दर्द को मिटाता है, शरीर को हल्का करता है। वस्ति में पिचकारी में इसका उपयोग होता है। तिल संयोगरूपी संस्कार से सब रोगों को दूर करता है। गरम है, पित्तकारक है, मूत्र और मल को बाँधता है, परन्तु श्लेष्मा को बढ़ाता है।

तिल-तैल—परिसेक, मालिश और स्नान के लिये, वस्ति में, पान करने में, नस्य लेने में, कान-आँख आदि के भरने में, अन्न-पान आदि के बनाने में तिल का तेल उत्तम है।

एरण्ड-तैल—तिक्त, कड़ुवा, भारी मधुर रस, है। गुल्म, वायु-कफ-रोग, उदर-रोग, विषम-ज्वर, दर्द, सूजन, कटिशूल में उत्तम है।

सरसों का तैल—कड़ुवा, तीक्ष्ण, गरम है। कफ को, वायु को नष्ट करता है। गरम होने से खाने पर शुक्र को कम करता है। हल्का है, रक्त और पित्त को कुपित करता है। कोढ़, कुष्ठ ववासीर, कृमि को नष्ट करता है।

नमक

नमक—यह एक प्रकार का क्षार है, जो शरीर के लिये अत्यन्त आवश्यक है। क्षार को यदि भोजन से निकाल दिया जाय, तो मनुष्य का जीवन देर तक स्थिर नहीं रह सकता। दूध के ऊपर जो मनुष्य कई सालों तक जीवन व्यतीत कर सकते हैं, उसका कारण यही है कि शरीर के लिये आवश्यक मात्रा का नमक दूध में रहता है। नमक खान-पान की वस्तुओं में स्वाद और रुचि उत्पन्न करता है। अस्थियों को मजबूत करता है।

नमक यद्यपि शरीर के लिये उपयोगी है, परन्तु इसमें कुछ अवगुण भी हैं, जिनके कारण इसका अधिक उपयोग करने से शरीर को हानि पहुँचती है। नमक का स्वभाव सड़ाना और गलाना है। यदि नीबू को नमक में रख दिया जाय, तो कुछ समय पश्चात् वह नर्म हो जाता है। इसी प्रकार अधिक मात्रा में लेने से, शरीर के अन्दर के तन्तुवों को नर्म बना देता है। कई लोग नमक को दूध में डालकर उपयोग करते हैं। इससे नमक की मात्रा शरीर में बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त दाल, चटनी, भाजी, पापड़, अचार आदि सब चीजों में नमक अधिक मात्रा में वर्ता जाता है। इसके साथ ही अधिक नमक या क्षार के उपयोग से रक्त में विकार आजाता है। प्लीहा आदि को कम करने के लिये बहुत-से वैद्य बहुत अधिक मात्रा में नमक खिलाते हैं, इससे उसका बहुत दुरुपयोग होता है। नमक के अधिक उपयोग से "पुंस्त्व" का नाश होता है। लोगों में वीर्य-सम्बन्धी शिकायतों का मुख्य कारण चटनी, मसाले, क्षार आदि का अति उपयोग है। अनाज आदि में क्षार आदि का परिमाण थोड़ा रक्खा हुआ है।

नमक कई प्रकार के हैं। परन्तु मुख्यत: दो प्रकार के नमकों का उपयोग होता है। एक नमक, जो कि समुद्र या तालाब या नदी के पानी से बनाया जाता है। यह नमक गुजरात प्रान्त में बहुत खाया जाता है। यह मैला रहता है। इससे अच्छा "लीवरपुल" का नमक होता है। यह अधिक श्वेत और साफ रहता है। दूसरी प्रकार का नमक "सैन्धव" है। यह सब नमकों में श्रेष्ठ है, पथ्य है, आँखों के लिये हितकर है। इसका कहीं भी निषेध नहीं होता। यह बड़े-बड़े ढेलों के रूप में पञ्जाब प्रान्त से आता है। गुजरात में महँगा पड़ता है। इससे लोग प्रथम प्रकार का नमक खाते

हैं। परन्तु उत्तरीय हिन्दुस्तान में इसका उपयोग अधिक होता है। आंखों के लिये सैन्धव ही उपयोगी है।

मसाला

आजकल सभ्य लोगों के लिये बाज़ार में नाना प्रकार के मसाले विलायत से डब्बों में "पैक" किये आते हैं। जिस प्रकार बाह्य-शृङ्गार बढ़ता जा रहा है, उसी प्रकार इन मसालों की ओर भी लोगों की रुचि बढ़ती जा रही है। इन मसालों के उपयोग से शरीर में अजीर्ण, खट्टे डकार आदि शिकायतें होने के साथ रक्त-विकार के रोग भी होते जाते हैं। इनके उपयोग से इन्द्रियों में उत्तेजना आती है, शरीर के अन्दर अस्वाभाविक गर्मी बढ़ती है। इनसे प्रथम खूब भूख बढ़ती है, परन्तु पीछे से यही उत्तेजना मन्द पड़ जाती है। इससे स्वाभाविक बल भी नष्ट हो जाता है।

इससे यह अभिप्राय नहीं कि शरीर को गरम पदार्थों की, मसाले की ज़रूरत नहीं। इनका उचित मात्रा में उपयोग शरीर के लिये आवश्यक है। विशेषतः जब विवाह आदि में खूब मिठाई खानी पड़ती है, और भोजन भी साधारणावस्था से भारी होता है, उस समय इन मसालों का उपयोग छुहारे की चटनी या सोंठ या ज़ीरे के पानी में करना अच्छा होता है। परन्तु प्रतिदिन इनका उपयोग करना अच्छा नहीं।

मसाले में उपयोग होनेवाली चीज़ें प्रायः लाल मिर्च, सोंठ, ज़ीरा, धनिया, प्याज़, लहसुन, पुदीना, अद्रक, छुहारा आदि हैं। प्रायः ये सब चीज़ें गरम होती हैं। इसके अतिरिक्त लौंग, इलायची, तेजपात, हींग आदि का उपयोग प्रतिदिन होता रहता है।

मिरचें (लाल)—ये मिरचें पाचन-शक्ति को बढ़ाती हैं, मल को निकालती हैं। इसका अधिक उपयोग बवासीर, खट्टे डकार को उत्पन्न करता है। इनको जब खाना हो, इनके बीज निकालकर खाना चाहिये। हरी मिरचें इनसे अच्छी हैं। इनका उपयोग चटनी में किया जाता है। ये पाचन-शक्ति के लिये उत्तम हैं।

मिरचें (काली)—लघु, गरम, तीक्ष्ण, रोचक, अग्निवर्द्धक हैं, परन्तु रुक्ष हैं। कफ को नष्ट करती हैं, परन्तु पित्तकारक हैं।

हींग—तीक्ष्ण, कटुरस, शूल, अजीर्ण और मलबन्ध के लिये हितकर

(७) संस्कार—बनाने की विधि से लघु वस्तु पचने में भारी हो जाती है और भारी वस्तु हल्की हो जाती है। जिस प्रकार चावल पचने में भारी है। वेही भुनकर हल्के हो जाते हैं।

(८) मात्रा—गुरु वस्तु यदि थोड़ी खाई जाय, तो वह शीघ्र पच जाती है और लघु वस्तु अधिक खाई जाय, तो वह देर में पचती है।

न लेने योग्य मांस—कृश पशु का मांस, अपने आप मरे हुये पशु का, विष या विषैले पशु से मारे हुये पशु का, बालक का, पानी में डूबे हुये या अग्नि में जले हुये पशु का, रोगी पशु का, सूखा हुआ मांस, बूढ़े पशु का, जिसको अपनी आँखों से न देखा हो, बासी, दुर्गन्धित, सड़े हुये, कीड़ों से खाये हुये मांस को न खाना चाहिये।

मांस वर्ग के प्राणी	पोषक पदार्थ	वसा	शर्करा	लवण	जल
गाय-बैल	२०.०	१.५	०.६	१.२	७६.७
सुअर	१९.९	६.२	०.६	१.१	७२.६
घोड़ा	२१.६	२.५	०.६	१.०	७४.३
मुर्गी	२७.७	४.१	१.३	१.१	७०.४
मछली	१८.३	०.७	.९	.८	७९.३
बकरा	१८.०	५.०		१.०	७६.०
हिरन	१९.७	१.९		१.१	७५.७
खरगोश	२२.३	१.१		१.१	७४.०

श्रेष्ठ मांस

बटेर, तीतर, सारंग, मृग, हरिण, कपिञ्जल, मोर, कछुवा, रोहित मत्स्य—इनका मांस उत्तम है।

गाय का मांस और भैंस की चर्बी सबसे अधिक खराब है। सूखी हुई मछलियाँ पचने में दुर्जर, बलनाशक और क़ाबिज़ होती है।

मांस के साधारण गुण—मांस वायु-रोग-नाशक, बलकारक, पचने में भारी, पोषण देनेवाला और पाक में मधुर होता है। क्षय आदि रोग

२५

में उपयोगी है। इसका प्रभाव तामसिक होता है। अत: जहाँ शरीर के लिये उपादेय हो सकता है, वहाँ बुद्धि और स्मृति को हानि करता है। इसलिये इसका निषेध किया गया है।

पथ्यापथ्य खान-पान

खान-पान की वस्तुओं की मोटी विवेचना कर चुके हैं। इनमें से कुछ वस्तुयें इस प्रकार की हैं, जो प्रत्येक मनुष्य के लिये, प्रत्येक ऋतु में उपयोगी हो सकती हैं। यथा—दूध। यह किसी भी मनुष्य के लिये, अथवा किसी भी ऋतु में अपथ्य नहीं होता। दूसरी वस्तुयें वे हैं, जो किसी विशेष ऋतु ही में या किसी विशेष देशवासियों के लिये ही पथ्य समझी जाती हैं। उदाहरण के लिये—मकई या बाजरा सर्दियों ही में उपयोगी होता है। इसी प्रकार ज्वार का उपयोग जिस प्रकार काठियावाड़ी कर सकते हैं; उस प्रकार उत्तरीय हिन्दुस्तान के व्यक्ति नहीं कर सकते। और कई वस्तुयें इस प्रकार की हैं, जो सब ऋतुओं में और सब मनुष्यों के लिये हानिकारक रहती हैं। यथा—इमली, या क्षार का अति उपयोग। इनमें प्रथम प्रकार की वस्तु को पथ्य कहते हैं; दूसरे प्रकार की वस्तु को पथ्यापथ्य और तीसरे प्रकार की वस्तु को अपथ्य कहते हैं।

पथ्य खान-पान

अनाज—चावल, गेहूँ, जौ, मूँग, अरहर, चना, मोठ, मसूर—ये वस्तुयें साधारणत: सब मनुष्यों के लिये पथ्य हैं। इनका उपयोग किसी भी ऋतु में किया जा सकता है। इन वस्तुओं में अपनी प्रकृति और ऋतु के अनुसार बहुत थोड़ा परिवर्त्तन करने की आवश्यकता होती है। चना यद्यपि पथ्य है; परन्तु इसका भी अधिक उपयोग हानि करता है—पेट में वायु करता है। चावल यदि एक साल का पुराना हो, तो उत्तम है। अरहर की दाल में घी डालकर खाया जाय, तब वह वायु नहीं करती। खड़ी मूँग की दाल वायु करती है, परन्तु पीसी हुई दाल या जूस त्रिदोषहर और भयङ्कर व्याधि में भी पथ्य है।

शाक— चौलाई की भाजी, परवल, मूली, सूरन आदि शाक सदा पथ्य हैं। साधारणतः हितकर वस्तुयें नीचे दी जाती हैं।

पथ्य—हितकारी	अपथ्य—अहितकारी
चावलों में—लाल चावल, साठी	धान्यों में—छोटे-छोटे जौ
दालों में—मूँग की दाल	दालों में—उड़द
पानी में—आकाश का पानी (अन्तरिक्ष का)	पानी में—वर्षा-ऋतु में नदी का पानी
	लवणों में—ऊसर देश में उत्पन्न
नमकों में—सैन्धव	पत्रशाकों में—सरसों का
शाकों में—जीवन्ती	पशुओं के मांस में—गौ का मांस
पशुओं के मांसों में—हिरण का मांस	पक्षियों के मांस में—कपोत
पक्षियों के मांस में—बटेर	मछलियों में—चिलचिम
मछलियों में—रोहित	घी में—भेड़ का घी
घी में—गाय का घी	दूध में—भेड़ का दूध
दूध में—गाय का दूध	तेलों में—धनिये का तेल
तैलों में—तिल का तेल	फलों में—लसोड़ा
फलों में—किशमिश	कन्दशाकों में—आलू
गुड़ में—शक्कर	गुड़ों में—रस की मलाई
धान्यों में—गेहूँ, जौ	
पत्रशाकों में—चौलाई	
खट्टास में—आँवला	
मसाले में—आर्द्रक, धनिया, जीरा	

इन पदार्थों में सबसे उत्तम पथ्य और हितकारी पदार्थ प्रत्येक ऋतु में, प्रत्येक मनुष्य के लिये पथ्य हो सकते हैं। साथ ही अपथ्य (अहित-कारी) भोजन प्रत्येक ऋतु में, प्रत्येक मनुष्य के लिये अपथ्य रहते हैं। रोगी अवस्था में पथ्य (हितकारी) वस्तुयें भी अपथ्य हो जाती हैं। उदाहरण के लिये नये कफ-ज्वर में दूध विषरूप होता है। और रोग की अवस्था में अपथ्य वस्तु भी पथ्य हो जाती है। यथा—भस्मक-रोग में भेड़ का दूध और भेड़ का घी भी पथ्य समझा जाता है।

पथ्यापथ्य

दूसरे प्रकार की वस्तुएँ जो किसी विशेष ऋतु में, किसी विशेष देश के व्यक्ति के लिये, या किसी विशेष प्रकृतिवाले के लिये पथ्य समझी जाती हैं, उनको "पथ्यापथ्य" कहते हैं।

बाजरा, उड़द, राजमाष, कुलथी, गुड़, खाँड़, मक्खन, दही, छाछ, भैंस का दूध, घी, आलू, तोरी, प्याज, करेला, दूधी, कद्दू, मेंथी, मोगरी, मूली, गाजर, चिभड़ा, गोभी, केला, अनन्नास, जामुन, करौंदा, अंजीर, नारंगी, नीबू, अमरूद, सेब, पीलुफल आदि पदार्थ नित्य काम में आते हैं। यदि प्रकृति और ऋतु का विचार विना किये हुए इनका उपयोग किया जाय, तो नुकसान करते हैं। उदाहरण के लिये—दही शरद्-ऋतु में ज़हर के समान है, वर्षा-ऋतु में हितकर है, ग्रीष्म में खाँड़ के साथ खाने से हितकारक है। दही ज्वरवाले के लिये अपथ्य है, और अतिसार रोगी के लिये पथ्य है। इस प्रकार से प्रत्येक वस्तु का उपयोग समझकर या योग्य वैद्य की सलाह से करना चाहिये।

अपथ्य खान-पान

जो पदार्थ सब पुरुषों के लिये सब देशवालों के लिये, सब ऋतुओं में हानिकारक हैं, उनको "अपथ्य" कहते हैं। इन्हीं पदार्थों का यदि युक्ति से उपयोग किया जाय, तो व्याधि में यही वस्तुयें पथ्य समझी जाती हैं। नमक या क्षार यदि अधिक खाये जायँ, तो पेट के गुल्म, गाँठ या वायु को नष्ट करते हैं, परन्तु "पुरुषत्व" का नाश करते हैं। इसी प्रकार अफीम शरीर के लिये जहर होते हुये भी रक्तातिसार में पथ्य-अमृत का काम करती है। इन पदार्थों का उपयोग कभी भी पथ्य के रूप में-या सदा खान-पान के विचार से नहीं करना चाहिये। इन पदार्थों में—शरीर के अन्दर दाह उत्पन्न करनेवाले, शरीर में सड़ांद उत्पन्न करनेवाले, शरीर को गलानेवाले और शरीर में विष उत्पन्न करनेवाले या प्रविष्ट करनेवाले पदार्थों का समावेश होता है।

अभ्यास से भी कुछ वस्तुयें पथ्य हो जाती हैं। जो वस्तुयें "पथ्यापथ्य" हैं, उनका यदि लगातार अभ्यास रक्खा जाय, अथवा बचपन से उनको खाया जाय, तो कुछ समय पश्चात् वे वस्तुयें शरीर के लिये पथ्य हो

जाती हैं। उदाहरण के लिये—बाजरा, गुड़, छाछ, दही, ये वस्तुयें ऋतु के अनुसार पथ्य होती हैं। परन्तु यदि प्रकृति और ऋतु का विचार न किया जाय, तो यही वस्तुयें अहितकर होती हैं। परन्तु जो कुटुम्ब इनका सदा उपयोग करते रहते हैं, उनको ये वस्तुयें किसी प्रकार की हानि नहीं करतीं। दूध यद्यपि पथ्य है, तथापि कइयों के लिये यह अपथ्य रहता है—उनको थोड़ा-सा भी दूध नहीं पचता। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को अपनी प्रकृति के अनुसार, शरीर की बनावट के अनुसार, नित्य के अभ्यास से, तथा ऋतु का विचार करके भोजन लेना चाहिये।

रासायनिक संयोग

जिस प्रकार एक ही पदार्थ प्रकृति और ऋतु-भेद से पथ्य और अपथ्य हो जाता है, उसी प्रकार वही एक पदार्थ रासायनिक संयोग से कई बार हानिकारक हो जाता है। इसके अतिरिक्त कई दो पदार्थ अलग-अलग पथ्य होते हुये मिलाकर उपभोग करने से अपथ्य बन जाते हैं। उदाहरण के लिये—शहद पथ्य है। यही शहद गरम होकर अपथ्य बन जाता है—और आर्य वैद्यक-शास्त्र के अनुसार यह विष हो जाता है। दूध पथ्य है, मछली भी पथ्य है। परन्तु यदि दोनों का उपयोग एक साथ किया जाय, तो यह विष बन जाते हैं। इसी प्रकार शहद भी गरम घी से मिलकर अपथ्य हो जाता है। इसी प्रकार मधु और घी समान भाग मिलाकर खाने से भी विष हो जाता है। इसी प्रकार दूध, मूली के साथ या नमक के साथ खाने से अवश्य हानि करता है।

बर्त्तन के योग से भी वस्तु के अन्दर अन्तर आजाता है। मिट्टी की हाँड़ी का घी, अथवा मिट्टी की हाँड़ी में पका हुआ सरसों का साग अधिक स्वादिष्ट होता है। घी यदि कांसी के बर्त्तन या ताम्बे में रक्खा जाय, तो थोड़े समय में हानिकारक हो जाता है। इस प्रकार के अपथ्य का फल तुरन्त नहीं मिलता; परन्तु कुछ समय पश्चात् एक अलग रूप में इनका प्रभाव दिखाई देता है। उस समय उस प्रभाव का असली कारण समझ में नहीं आता। परन्तु वास्तव में कितने रोग इसी प्रकार के संयोग जन्य विषों के कारण होते हैं।

कृश शरीरवाले को पथ्य

कृश—निर्बल शरीरवाले पुरुषों के लिये नीचे लिखे अनुसार खान-पान रखना चाहिये।

१—दुर्बल मनुष्यों को पौष्टिक खुराक की जरूरत है। पौष्टिक पदार्थ पचने में भारी होता है और निर्बल मनुष्यों की जठराग्नि मन्द रहती है। इसलिये इनको पचने में हल्की पौष्टिक खुराक देनी चाहिये।

२—गेहूँ, नवीन चावल, साठी के चावल, जौ, मकई, उड़द, मूँग की दाल पथ्य है।

३—दूध सबसे उत्तम भोजन है। दूध में शक्कर मिलाकर थोड़े-थोड़े समय बाद लेना चाहिये। दूध जल्दी पचता है, पुष्टि देता है। घी, मलाई, मक्खन भी पुष्टिकारक वस्तुयें हैं।

४—आम, सेब, अंगूर आदि पदार्थ भी निर्बल मनुष्यों के लिये उत्तम हैं। केला पचने में भारी है। इसलिये पाचन-शक्ति अच्छी होने पर देना चाहिये।

५—जीवन (च्यवन प्राशावलेह) भोजनरूप दवाइयों में जीवन दुर्बल और क्षीण पुरुषों लिये उत्तम वस्तु है। यह रक्त को बढ़ाता है, पोषण देता है, पाचनशक्ति को मदद देता है। जीवन के साथ दूध धीरे-धीरे ५ से १० सेर तक पच सकता है। दूसरी खुराक के साथ दूध इतना अधिक नहीं पच सकता। यदि जीवन के साथ अकेला दूध या दूध के साथ साठी के चावलों का उपयोग किया जाय, तो दूध पचकर रक्त को और अन्य धातुओं को शीघ्र बनाता है।

६—कॉड लीवर ऑयल भी उत्तम दवाई है। इससे शरीर का भार बढ़ता है। परन्तु कई मनुष्यों को पचने में भारी रहता है, अतः इसका उपयोग समझकर करना चाहिये।

७—दिन में सोने से, चिन्ता का त्याग करने से, व्यायाम न करने से, दधि के खाने से, रसायन के उपयोग से, मांस के रसों से पतला आदमी सुअर के समान मोटा होता है।

८—दुर्बल मनुष्य को अश्वगन्धा का उपयोग शीघ्र ही मोटा कर देता है।

९—इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शरीर में अनावश्यक मोटाई न आजाय। इसके लिये साधारण व्यायाम करते रहना चाहिये, जिससे पौष्टिक खुराक पच जाय। दुर्बल व्यक्तियों को लंघन या तैल का उपयोग नहीं करना चाहिये।

स्थूल शरीरवालों के लिये पथ्यापथ्य

शरीर की तन्दुरुस्ती की परीक्षा शरीर के मोटे या पतलेपन से नहीं की जा सकती। देखने में पतले मनुष्यों का शरीर भी शक्तिवाला दिखाई देता है। इसी प्रकार कई मोटे मनुष्य शक्तिवाले दिखाई देते हैं, परन्तु होते हैं अन्दर से निर्बल। खान-पान की युक्ति से शरीर को सुगठित बना सकते हैं।

१—चरबीवाले पदार्थों का उपयोग छोड़ना चाहिये। यथा—घी, तैल, मिष्ठान्न और दूध के पदार्थ छोड़ने चाहिये।

२—चरबी को कम करने के लिये व्यायाम सबसे उत्तम वस्तु है। अतः व्यायाम अवश्य करना चाहिये।

३—चरबी कम करने के लिये जागना, दिन में न सोना, चिन्ता, मैथुन का उपयोग करना चाहिये। गर्मियों में पानी के अन्दर शहद मिलाकर देना चाहिये। मद्य का उपयोग भी उत्तम है।

४—गेहूँ, जौ, मूँग, कुलथी, चना आदि हल्के पदार्थ भोजन में देने चाहिये। उपवास सबसे अच्छा है।

५—शिलाजीत का उपयोग चरबी को काम करता है।

मस्तिष्क के पोषण करनेवाले पथ्य

कुछ वस्तुयें मस्तिष्क के लिये विशेष पथ्य हैं, और कुछ अपथ्य हैं। जिस प्रकार लोहवाली वस्तुयें रक्त को बढ़ाती हैं, उसी प्रकार सात्त्विक और चिकनाईवाली वस्तुयें मगज़ के लिये उत्तम हैं। स्मरण-शक्ति और बुद्धि को बढ़ाने के लिये मस्तिष्क को तर रखनेवाले सात्त्विक खान-पान करना चाहिये। तामसी खुराक बहुत गरम, बहुत दाहक, बहु क्षोभक, बहु उत्तेजक होने से मगज़ को बिगाड़ देती है। इससे मनुष्य शान्त वृत्ति को छोड़कर

बार-बार क्रोध आदि के वश में हो जाता है। आर्य-शास्त्र में इसीलिये आहार की पवित्रता के ऊपर विशेष ध्यान दिया गया है। किसके घर का अन्न खाना है, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये।

१—गेहूँ, चावल, मूँग, घी, दूध, शक्कर, आँवला, परवल ये सब उत्तम हैं।

२—मदकारी, तामसिक भोजन सदा हानिकारक हैं। यथा—लहसुन, दही, कांजी, मांस आदि।

३—बादाम, पिस्ता, चिरौंजी आदि मेवे मगज़ को लाभ करते हैं।

४—गाय का दूध मस्तिष्क की पुष्टि के लिये सबसे उत्तम है।

५—जीवन मस्तिष्क की विकृति दूर करनेवाला है। उन्माद रोगी भी इसके यथार्थ सेवन करने से अच्छे हो जाते हैं।

६—जीवन के अतिरिक्त [illegible] शाक, [illegible] शाक, गाय का दूध, मुलहट्टी ये सब वस्तुयें बुद्धि को बढ़ाती हैं।

७—शंख-पुष्पी, ब्राह्मी, माल-कंगनी, बच, स्वर्ण, आदि वस्तुयें मस्तिष्क के शोधन के लिये उत्तम वस्तुयें हैं।

८—मस्तिष्क को ठण्डा रखने के लिये सिर पर तैल-मर्दन, ठण्डे पानी का स्नान करना चाहिये।

रोगी मनुष्य का पथ्यापथ्य

रोगों की भिन्नता के कारण, तथा प्रकृति-भेद के कारण एक समान नियम नहीं हो सकता। परन्तु कुछ वस्तुयें इस प्रकार की हैं, जो प्रायः सब रोगों की निर्बलता में पीछे काम आती हैं।

१—साबूदाना, अरारूट, और मूँग की दाल का पानी ये वस्तुयें सब प्रकार के रोगों में, या निर्बलता में उपयोगी हो सकती हैं। इनसे कोई विशेष पोषण नहीं मिलता, परन्तु सुगमता से पच जाती हैं और शरीर के बल को बनाये रखती हैं। जहाँ अधिक पोषण की ज़रूरत पड़े, वहाँ दूध का उपयोग करना चाहिये।

२—दूध निर्बल मनुष्यों के लिये सबसे उत्तम है। कइयों को दूध अनुकूल नहीं पड़ता; परन्तु युक्ति से सेवन कराने पर पच जाता है। निर्बल मनुष्य को दूध गाढ़ा करके नहीं देना चाहिये। जबतक गाय या बकरी का

दूध मिले, भैंस का दूध नहीं देना चाहिये। बहुत उबालने से पोषक तत्त्व कम हो जाते हैं और दूध पचने में भारी हो जाता है। दूध में तीन-चार उबालें देकर फिर काम में लाना चाहिये। इससे उसके अन्दर के जन्तु मर जाते हैं। निर्बल या बच्चों के दूध में पानी मिलाकर उबालना चाहिये। उबलते दूध में सोंठ या छोटी पीपल डालकर उबालने से वह पचने में और भी सुगम हो जाता है।

३—निर्बल मनुष्यों के लिये "जीवन" पुष्टिकारक वस्तु है। बच्चा, जवान, वृद्ध सबके लिये उपयोगी है। इसके सेवन से स्त्रियों का दूध बढ़ता है। क्षीण व्यक्तियों में रक्त और चर्बी बढ़ाता है। आमाशय और आंत्रों पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव होता है। विलायती दवाइयों से, जो प्राणियों के अंगों से बनी हुई हैं, यह कहीं अधिक लाभदायक है। इसका उपयोग कुछ समय तक करना चाहिये, तभी इसका लाभ मालूम होता है।

४—चाह, कॉफी, कोका आदि वस्तुयें पहले उपयोग में आती थीं, परन्तु अब सदा बरती जाने के कारण इनका उपयोग नहीं करना चाहिये। और यदि करना हो, तो डाक्टर की सम्मति से करना चाहिये। इनके लिये नीचे पानक दिये जाते हैं।

५—मांस-रस भी कई रोगों के लिये विशेष उपयोगी होता है। विशेषत: ज्वर में या क्षय की अवस्था में मुर्गे के बच्चों का शोरवा अग्निवर्द्धक, दीपक है।

रोगियों के लिये पीने योग्य कुछ पदार्थ

शुद्ध पानी—रोगी और स्वस्थ दोनों के लिये लाभकारी है। रोगी के लिये पानी को उबालकर ठण्डा करके देना चाहिये, या फिल्टर करके देना चाहिये। पानी को थोड़ा-थोड़ा देना चाहिये और घूँट-घूँट कर पीना चाहिये।

नीबू का पानी—गरम पानी में नीबू निचोड़कर उसमें शक्कर मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पानी पीने को देना चाहिये।

का पानी—घड़े भर जौ लेकर चार गुने पानी में उबालने के लिये रख देना चाहिये। अब उबलते-उबलते १० मिनट हो जायँ, तो उनको छानकर उसमें खाँड़ या नमक मिलाकर रोगी को देना चाहिये।

आलूबुखारे का पानी—यह पानी प्यास के लिये उत्तम है। आलू-

कुलाखें लेकर उनको रात्रि में पानी के अन्दर भिगो देना चाहिये। प्रात: उनको मथकर छान लेना चाहिये। फिर इसमें खाँड़ मिलानी चाहिये।

खान--पान सम्बन्धी कुछ सूचनाएँ

भोजन के पदार्थों का मोटा विवेचन कर चुके। उनके गुण-अवगुण तथा पथ्यापथ्य भी देख लिये। अब भोजन के लिये किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये, यह भी जानना आवश्यक है।

एक समय खाया हुआ अन्न जबतक पहले पच न जाय, तबतक भोजन फिर नहीं खाना चाहिये। यह बात सब आदमी जानते हैं, परन्तु करता कोई भी नहीं। प्राय: श्रीमन्त लोग अजीर्ण की शिकायत से दु:खी रहते हैं और वे इसी अजीर्ण की अवस्था में सदा खाते-पीते रहते हैं। इससे यह रोग पुराना होकर अन्य रोगों को उत्पन्न कर देता है।

पूरा चबाये बिना भोजन करना दूसरी खराबी है और खाते समय प्रसन्नचित्त न रहना तीसरी खराबी है। खूब चबाकर धीरे-धीरे प्रसन्नमन से खाना अत्यन्त लाभदायक है। खाते समय पानी की मात्रा यथाशक्ति कम पीनी चाहिये। ग्रास को ३२ बार दाँतों से पीसना चाहिये।

निदान-स्थान

वात, पित्त और कफ इन तीनों की सामान्यावस्था का नाम स्वस्थ अवस्था है। जिस समय इनमें से किसी एक में या सबमें विकार उत्पन्न हो जाता है, उस अवस्था को "रोग" कहते हैं। रोगों के पहचान का नाम है निदान-स्थान। जिस प्रकार एक व्यक्ति के लिये किसी वस्तु के असली रूप को समझना आवश्यक है, उसी प्रकार उसी वस्तु के विकृत रूप को भी जानना आवश्यक है।

जिस प्रकार इस सृष्टि के विकास में २४ तत्वों से ८ प्रकृति हैं और सोलह विकार हैं, उसी प्रकार इस मानव-शरीर में प्रकृति एक है, और विकार अनन्त हैं। सत्व, रज और तम इनकी साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, इनमें से किसी एक में भी विकार आने से इस प्रकृति में विकृति

उत्पन्न होजाती है। इसी प्रकार शरीर को बाँधकर रखनेवाले तीन तत्व पदार्थ हैं। इनका नाम वात, पित्त और कफ है।

त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम का सेवन तभी मोक्षदायक होता है, जब यह सेवन समान रूप में किया जाय। अर्थात् तीनों को इस प्रकार से सेवन करना चाहिये कि कोई किसी से बढ़ न जाय और कोई किसीसे कम न रह जाय। इसी प्रकार वात, पित्त और कफ भी समान अवस्था में रहें, तभी मनुष्य के लिये श्रेयस्कर और सुखदायी होते हैं।

मनुष्य की प्रकृति स्वास्थ्य है और विकृति रोग है। प्रकृति को पिछले अध्यायों में समझ चुके हैं और अब विकृति को समझने के लिये इस अध्याय का अवतरण किया है।

प्रकरण चौथा

रोग के सामान्य कारण

स्वस्थ शरीर में विकार आने का नाम "रोग" है। यह विकार चाहे शरीर के अन्दर अपने आप उत्पन्न हो, अथवा बाहर से आये। जिस प्रकार ज्वर का आना। यह शरीर के अन्दर का विकार है और खेल-कूद में चोट लगकर हाथ या पाँव का अपना कार्य भली प्रकार न। करना बाहर के कारण से हुआ। दोनों अवस्थाओं में शरीर के अन्दर विकार उत्पन्न होता है। इस विकार के। चिकित्सा-शास्त्र के शब्दों में "रोग" कहते हैं। रोग के कारणों के। जानना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। इन कारणों को समझकर, मनुष्य उन कारणों से अपने शरीर के। बचा सकता है। कारणों से बचने पर मनुष्य रोग या विकार से भी बच जाता है।

स्वस्थ शरीर में और विकृत शरीर में, प्रकृति-अवस्था में या विकृति-अवस्था में विभाग करनेवाली कोई चौकस या स्थूल निशानी नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं का विभाग एक बहुत ही पतली, झीनी रेखा से होता है। जिस समय शरीर प्रकृति-अवस्था के। लाँघकर इस रेखा के पार उतरता है, उसी समय वह रोग की अवस्था में पाँव रख देता है। कई बार तो यह परिवर्त्तन इतना स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के। इसका अनुभव हो जाता है। वह कहता है—कल रात जरा सर्दी लग गई थी, इसीसे मुझे आज नाक से पानी आ रहा है, या कल उनके यहाँ भारी वस्तुयें खाली थीं, इसीसे आज खट्टे डकार आते हैं। यह बात मनुष्य अनुभव करता है। परन्तु कई बार उसको मालूम नहीं पड़ता, यह कब और कैसे होगया। वह चिकित्सक के पास जाता है और कहता है—रात-रात में यह फुन्सी निकल आई, पता नहीं कैसे होगई। इसी प्रकार वह कहता है—कल रात से पेट में मीठा-मीठा दर्द हो रहा है, पता नहीं कैसे होगया। चिकित्सक अपनी बुद्धि से इस दर्द के सब कारणों के। उसके सामने एक-एक पूछता है—कल

कोई भारी वस्तु या अमरूद आदि तो नहीं खाये, पेट में कब्ज तो नहीं, इत्यादि। रोगी उन सबका उत्तर हाँ या ना में देता है। चिकित्सक अपनी समझ से औषध निर्णय करता है। अब यदि विकार या रोग के कारण का ठीक पता चल गया और दवाई ठीक हुई, तो बस, बेड़ा पार (रोग पहली ही खुराक में साफ़ हुआ)। निशाना भी अचूक बैठता है। और यदि चिकित्सक ने कारण को समझे बिना, अन्धेरे में तीर फेंका, लगा या न लगा, तो सफलता भी अनिश्चित है। इसलिये उस रेखा को, जो रोगी और निरोग अवस्था को काटती है, समझना दोनों के लिये, रोगी और चिकित्सक के लिये आवश्यक है।

जिस समय परिवर्त्तन शरीर के अन्दर सहसा होता है, उस समय मनुष्य विकार को तथा उसके कारण को पहचान लेता है। अथवा जिस समय वह रोग के कारण को जानता है, तो उसका सेवन करने पर उसके परिणाम को भी समझ सकता है। परन्तु कई बार परिवर्त्तन बहुत धीरे-धीरे होता रहता है और जिस समय पर्य्याप्त मात्रा में हो चुका होता है, तब मनुष्य को मालूम होता है। इस अवस्था में उसे इस सहसा परिवर्त्तन का कारण समझ में नहीं आता है। यह प्राय: खान-पान की विषमता से होता है। जिस प्रकार छाती में ज़ोर से दर्द होने लगे और ज्वर चढ़ जाय, तब उसके कारण का पता नहीं चलता।

पीड़ा—रोग का स्पष्ट चिन्ह है। जिस समय शरीर के किसी भाग में पीड़ा हो, उस समय समझना चाहिये कि किसी प्रकार का रोग है। प्राय: सब रोगों में, विशेषत: जिन रोगों में रोगी को जलन का अनुभव होता है, रोगी निर्बल हो जाता है। जिस समय किसी प्रकार की पीड़ा हो, भोजन में अरुचि हो, अवयव थक जायँ, शिर में दर्द हो, उस समय मनुष्य को समझ लेना चाहिये कि वह किसी रोग में फँसा हुआ है। इस अवस्था के उत्पन्न होने पर आराम करना चाहिये और किसी योग्य वैद्य की सलाह लेनी चाहिये, जिससे रोग आगे न बढ़े। तन्दुरुस्ती प्राकृतिक स्थिति है, रोग या विकार स्वाभाविक स्थिति है। मनुष्य जहाँ तक प्रकृति के नियमों के अधीन रहकर जीवन-यात्रा करता है, वहाँ तक साधारणत: उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। परन्तु इस लम्बी सौ साल की यात्रा में मनुष्य से भूल होनी स्वाभाविक है। चलते-चलते ठोकर लगना स्वाभाविक

है। इसी प्रकार कई अवस्थाओं में ऐसा होता है कि मनुष्य कितनी ही होशियारी रक्खे, उससे भूल होनी अनिवार्य रहती है। परन्तु जो मनुष्य शरीर-शास्त्र के नियमों को समझकर चलता है, वह अनेक रोगों से अपने शरीर को बचा सकता है।

कारण के बिना रोग होता नहीं। इस बात का प्रत्येक मनुष्य को निश्चय रखना चाहिये। रोग का कारण जाने बिना, उसका ठीक उपाय भी नहीं हो सकता। यदि मनुष्य इसमें जरा गहरा ध्यान रक्खे, तो वह अपने रोग का परीक्षक स्वयं बन सकता है। रोग का कारण समझने पर उसको दूर करना भी उसकी इच्छा के अधीन है। रोग का कारण हटाने से दूसरे उपायों की इतनी ज़रूरत नहीं रहती। कारण को दूर करना ही रोग को दूर करने का उपाय है। मनुष्य रोग के कारण को समझकर कारण को दूर करे, अथवा भूल सुधारे, इससे शरीर पुन: प्रकृति रूप में वापस आ सकता है।

परमपिता परमात्मा ने रोगों के लिये एक स्वाभाविक शक्ति प्रदान कर रक्खी है। मनुष्य अपने अज्ञान के कारण इस शक्ति का ह्रास करता जाता है। यह शक्ति ओज या वीर्य के रूप में शरीर में रहती और मिलती है। वीर्य का नाश रोगों के लिये उपजाऊ भूमि बनाना है। रोगों के बहुत-से कारण तो इस शक्ति की सहायता से रुक जाते हैं। इस शक्ति के तथा रोग के कारणों में युद्ध चलता रहता है। इस लड़ाई में यदि शक्ति जीत जाय, तो रोग के कारण नष्ट हो जाते हैं, या उस समय के लिये हार जाते हैं। और यदि शक्ति हार जाय, तब शरीर मे रोग हो जाता है। जिस पुरुष में यह शक्ति प्रबल होती है, वह रोगों से बचने के लिये उतना हो अधिक बलवान और शक्तिमान समझा जाता है, और जिसमें निर्बल होती है, इसमें रोग उतने ही शीघ्र प्रभाव करते हैं। इस शक्ति को कहीं-कहीं "सत्त्व" भी कहा जाता है। बाहर से मोटे, भारी और मजबूत दीखनेवालों में प्राय: यह शक्ति निर्बल रहती है, और पतले, कमजोर दीखनेवालों में यह शक्ति प्रबल रहती है। अत: बाह्य संगठन प्राय: धोखा दे जाता है।

इसके अतिरिक्त परमात्मा ने शरीर के अन्दर एक और शक्ति दी है। इसका कार्य यह है कि उत्पन्न हुये विकार को बाहर करे। जैसे आँख में गिरा हुआ रज-कण आँसुओं के सहारे बाहर होता है, या लगी हुई चोट कई बार बिना किसी उपाय के अच्छी हो जाती है। शरीर की इस शक्ति का

कार्य इस प्रकार होता है कि विकार को शरीर के रक्षक सिपाही (श्वेताणु) या तो अपने में निगल लेते हैं, या बहाकर आँतों में, त्वचा में, या गुर्दों में पहुँचा देते हैं, जहाँ से वह बाहर हो जाता है। कई बार मात्रा से अधिक खाया भोजन वमन के रास्ते वापस हो जाता है। कई बार यही अपचित भोजन अतिसार के रूप में बाहर होता है। उस समय इसको रोकना अच्छा नहीं। योग्य चिकित्सक का कर्त्तव्य यही है कि वह प्रकृति का सहायक बने। उसके विरुद्ध न चले। इस प्रकार सर्दी भी कई बार बिना उपाय के अच्छी हो जाती है। इसी प्रकार ज्वर भी अपने आप अच्छा हो जाता है। इससे उस परमपिता की बुद्धिमानी का पता चलता है।

यह सत्य है कि बहुत-से रोग परमपिता की कृपा से स्वयं अच्छे हो जाते हैं; परन्तु कई बार इन रोगों के लिये भी चिकित्सक की सहायता की आवश्यकता होती है; क्योंकि एक रोग स्वयं तो अच्छा होता है, परन्तु पीछे से दूसरे रूप में निकलता है अथवा कई बार वही रोग अपने साथ दूसरे रोग को भी खड़ा कर लेता है। यथा—खाँसी अपने साथ क्षय को उत्पन्न कर लेती है। इसलिये रोग या विकार के प्रारम्भ ही में योग्य चिकित्सक से सम्मति ले लेनी चाहिये। अथवा स्वयं समझना चाहिये कि रोग का वास्तविक रूप क्या है। कई रोग शान्त नहीं होते, उनके लिये प्रतीकार की आवश्यकता होती है। यदि अजीर्ण में भोजन करने से ज्वर आता है, उस समय यदि लंघन कर लिया जाय और हलका भोजन—मूँग की दाल का पानी खाया जाय, तो रोग शान्त हो जाता है। परन्तु यदि कारण का पता न हो, तो चिकित्सा करना व्यर्थ होता है।

दवा रोग को हटाती है, यह मानना भूल है, परन्तु दवा रोग के हटाने में सहायक होती है, यह मानना सत्य है। प्राकृतिक शक्ति रोग को हटाने में जोर लगा रही होती है, चिकित्सक या दवा उस शक्ति के सहायक बनते हैं। इन दोनों के परस्पर सहयोग से रोग चला जाता है। इसलिये चिकित्सक का यह मानना कि मैंने दर्द या रोग को अच्छा किया, मिथ्या अभिमान है। यही कारण है कि कई अवस्थाओं में योग्य उपचार करने पर भी रोग अच्छा नहीं होता। उसका मुख्य कारण यही होता है कि उस प्राकृतिक शक्ति का और दवाई का सहयोग नहीं बना। दवाई या चिकित्सक केवल शक्ति के सहायक हैं, रोग का दूर करना उसी दैवी शक्ति का कार्य है।

इसलिये उपचारों को इतना तूल नहीं देना चाहिये, जितना कि आजकल दिया जाता है। रोग के कारण को समझकर उसका प्रतीकार करने का यत्न करना चाहिये।

इसके साथ ही कई प्राकृतिक कारण भी हैं, जिनसे कई बार बचना असम्भव होता है। वे शरीर को निर्बल कर देते हैं, जिससे रोगोत्पत्ति में बड़ी सहायता मिलती है। जिस समय शरीर की रक्षण-शक्ति निर्बल पड़ जाती है, उस समय रोग चारोंओर से आक्रमण करने लगते हैं। जिस समय रोग-रूपी बीज के लिये भूमि पहले ही से तैयार होती है, उस समय उत्पन्न होनेवाले रोगों का कारण भीतर आने ही से रोग खड़ा हो जाता है। कई बार शरीर में शक्ति रहती है, रोग का कारण बाहर से आता है, उस समय जरा देर लगती है। इसलिये कारणों को दो भागों में विभक्त कर रक्खा है—एक, रोग के लिये उचित भूमि बनानेवाले कारण और दूसरे, रोग को उत्पन्न करनेवाले कारण। इनका विवेचन पृथक्-पृथक् आगे किया जायगा।

जिन कारणों से रोग उत्पन्न होते हैं, उनको प्राचीन वैद्यक-शास्त्र ने नीचे लिखे अनुसार विभक्त किया है—

(१) आध्यात्मिक—जो रोग माता-पिता के रज और वीर्य के दोष से, अथवा अपने किये हुए मिथ्या आहार-विहार के कारण शरीर में उत्पन्न होते हैं, उनका समावेश इस शीर्षक में आता है। पिता को यदि सूजाक हुआ है, तो पुत्र को जोड़ों में दर्द होता है, जिसका कारण सूजाक का विष है, अथवा पिता का बवासीर पुत्र में उतरता है, अथवा अपने ही मिथ्याहार से जब अजीर्ण उत्पन्न होता है, तो यह कारण आध्यात्मिक होता है।

(२) आधिभौतिक—शरीर पर किसी प्रकार की चोट या आघात लगने से रक्त-स्राव या जख्म बन जाता है, अथवा कोई विषैला प्राणी काट लेता है, तो रोग का कारण इस शीर्षक में आता है।

(३) आधिदैविक—जब कोई रोग हवा आदि की खराबी से फैलता है, यथा महामारी (प्लेग), तो इनके कारणों को "आधिदैविक

कारण" कहते हैं। चेचक या प्लेग का फैलाना अपने हाथ में नहीं होता। यह कुदरती कारणों से होता है।

इन्हीं कारणों को दूसरे शब्दों में 'स्वकृत', 'परकृत' और 'दैवकृत' कहते हैं।

स्वकृत-कारण—जो मनुष्य को अपनी ही वैयक्तिक भूल के कारण हों।

परकृत-कारण—जो दूसरे प्राणी के कारण हों।

दैवकृत-कारण—जिनका कारण प्रथम दोनों प्रकारों के कारणों से भिन्न हो। यथा—ऋतुओं के परिवर्त्तन से जब कोई रोग उत्पन्न होता है, तब इसका कारण शरीर में परिवर्त्तन उत्पन्न करके रोग करता है। यदि इन कारणों का और भी मोटा विभाग करें, तो ये सब कारण दो भागों में विभक्त हो जाते हैं—मनुष्यकृत और दैवकृत।

मनुष्यकृत-कारण—भी कई प्रकार के हैं। इनमें से कुछ कारण तो प्रत्येक मनुष्य के हाथ में रहते हैं और कुछ दूसरे व्यक्तियों के हाथ में। उदाहरण के लिये—पड़ोसी के घर की अस्वच्छता पास के स्वच्छ घर-वाले व्यक्ति के लिये हानिकारक हो सकती है। इसी प्रकार कुछ कारण राज्य के अधीन भी हैं। इन सबका समावेश इस शीर्षक में किया जाता है। इस शीर्षक के निम्न प्रकार से विभाग हैं—

(१) **प्रत्येक-कारण**—प्रत्येक मनुष्य के किये हुए मिथ्याहार-विहार का परिणाम-स्वरूप जो रोग उत्पन्न होकर, उस मनुष्य को कष्ट देता है, उसका समावेश इस शीर्षक में किया जाता है।

(२) **कुटुम्ब-कारण**—कुटुम्ब के अन्दर प्रचलित अशुद्ध रीति-रिवाजों के कारण उत्पन्न होनेवाले रोग। कई कुटुम्बों में खास व्यसन और दुराचार होने के कारण कुटुम्ब के मेम्बर उस रोग से ग्रसित होते हैं।

(३) **जाति-कारण**—अपने जाति-बन्धन के कारण कई बार रोगों में फँसना पड़ता है। बाललग्न तथा मदिरापान आदि अशुद्ध प्रचलित रूढ़ियों के कारण रोग का शिकार होना पड़ता है। स्त्रियों को धूप का दर्शन करना भी कई घरों में असम्भव होता है। इसका परिणाम-स्वरूप उनको क्षय-रोग हो जाता है।

(४) **देश-कारण**—कई स्थानों के वायु-जल आदि अपने प्रतिकूल

२७

होता है। वहाँ के पानी से रोग उत्पन्न हो जाता है और अपने देश में आने से ठीक हो जाता है।

(५) **काल-कारण**—बाल्यावस्था, तरुणावस्था और वृद्धावस्था में कई रोग उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार गुदभ्रंश (गुदा का बाहर आना); यह रोग बालकपन ही में होता है। इसी प्रकार आमाशय-व्रण ३५ साल की आयु के पीछे होता है। इसके साथ कई रोग विशेष ऋतु ही में होते हैं। यदि उस समय ऋतु के अनुसार व्यवहार रक्खा जाय, तो उन रोगों से बचा भी जा सकता है।

(६) **माण्डलिक-कारण**—कई रोग हिन्दुओं में अधिकता से मिलते हैं और कई मुसल्मानों में। यथा—मधु-मेह का रोग (पेशाब में शक्कर का आना) प्रायः हिन्दुओं में और यहूदियों में मिलता है; क्योंकि ये दोनों कौमें कम मेहनती और अधिक खानेवाली होती हैं। इसी प्रकार आँखों की बीमारी प्रायः मुसल्मानों में होती है; क्योंकि इनका विवाह परस्पर एक ही रक्त में होता है।

(७) **राज्य-कारण**—देश-वासियों के प्रतिकूल होते हुये भी केवल अपने स्वार्थ ही के उद्देश्य से जब राज्य हानिकारक वस्तुओं का प्रचार करवाता है। यथा भारत में मद्य या अफीम की बिक्री। इनका उपयोग शरीर के लिये हानिकारक है; परन्तु राज्य इनका प्रचार करता है। इधर शिक्षा के प्रचार की और उन्नति नहीं करता।

(८) **महाकारण**—ये वे कारण हैं, जो सम्पूर्ण विश्व में एक समान फैलकर रोग उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिये—सन् १९१८ में जो इन्फ्लुयञ्जा रोग फैला था, उसका कारण यही महाकारण था। इस महाकारण का कारण "अधर्म" है। अधर्म के कारण मनुष्यों की प्रकृति में अन्तर आजाता है, इसीसे उसके फल-स्वरूप यह रोग होता है।

दैव-कृत—दैव-कृत कारण नीचे प्रकार के हैं—

(१) गरमी, ठण्डी वायु के कारणों से रोग उत्पन्न होते हैं।

(२) बिजली, धूप या बर्फ के गिरने से अकस्मात् रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

कॉलरा, न्युमोनिक, प्लेग, महामारी अथवा मरकी आदि रोग

प्राचीन आर्य वैद्यक-शास्त्र के अनुसार दैव-कृत हैं, परन्तु अर्वाचीन चिकित्सा-शास्त्र से ये रोग भी मनुष्यकर्त्तृक ही हैं। मनुष्य की भूल ही से ये सब रोग फैलते हैं। दैव का इसमें किसी प्रकार का हाथ नहीं होता, ऐसी मान्यता अर्वाचीन वैद्यक-शास्त्रियों ने की है। उनका विचार यह है कि इन रोगों का कारण "कृमि" है। ये कृमि पानी और वायु के द्वारा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक पहुँचते हैं। अथवा एक देश से दूसरे देश तक पहुँचते हैं। कृमि भी उसी समय प्रभावशाली होते हैं, जब शारीरिक रक्षण-शक्ति निर्बल होती है। यदि शक्ति प्रबल हो, तो ये कृमि भी प्रभाव नहीं कर सकते।

जिन दैवी कारणों से मनुष्य के अन्दर रोग उत्पन्न होता है, वे कारण मनुष्य को दुःख देने के लिये प्रकृति ने बनाये हैं, ऐसी मान्यता करना भूल है। वातावरण के अन्दर जो-जो परिवर्त्तन होते हैं, उनके कारण प्रकृति शुद्ध हो जाती है, रोग शान्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिये—गर्मियों में जलाती हुई लुवें वायु-मण्डल में रहनेवाले सब कृमियों को प्रायः मार देती हैं। इसी प्रकार हेमन्त-ऋतु की कड़कड़ाती सर्दी में सब रोगोत्पादक कृमि मर जाते हैं। पानी साफ हो जाता है। यही कारण है कि ज्येष्ठ और आषाढ़ में एवं पौष और मार्गशीर्ष के अन्दर कोई रोग (व्यापक रोग) नहीं रहता। यदि कोई मनुष्य अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार इन परिवर्त्तनों से रक्षा न करे, तो वह इन रोगों से ग्रस्त हो सकता है। इन परिवर्त्तनों से भी उचित उपायों द्वारा बचा जा सकता है।

रोगों के सब कारण नीचे के दो भागों में, मुख्यरूप से, आजाते हैं। यथा—

(१) **प्राथमिक कारण**—रोगोत्पत्ति के लिये उचित भूमि। उदाहरण के लिये—अभीतक संसार में ऐसा कोई मनुष्य या बच्चा उत्पन्न नहीं हुआ, जिसको जन्मते समय क्षय-रोग हो। परन्तु जितने भी बच्चों में क्षय-रोग पाया गया है, उन सबमें इस रोग के लिये उचित क्षेत्र उपस्थित देखा गया है। यदि बच्चे को अच्छे उपायों से पाला जाय, तो उसमें यह रोग नहीं भी हो सकता है।

(२) **रोगोत्पत्ति के सत्य कारण**—चोट का लगना, उसका पकना और पीब का बनना—इसमें चोट पीब की उत्पत्ति का सत्य कारण है। इन कारणों को तात्कालिक कारण भी कहते हैं।

रोगोत्पत्ति के प्राथमिक कारण

एक ही घर में रहनेवाले एक ही जगह खाना खानेवाले व्यक्तियों में से कुछ एक को तो प्लेग हो जाता है और दूसरे मनुष्य बच जाते हैं, इस बात का क्या कारण है ? इस प्रश्न का निराकरण रोग के योग्य कारणों को समझने से सुगमता-पूर्वक बुद्धि में आ सकता है। मिथ्या आहार-विहार के कारण अथवा पैतृक निर्बलता के कारण जब शरीर किसी विशेष रोग के लिये निर्बल होता है, उस समय यदि वही रोग उस पर आक्रमण करे, तो वह इस रोग में फँस जायगा, दूसरे रोग से बच जायगा। जिस प्रकार एक भूमि ऊसर होती है, उसमें कोई बीज उत्पन्न नहीं होता है। एक दूसरी प्रकार की भूमि होती है, जिसमें खास वस्तु ही—मकई या गेहूँ उत्पन्न होता है, दूसरी कोई वस्तु नहीं होती। तीसरे प्रकार की भूमि वह है, जिसमें उचित उपायों द्वारा हम दूसरी वस्तु भी उत्पन्न कर लेते हैं। इसी प्रकार कई मनुष्य इस प्रकार के होते हैं कि थोड़ी भी सर्दी उनमें रोग उत्पन्न कर देती है। इसी प्रकार कोई मनुष्य किसी रोग के लिये, कोई किसी रोग के लिये योग्य होते हैं। यह सुना जाता है कि चीनी और जापानियों को हैजा, कॉलरा नहीं होता और बकरी को क्षय-रोग नहीं होता। ये कारण स्वयं किसी रोग को उत्पन्न नहीं करते, परन्तु रोगों के उत्पन्न होने के लिये उचित भूमि बना देते हैं। जिस प्रकार मल-बन्ध का होना स्वयं इतना कष्टदायक नहीं होता, जितना इस अवस्था में मलेरिया विष का शरीर में पहुँचकर रोग उत्पन्न करना होता है। यदि मल-बन्ध न होता, तो विष भी प्रभावशाली नहीं बन सकता था।

ये प्राथमिक कारण कई प्रकार के हैं। इनमें से मुख्य कारण नीचे दिये जाते हैं—

(१) माता-पिता की निर्बलता, (२) एक ही रक्त में विवाह, (३) बाल-लग्न, (४) पैतृक कारण, (५) आयु, (६) जाति, (७) धंधा, (८) प्रकृति।

१—माता-पिता की निर्बलता—गर्भ रहते समय माता-पिता दोनों अथवा किसी एक में यदि निर्बलता होगी, तो पुत्र के अन्दर अवश्य ही निर्बलता आयेगी। इसी प्रकार यदि माता अधिक आयु की होगी अथवा बाप अधिक आयु का होगा, तो बेजोड़ से उत्पन्न शिशु अवश्य निर्बल रहेगा।

२ —एक ही रक्त में विवाह—इस प्रकार से उत्पन्न प्रजा बहुत ही निर्बल होनी सम्भव है। जिस विवाह से प्रजा निर्बल उत्पन्न होती है, उसका वैद्यक-शास्त्र निषेध करता है। आधुनिक वैज्ञानिक भी दूर-दूर विवाह करने के पक्षपाती हैं। महात्मा मनु ने कहा है कि, "माता के सात पिण्ड बचाने चाहिये और पिता का गोत्र बचाना चाहिये।" जिस प्रकार दो भिन्न-भिन्न आमों की कलम परस्पर करने से एक नया ही आम उत्पन्न होता है, जो गुणों में, स्वाद में दोनों से भिन्न होता है, उसी प्रकार दूर-दूर के विवाहों में सन्तति भी उत्तम उत्पन्न होती है। दूर के विवाहों से दो भिन्न रक्त मिलकर एक नई वस्तु उत्पन्न करते हैं। इसीसे प्राचीन ग्रन्थों में "कन्या" का नाम "दुहिता" दिया है, जिसका अर्थ है कि "दूरे हिता दूर्हिता सैव दुहिता"—दूर भेजी जाती है, इसीलिये दुहिता कहते हैं। कन्या का सम्बन्ध यथाशक्ति दूर करना चाहिये।

३— बाल-लग्न—अधकच्चा या कच्चा फल जिस प्रकार पूरा स्वाद नहीं दे सकता, या जिस प्रकार बीज के लिये अयोग्य समझा जाता है, उसी प्रकार छोटी आयु का विवाह होता है। इस आयु के बालक न तो विवाह का सच्चा अर्थ समझते हैं, और न उनको इस समय के गर्भाधान की हानि का पता होता है। उनकी दृष्टि में यह एक गुड़िया का खेल होता है। एक होशियार माली जब यह देखता है कि छोटी उमर में फूल आगया है, तो वह उसको तोड़ देता है, जिससे फल न बने और वृक्ष की शक्ति सुरक्षित रहे। इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर भी उसकी शक्ति उचित आयु तक सुरक्षित रहनी चाहिये। वह शक्ति इसके शरीर के अन्य धातुओं का पोषण करती है। बाल-लग्न से शरीर अवश्य निर्बल रहेगा, क्योंकि अपक, निर्बल बीज पके हुये बीज को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त चिन्ता, कम कमाई, खान-पान की कमी के कारण मनुष्य स्वास्थ्य को सँभाल नहीं सकता। इससे शरीर और भी निर्बल रहता है। निर्बल, कमजोर माता-पिता सशक्त बच्चे का जन्म नहीं दे सकते।

४—पैतृक-कारण—कई रोग, कई बुराइयाँ और कई गुण बच्चों में माता-पिता से उतरते हैं। जिस प्रकार ईमानदारी या सत्यता, स्वच्छता आदि गुण बच्चों में माँ-बाप से आते हैं, उसी प्रकार बेईमानी, धोखेबाजी,

जुल्मीपन आदि अवगुण भी माँ-बाप से बच्चों में आते हैं। इसी प्रकार कई रोग भी बच्चों में उतरते हैं। इन रोगों में दमा, पागलपन, कोढ़, अर्श, अपस्मार, मदिरापान, उपदंश, गरमी आदि मुख्य हैं। क्षय-रोग रोग के रूप में नहीं उतरता; परन्तु क्षय-रोग की उत्पत्ति के सब प्राथमिक कारण शिशु में पाये जाते हैं। पीछे से माता का दूध पीने से या रोग-ग्रस्त माता के पास रहने से उसे यह रोग लागू पड़ जाता है। इसलिये मनु महाराज ने कहा है कि, "क्षय-रोगी, खित्र रोगी, कुष्टी, अपस्मारी, बवासीरवाले, घरों को छोड़ देते हैं।" कई बार कई रोग एक संतति को छोड़कर दूसरे में आते हैं अर्थात् पिता के रोग पुत्र में न जाकर पोते में जाते हैं। कई बार कन्याओं ही में जाते हैं। इस प्रकार के जन्म के रोग का जाना असम्भव होता है; क्योंकि ये रोग बीज-दोष के कारण होते हैं।

५—**आयु**—कई रोग आयु के साथ सम्बन्ध रखते हैं। कफ के रोग प्राय: बच्चों को होते हैं। इसी प्रकार वायु के रोग बुड्ढों को प्राय: होते हैं। युवावस्था में रोगों को रोकने की शक्ति अधिक होती है, अत: रोग भी कम होते हैं।

६—**जाति**—पुरुष की अपेक्षा स्त्री को रोग जल्दी लागू पड़ता है। इनका रोग जाता भी कठिनता से है। स्त्रियों का शरीर पुरुषों की अपेक्षा अधिक कोमल और निर्बल रहता है। संतान-प्रसव के कारण इनका शरीर और भी निर्बल हो जाता है।

७—**धंधा**—कई प्रकार के धंधे शरीर को रोगों के लायक बना देते हैं। क्लर्की का काम आँख और छाती को, रंग का काम फेफड़ों को, छापेखाने का काम पेट को या कलाई को, पत्थर या स्लेट तोड़ने का काम अथवा वस्त्रों के कारखानाओं का काम, कोयले की कानों का काम, बहुत बोलनेवाला काम या शीशों के कारखाने में फूँकने का काम करना शरीर को निर्बल, कमज़ोर, अशक्त बना देता है। इन व्यक्तियों को बुढ़ापा शीघ्र आजाता है, आयुष्य घट जाता है।

८—**प्रकृति**—प्रकृति, स्वभाव और मिजाज भी रोगोत्पत्ति में सहायक होता है। किसी की प्रकृति वातिक होती है, इसलिये वह वात रोगों से विशेषत: आक्रान्त रहता है। इस प्रकार का मनुष्य जब कभी वायु करनेवाली वस्तु खा लेता है, तभी रोगी हो जाता है। किसी की पित्त-प्रकृति

होती है और किसी की कफ। इसलिये जब कभी किसी को आहार-विहार से प्रकृति में विकार हुआ कि तुरन्त रोग उत्पन्न हो जाता है।

रोग को उत्पन्न करनेवाले समीपवर्त्ती कारण

रोग को उत्पन्न करनेवाले समीपवर्त्ती कारणों में नीचे लिखे मुख्य कारणों का समावेश होता है।

१—वायु	६—वस्त्र	११—रस-बिगाड़	१६—मन का विकार
२—पानी	७—विहार	१२—जन्तु	१७—अकस्मात
३—खुराक	८—मलिनता	१३—चेप-संक्रमण	१८—दवाइयाँ
४—कसरत	९—व्यसन	१४—ठण्डी	
५—नींद	१०—विष-योग	१५—गरमी	

इनमें से प्रथम पाँच बातों का वर्णन प्रथम किया जा चुका है। इन पाँचों बातों के योग्य आहार-विहार से शरीर स्वस्थ रहता है, और इनके विकार से रोग उत्पन्न होता है। वस्त्र और विहार का उचित उपयोग शरीर को स्वस्थ रखता है।

६—**वस्त्र**—वस्त्र शरीर का रक्षण करता है। यदि इसको ऋतु के अनुसार और उचित उपाय से पहना न जाय, तो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। बच्चे के शरीर पर ठण्डक का असर बहुत जल्दी होता है। यदि इनको ठीक प्रकार से सर्दी से बचाया न जाय, तो खाँसी, छाती तथा पेट के रोग लागू पड़ जाते हैं। पाँव को खुला तथा बार-बार गीला रखने से स्वास्थ्य खराब होता है। तंग वस्त्र पहनने से छाती और यकृत पर दबाव पड़ता है, जिससे रक्त-संचार में बाधा उत्पन्न होती है। गरम देश में, या गरम ऋतु में ढीला कपड़ा पहनना चाहिये, सर्दियों में तंग कपड़ा पहनने की जरूरत है। गरमी में तंग गरम कपड़ा पहनने से शरीर में छोटी-छोटी फुन्सियाँ निकल आती हैं। मैले वस्त्र पहनने से चमड़े के रोग हो जाते हैं। चिकने और मैले वस्त्र से संक्रामक रोग हो जाते हैं।

७—**विहार**—विहार का अर्थ यहाँ पर "स्त्री-सेवन" अर्थ में लिया गया है। विहार भी शरीर का एक धर्म है। तथापि इसके हीन योग और अति योग से कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। अतियोग से क्षय, धातु-क्षय, क्षीणता, पाण्डु, शूल, प्रमेह, प्रदर, गरमी, रक्त-पित्त, अपस्मार, उन्माद आदि उत्पन्न

होते हैं। हीनयोग से धातु-स्राव (स्वप्न में धातु जाना) आदि कई रोग उत्पन्न होते हैं।

८—**मलिनता**—मलिनता बहुत-से दर्दों को उत्पन्न करती है। घर के आस-पास की गन्दगी वायु को खराब करती है। वायु के खराब होने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। शरीर की मलिनता बहुत-से रोगों को उत्पन्न करती है। दाद, गुमड़ा आदि रोग शरीर की मलिनता ही से होते हैं। मलिनता से शरीर के छिद्र रुक जाते हैं। इससे रक्त शुद्ध नहीं होता। इससे कई प्रकार के रोग होते हैं।

९—**व्यसन**—व्यसनों से भी अनेक भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं। शराब, ताड़ी, अफीम, भाँग, तम्बाकू, चाय, कॉफी आदि वस्तुओं का अति उपयोग या नित्यप्रति सेवन करने से व्यसन के रूप में पड़ जाते हैं। इन वस्तुओं के उचित उपयोग से शरीर को लाभ भी पहुँचता है; परन्तु नित्य उपयोग करने से फायदा करने की अपेक्षा इनसे नुकसान होता है। इन वस्तुओं में थोड़ा-सा मादक गुण है, इसलिये इनको नशे के रूप में लोग व्यवहार करते हैं। व्यसन के तरीके उपयोग करने से निम्न रोग उत्पन्न होते हैं।

(१) **शराब**—रक्त-विकार, बदहज्मी, वमन, मल-बन्ध, खटास, मन्दाग्नि यकृत रोग और मस्तिष्क के रोग उत्पन्न करता है। आलस्य, सुस्ती, नाहिम्मतपन, डरपोकपन, बेअक़्लपन, यह मद्य पीनेवालों के खास गुण हैं। मद्यपान से फेफड़े और जिगर के भयङ्कर रोग उत्पन्न होते हैं। क्षय, मधुप्रमेह, गुरदे का रोग भी प्रायः इनको होते हैं। मद्य की अधिक मात्रा शरीर में विष की मात्रा को बढ़ाती है। मद्य बुद्धि को बिगाड़ता है।

(२) **ताड़ी**—पेशाब के रोग, मन्दाग्नि, आध्मान, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं और बुद्धि को भ्रष्ट करती है। गुरदे का रोग भी इसके सेवन से होता है।

(३) **अफीम**—अफीम के व्यसन से मन की सुस्ती, बुद्धि कम, दिवानापन आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अफीम के खाने से शरीर की शक्ति नष्ट हो जाती है।

(४) **भाँग**—बुद्धि तथा होशियारी का नाश हो जाता है, मनुष्यता कम हो जाती है, मूर्खता बढ़ती है, स्मरण-शक्ति घट जाती है। विचार-शक्ति

प्राण-नाशक हैं। २—ज्वर की नाड़ी गरम और अधिक उतावली चलती है। ३—चिन्ता तथा भय से नाड़ी मन्द पड़ जाती है। ४—कामातुर और क्रोधी मनुष्य की नाड़ी तेजी से चलती है। ५—रक्त कुपित हो, तो नाड़ी गरम तथा पत्थर-जैसी भारी चलती है। ६—आम दोषवाले व्यक्ति की नाड़ी बहुत भारी चलती है। ७—गर्भिणी की नाड़ी गम्भीर, पुष्ट और हल्की चलती है। ८—मन्दाग्नि, धातु-क्षय, सोये हुये या निद्रा से उठे और आलसी इन सब मनुष्यों की नाड़ी स्थिर चलती है। ९—बहुत भूख लगी हो, तो नाड़ी चंचल चलती है। १०—जब बहुत दस्त लगे हों, तो नाड़ी बहुत उतावली चलती है। ११—भोजन करने के पीछे नाड़ी मन्द चलती है। १२—जो नाड़ी टूट-टूटकर चले, या कभी धीरे और कभी तेज चले, तो उसे मृत्यु की नाड़ी समझना चाहिये।

डाक्टरी नाड़ी-परीक्षा—डाक्टरी परीक्षा में नाड़ी के ऊपर ध्यान नहीं दिया जाता, यह मानना भूल है। डाक्टर लोग भी नाड़ी देखते हैं और उसके आधार पर रोग निर्णय करते हैं। कई तबीब नाड़ी परीक्षा में गहरा ज्ञान रखते हैं, इसलिये नाड़ी-परीक्षा ही से रोग पहचान लेते हैं। जिस प्रकार वैद्यों ने नाड़ी की भिन्न-भिन्न गति को वात-नाड़ी, पित्त-नाड़ी या कफ-नाड़ी नाम दिया है, उसी प्रकार डाक्टरों ने भी नाड़ी को धीमी, तेज, भरी हुई, छोटी, सख्त, अनियमित, अन्तरिया आदि नाम दिये हैं। भिन्न-भिन्न रोगों में नाड़ी भी भिन्न-भिन्न प्रकार की चलती है। जैसे टाइफाईड ज्वर में नाड़ी का आघात दुहरा होता है। इस बात का विवरण संक्षेप में नीचे दिया जाता है—

उतावली नाड़ी—नाड़ी की गति स्वस्थ अवस्था में आयु के अनुसार कितनी-कितनी रहती है, इसका विवरण प्रथम दे दिया गया है। एक निरोगी और स्वस्थ मनुष्य की आयु यदि २१ से ५० हो, तो नाड़ी का स्पन्दन ५५ से ८५ होगा। रोग की अवस्था में यही संख्या बढ़कर १०० से १५० तक पहुँच जाती है, उस समय इसको उतावली नाड़ी कहते हैं। क्षय-रोग की निर्बलता अथवा अन्य प्रकार की निर्बलता में नाड़ी बहुत तेजी से चलती है। नाड़ी की तेजी के साथ हृदय का स्पन्दन भी अधिक तेजी से होता है; क्योंकि नाड़ी की चाल हृदय के स्पन्दन पर आधार रखती है। जिस-जिस प्रकार नाड़ी की गति बढ़ती जाती है, रोग भी उसी प्रकार बढ़ता जाता है और

मनुष्य भयानक स्थिति में उतरता जाता है। ज्वर में नाड़ी प्रायः सदा तेज रहती है और त्वचा गरम रहती है। नीचे के रोगों में नाड़ी थोड़ी या बहुत तेजी से चलती है और शरीर गरम रहता है—सन्निपात ज्वर, सख्त संधि-वात, सख्त खाँसी, क्षय, मस्तिष्क, फेफड़े, हृदय, आमाशय, और आंत्र आदि की शोथ में, तीव्र अतिसार में, यकृत, आँख या कान की विद्रधि में, प्रमेह या तीव्र भयानक व्रण में, पुराने प्रमेह में भी नाड़ी ज्वर के समान रहती है।

धीमी नाड़ी—स्वस्थ अवस्था में जिस प्रकार नाड़ी चलनी चाहिये, उससे यदि मन्द चले, तो इसको मन्द या धीमी नाड़ी कहते हैं। नीचे लिखी अवस्थाओं में नाड़ी धीमी चलती है—शीत या ठण्ड, श्रान्ति, भूख के रोग में, शोक या चिन्ता में, उदासी में, मस्तिष्क के कई रोगों में, यथा—अपस्मार में, बेभान अवस्था में एवं सब रोगों की अन्तिम अवस्थाओं में नाड़ी धीमे-धीमे चलती है।

भरी हुई नाड़ी—नाड़ी-परीक्षा में जिस प्रकार अँगुलियों को नाड़ी की तेज या मन्द गति का अनुभव होता है, उसी प्रकार उसके जोर (वज़न) और कद का भी ज्ञान होता है। जिस समय यह जोर या वज़न साधारणा-वस्था से अधिक बढ़ा होता है, उस अवस्था को भरी हुई नाड़ी या स्थूल नाड़ी कहते हैं। जिन पुरुषों में रक्त की मात्रा बढ़ी होती है, जिनको ताप बहुत चढ़ा होता है तथा शरीर के किसी स्थान पर शोथ होने पर नाड़ी भरी हुई चलती है। भरी हुई नाड़ी यह बताती है कि शरीर में रक्त पूरा है, या बढ़ा। जिस प्रकार नदी में पानी की बढ़ती आने पर पानी का जोर बढ़ जाता है, उसी प्रकार रक्त के बढ़ने से नाड़ी भी बढ़ जाती है। गर्भवती स्त्री की नाड़ी भरी हुई रहती है। इसका ज्ञान अभ्यास से किया जा सकता है।

छोटी नाड़ी—थोड़े रक्तवाले मनुष्य की नाड़ी हल्की और छोटी रहती है। इस प्रकार नाड़ी पर अँगुली रखने से नाड़ी साधारणावस्था से छोटी मालूम पड़ती है। इस प्रकार की नाड़ी पतली अनुभव होती है। शरीर के किसी भी मार्ग से रक्त अधिक मात्रा में निकल जाय, या जाता हो, इस प्रकार के रोगों में, प्रायः पुराने रोगों में, कॉलरे में तथा रोगों के पीछे की निर्बलता में नाड़ी निर्बल अर्थात् पतली चलती है। इस नाड़ी से यह समझना चाहिये कि शरीर में रक्त की कमी है। रक्त के प्रमाण से नाड़ी

के चार भाग किये जाते हैं। यथा—भरी हुई, मध्यम, छोटी और बे मालूम। रक्त के विशेष जोश में आने से नाड़ी भरी हुई, रक्त की मध्यमावस्था में मध्यम और अल्प रक्त में छोटी और "कॉलरा" आदि रोगों में जब रक्त बहुत ही कम हो जाता है, या उसका संचार घट जाता है, तब नाड़ी 'बेमालूम" चलती है।

सख्त या कोमल नाड़ी—लाल रक्त को बहानेवाली धमनियों की दीवारों में एक प्रकार के तन्तु रहते हैं, जिनमें संकुचित और विकसित होने का गुण रहता है। रोग के कारण इस संकोच और विकास में अन्तर आजाता है। वृद्धावस्था में धीरे-धीरे इनका संकोच-गुण अपने आप कम हो जाता है। जिस समय यह संकोच-गुण कम हो जाता है, उस समय नाड़ी का स्पर्श भी कठोर हो जाता है; और जब यह गुण बढ़ जाय, तो नाड़ी कोमल हो जाती है। इसकी पहचान यह है कि नाड़ी के ऊपर तीन अँगुलियाँ रखकर पुन: नाड़ी के स्थान से ऊपर कोहनी के पास जहाँ यह नाड़ी धमनी से विभक्त होती है, उससे थोड़ा नीचे इसी की दूसरी अँगुलियों से दबाना चाहिये। यदि अब भी नाड़ी-स्थान पर उसी प्रकार का स्पर्श लगे, तो समझना नाड़ी सख्त या कठोर है; और यदि स्पर्श न हो, तो समझना नाड़ी मृदु या कोमल है। रोग में नाड़ी प्राय: कठिन हो जाती है। महाधमनी के प्रत्यावर्त्तन में धमनी का स्पन्दन हथौड़े के माफिक होता है।

अनियमित नाड़ी—स्वस्थ अवस्था में नाड़ी के दो स्पन्दनों या आघातों के बीच में अन्तर रहता है। यह अन्तर हृदय के संकोच और विकास के पश्चात् विश्राम लेने का होता है। स्वस्थ अवस्था में यह अन्तर एक समान रहता है। परन्तु कई रोगों से इसमें अन्तर कम या अधिक हो जाता है। अर्थात् एक स्पन्दन होने के बहुत देर बाद दूसरा स्पन्दन आता है, या दो स्पन्दन देकर फिर अन्तर आता है। इस परिवर्त्तन को अनियमित नाड़ी कहते हैं। यह परिवर्त्तन निम्न रोगों में होता है—हृदय के रोगों में, फेफड़ों के रोगों में, मस्तिष्क के रोगों में, अजीर्ण में, सन्निपात-ज्वर में, प्रसूतिका-रोग में, किसी रोग की भयानक स्थिति में नाड़ी के अन्दर परिवर्त्तन आता रहता है।

आन्तरिया नाड़ी—नाड़ी के दो-तीन प्रहार होने के पीछे बीच में एकाध प्रहार जितना अन्तर पड़ जाता है, अर्थात् प्रहार का पता नहीं चलता।

नाड़ी बन्द होगई है, ऐसा प्रतीत होता है। पीछे फिर एक दूसरे के ऊपर दो-तीन ताबड़तोड़ होते हैं और फिर नाड़ी का स्पन्दन बन्द हो जाता है। इस प्रकार से चलनेवाली नाड़ी को "आन्तरिया नाड़ी" कहते हैं। हृदय की बीमारी में जब रक्त भली प्रकार शरीर में नहीं फिरता, तब मोटी रक्त-वाहिनियाँ चौड़ी रहती हैं, उनका छिद्र रक्त से पूरा भरता नहीं; इससे यह गति रहती है। इसी प्रकार मस्तिष्क का कोई भाग बिगड़ने से भी यही परिवर्त्तन आता है।

डाक्टर लोग नाड़ी-परीक्षा में तीन बातों का ध्यान रखते हैं— १—नाड़ी की चाल उतावली है या धीमी, २—नाड़ी का आकार छोटा है या बड़ा, ३—नाड़ी सख्त है या नरम। रक्त की प्रबलतावाले जोरदार मनुष्य के ज्वर में, मस्तिष्क की शोथ में, यकृत के रोग में और सन्धिवात आदि रोगों में नाड़ी उतावली, अधिक बड़ी और अधिक कठोर चलती है। यदि इस प्रकार की नाड़ी अधिक समय तक चले, तो भयावह होती है। ज्वर के रोग में यदि इस प्रकार की नाड़ी बहुत दिन चले, तो रोगी की आशा थोड़ी रहती है। यदि नाड़ी की गति धीरे-धीरे घट जाय, तो रोगी के अच्छा होने की आशा रहती है। फस्द खोलने से या स्वयं रक्त निकलने के कारण अथवा जलौका या सींगी से रक्त निकलवाने पर जब रक्त का दबाव घट जाता है, तो रोगी की स्थिति अच्छी प्रतीत होती है। निर्बल मनुष्यों को जब ज्वर आता है, अथवा शरीर के किसी भाग में शोथ हो जाती है, तो उस समय उतावली और छोटी नाड़ी चलती है। आंत्रों में या पेट के पड़दे में सूजन हो जाय, उस समय नाड़ी उतावली, सख्त और छोटी नाड़ी चलती है। यह नाड़ी यद्यपि छोटी होती है, तथापि इतनी कठिन होती है कि अँगुलियों को तार के समान बारीक और कठिन लगती है। यह नाड़ी भी रक्त के जोर को बताती है।

नाड़ी का श्वास के साथ सम्बन्ध—स्वस्थ, निरोगी, युवा मनुष्य की नाड़ी-संख्या साधारणत: ७५ से ८० रहती है, इसी मनुष्य की श्वास-संख्या १५ से १८ रहती है। इसका मोटा अनुपात १ : ४ का रहता है। कई रोगों में इस अनुपात के अन्दर अन्तर आजाता है। अर्थात् यह १ : ३ या १ : २ हो जाता है। जिस प्रकार निमोनिया में नाड़ी की गति बढ़

जाती है; परन्तु श्वास की गति में कमी आजाती है। इस प्रकार से अनुपात बदल जाता है, जो खतरनाक होता है। ज्वर की साधारणावस्था में नाड़ी की गति अवश्य बढ़ती है; परन्तु उसके साथ श्वास-गति भी बढ़ जाती है और जबतक दोनों का अनुपात एक-सा रहे, तबतक जीवन का इतना भय नहीं होता।

इसी प्रकार ताप-परिमाण—शरीर की गरमी के साथ भी नाड़ी का सम्बन्ध है। यथा—स्वस्थ, युवा व्यक्ति की नाड़ी-संख्या ७५ से ८० है, तो इसी व्यक्ति का ताप-परिमाण ९८.४ फार्नहाइट होता है। अब यदि नाड़ी-संख्या १० अधिक हो, तो ज्वर ९९.४ या इसके लगभग होना चाहिये। अर्थात् एक डिग्री ताप-परिमाण बढ़ने से नाड़ी का स्पन्दन दस अधिक होता है। यदि यह अनुपात चलता जाय और श्वास भी नाड़ी का सहयोग देता जाय, तो योग्य चिकित्सा से रोगी के बचने की सम्भावना करनी चाहिये।

नाड़ी के विषय में लोगों का विश्वास—केवल नाड़ी-परीक्षा ही से सब रोगों का, उनके कारणों का पता लग सकता है, लोगों की यह धारणा सर्वथा असत्य है। इससे ये लोग ठगे जाते हैं और नाड़ी-विज्ञान का बहाना रखनेवाले वैद्यों या हकीमों के जालों में फँस जाते हैं। कई बार नाड़ी-परीक्षा के सम्बन्ध में बड़ी अद्भुत और असंभवित बातें सुनने में आती हैं। इन बातों को सत्य मानना प्रायः भ्रम में डाल देता है। नाड़ी के अभ्यास से बहुत ही सूक्ष्म बातों का कई बार पता चल जाता है। तथापि नाड़ी-परीक्षा से रोग के सब कारणों का अथवा क्या खाया है और क्या पिया है, इन बातों का पता चलना असंभव है। इन बातों पर विश्वास करना भूल है। लोगों की यह जो मान्यता बनी हुई है कि वैद्य को अवश्य इतना ज्ञान होना चाहिये कि वह नाड़ी देखकर रोग का निर्णय, उसके कारण बता दे, वह असत्य है। लोग डाक्टर को अपना सारा कच्चा चिट्ठा सुनाने को तैयार रहते हैं। उनका विश्वास है कि डाक्टर लोगों को नाड़ी-ज्ञान नहीं होता। उधर वैद्य या हकीम के सामने बैठकर हाथ आगे कर देते हैं और पूछने पर कि "क्या शिकायत है"? वे कहते हैं—आप देख लीजिये। उनकी दृष्टि में नाड़ी-ज्ञान सब कुछ बता देता है। सच्चा वैद्य उनको ये बातें समझा देता है। परन्तु मूर्ख वैद्य भी इन मूर्खों को खूब फाँसते हैं। उन्होंने भी सोच रक्खा है कि नाड़ी पर हाथ रखते ही

ज्योतिषी की भाँति वे बातें कहती हैं, जिनके कई अर्थ हो जायँ। यथा—तुम्हारे शरीर में कमजोरी है, भूख नहीं लगती, भोजन पचता नहीं, कब्ज़ियत रहती है—इत्यादि। ये बातें इस प्रकार की हैं, जो साधारण हैं और प्राय: सबमें मिलती हैं। मूर्ख रोगी भी समझता है कि वैद्यजी नाड़ी-ज्ञान में बड़े पहुँचे हुए हैं।

नाड़ी का स्पन्दन किस प्रकार से उत्पन्न होता है और उसका सम्बन्ध कहाँ से है इत्यादि बातों का विवेचन पहले किया जा सकता है। शरीर के किसी भी अंग में विकार या रोग होने से उसका प्रभाव शरीर के सारे अंग पर पड़ता है। कई बार यह प्रभाव बहुत स्पष्ट होता है और कई बार बहुत कम। उदाहरण के लिये पाँव की चोट से सारा शरीर रोगी हो जाता है। इसलिये स्थानिक रोग भी एक प्रकार से व्यापक रोग होता है। यही कारण है कि पाँव की चोट से भी नाड़ी की गति में अन्तर आजाता है; क्योंकि प्रत्येक धमनी तीनों दोषों का वाहन कर रही हैं। ये दोष रक्त के साथ सब शरीर में फिर रहे होते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पाँव के काँटे को नाड़ी वैद्य देखकर बता सकता है। इसी प्रकार कान में पड़ी पीव को नाड़ी बता सकती है, यह असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

नाड़ी-परीक्षा के साथ रोगी की अन्य स्थिति पर उसके उठने-बैठने, लेटने पर भी ध्यान रखना चाहिये। कई मनुष्य थोड़े-से रोग को भी बहुत मानते हैं और दूसरे भयानक रोग को भी थोड़ा गिनते हैं। कई बार रोगी अपने रोग को स्वयं नहीं बता सकता, जैसा बच्चों में या मूर्च्छित अवस्था में होता है। इसलिये चिकित्सक को चाहिये कि वह अपनी परीक्षा को पूर्ण करने का यत्न करे। जिस चिकित्सक की परीक्षा जितनी पूर्ण होती है, उतनी ही उसे अपने कार्य में सफलता मिलेगी। डाक्टर लोग ध्वनि-यंत्र या स्टैथ-स्कोप से परीक्षा करते हैं। लोगों का इसके विषय में भी भ्रम फैला हुआ है। उनकी मान्यता यह है कि इसके द्वारा वे सब रोगों को जान लेते हैं। वास्तव में यह भी नाड़ी-ज्ञान ही का एक रूप है। वैद्य मणि-बन्ध पर नाड़ी देखते हैं, डाक्टर हृदय पर ध्वनि-यंत्र से स्पन्दन को जानते हैं।

नाड़ी-ज्ञान शास्त्र के पढ़ने से नहीं आता। बार-बार रोगियों की परीक्षा से तथा पूर्व जन्म में संचित पुण्यों से नाड़ी-ज्ञान प्राप्त होता है। योगा-

भ्यास की भाँति एकाग्रचित होकर नाड़ी-ज्ञान करना चाहिये। यदि इस प्रकार न किया जायगा, तो वृहस्पति के समान बुद्धिमान व्यक्ति को भी नाड़ी-ज्ञान नहीं हो सकता।

(ब) त्वचा-परीक्षा—चमड़ी के स्पर्श से शरीर की गरमी, ठण्ड और पसीने की परीक्षा होती है। वात-रोगी की चमड़ी ठण्डी रहती है, उसमें रूखापन होता है। पित्त-प्रकृति की चमड़ी गरम और लाल रंग की होती है। कफ-प्रकृति के आदमी की त्वचा स्निग्ध रहती है। २—गरम त्वचा—पित्त तथा सब प्रकार के ज्वरों में त्वचा गरम होती है। त्वचा की गरमी से भी ताव की गरमी जानी जा सकती है। परन्तु अन्तर्वेग ज्वर में गरमी शरीर के अन्दर रहती है और शरीर की त्वचा ठण्डी या साधारण रहती हैं और वहिर्वेग ज्वर में अन्दर शीत या ठण्ड रहती है और बाहर गरमी रहती है। नाड़ी-परीक्षा या थर्मामीटर से अन्दर की गरमी का पता लग सकता है। ३—ठण्डी चमड़ी—कई रोगों में शरीर की त्वचा ठण्डी पड़ जाती है। ज्वर उतरने के उपरान्त निर्बलता में, कॉलरा में और बहुत-से जीर्ण रोगों में त्वचा ठंडी पड़ जाती है। सख्त बीमारी में यदि शरीर ठंडा पड़ जाय, तो उसको भयावह समझना चाहिये। ४—सूखी चमड़ी—चमड़ी के रोम-कूपों से पसीना सदा निकलता रहता है, इससे त्वचा स्निग्ध रहती है। कई रोगों में पसीना निकलना बन्द हो जाता है, इससे चमड़ी शुष्क और रूखी हो जाती है। ज्वर के प्रारम्भ में पसीना बन्द हो जाता है, इससे ज्वर-रोगी की त्वचा रुक्ष रहती है। ५—भीगी त्वचा—साधारणावस्था से अधिक त्वचा गीली रहे। कई रोगों में त्वचा-स्पर्श में ठंडी परन्तु गीली रहती है और कई रोगों में त्वचा गरम और भीगी होती है। इनमें प्रथम अवस्था अधिक ख़तरनाक होती है। संधि-वात रोग में त्वचा गरम, परन्तु भीगी रहती है और कॉलरा में त्वचा ठण्डी और भीगी रहती है। ठण्डा और गीलापन शरीर की निर्बलता को बताता है। रात्रि को पसीना आना, चमड़ी गीली रहे और निर्बलता बढ़ती जाय, तो इसे क्षय-रोग की घण्टी समझनी चाहिये।

(स) थर्मामीटर—शरीर की गरमी मापने का यह एक उपकरण है। इसका आकार नली के समान होता है। नीचे एक ओर बल्ब में पारा भरा होता है। बीच में एक नली खोखली होती है, उसमें यह पारा चढ़ता या उतरता है। ऊपर की नली पर निशान ९५ से ११० तक लगे रहते हैं।

जिस समय इस पारेवाले भाग के मुँह में जीभ के नीचे या बगल में रखते हैं, उस समय शरीर की गरमी से पारा अन्दर की खोखली नाली में चढ़ता है। जहाँ तक गरमी में शक्ति होती है, वह इस पारे के चढ़ाती है। फिर निकालकर जहाँ तक पारा चमकता दीखता है, वही इस मनुष्य की गरमी होती है। झटका देने से या ठण्डे पानी में रखने से पारा फिर नीचे उतर आता है। साधारणत: तन्दुरुस्त मनुष्य की गरमी ९८.४ होती है। परन्तु गरमी की ऋतु में ९९ या १०० तक भी पहुँच जाती है और सर्दियों में ९८ भी हो जाती है। बाहर की गरमी या सरदी का कोई विशेष प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता, जिससे ताप-परिमाण भी प्राय: वही रहता है। गर्मियों में कभी १०० भी हो जाता है। नींद में या शान्ति के समय कुछ घट जाता है। रोग की अवस्था में शरीर की गरमी बढ़ जाती है, तब पारा भी चढ़ जाता है और जब शरीर की गरमी कम होती है, तो पारा भी उतर जाता है। सादे ज्वर में पारा १०१ से १०२ डिग्री तक रहता है, तीव्र ज्वर में १०४ तक चढ़ता है और अतिशय भयंकर ताप में १०५ से १०७ डिग्री तक चढ़ जाता है। शरीर के किसी मर्मस्थान में शोथ या दाह होने के कारण जब ताप १०८ डिग्री तक चढ़ जाता है, तब रोगी का बचना कठिन होता है। इसी प्रकार यदि गरमी स्वाभाविक ताप से कम हो जाय, तो भी रोगी के लिये भयानक अवस्था रहती है। कॉलरे में जब शरीर बहुत ठण्डा पड़ जाता है, तब शरीर की गरमी घटकर ९५ तक आजाती है, तब रोगी के बचने की आशा बहुत कम होती है। यदि ताप १०४ तक हो, तो घबराने का कोई विशेष कारण नहीं। परन्तु यदि ताप आगे बढ़े, तो घबराने की बात है। एक डिग्री ताप बढ़ने से नाड़ी का स्पन्दन १० बार अधिक बढ़ता है।

बगल गीली हो, अथवा वायुवाली जगह हो, तो ताप-परिमाण बराबर में नहीं आता। इसलिये प्रथम बगल के साफ करके फिर थर्मामीटर लगाना चाहिये। बगल में थर्मामीटर मुँह से दुगुनी देर रखना चाहिये। थर्मामीटर द्वारा कोई भी आदमी अपने-आप रोगी की गरमी माप सकता है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को अपने पास थर्मामीटर रखना चाहिये। प्रतिदिन ताप कितना और किस समय चढ़ता है, इस बात का हिसाब इसके द्वारा रक्खा जा सकता है। थर्मामीटर आधा मिनट से लेकर पाँच मिनट तक के समय-वाले आते हैं। इनमें से बढ़िया थर्मामीटर लेना चाहिये। बाजार में कई

प्रकार के घटिया थर्मामीटर भी मिलते हैं। साधारणतः अच्छे थर्मामीटर "हिक्" या "जील" के होते हैं।

(द) स्टैथस्कोप (ध्वनि-यंत्र)—इस यंत्र की सहायता से श्वास-प्रश्वास की क्रिया और रक्त-संचार की स्थिति तथा फेफड़े एवं हृदय की गति समझी जा सकती है। इसका ज्ञान पढ़ने या पढ़ाने की अपेक्षा अनुभव से अधिक आता है। इसका ज्ञान भी नाड़ी-ज्ञान की भाँति कठिन है। सूक्ष्म दृष्टि से नाड़ी-ज्ञान और ध्वनि-यंत्र एकही कार्य के सम्पादित करते हैं।

दर्शन-परीक्षा

इस परीक्षा में (अ) जिह्वा अर्थात् जीभ, (आ) नेत्र अर्थात आँख, (इ) रूप अर्थात् चेहरा, (ई) त्वचा अर्थात् चमड़ी, (उ) मूत्र अर्थात पेशाब और (ऊ) मल—इन परीक्षाओं का समावेश है।

(अ) जिह्वा-परीक्षा—जीभ की दशा के देखकर गले की, आमाशय की और आंत्रों की अवस्था का पता चलता है; क्योंकि जीभ के ऊपर का पड़ बहुत ही कोमल श्लेष्म कला या कोष्ठों से बना हुआ है। इनकी रचना प्राय: आमाशय और आंत्रों की श्लेष्मकला से मिलती है। जिस प्रकार सड़ने से या विदाह से खराब बुखारात उड़कर ऊपर जाते हैं, उसी प्रकार आँतों या आमाशय के रोग में दुर्गन्धित वाष्प श्वास-नलिका या अन्य मार्ग-द्वारा मुँह में पहुँचते हैं और वहाँ दाँतों तथा जीभ पर जमते जाते हैं। इन वाष्पों के द्वारा रोग की परीक्षा होती है। साधारणावस्था में जीभ गीली, लाल रंग की रहती है और इसका अग्रभाग अधिक लाल रहता है। रंग और जीभ के ऊपर जमे वाष्पों से रोग का निर्णय होता है।

(१) गीली जीभ—स्वस्थ अवस्था में जीभ थूक से गीली रहती है। ज्वर में जीभ सूखने लगती है। यदि जीभ गीली हो, तो स्पष्ट है कि मनुष्य के ज्वर नहीं है। किसी रोग में जीभ शुष्क होने के पीछे गीली होने लगे, तो समझना चाहिये कि रोगी अच्छा हो रहा है। पानी आदि पीने से जीभ गीली हो जाती है, परन्तु ज्वर आदि में पानी पीने के तुरन्त पीछे जीभ फिर सूख जाती है।

(२) सूखी जीभ—कई रोगों में शरीर का रस बनना कम हो जाता है, जिससे थूक कम उत्पन्न होता है। इससे जीभ सूख जाती है। जैसा

धतूरे या "वैलाडोना" विष की अवस्था में ओठ, जीभ और गला सब सूख जाते हैं। सूखी जीभ पर अँगुली फेरने से जीभ शुष्क और कठिन प्रतीत होती है। प्राय: सब प्रकार के ज्वरों में, शीतला में, प्लेग में तथा अन्य संक्रामक रोगों में जीभ सूख जाती है। ज्वर का जोर जिस प्रकार अधिक होगा, उसी प्रकार जीभ भी अधिक सूखी होगी। अतिशय सूखी और कठिन जीभ भयानक अवस्था का चिन्ह है।

(३) लाल जीभ—जीभ, उसका अग्रभाग तथा पार्श्व सदा लाल रहते हैं। परन्तु यदि सारी जीभ लाल हो या अधिक भाग लाल हो जाय, तो शीतला, मुँह का दुखने लगना, पेट की शोथ, संखिये का विष आदि रोगों का अनुमान करना चाहिये। ज्वर में जीभ अग्रभाग पर तथा पार्श्वों में अधिक लाल होती है।

(४) फीकी जीभ—शरीर से अधिक मात्रा में रक्त निकलने पर, ज्वर में, प्लीहा-रोग में अथवा किसी अन्य कारण से शरीर में रक्ताणुओं की कमी होने पर जिस प्रकार चेहरा और आँखें फीकी पड़ जाती हैं, उसी प्रकार जीभ भी फीकी और सफेद हो जाती है।

(५) मैली जीभ—रोग में जब जीभ पर सफेद तह बैठ जाती है, उसको मैली जीभ कहते हैं। बहुत जोरावर ज्वर में, सख्त सन्धि-वात में, यकृत के रोगों में और मस्तिष्क के रोगों में जीभ मैली हो जाती है। मल-बन्ध की अवस्था में भी जीभ मैली रहती है। जीभ के अग्रभाग पर से और पार्श्वों पर से जब सफेदी हटने लगे, तो समझना चाहिये कि रोग नरम पड़ रहा है। परन्तु यदि जीभ के पिछले भाग पर से मैल की पृष्ठ घटने लगे, तो समझना चाहिये कि रोग का घटाव बहुत धीमे-धीमे हो रहा है। यदि जीभ पर जमा हुआ पृष्ठ एकदम सहसा साफ हो जाय और जीभ का वह भाग चमकता लाल निकल आये, उस पर दरार पड़े हों, तो समझना चाहिये कि आंत्रों में कहीं व्रण या विदाह हो रहा है। जीभ का इस प्रकार का परिवर्त्तन अशुभसूचक है। बहुत दिनों के ज्वर में जीभ का रंग भूरा अथवा खपरिया रंग का हो जाता है। जीभ के ऊपर दरारें पड़ जाती हैं। ये सब भय-सूचक लक्षण हैं। पित्त के रोग में जीभ पीली रहती है।

(६) काली जीभ—कई रोगों में जीभ का रंग काला या जामुन के रंग का होता है। दमा, श्वास और फेफड़ों से सम्बन्धित रोगों में, खाँसी

आदि में जब रक्त अच्छी प्रकार से साफ़ नहीं हो रहा होता, उस समय जीभ काली मैली (झाईं के) रंग की या आसमानी रंग की रहती है। जिन रोगों में जीभ काले रंग की हो जाती है, उनमें रोगी के बचने की आशा बहुत कम रहती है।

(७) **काँपती हुई जीभ**—सन्निपात में, मस्तिष्क के भयंकर रोगों में और कई सख्त रोगों में जीभ काँपती रहती है। जीभ रोगी के काबू में नहीं रहती। जिस समय जीभ बाहर निकालता है, उस समय भी काँपता रहता है। इस प्रकार की काँपती हुई जीभ अतिशय निर्बलता और भय की निशानी है।

(८) **सामान्य-परीक्षा**—बहुत-से रोगों की परीक्षा करने के लिये जीभ दर्पण का काम करती है। जीभ के ऊपर का श्वेत जमाव पाचन-क्रिया की गड़बड़ को बताता है। मोटी और सूजी हुई तथा दाँत के दबाव में आकर कटी हुई जीभ आमाशय तथा मज्जा-तन्तुओं के दाह या विकार को बताती है। जीभ के ऊपर की पीले रंग की मोटी तह पित्त-विकार को बताती है। काले, भूरे रंग की पृष्ठ ख़राब बुखार की निशानी है। सफेद तह साधारण ज्वर का चिह्न है। सूखी, मैले पृष्ठवाली, कालिमावाली और काँपती हुई जीभ इक्कीस दिन के भयंकर ज्वर की निशानी होती है। एक पार्श्व पर मुड़ी हुई जीभ वात-विकार को बताती है। जिस समय रोगी की जीभ शनैः-शनैः बाहर निकले और फिर रोगी की इच्छानुसार तुरन्त अन्दर न जा सके, तो समझना चाहिये कि रोगी अतिशय निर्बल है और मरणासन्न है। रोग के तीक्ष्ण रूप में जब जीभ पर कँपकँपी आजाय, तो समझना चाहिये कि बहुत ख़तरनाक अवस्था है। कॉलरा, आमाशय तथा फेफड़ों के विकार में जब जीभ का रंग "सीसा" जैसा काला पड़ जाय, तब ख़राब चिन्ह समझना चाहिये। जीभ पर ज़रा आसमानी रंग इस बात को बताता है कि रक्त की गति में कहीं अटकाव आया है। मुँह के पकने के साथ यदि जीभ सीसे के रंग की हो जाय, तो समझना चाहिये कि मृत्यु नज़दीक है। वायु के दोषवाली जीभ खुरदरी, फटी हुई तथा काली होती है। पित्त के दोषवाली जीभ कुछ लाल या पीली होती है। कफ-दोषवाली जीभ सफेद, भीगी तथा नरम होती है। त्रिदोषवाली जीभ काँटेवाली और शुष्क होती है। मृत्यु-काल की जीभ खुरदरी, झागदार, लकड़ी-जैसी कठिन और गति-रहित हो जाती है।

(आ) नेत्र-परीक्षा—रोगी की आँख को देखकर जब रोग की परीक्षा की जाती है, उसे नेत्र-परीक्षा कहते हैं। वायु के दोषवाली आँख अन्दर डूबी हुई, निस्तेज, धूम-वर्ण (धूसर रंग की) तथा चंचल होती है। पित्त के दोषवाली आँख पीली, दाहवाली और दिये के प्रकाश को भी सहन करने में असमर्थ रहती है। कफ-दोषवाली आँख गीली, श्वेत, नरम, मन्द और तेज-रहित होती है। प्रलाप-रोगी की आँख काली और निश्चल होती है। त्रिदोष की आँख भयंकर लाल, और ज़रा काली तथा भिँची होती है।

मस्तिष्क में रक्त भर जाने से तथा मस्तिष्क के कई रोगों में, तीव्र ज्वर में, नशा करनेवाले व्यक्तियों में, क्रोधी मनुष्य को, औपसर्गिक प्रमेह-वाले मनुष्य की आँखें लाल रहती हैं।

अफीम के नशे में आँख की पुतली पतली हो जाती है। कृमि या धतूरा आदि विष में पुतली बड़ी हो जाती है। और कई रोगों में पुतली प्रकाश को सहन नहीं करती। क्षय-रोग में आँख श्वेत और निस्तेज हो जाती है। कामला रोग में आँख पीली हो जाती है।

(ई) रूप-परीक्षा—रोगी का चेहरा देखकर कई रोगों की परीक्षा हो सकती है। साधारणतः प्रातःकाल रोगी का चेहरा अच्छा हो जाता है। यदि उस समय रोगी का चेहरा बिना तेज का, विचित्र और झाँईंवाला दिखाई देता हो, तो वात-दोष का सन्देह करना चाहिये। यदि यह चेहरा पीला, मन्द और कुछ सूजा हुआ हो, तो पित्त-दोष की शंका करनी चाहिये। यदि चेहरा मन्द या चिकनासवाला हो, तो कफ-दोष की शंका करनी चाहिये।

प्रायः गुर्दे या वृक्क के रोग में और खासकर जब पेशाब में एल्ब्युमन जाता हो, उस समय चेहरे का रंग बदल जाता है। पाण्डु-रोग में चेहरा पीला और विशेष रंग का हो जाता है। उसमें रक्त की कमी साफ़ झलकती है। अन्य निर्बलताओं में भी चेहरे का रंग बदल जाता है। मिट्टी खानेवाले बच्चों के चेहरे पर, आँखों की पलकों पर शोथ दिखाई देता है। इसी प्रकार बहुत-से रोगियों के चेहरे देखने से रोग समझ में आ सकता है।

स्वस्थ और निरोगी पुरुष का चेहरा शान्त और बेचैनी-रहित होता है। रोग से चेहरे का देखाव बदल जाता है। चेहरे के भिन्न-भिन्न स्वरूप

और चिन्ह लिखकर बताये नहीं जा सकते। चेहरे के ऊपर से रोग की परीक्षा करनी और रोगी की स्थिति को समझना केवल अभ्यास से सीखा जा सकता है। तथापि नीचे लिखी बातों से थोड़ी बहुत परीक्षा की जा सकती है।

(१) **चिन्तातुर चेहरा**—सख्त ताव और भयंकर रोगों के प्रारम्भ में, आक्षेप तथा शरीर को ताव देनेवाले रोगों में, दम तथा श्वास के रोग में, यकृत और फेफड़े के रोग में रोगी का चेहरा फिक्रमन्द हो जाता है।

(२) **फीका चेहरा**—बहुत अधिक रक्त-स्राव होने से, जीर्ण ज्वर से, प्लीहा के रोग से, अधिक निर्बलता, अधिक फिकर, डर आदि कारणों से चेहरा फीका हो जाता है। रक्त में परिवर्त्तन होने से, अर्थात् रक्त के रक्ताणुओं के घट जाने से चेहरा फीका हो जाता है। स्त्रियों में ऋतु-स्राव अधिक होने पर अथवा निर्बल शरीर की स्त्रियों के बालक को दूध पिलाने से उनका चेहरा इस रंग का हो जाता है।

कई बार रजः-स्राव के प्रारम्भ में बिना कारण के चेहरा पीला पड़ जाता है।

(३) **लाल चेहरा**—कठोर ज्वर में, मस्तिष्क-शोथ में, और लू लगने पर आँखें लाल हो जाती हैं। गाल गुलाबी और तमतमाते रङ्ग के हो जाते हैं। सारा चेहरा धधकते हुये अँगारों के समान लाल और गरम हो जाता है। यदि चेहरा लाल हो, तो समझना चाहिये कि रक्त का दबाव मस्तिष्क की ओर अधिक है।

(४) **पीला चेहरा**—अधिक निर्बलता में, जीर्ण ज्वर में, जलोदर में चेहरे का रङ्ग झुर्रियोंदार और पीला हो जाता है। आँख की पलकें चढ़ जाती हैं, गाल पर अँगुली से दबाने पर गड्ढा पड़ जाता है, चेहरा सूजा हुआ प्रतीत होता है। यह चेहरा प्रायः हृदय और वृक्क रोग में होता है।

(५) **सूखा हुआ चेहरा**—जिस प्रकार वृक्ष की शाखा पर से सब पत्ते और छाल उतार लेने पर वह नङ्गी निकल आती है, उसी प्रकार वह चेहरा होता है। कॉलरा रोग से जब मृत्यु सिर पर खड़ी होती है, उस समय जो चेहरा रोगी का होता है, वह इस चेहरे का पूर्ण रूप है।

इस चेहरे की निशानियाँ इस प्रकार हैं—आँख का डोला अन्दर गड़ जाय, आँख में गड्ढा पड़ जाय, नाक नोकदार बन जाय, कनपटी के सामने गढ़ा बन जाय, गाल अन्दर को बैठ जायँ, गण्डस्थियाँ बाहर निकल आयें, चर्बी घुल जाय, चेहरे का रङ्ग काला हो जाय। जब कभी किसी रोग में इस प्रकार का चेहरा दिखाई दे, तो समझना चाहिये कि रोगी भयंकर स्थिति में है, या मरणासन्न है।

(ई) त्वचा-परीक्षा—जिस प्रकार त्वचा के शीत या गरम स्पर्श से रोग की परीक्षा हो सकती है, उसी प्रकार त्वचा पर निकले कोठ, या दानों को देखकर रोग की परीक्षा की जा सकती है। माता (चेचक), खसरा, शीतपित्त आदि रोगों में ज्वर के साथ त्वचा पर दाने निकलते हैं। यही दाने या चमड़ी का लाल रङ्ग इन रोगों का और रोगों से तथा आपस में भेद कराते हैं। शरीर के किसी भी भाग में लाल रङ्ग की शोथ हो, तो समझना चाहिये कि शरीर में पित्त-विकार है और यदि सफेद पड़ती जाय, तो कफ-दोष समझना चाहिये। जिस पुरुष के शरीर की त्वचा फटी हुई हो, तो समझना चाहिये कि उसका रक्त दूषित है। चमड़ी तक रक्त न पहुँचने से त्वचा शीत या गरम और सुन्न पड़ जाती है। चमड़ी का रङ्ग ताम्बे के रङ्ग का होने लगे, और शरीर पर धब्बों के रूप में हो, तो इसे कुष्ठ समझना चाहिये। चमड़ी के ऊपर काले धब्बे, अशुद्ध पोषण तथा बुरी वायु में रहने के कारण होते हैं। उपदंश या गरमी के कारण त्वचा पर विस्फोट निकल आते हैं, जो प्रायः समानान्तर रहते हैं। कॉलरा या विष की अवस्था में हाथ और पाँव के नख काले पड़ जाते हैं, यह अवस्था मरण की सूचक है। इसी प्रकार रक्त की न्यूनता से नख श्वेत हो जाते हैं। कामला रोग में नख पीले पड़ जाते हैं। शरीर की त्वचा पर कई रोगों में छोटे-छोटे दाने निकलते हैं। इन दानों का स्वरूप, निकलने का समय तथा छिपने का समय रोग की परीक्षा में बहुत सहायता करता है।

(उ) मूत्र-परीक्षा—तन्दुरुस्त पुरुष के मूत्र का रङ्ग सूखी हुई घास के समान पीला होता है। इसमें किसी प्रकार का निक्षेप या गँदलापन नहीं होता, इसमें किसी प्रकार की चिकनास नहीं होती। देखने में स्वच्छ, पारदर्शक, स्वाद में तिक्त-कटु होता है। इसमें झाग नहीं होती।

मूत्र से कई रोगों की परीक्षा हो सकती है। मूत्र-रक्त से अलग हुआ निरुपयोगी अंश है। मूत्रोत्पादक वृक्क रक्त में से इस अंश को पृथक् कर लेते हैं। यदि किसी कारण से रक्त में या वृक्क में ख़राबी आजाय, तो मूत्र में भी ख़राबी आजाती है। यही कारण है कि ज्वर की अवस्था में, जब शरीर के अन्दर गरमी बढ़ी होती है, मूत्र का रङ्ग भी गहरा लाल हो जाता है। रुग्णावस्था में शरीर का उपयोगी अंश भी मूत्र के साथ बाहर आता है।

देशी वैद्यक-शास्त्र में मूत्र-परीक्षा और उससे मालूम होनेवाले रोगों का विवरण इस प्रकार से दिया गया है।

१. देशी विधि से मूत्र-परीक्षा—(१) वात-दोषवाले रोगी का मूत्र नीला, काली झाँई के रंग का होता है। (२) पित्त-दोषवाले मनुष्य का रंग लाल, पीला अथवा ढाक के फूल के रंग के समान होता है। (३) कफ-दोषवाले रोगी का मूत्र ठण्डा, तालाब के पानी-जैसा निर्मल, श्वेत, झागदार तथा स्निग्ध होता है। (४) वात-पित्तवाले का मूत्र गहरा, लाल या किरमिजी रंग का एवं गरम होता है। (५) सन्निपात रोगी का मूत्र मैला, काला होता है। (६) मिश्र दोषवाले व्यक्ति का मूत्र मिश्र लक्षणोंवाला होता है। (७) रक्त कुपितवाले रोगी का मूत्र स्निग्ध, उष्ण और लाल होता है। (८) वात-कफ-दोषवाले व्यक्ति का मूत्र सफेद तथा घना होता है, इसमें बुलबुले होते हैं। (९) कफ-पित्त रोगी का मूत्र लाल होता है। (१०) अजीर्ण रोगी का मूत्र चावलों के धोवन के समान होता है। (११) नव-ज्वर में मूत्र गहरा लाल और बहुत होता है। (१२) पेशाब करते हुये यदि धारा का रंग लाल हो, तो भयानक रोग समझना चाहिये। काली धारा हो, तो मृत्यु और यदि बकरी के मूत्र-जैसी गन्ध हो, तो अजीर्ण रोग समझना चाहिये। (१३) रोगी के रोग का साध्यासाध्य या कष्टसाध्य (अर्थात् साध्य—सुगमता से अच्छा होनेवाला रोग, कष्टसाध्य—कठिनता से अच्छा होनेवाला और असाध्य—न अच्छा होनेवाला रोग) आदि पहचानने के लिये वैद्यक-ग्रन्थों में निम्न विधि बताई है—प्रातःकाल रोगी को ब्राह्म-मुहूर्त्त में उठाकर उसके पेशाब को एक काँच के प्याले में भरना चाहिये। पीछे उस प्याले को स्थिर रखना चाहिये। एक घण्टे तक स्थिर रखने के उपरान्त एक सलाई से तेल का बिन्दु उस मूत्र पर धीरे-से रख देना चाहिये। यदि यह तैल का बिन्दु फैल जाय, तो समझना चाहिये कि रोग साध्य है और यदि तैल-बिन्दु फैले

बिना तैरता रहे, तो समझना चाहिये कि रोगी का रोग कष्टसाध्य है। यदि तेल का बिन्दु तली में एकदम चला जाय, या अन्दर से पुनः ऊपर आकर कुण्डली की भाँति फिरने लगे, अथवा उस तैल-बिन्दु के डालने के साथ ही मूत्र में छिद्र पड़ जाय या तैलबिन्दु मूत्र के साथ मिल जाय, तो रोग असाध्य समझना चाहिये।

मूत्र-परीक्षा की यह विधि कई वैद्यक-ग्रन्थ में लिखी हैं। इसमें से कुछ बातें अनुभव से पता चलती हैं और कई बातों में शंका रहती है। मूत्र के रंग से दोषों की परीक्षा बताई है; परन्तु केवल इतने से रोगी अपने दोष का निर्णय नहीं कर सकता। सामान्य रीति से इतना समझना पर्य्याप्त है कि यदि मूत्र में वायु के लक्षण हों, तो वायु दोष; पित्त के लक्षण हों, तो पित्त-दोष और कफ के लक्षण हों, तो कफ-दोष समझना चाहिये। रक्त के लक्षणों से रक्त-दोष और मिश्र लक्षणों से मिश्र-दोष समझना चाहिये।

२. अँग्रेज़ी रीति से मूत्र-परीक्षा—मूत्र की परीक्षा यदि रसायन-शास्त्र के अनुसार की जाय, तो वह अधिक मूल्य और महत्त्व की होती है। अंग्रेजी-परीक्षा की विधि से मूत्र में दो वस्तुयें आती हैं, "यूरिया" और "यूरिक एसिड"। इसके सिवा इसमें कई प्रकार के नमक और क्षार यथा—मैगनेशियम, सोडियम, ऑक्सेजीलिक एसिड आदि भी थोड़ी मात्रा में आते हैं। अधिक भाग प्रायः पानी ही का रहता है। रसायन-विद्या में कुशल वैज्ञानिकों ने पेशाब का पृथक्करण करके निचली वस्तुयें इस परिमाण में पाई हैं—

पेशाब की वस्तुयें		पेशाब के १००० भाग में
पानी		९५६ १/३ भाग
शरीर के घिसने से उत्पन्न होनेवाली चीज़ें	यूरिया	१४ १/४
	यूरिक एसिड	० १/३
	चरबी आदि	१५
खार	नमक	७ १/४
	फॉस्फेरिक एसिड	२
	गन्धक का तेजाब	१ ३/४
	चूना	१/२
	मैगनेसिया	१/४
	पोटास	१ ३/४
	सोडा	बहुत थोड़ा

पेशाब में ऊपर लिखे तत्त्व पदार्थ मिलते हैं। स्वस्थ अवस्था में भी ये पदार्थ इसी परिमाण में सदा नहीं मिलते। खान-पान के कारण तथा कसरत आदि से इनमें अन्तर पड़ता जाता है। पेशाब की वस्तुओं की परीक्षा रसायन शास्त्री के सिवा कोई दूसरा नहीं कर सकता। जिसको रसायन-शास्त्र का ज्ञान भली प्रकार होता है, वही पेशाब-परीक्षा भली प्रकार कर सकता है; और जब परीक्षा भली प्रकार होती है, तभी रोग का निर्णय हो सकता है।

पेशाब को देखने से आँखों द्वारा उसमें अनेक चीजों का पता नहीं चलता। इसी प्रकार थोड़े-से पेशाब से भी कई बार ठीक निर्णय नहीं होता। यदि एक दिन रात का अथवा सारी रात का पेशाब इकट्ठा किया जाय, तो परीक्षा करने पर रोग-निर्णय हो जाता है। साधारणतः पेशाब की धारा से मूत्र की सान्द्रता या पतलापन का पता चल जाता है।

स्वस्थ मनुष्य सम्पूर्ण दिन-रात में अर्थात २४ घंटे में १। सेर लगभग के पेशाब करता है। परन्तु प्रवाही पदार्थों की थोड़ी या अधिक राशि लेने से इस परिणाम में अन्तर आजाता है। इसके अतिरिक्त ऋतु के कारण भी पेशाब में अन्तर आजाता है। गर्मियों में पसीना अधिक आने के कारण बहुत-सा पानी का भाग निकल जाता है, इससे मूत्र की राशि कम हो जाती है। सर्दियों में पसीना निकलता नहीं, इससे मूत्र की राशि अधिक रहती है। इसी प्रकार मूत्र-संबन्धी रोगों में, यथा वृक्क शोथ (ब्राईट्स डिज़ीज़) में पेशाब के अन्दर शरीर की आवश्यक वस्तु (एल्ब्युमिन) जाने लगती है। इसको परीक्षा मूत्र को देखने से हो सकती है। इसी प्रकार मधुमेह (डायबिटीज-मिलिटस) के रोगी में पेशाब के साथ शक्कर जाती है, जो आँख से दिखाई नहीं देती। परन्तु उचित परीक्षा से इसका पता चल सकता है। इसी प्रकार पेशाब पर कीड़ियों का आना भी पेशाब में मीठे की उपस्थिति को बताता है। पेशाब में भिन्न-भिन्न खार होते हैं, इनकी कम या अधिक मात्रा जाने से रोग होता है। इन खारों की परीक्षा करने से, इनकी मात्रा देखने से, रोग का निर्णय हो सकता है।

पेशाब में जानेवाले पदार्थों की परीक्षा—पेशाब की परीक्षा कई प्रकार से होती है। कई बातों का तो आँख से देखने पर पता लग सकता है, और कई बातों का पता रासायनिक परीक्षा से लगता है, और कुछ बातों

(विशेषतः-कृमियों की परीक्षा) का पता सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की सहायता से किया जाता है। इनमें से कुछ मुख्य परीक्षायें यहाँ दी जाती हैं—

१—आँख से देखने पर—पेशाब के रंग पर से कई रोगों का पता चल सकता है। निरोगी पेशाब पानी-जैसा स्वच्छ परन्तु थोड़ा पीलापन लिये होता है। पेशाब में यदि रक्त का भाग जाता हो, तो वह लाल या काला दिखाई देता है। कई दवाइयों के कारण पेशाब का रंग बदल जाता है। यथा "मैथे लीवब्लु" या "ट्रोप्लो फ्लैवरीन" से पेशाब का रंग नीला या हल्दी के समान पीला हो जाता है। पेशाब को थोड़ी देर किसी साफ बर्त्तन में रखने से यदि तलछट पर कुछ बैठे, तो समझना चाहिये कि पेशाब में कोई विकार है। क्षार, चर्बी, एल्ब्युमिन या फॉस्फेट, पीव आदि वस्तुएँ प्रायः नीचे बैठ जाती हैं। शर्करा पेशाब में घुली होने से आँखों द्वारा देखी नहीं जा सकती। इसी प्रकार क्षार भी पेशाब में घुले होते हैं। परन्तु यदि इनकी राशि अधिक हो, तो कुछ समय तक पेशाब को रखने से ये सब क्षार नीचे बैठ जाते हैं।

इसके अतिरिक्त पेशाब का आपेक्षिक गुरुत्व भी देखना चाहिये। इस बात को देखने के लिये एक प्रकार का यंत्र (यूरिनोमीटर) आता है, जिसका आकार दूध में पानी देखनेवाले यंत्र की भाँति होता है। इसपर निशान होते हैं। एक चौड़ी नली में पेशाब भरकर उसमें इस यंत्र को छोड़ दो। यह उसमें तैरता रहेगा। इसके उपरले पतले भाग पर निशान हैं। इन निशानों से देखना चाहिये कि मूत्र की उपरली सतह किस स्थान तक पहुँची है। स्वस्थ अवस्था में यह पृष्ठ १०२० या १०२५ तक होती है। पेशाब में शर्करा होने से यह १०३५ या १०४५ तक पहुँच सकती है। और कई रोगों में (बहूमूत्र रोग में) यह कम भी हो सकती है। अर्थात् १०२० से भी नीचे आ सकती है।

पेशाब के ऊपर से रोग-परीक्षा करते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१) पेशाब का रङ्ग यदि धुएँ के समान हो, तो इसमें रक्त की सम्भावना करनी चाहिये। (२) पेशाब का रङ्ग लाल हो, तो समझना चाहिये कि पेशाब में खटास (एसिड) जा रहा है। (३) पेशाब के ऊपर की झाग यदि जल्दी बन्द न हो, तो समझना चाहिये कि इसमें एल्ब्युमिन या पित्त जा रहा है। (४) पेशाब यदि गहरा पीला हो, तो उसमें पित्त की

अधिकता समझनी चाहिये। (५) पेशाब का रङ्ग काला-भूरा हो, तो समझना चाहिये कि रोग प्राण-घातक है। (६) पेशाब यदि पानी के समान सफेद आता हो, तो समझना चाहिये कि उदकमेह (डायबिटिज़) रोग है। हिस्टीरिया रोग में भी पेशाब बहुत आता है, और जब पेशाब बहुत आता है, तो उसका रङ्ग पानी-जैसा होता है। पेशाब के ऊपर कीड़ियाँ चढ़ें, तो समझना चाहिये कि पेशाब में शक्कर जाती है। (७) यदि पेशाब मैला हो, या उसमें तन्तु धागे जैसे हों, तो समझना चाहिये कि पेशाब में पीव है। (८) पेशाब का रङ्ग लाल हो और राशि में थोड़ा मूत्र आता हो, तो यकृत, मस्तिष्क और ज्वर की आशंका करनी चाहिये। (९) पेशाब में खटास अधिक जाती हो, तो समझना चाहिये कि पाचन-क्रिया खराब है। (१०) कामला या पित्त प्रकोप में पेशाब का रङ्ग गहरा पीला या लाल होता है। उस समय यह रङ्ग इतना गहरा हो जाता है कि काले रंग का सन्देह होने लगता है। इस प्रकार के पेशाब को हिलाने से या इसमें थोड़ा पानी मिलाने से पेशाब का रङ्ग (पीलापन) साफ हो जाता है।

२—**रसायन-प्रयोग से**—पेशाब के अन्दर की वस्तुवों की परीक्षा नीचे अनुसार करने से कई बातों का पता लग सकता है।

(१) **पित्त**—पेशाब के रङ्ग को देखकर पित्त का अनुमान हो सकता है और रासायनिक परीक्षा से इस बात का दृढ़ निश्चय किया जा सकता है। पेशाब की कुछ बूँदें काँच की प्याली अथवा रकाबी में रखनी चाहिये, इसमें थोड़ा-थोड़ा बूँद-बूँद करके "नाईट्रिक एसिड" (नत्रकाम्ल) डालना चाहिये। दोनों के मिलने से हरा, नीला और पीछे लाल रङ्ग आये, तो पित्त समझना चाहिये।

(२) **यूरिक एसिड**—आदि वस्तुयें थोड़ी मात्रा में सदा निरोगी अवस्था में भी जाती हैं। परन्तु यदि ये वस्तुयें अधिक प्रमाण में जाने लगें, तो परीक्षा से पता चल सकता है। पेशाब को एक रकाबी में लेकर गरम करने पर, यदि उसमें "नाईट्रिक एसिड" डालने से स्फटिक बन जायँ, तो 'यूरिया' की उपस्थिति समझनी चाहिये। और यदि इसमें पेशाब को रकाबी में लेकर उसमें नाईट्रिक एसिड मिलाकर गरम करें, उसमें यदि पीला रङ्ग आजाय, तो पेशाब में "यूरिक एसिड" समझना चाहिये।

(३) एल्ब्युमिन—एल्ब्युमिन एक पौष्टिक पदार्थ है। यदि यह पदार्थ पेशाब में जाय, तो शरीर का पोषण घट जाता है। पेशाब की परीक्षा करने के लिये मूत्र को काँच की परीक्षण-नली में लेकर शराब की बत्ती या मोमबत्ती पर मीठी आँच से गरम करना चाहिये। जब वह उबलने लगे, तब उसमें सुराखार का तेजाब "हाईड्रोक्लोरिक एसिड" बूँद-बूँद करके डालना चाहिये। यदि पेशाब में से बादल-से निकलें, और थोड़ी देर में रखने पर नली के नीचे सफेद वस्तु दिखाई देने लगे, तो इसमें एल्ब्युमिन समझना चाहिये। और यदि नीचे कुछ न बैठे, तो समझना चाहिये कि पेशाब में एल्ब्युमिन नहीं जाती। इसी परीक्षा में यदि गरम करके नाईट्रिक एसिड डाल दें और काँच की नली के नीचे जमा पदार्थ घुल जाय, तो समझना चाहिये कि उसमें फौस्फेट (क्षार) है। और यदि विक्षेप बचा रहे, तो समझना चाहिये कि एल्ब्युमिन है। गरम करने से और एसिड नाईट्रिक डालने से फौस्फेट और एल्ब्युमिन बचा रहता है।

(४) शक्कर (शुगर) —साधारणावस्था में मूत्र के अन्दर थोड़ी-सी शर्करा जाती रहती है। परन्तु यदि इसकी मात्रा अधिक हो जाय या परीक्षण से पता लगने लगे, तो इस रोग को "डायबिटिज मिलिटस" या मधु-मेह कहते हैं। यह पेशाब अधिक स्निग्ध, भारी और सफेद पानी-जैसा होता है। इसमें शहद-जैसी गन्ध आती है। रासायनिक परीक्षा से मूत्र में शर्करा मालूम होती है। शर्करा की शंका होने पर पेशाब को यदि गरम करके छान लें, या नितार लें, तो यदि एल्ब्युमिन होगा, तो वह अलग हो जाता है। इस पेशाब को अलग काँच की नली में लेकर, इससे आधा "लीकर पोटाश" या "सोडा" इसमें मिलाना चाहिये। पीछे से इसमें "नीले थोथे" का पानी थोड़ा-थोड़ा मिलाना चाहिये। ये बूँद धीरे-धीरे एक के पीछे एक डालते जाना चाहिये और नली को हिलाते जाना चाहिये। इस प्रकार से नली की प्रवाही वस्तु नीले रंग की और पारदर्शक हो जायँगी। पीछे से ख़ूब उसे उबालना चाहिये। उबालने से यदि इसमें शक्कर होगी, तो नारंगी के रूप में नली के नीचे बैठ जायगी और फिर स्थिर और ठण्डा होने के पीछे लाल-भूरे रंग की वस्तु हो जायगी। यदि यह नारंगी-निक्षेप न आये, तो समझना चाहिये कि पेशाब में शक्कर नहीं जाती।

(५) क्षार— या खटास (अम्ल या एसिड; क्षार या एल्कली)—

साधारणतः पेशाब की प्रतिक्रिया हल्की अम्लीय होती है। अर्थात् पेशाब से नीला लिटमस का कागज़ लाल हो जाता है। क्षार—पेशाब में क्षारीय पदार्थ यदि मात्रा से अधिक जाय, तो रोग की आशङ्का करनी चाहिये। इसकी परीक्षा के लिये हल्दी का टिंचर लेकर अथवा हल्दी का पानी करके उसमें सफेद स्याहीचूस का कागज़ (ब्लाटिंग-पेपर) भिगो देना चाहिये। उस कागज़ को सुखाकर उसका थोड़ा-सा टुकड़ा मूत्र में भिगोना चाहिये। यदि पेशाब में क्षार-पदार्थ अधिक होगा, तो इसका पीला रंग बदलकर नारंगी अथवा बादामी रंग का हो जाता है। इस प्रकार से बदले हुये इस बादामी रंग के कागज़ को यदि फिर किसी खट्टी चीज़ में भिगोया जाय, तो इसका नारंगी या बादामी रंग जाता रहेगा। इसका वही पुराना पीला रंग आ जायगा। इस प्रकार की परीक्षा के लिये बाज़ार में हल्दी का कागज़ "टरमरिक पेपर" मिलता है। इसके अभाव में स्याहीचूस के द्वारा हल्दी का कागज़ बनाकर काम ले सकते हैं।

खटास (अम्लता)—पेशाब में यदि अम्लता अधिक जाती हो, तो भी रोग समझना चाहिये। इसकी परीक्षा लिटमस पेपर से हो सकती है। इसके अभाव में श्वेत ब्लॉटिङ्ग पेपर को "कोवांज" के रस में भिगोकर सुखा लेना चाहिये। इससे कागज़ का रङ्ग नीला आसमानी हो जाता है। इस टुकड़े को यदि पेशाब में रक्खें और इसका रङ्ग बदलकर लाल हो जाय, तो पेशाब में अम्लता समझनी चाहिये। जितनी अम्लता अधिक होगी, रङ्ग भी उतना ही अधिक गहरा लाल आयेगा।

मल-परीक्षा—मल के ऊपर से कई रोग परीक्षा-द्वारा जाने जाते हैं। इतना ही नहीं; परन्तु मल के ऊपर से रोग का साध्यासाध्य भी जाना जा सकता है। दोषों के अनुसार मल की परीक्षा—(१) वात-रोगी का मल सूखा, झागदार, काले रङ्ग का तथा उसमें $\frac{1}{4}$ भाग पानी का होता है। (२) पित्त-रोगी का मल पीला, गन्धवाला, ढीला और गरम होता है। (३) कफ-रोगी का मल श्वेत, चिकना, कुछ गीला या कुछ सूखा होता है। (४) वात-पित्त-रोगी का मल पीला, काला तथा भीना और अन्दर से गाँठवाला होता है। (५) वात-कफ-दोषवाले का मल भीना, काला तथा फुदकियाँ-सा होता है। (६) पित्त-कफ-दोषवाले का मल पीला तथा श्वेत होता है। (७) त्रिदोष रोगी का मल श्वेत, काला, पीला, ढीला तथा गाँठवाला होता है। (८) अजीर्ण

रोग में मल दुर्गन्ध-युक्त और ढीला होता है। (९) जलोदर रोगी का मल अति बदबूदार और श्वेत होता है। (१०) मरणासन्न रोगी का मल अति दुर्गन्ध-युक्त, लाल, जरा श्वेत, मांस-जैसा काले रंग का या मांस के धोवन के समान होता है। जिस रोगी का मल पानी में डूब जाता है, वह मर जाता है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न रोगों में मल पतला, कठिन तथा भिन्न-भिन्न रङ्गवाला होता है।

पतला अतिसार—अपचन से या संग्रहणी से मल पतला हो जाता है। मल में ख़ूराक का भाग भी दिखाई देता हो, तो समझना चाहिये कि पाचन भली प्रकार से नहीं हो रहा है। आँतों में पित्त की अधिकता से मल नरम आता है। अतिसार में मल पतला आता है। कॉलरा में मल चावल के धोवन के समान आता है। क्षय-रोग में यदि मल बिना कारण के पतला आये, तो रोगी को असाध्य समझना चाहिये।

कठिन मल—साधारणतः निरोगी पुरुष का मल नर्म, बँधा हुआ और पीला होता है। यदि पाचन-क्रिया ठीक हो, तो साधारणतः गुदा के बहिर्भाग पर मल नहीं लगता। कब्ज़ियत की अवस्था में मल कठिन और ज़ोर से प्रवाहण करने पर आता है। बवासीर के रोगी को प्रायः सख़्त मल आता है। इसलिये गुदा के निचले भाग में रहनेवाले अंकुरों के छिलने से रक्त-स्राव होता है। जिस पुरुष की आँतों में वायु रहती है, उसको मल सख़्त और कठोर आता है। यकृत में यदि पित्त न बने या भोजन में पित्त का मिलाप न हो अथवा आँतों में मल को ढकेलने की शक्ति कम हो अथवा भोजन में वसा का भाग कम रहता हो, तो मल सख़्त और कठोर आता है।

रक्त-मिश्रित मल—मल के साथ रक्त या आम मिली हुई आये, तो समझना चाहिये कि प्रवाहिका या मरोड़ा हुआ है। अर्श-रोग में या रक्त-पित्त-रोग में रक्त मल से अलग गिरता है। अर्थात् मल आने से पूर्व या मल के आने के पीछे रक्त स्वतंत्र रूप से गिरता है। यकृत-शोथ में यदि मल में रक्त और पीव एकदम से मिली हुई बहुत मात्रा में आये, तो समझना चाहिये कि फोड़ा आंत्रों में फूट गया है। यदि मल का रंग काला-जामुन के समान, मांस के पानी की भाँति, दुर्गन्ध-युक्त हो, तो यह समझना चाहिये कि रोग असाध्य है।

मल का रंग—यदि श्वेत हो, तो समझना चाहिये कि यकृत का पित्त उचित मात्रा में आंतों के अन्दर नहीं आ रहा है। कामला, पित्ताश्मरी, यकृत रोग आदि में पित्त मल में कम जाता है। कॉलरे में या तीव्र अजीर्ण रोग में मल का रंग कांजी या चावल के धोवन के समान होता है। आँवला, गुगुल या लोह-युक्त दवाई खाने से भी मल का रंग काला हो जाता है। यदि इन कारणों से मल का रंग काला आये, तो घबराना नहीं चाहिये।

मल में कृमि—कई कृमि तथा उनके अण्डे मल के साथ बाहर आते हैं। इनमें कुछ कृमि तो धागे के समान पतले, श्वेत और छोटे होते हैं। कई बहुत बड़े होते हैं। और कोई गोल मुखवाले (कद्दूदाने) होते हैं। इन कीड़ों के कारण बालक या रोगी का शरीर बढ़ने नहीं पाता है। इन कीड़ों के अण्डे आँख से नहीं दीखते; परन्तु सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से देखे जा सकते हैं। मल की परीक्षा करते समय इसको कृमि के लिये अवश्य देखना चाहिये। विशेषतः जब कोई कृमि-नाशक दवाई दी हो, तो उसका प्रभाव देखने के लिये मल को सुरक्षित रखना चाहिये।

प्रश्न-परीक्षा

रोग-परीक्षा करते समय कई बातें इस प्रकार की होती हैं, जिनका पता रोगी से पूछ कर ही चल सकता है। उन बातों का पता पीछे दी हुई बातों से नहीं चलता। उदाहरण के लिये दर्द का स्वभाव तथा रोग का प्रारम्भ उसके विषय में रोगी का अपना अनुभव उसके द्वारा ही पता चल सकता है। इसलिये "प्रश्न-परीक्षा" को दोनों ही चिकित्सा-पद्धतियों ने आवश्यक ठहराया है। परन्तु कई बार ऐसा होता है कि अपनी हालत के विषय में अधिक नहीं जानता, या वह इस अवस्था में होता है कि वह अपनी स्थिति के विषय में कुछ नहीं बता सकता। इसलिये अन्य उपायों से उस समय परीक्षा करनी होती है। तथापि रोगी की अगली और पिछली बातों को जानना बहुत आवश्यक है। रोग की अगली और पिछली बातों को जानना आवश्यक होता है। इसके द्वारा रोग के कारण का निर्णय कई बार ठीक प्रकार से हो जाता है। यह परीक्षा साधारण वाचक वर्ग के लिये इतनी उपयोगी नहीं, जितनी कि वैद्यक धंधा-धारियों के लिये होती है।

किसी रोगी के पास से एक के पीछे एक प्रश्न करके अपने काम की बात निकाल लेना, और किस प्रकार रोगी से प्रश्न करने चाहियें, ये सब बातें, वैद्य या चिकित्सक की अपनी होशियारी है। कई रोगी बहुत ही शर्मीले होते हैं, वे प्रश्नों का उत्तर बहुत झिझककर देते हैं। रोग का थोड़ा-सा सुराग मिलने पर उस विषय में सम्पूर्ण ज्ञान रोगी से अथवा उसके सम्बन्धियों से बात करने, तथा कुछ समय पीछे अनुभव से प्राप्त हो सकती हैं। किसी रोगी को उल्टी (वमन) होती है, इतने से चिकित्सा प्रारम्भ नहीं करनी चाहिये, अपितु उसका असली कारण का पता लगाने का यत्न करना चाहिये। कारण बता करके फिर चिकित्सा में अग्रसर होना चाहिये। यदि पित्त-विकार से उल्टी होती हो, तो पित्त-विकार की चिकित्सा करनी चाहिये। अजीर्ण के वमन में अजीर्ण की चिकित्सा करनी चाहिये। और यदि आमाशय की उत्तेजना के कारण वमन होता हो, तो आमाशय की उत्तेजना को कम करना चाहिये। इसलिये उल्टी के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों का पता लगाना आवश्यक होता है। प्रत्येक रोग के लिये यही समझना चाहिये। यदि ज्वर अजीर्ण के कारण से हो और अजीर्ण की चिकित्सा न की जाय, तो ज्वर शीघ्र वश में नहीं होता। इसी प्रकार प्रदर, पूर्व का आघात, कब्ज़ आदि रोगों का या लक्षणों का पता रोगी से पूछकर ही चलता है।

इतना ही नहीं, रोग की ठीक परीक्षा करने के लिये रोगी का पारिवारिक इतिहास, उसके बाल-बच्चे, माँ-बाप का भी रोग से सम्बन्धित इतिहास जानना चाहिये; विशेषत: दमा, क्षय, मृगी, उपदंश, सन्धि-वात आदि रोगों के निर्णय करने के लिये। क्योंकि पैतृक-रोग प्राय: असाध्य होते हैं। इसलिये चिकित्सक को चाहिये कि वह चारोंओर से अपनी परीक्षा को पूरी करें। और रोगी को चाहिये कि वह अपनी सब अवस्थायें सच्चे दिल से बता दे; जिस प्रकार वकील के आगे उसका मवक्किल सब बातों को साफ़ बता देता है। सच्ची बातों के पता होने ही पर चिकित्सक अपने रोगी को बचा सकता है।

प्रकरण सातवाँ

देशी तथा अँग्रेज़ी निदान का संक्षिप्त स्वरूप

सब प्रकार के रोगों का कारण वात, पित्त, कफ इन दोषों का विकृत होना है। और इन दोषों के विकार का कारण अहित-सेवन है। अहित-सेवन का अर्थ—मिथ्या आहार-विहार है। इसी शब्द को प्राचीन आर्य वैद्यक-शास्त्र के पण्डित ने तीन प्रकार से विभक्त किया है। अर्थात्—मिथ्या आहार-विहार का अर्थ—पंच ज्ञानेन्द्रियों का अनुचित रूप से उपयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम है।

पंच ज्ञानेन्द्रियों का अनुचित उपयोग तीन प्रकार से हो सकता है; अर्थात्—

(१) आँख, कान आदि इन्द्रियों से किसी विषय का उपयोग अधिक मात्रा में करना—यह अतियोग है।

(२) आँख, कान आदि इन्द्रियों से किसी विषय का उपयोग सर्वथा न करना—यह हीनयोग है। यथा—गान्धारी ने आँखों पर पट्टी बाँधकर उनको निरर्थक बना लिया था। साधु लोग हाथ को ऊपर रखकर सुखा देते हैं—ये सब हीनयोग के उदाहरण हैं।

(३) आँख या कान आदि का अशुद्ध रूप से उपयोग, इसको मिथ्यायोग कहते हैं। यथा अँधेरे में या कम प्रकाश में पढ़ना।

इसी प्रकार और इन्द्रियों का भी समझना चाहिये।

२—प्रज्ञापराध (बुद्धि का अपराध) यथा—कार्यों का अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग। ये कार्य वाणी, मन और शरीर से किये जाते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न रोग प्रायः मानसिक होते हैं।

३—परिणाम—काल (ऋतु) आदि। यदि ग्रीष्म-ऋतु में बहुत गरमी पड़े, तो इसको अतियोग कहते हैं और यदि गरमी बिलकुल न हो या कम हो, तो इसको हीनयोग कहते हैं, और यदि गरमी की ऋतु में बरसात हो जाय, तो इसको मिथ्यायोग कहते हैं। इसी प्रकार और ऋतुओं का भी तीन प्रकार से हीनयोग, अतियोग या मिथ्यायोग होता है।

इन तीन रोगोत्पादक कारणों से तीन ही प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। कुछ व्याधियाँ वायु से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ रोग अग्नि से, पित्त से सम्बन्ध रखते हैं, और कुछ रोगों का सम्बन्ध सोम (कफ) से होता है; क्योंकि शरीर का बंधारन इन्हीं तीन दोषों से होता है और प्रत्येक विकार इन्हींके कारण होता है। और चाहे रोग शरीर से बाहर का हो, वह भी कुछ समय पीछे इनके अन्दर परिवर्तन उपस्थित कर देता बस, यही प्राचीन आर्य-चिकित्सा का सूत्र है। इसीसे इस चिकित्सा-पद्धति को "त्रिसूत्रीय" पद्धति कहते हैं।

अर्वाचीन चिकित्सा-पद्धति इस प्रकार का कोई नियम नहीं रखती है। उनके यहाँ प्रत्येक रोग के कारण भिन्न-भिन्न कल्पना किये हुये हैं। प्राय: आधे रोगों के कारण "कृमि" माने हुए हैं। शेष रोगों का कारण भी आहार-विहार की गड़बड़ी है। एक को सरदी लगी, उसकी नाक से पानी आने लगा, यह भी आहार-विहार ही का दोष है। इसी प्रकार यदि शरीर स्वस्थ हो, उसमें शक्ति हो, तो कृमि भी अपना प्रभाव शरीर पर नहीं कर सकते। इस मिथ्या आहार-विहार से रोगोत्पत्ति में सहायता मिलती है, इस बात को वे इन्कार नहीं कर सकते। रही बात वात, पित्त और कफ की। इनकी सत्ता का निश्चय इसलिये होना कठिन है कि प्राचीन सिद्धान्त प्राय: "तीन" का रक्खा गया है। यही सबब है कि उन्होंने प्रकृति को भी सत्त्व, रज, तम इन तत्त्वों में बाँधकर रक्खा है। और सृष्टि के नियामक विष्णु को राजसिक, संहारक शिव को तामसिक और उत्पादक ब्रह्मा को सात्त्विक माना है। इसी प्रकार इस शरीर का बंधारन भी इन्हीं सूत्रों पर रक्खा गया है। यदि नवीन चिकित्सक इस प्रकृति को समझ सकें, और सांख्य-शास्त्र के सत्त्व, रज और तम इस त्रिगुण सिद्धान्त का मनन कर सकें, तभी वे इस वात, पित्त और कफ के सिद्धान्त को समझ सकते हैं। अर्वाचीन पद्धति के सातों संस्थानों का समावेश इन तीन धातुओं में हो सकता है। इन तीन धातुओं को समझनेवाला विद्वान् भी काय-चिकित्सा में भली प्रकार सफल बन सकता है।

एक और भी बात है। प्राचीन काल में इस चिकित्सा-पद्धति का अभ्यास करनेवाले विद्यार्थी के लिये जहाँ शवच्छेद करना आवश्यक होता था, वहाँ उसको योग-शास्त्र का भी अभ्यास करना पड़ता था।

इस प्रकार अभ्यास करने के उपरान्त ही वह शरीर के अन्दर के दोषों को समझ सकता था। जिस प्रकार आजकल मृतदेह को काटकर देखने से चिकित्सक निपुणता प्राप्त करने के लिये यत्न करते हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में शिष्य को ज्ञान गुरुमुख से दिया जाता था। उस समय प्रायः ग्रन्थों का निर्माण सूत्ररूप में किया जाता था। इसलिये आधुनिक ग्रंथों की भाँति उसमें सब बातें विस्तार से नहीं लिखी रहती थीं। यही कारण है कि रोगों की सम्प्राप्ति का वर्णन विस्तार से नहीं मिलता। उदाहरण के लिये आर्य-वैद्यक-शास्त्र में ज्वर की सम्प्राप्ति इस प्रकार से दी है—मिथ्या आहार-विहार से कुपित आम-दोष आमाशय में कुपित होकर रस-धातु के साथ मिलकर रस-वाहिनियों को बन्द कर देता है और इससे अग्नि को बन्द करके आमाशय से बाहर निकालकर, त्वचा पर ला देता है। इससे ज्वर होता है। इसमें कौन-सी अग्नि, उसका स्वरूप आदि बातों का घुटाला है। साधारणतः कोई मनुष्य इसे समझ नहीं सकता।

इसी प्रकार शरीर से पसीना क्यों होता है? वह किस प्रकार का है? वह क्यों रुक जाता है? उसके होने से शरीर की गरमी किस प्रकार कम हो जाती है? इत्यादि बातों का ज्ञान बिना शास्त्र के होना असम्भव है। इसी प्रकार ज्वर में शिर के ऊपर ठण्डा पानी क्यों रक्खा जाता है, किसलिये पाँव गरम पानी में रखने चाहिये, नस्य किसलिये लेना चाहिये? इत्यादि बातों का ज्ञान बिना शास्त्र के नहीं हो सकता। बरफ रखने से ज्वर कम होता है, केवल इतना सुनने से या देखने से काम नहीं चलता; परन्तु किस कारण से और किस प्रकार गरमी कम होती है, यह बात समझने की आवश्यकता है।

पानी के घड़े के ऊपर ठण्डा कपड़ा रखने से अन्दर का पानी ठण्डा हो जाता है; परन्तु यह किस प्रकार से होता है, इस बात को बहुत कम आदमी जानते हैं। ज्वर में उष्णता होने का कारण अँग्रेजी वैद्यक-शास्त्र इस प्रकार से बताता है—किसी प्रकार का विष या ज़हर अथवा हानिकारक पदार्थ रक्त में मिल जाता है। इस पदार्थ को पकाकर बाहर निकालने के लिये शरीर की उष्णता बढ़ जाती है। प्रायः सब ज्वरों में पसीना रुक जाता है। इसका कारण यह है कि सब रोम-कूप आम-दोष से भर जाते हैं। जिस समय पसीना निकलना बन्द हो जाता है, उस समय शरीर के अन्दर गरमी बढ़ जाती है। पसीना निकलने से गरमी कम हो जाती है और

गरमी कम होने से ज्वर घट जाता है। ग्रीष्म-ऋतु में शरीर की गरमी साधारण रखने के लिये शरीर से पसीना बहुत निकलता है और सर्दियों में पसीना कम निकलता है, इससे गरमी भी बनी रहती है।

इसी प्रकार अतिसार-रोग की सम्प्राप्ति भी प्राचीन आर्य-वैद्यक-शास्त्र में इस प्रकार बताया है कि शरीर के अन्दर का द्रवरूप-धातु (रस, रक्त, जल, मूत्र, स्वेद,पित्त, कफ) अत्यन्त दुष्ट होकर अग्नि को मन्द कर देता है और फिर मल के साथ मिलकर वायु के द्वारा बाहर निकलता है। इसको अतिसार कहते हैं। अँग्रेज़ी वैद्यक-शास्त्र में इस रोग की सम्प्राप्ति इस प्रकार है—"किसी कारण से आँतों की ओर का रक्त-प्रवाह बढ़ जाता है, और दूसरी ओर का प्रवाह कम हो जाता है। आँतों से पानी बहुत मात्रा में निकलता है, जिससे आँतों में अटका हुआ पदार्थ बाहर हो जाय। इसी प्रकार रस-विकार नाक में बिगड़ने से ज़ुकाम, फेफड़ों में बिगड़ने से कफ अथवा खाँसी हो जाता है। यदि यह मल इस प्रकार अतिसार के रूप में बाहर न निकले, तो आँतों की अन्त: झिल्ली को हानि पहुँचाता है। उसको छील देता है, जिससे मल में रक्त आजाता है। इसी प्रकार प्राचीन चिकित्सा-पद्धति में अर्श का मूल कारण अजीर्ण भोजन लिखा है; परन्तु किस प्रकार यह रोग मस्सों के रूप में परिवर्त्तित होता है, इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। केवल इतना ही लिखा है कि जब मिथ्या आहार-विहार से दोष कुपित होते हैं, तो वातार्श, या पित्तार्श अथवा कफार्श होते हैं। अंकुरों का निर्माण किस प्रकार होता है, इसका वर्णन कहीं नहीं दिया है। नवीन चिकित्सा-पद्धति में इस विषय पर प्रकाश डाला है। अर्थात् मलबन्ध रोगी जब मल-प्रवाहण के लिये बल लगाता है, तो गुदा में रक्त-संचार बढ़ जाता है। यह रक्त-संचार वहाँ एकत्रित होता रहता है। वहाँ की केश-वाहिनियाँ रक्त से भर जाती हैं, और यह रक्त फिर वापस जाता नहीं। इसीसे ये केश-वाहिनियाँ तन्तु जालों में फँसकर अंकुर का रूप धारण कर लेती हैं। जब मल-प्रवाहण के समय शुष्क मल की रगड़ से या रक्त-संचार के और अधिक बढ़ने से यह भित्ति फट जाती है, तो रक्त-स्राव हो जाता है।

इसी प्रकार यक्ष्मा और प्रमेह की सम्प्राप्ति भी इतने संक्षेप में दी गई है कि उसका समझना आजकल के स्थूल बुद्धिवाले मनुष्यों के लिये कठिन है। मल के रोकने से क्षय-रोग हो सकता है, इस बात को नव्य शास्त्र

के पण्डित शायद ही मानने को तैयार होंगे। परन्तु आर्य-पद्धति में सब प्रकार का मिथ्या आहार-विहार वातादि दोषों को कुपित करता है। इसलिये इस पद्धति में रोग का नामकरण गौण है। "रोग" या "विकार" एक ही शब्द है। इसीसे सब रोगों का नामकरण नहीं किया है। केवल दोषों के आधार ही पर चिकित्सा करने का आदेश दिया गया है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है कि प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित कुछ रोग आजकल नहीं मिलते। यथा—शिश्न-वृद्धि के लिये किये गये उपायों से "शूक" रोग का होना लिखा है; परन्तु पूर्वकाल में उनका कहीं भी वर्णन नहीं आता। उदाहरण के लिये—सूजाक (गोनोरिया) और कालाजार अथवा प्लेग। इनका वर्णन अथवा लक्षण भी प्राचीन पुस्तकों में नहीं मिलता। बलपूर्वक लक्षणों को मिलाकर रोगों को दिखलाना बुद्धिमत्ता नहीं है। आर्य-वैद्यक-पद्धति पर चिकित्सा करनेवालों का धर्म है कि वे अपने "त्रिसूत्रीय" सिद्धान्त से चिकित्सा करें। रोग के नाम से चिकित्सा न करें।

आर्य-वैद्यक-शास्त्र में रोगों के बहुत-से वर्ग बनाये हैं और फिर उन वर्गों का भी विभाग किया गया है। इसी प्रकार नवीन पद्धति ने भी रोगों को कई विभागों में बाँटकर उनका पुनःवर्गीकरण किया है। उदाहरण के लिये—ज्वर-रोग एक है। देशी चिकित्सा में इसके अनेक (सन्निपात १३ प्रकार का) भेद हैं। नवीन पद्धति में भी इसके कई भेद माने हैं। ये सब भेद प्रायः कारणों के भेद से किये गये हैं और लक्षणों के अनुसार या कारणों के अनुसार इनका नामकरण भी भिन्न-भिन्न किया गया है। देशी वैद्यक के तन्द्रिक सन्निपात को अँग्रेज़ी में टाइफाईड और प्रलापक संनिपात को टाईफस नाम दिया गया प्रतीत होता है। कान के मूल में गाँठ होनेवाले रोग को कर्णक तथा जिस रोग में थूक के साथ रक्त आता है, उसको रक्तष्ठीवी कहा है। एलोपेथीवाले कर्णक रोग को मम्पस और रक्तष्ठीवी को निमोनिया कहते हैं। आर्य-वैद्यक-शास्त्र में शीतला, मसूरिका, रोमान्तिका आदि रोगों का माधव-निदानकार ने भेद किया है। परन्तु वाग्भट्ट आदि प्राचीन ग्रन्थकर्त्ताओं ने इनका समावेश विस्फोटक-रोग के अन्दर किया है; क्योंकि यह रोग वायु में उड़नेवाले विष से होता है और इसमें त्वचा पर फफोले पड़ते हैं, इससे सम्भवतः इसको यह नाम दिया गया है। इसी

प्रकार कई रोगों का नाम-भेद हो सकता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि अर्वाचीनकाल के सब ज्वरों का पता प्राचीन ग्रन्थकारों को था, या आजकल प्राचीन सब ज्वर मिलते हैं। उदाहरण के लिये माधव-निदान में एक ज्वर आया है, जिसमें बालों के अन्दर माँग (सीमन्त) निकल आती है (केशसीमन्त-कृत)। यह रोग आजकल कहीं देखने में क्या सुनने में भी नहीं आता। इसी प्रकार यदि आजकल के ज्वरों का पता प्राचीन ग्रन्थों में न चले, तो कोई आश्चर्य नहीं।

आर्य-वैद्यक-शास्त्र में क्षय और उरःक्षत ये दो पृथक् रोग गिने हैं। इनमें से क्षय के व्यवसायशोषी, व्रणशोषी, वार्धक्यशोषी इत्यादि सात भेद किये गये हैं। इन्हीं भेदों में उरःक्षतशोषी भी बताया गया है; भेद बताकर इसको पुनः पृथक् रोग माना है। इसी प्रकार कास-रोग पाँच प्रकार का माना है। इनमें क्षत-कास और क्षय-कास ये दो भेद बताये गये हैं। इस क्षत-कास में और उरःक्षत में कोई विशेष भेद है, यह पता नहीं चलता। इन सब भेदों का सम्बन्ध फेफड़ों के साथ है। इसलिये डाक्टरों का कहना है कि उरःक्षत रोग को या क्षत-कास को पृथक्-पृथक् मानने की ज़रूरत नहीं। एलोपेथी के निमोनिया रोग को बहुत-से विद्वान् उरःक्षत रोग मानते हैं; परन्तु दोनों रोगों के कारणों में आकाश और पाताल का अन्तर है। उरःक्षत रोग या क्षत-क्षय रोग आघात से उत्पन्न होता है और निमोनिया रोग का एक कृमि माना जाता है।

आर्य-वैद्यक-शास्त्र में हिचकी, अरोचक, छर्दि (वमन), तृष्णा और दाह इत्यादि रोग पृथक् गिने गये हैं। इनमें से हिचकी तथा अरोचक रोग को प्राणघातक बताया गया है। अँग्रेज़ी में ये कोई पृथक् रोग नहीं माने गये; परन्तु रोगों के लक्षण समझे जाते हैं।

मूर्च्छा जिस प्रकार कई रोगों का लक्षण है, उसी प्रकार यह एक स्वतंत्र रोग भी है। स्वतंत्र रोग की अवस्था में इसकी सम्प्राप्ति इस प्रकार बताई है कि शरीर की संज्ञावाहक-नाड़ियों को जब कुपित हुये वातादि दोष बन्द कर देते हैं, तब सुख और दुःख का भान नहीं रहता। अति रक्त जाने से, विष की गन्ध से अथवा रक्त की गन्ध से बहुत आदमी बेहोश हो जाते हैं। यही कारण है कि शल्य-कर्म के समय कई आदमी ख़ून को देखकर बेहोश हो जाते हैं। यह मूर्च्छा मन के आघात का परिणाम है। आर्य-वैद्यक-शास्त्र के

अनुसार इसका कारण पित्त और तम है। डाक्टरों का कहना है कि देशी वैद्यों की यह कल्पनामात्र है। यह रोग रक्त-संचार की क्रिया में अन्तर आने से या रक्त-संचय से होता है। मूर्च्छा-रोग का एक दूसरा रूप है, जिसको देशी वैद्यक में "सन्यास" कहा है और एलोपैथिकवाले इसको "एपोप्लैक्सी" कहते हैं। इस रोग में मस्तिष्क के अन्दर रक्त-संचार बढ़ जाता है।

इसी प्रकार देशी चिकित्सा-पद्धति में उन्माद रोग को 'मानस-रोग (मन-सम्बन्धी) रोग माना है। इसके सात भेद किये गये हैं। उन भेदों में एक भेद भूतोन्माद भी है। इस भूतोन्माद के तेरह भेद किये गये हैं। परन्तु यदि इस विषय की गम्भीरता को बिना समझे, इनके कहे हुये लक्षणों से आजकल विभाग किया जाय, तो असंख्य भेद बन जाते हैं। 'भूत' शब्द से क्या ग्रहण करना चाहिये ? नवीन वैज्ञानिक 'भूत' शब्द से कुछ नहीं समझते। प्राचीन साहित्य 'भूत' शब्द तत्वों के लिये बताता है और लौकिक परिभाषा में 'भूत' एक काल्पनिक या अदृश्य अथवा भयानक वस्तु है। इनको वे भूत या प्रेत करके पहचानते हैं। प्राचीन आर्य-वैद्यक-शास्त्र के आठ विभागों में 'भूत-विद्या' भी एक अंग-विभाग माना है। इस विद्या का पण्डित देवता, यक्ष, गान्धर्व आदि योनियों को वश में करता था। इन योनियों में रहनेवाले गण कभी सत्कार या पूजा के लिये या भोग करने के लिये मनुष्य-शरीर के अन्दर आजाते हैं, इससे उसमें अलौकिक सामर्थ्य आजाता है। इसी अलौकिक सामर्थ्य के कारण उसके मानसिक विकार बदल जाते हैं। इन विकारों के परिवर्त्तन का नाम उन्माद है। परन्तु नवीन शास्त्र के पण्डित, इस भूत-कल्पना पर विश्वास नहीं करते। वे इतना मानते हैं कि इस उन्माद-रोग का सम्बन्ध अन्य शरीर की अपेक्षा मस्तिष्क के साथ अधिक है। वे इस रोग के तीन मुख्य भाग करते हैं (१) एक्युटमेनिया, (२) मैलनकोलिया और (३) डिमैन्शीया। ये तीनों भेद मन की अवस्था-भेद से माने गये हैं। मन क्या है ? इसका उत्तर उनके पास नहीं हैं; परन्तु मन का स्थान मस्तिष्क वे भी मानते हैं; क्योंकि सब प्रकार का संकल्प-विकल्प वहीं पर होता है। मस्तिष्क का अधिक भाग तन्तुओं से बना हुआ है। जिस तन्तु में विकार होता है, उस तन्तु के कारण रोग होगा। अब इस विकार-भेद के कारण भी रोग-भेद हो सकता है। मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भाग में भिन्न-भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियाँ रहती हैं। यदि जागने की मनोवृत्ति उत्तेजित होगई, अथवा निद्रा की वृत्ति

विकृत होगई, तो मनुष्य सदा जागता रहेगा। इसी प्रकार यदि हँसने की वृत्ति उत्तेजित होगई, तो हँसता रहेगा। मस्तिष्क के वाम पार्श्व के एक भाग में भाषा-ज्ञान के संस्कार रहते हैं। यदि कभी दक्षिण पार्श्व में शरीर के किसी भाग पर चोट बैठे, उससे पक्षाघात होजाय, तो मनुष्य सब वस्तुओं के नाम भूल जायगा, उसका बोलना बन्द हो जायगा। इसी प्रकार रक्त-स्राव के गिरने से भी ये रोग हो जाते हैं। अपस्मार रोग भी मस्तिष्क ही से सम्बन्ध रखता है।

नवीन वैज्ञानिकों की दृष्टि में भूतोन्माद की कल्पना मनगढ़न्त है। अभी इस विषय में अधिक खोज की आवश्यकता है; क्योंकि इस प्रकार के रोगी देखने में आये हैं, जिनको एक अक्षर संस्कृत का नहीं आता था, वे भगवद्गीता का पाठ संस्कृत श्लोकों में आराम से करते जाते थे। इसलिये इन बातों पर सहसा अविश्वास नहीं करना चाहिये।

देशी वैद्यक में इन वात-रोगों की संख्या बहुत अधिक लिखी है। अँग्रेज़ी-चिकित्सानुसार कई रोग मगज-तन्तुओं के विकार से होते हैं, कई रोग आमाशय-विकार से, कई संधि-विकार से होते हैं। इसलिये वात-रोगों का वर्गीकरण ठीक नहीं है, ऐसी डाक्टरों की मान्यता है। इस विषय में थोड़ा खुलासा करना है—

आक्षेप—यह एक वात-रोग है, इसको अँग्रेज़ी में 'कनवेंलशन' कहते हैं। मस्तिष्क-तन्तुओं पर रक्त का दबाव बढ़ने से यह रोग होता है; क्योंकि रक्त की अधिकता से मस्तिष्क के तन्तुओं में उत्तेजना बढ़ जाती है और यह उत्तेजना मांसपेशियों में पहुँचती है। मांसपेशियाँ इस उत्तेजना को सम्भाल नहीं सकतीं, जिससे आक्षेपों के रूप में बदल जाती हैं। रक्त का दबाव पेट में कोड़े होने से, मलबन्ध आदि कारणों से बढ़ जाता है। इन कारणों से रक्त दूषित हो जाता है। रक्त को दूषित करनेवाले कारण वात, पित्त या कफ हैं। इनका कारण वही मिथ्या आहार-विहार है। बालकों में इस रोग को 'वात-ग्रह' या अँग्रेजी में 'इन्फैन्टाइलकनवल्शन्स' कहते हैं।

अपतन्त्रक—यह भी एक वात-विकार है। कई विद्वान् इसको आधुनिक 'हिस्टीरिया' रोग नाम देते हैं। दूसरे विद्वान् अपस्मार को 'हिस्टीरिया' मानते हैं। कई अपतन्त्रक और अपतानक रोग को एकही मानते

हैं। वैद्यक में अपतन्त्रक रोग के कई भेद कर रक्खे हैं। यथा—अन्तरायाम, बाह्यायाम, दण्डापतानक और हनुस्तम्भ आदि। कुछ देशी वैद्यक के विद्वान इन लक्षणों को देखकर अपतन्त्रक तथा इन पृथक् रोगों का समावेश आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के 'टिटैनस' रोग में करते हैं, जो अशुद्ध है। क्योंकि 'टिटैनस' रोग का कारण एक कृमि है। यह सत्य है कि इस रोग के लक्षण आयुर्वेद के अन्तरायाम आदि रोगों से मिलते हैं; परन्तु यही लक्षण कुचला विष में भी होते हैं। इससे कुचला विष और टिटैनस रोग एक नहीं हो जाते। इसी प्रकार लक्षणों के मिलने से, कारण को बिना मिला ही एक रोग नहीं कहना चाहिये; क्योंकि एक ही लक्षण कई रोगों में मिल जाता है।

अपतानक—यह रोग प्रायः विष के परिणाम-स्वरूप होता है। यह विष चाहे कृमि-जन्य हो, अथवा अन्य किसी प्रकार का हो। जिस समय विष रक्त के अन्दर पहुँचकर संज्ञा-वाहिनियों को दूषित कर देता है, उस समय यह रोग होता है। कई विद्वान इसको धनुर्वात मानते हैं; क्योंकि इसमें शरीर धनुष की भाँति टेढ़ा बन जाता है।

पक्षाघात—यह शरीर की शिरा या स्नायु का रोग नहीं है। इसका मूल कारण मस्तिष्क में होता है। ऐसी मान्यता अंग्रेज़ी-चिकित्सा में है। रक्त-दबाव के बढ़ने के कारण अथवा रक्त-स्राव के कारण या किसी प्रकार के आघात से अथवा अन्य किसी कारण से जब मस्तिष्क से निकलने हुये चेष्टा-वहा तन्तु अथवा संज्ञावहा तन्तु मस्तिष्क-ज्ञान को अंग तक नहीं पहुँचाते, तब यह रोग होता है। डाक्टरों की मान्यता है कि इस रोग का "वायु" के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार कटि से निचला भाग अथवा एक पार्श्व का भाग चेष्टा-रहित हो जाय, तो उसे पक्षाघात या एकांग रोग कहा जाता है। इन सबका कारण मस्तिष्क ही में है। वात-रोग का एक भेद "अर्दित" है। इसका सम्बन्ध भी मस्तिष्क के साथ रहता है। इस रोग को अंग्रेज़ी में "फेसियल पैरलिसिस" कहते हैं। इस रोग में रोगी का मुँह एक पार्श्व में मुड़ जाता है। वह सीटी नहीं बजा सकता। यह रोग मस्तिष्क से निकलनेवाले त्रिशिरा-स्नायु (ट्राईजीमनल नर्व) के विकार से होता है। इसी प्रकार हनुस्तम्भ, जिह्वास्तम्भ आदि रोग भी मस्तिष्क के तन्तुओं के कारण ही होते हैं। इनका वायु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मूकता,

प्रलाप, निद्रा-नाश, शीतता, रसाज्ञता, रोम-हर्ष आदि रोगों का भी वायु से कोई सम्बन्ध नहीं है। रोगों के ये लक्षण हैं, इनको स्वतंत्र रोग मानना डाक्टरों की समझ में नहीं आता। इसी प्रकार तूनी, प्रतूनी, आध्मान और प्रत्याध्मान आदि वात-व्याधियाँ स्वतंत्र नहीं हैं; परन्तु कोष्ठ-विकार से सम्बन्ध रखती हैं।

इस प्रकार से विवेचना करने पर पित्त और कफ के भी बहुत-से रोग अंग्रेज़ी वैद्यक-शास्त्र के अनुसार रोग-गणना में नहीं आते। परन्तु आर्य-वैद्यक में इस प्रकार से भेद नहीं किया गया है। उनके अनुसार तो जिन रोगों के लक्षणों में वायु की प्रधानता दिखाई देती है, उनको वात-रोगों में गिन दिया गया है। और जिन रोगों में पित्त की प्रधानता रहती है, उनको पित्त रोगों में और कफ दोष की प्रधानतावालों को कफ-रोगों में गिना है। शरीर के अन्दर जितनी गति है, उस सबका नियामक वायु ही है। इसीलिये गति से सम्बन्धित सब रोगों को वायु-विकार में गिना है और गरमी (उष्णिमा) सम्बन्धी विकारों को पित्त-रोग में। इस दृष्टि से पक्षाघात अथवा आध्मान भी वायु रोग में आजाते हैं। रही लक्षणों की बात—अंग्रेज़ी-चिकित्सा में भी कई लक्षणों को रोग-रूप से गणना की गई है। उदाहरण के लिये "एनीमिया" और "क्लोरोसिस"। ये दोनों रोग कई रोगों के लक्षण होते हैं। इसलिये इस दोष से अंग्रेज़ी चिकित्सा-पद्धति भी नहीं बचती। शरीर की सम्पूर्ण गति का नियामक मस्तिष्क है, जो "नर्व्स-सिस्टम" का मुख्य केन्द्र है। इसीसे इस सिस्टम की सम्पूर्ण बीमारियों को "वात-व्याधि" कहा गया है। यही कारण है कि अपस्मार को, उन्माद को स्वतंत्र रोग मानकर भी इनकी चिकित्सा वात-वायु के आधार पर की जाती है और सफलता भी इसीसे मिलती है; क्योंकि इनका सम्बन्ध वात-संस्थान अर्थात् नर्व्स सिस्टम से है।

देशी वैद्यक में "वात-रक्त" एक रोग है। इसको अंग्रेज़ी-चिकित्सा में कहाँ स्थान दिया जाय, इस विषय में बहुत मतभेद है। कुछ लोग इसको रक्त-विकार मानते हैं, जिस प्रकार रक्त-पित्त को पित्त-विकार मानते हैं। इससे दुष्ट रक्त मानकर कुष्ठ रोगों में अन्तर्भाव करते हैं। दूसरे इसको "गाऊट" कहकर पहचानते हैं। बात ठीक ही है। दोनों ही रोगों में रक्त दुष्ट होता है। गाऊट के अन्दर यकृत के विकार से यूरिया या

यूरिक एसिड पेशाब में अधिक जाने लगना है। पित्त गाढ़ा हो जाता है, पित्त के विकार से रक्त को दूषित होना आवश्यक है। इसलिये इसको "वात-रक्त" नाम दिया जाता है। जिस प्रकार दूषित पित्त शरीरस्थ रक्त को विकृत करता है, उसी प्रकार दूषित वायु रक्त को कुपित करके "वात-रक्त" रोग उत्पन्न करती है। जिस समय यही वात सम्पूर्ण शरीर में कुपित हो, उस समय कुष्ठ-रोग उत्पन्न करती है। जो लोग इसको महाकष्टों में गिनते हैं, उनका कहना है कि यह रोग त्वचा से सम्बन्धित है। और यह रोग नाक, मुँह, माथे से प्रारम्भ होता है। इसकी अधिकता ग़रीबों में दिखाई देती है और "गाऊट" रोग अमीरों में प्राय: होता है।

"आम-वात" नाम के एक अन्य रोग का वर्णन माधव-निदान में आता है। चरक और वाग्भट्ट ने इसको कोई स्वतन्त्र रोग नहीं माना है। इसको कुछ आदमी सन्धि-वात समझते हैं। इससे इसका अर्थ अँग्रेज़ी चिकित्सा-पद्धति के अनुसार "रोमेटिज्म" करते हैं। सन्धि-वात या आम-वात के लक्षणों का अन्तर्भाव प्राय: "वात-रक्त" रोग में हो जाता है। इसीसे प्राचीन आचार्यों ने इसको पृथक् रोग नहीं माना। गाऊट के अन्दर प्राय: छोटी सन्धियाँ आक्रान्त होती हैं और रोमेटिज्म के अन्दर प्राय: बड़े जोड़ विशेषत: कोहनी या घुटने के आक्रान्त होते हैं। इस भेद को देखकर पिछले ग्रन्थकारों ने भी इस रोग को "वात-रक्त" रोग से अलग किया है, ऐसी मान्यता करना अच्छा रहेगा; क्योंकि "सन्धि-वात" नाम का कोई पृथक् रोग देशी वैद्यक में देखने में नहीं आता। साधारणत: सन्धियाँ भी दो प्रकार की हैं, छोटी और बड़ी। छोटी सन्धियों की वायु को "वात-रक्त" या "गाऊट" कहते हैं और बड़ी सन्धियों की वायु को "आम-वात" या "रोमेटिज्म" कहते हैं।

माधव-निदान में वात-रक्त रोग की सम्प्राप्ति इस प्रकार से दी गई है कि दूषित वायु को प्रकोप होकर उसमें दूषित रक्त मिलता है। हाथी, घोड़े आदि की सवारी से अथवा दाहकारक और उष्ण पदार्थों के सेवन करने से शरीरस्थ रक्त दूषित हो जाता है; और यह दूषित रक्त-पाँव में उतर जाता है। यह दूषित रक्त वायु के साथ मिलकर इस रोग को उत्पन्न करते हैं। अँग्रेज़ी रोगों में इसकी सम्प्राप्ति इस प्रकार से बताई है—जो लोग कसरत या श्रम नहीं करते और बहुत पौष्टिक पदार्थ खाते हैं, विशेषत: मद्य

या मांस का सेवन करते हैं, उनके रसादि धातु भली प्रकार परिपक्व नहीं होते। इसलिये पदार्थों से, या धातुओं से उत्पन्न होनेवाले क्षार शरीर से भली प्रकार बाहर नहीं निकलते। इसलिये मूत्र में ये वस्तुयें नहीं छनतीं। और रक्त के साथ बहकर सन्धियों में जाकर ये क्षार इकट्ठे होने लगते हैं। इन क्षारों की अधिकता से वह स्थान सूज जाता है और दर्द होता है। इससे स्पष्ट है कि रक्त का दूषित होना दोनों पद्धतियों में समान है। परन्तु क्षारों का मूत्र-मार्ग से न निकलकर सन्धियों में इकट्ठा हो जाना अँग्रेज़ी चिकित्सा में विशेष है।

आम-वात रोग की सम्प्राप्ति इस प्रकार से माधव-निदान में दी है कि अधिक स्निग्ध और चिकने पदार्थों के अधिक खाने से और कसरत न करने से जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। इससे वायु दूषित होकर आम को कफ के स्थान में ले जाती है और वहाँ तीनों दोषों से मिलकर नाड़ियों को भर देती है। इसके अनुसार जब वायु और कफ कुपित होकर कमर में पहुँचती है, तब बहुत जोर करती है। इससे सब सन्धियों में शोथ उत्पन्न होती है। अँग्रेज़ी वैद्यक रीति में वात-रक्त का जिस प्रकार का खुलासा किया है, वैसा आर्य-वैद्यक में नहीं है। वात-रक्त में यूरिक एसिड का और आम-वात में "लैक्टिक एसिड" का संचय होता है। वात-रक्त में शोथ गाँठवाला होता है, और आम-वात का शोथ स्निग्ध, चिकना होता है। आम-वात रोग का एक विशेष चिन्ह यह है कि इस रोग से रोगी के हृदय पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। यदि इस विकार की चिकित्सा न की जाय, तो रोगी को हृदय-रोग स्थायी हो जाता है। आर्य-वैद्यक में भी आम-वात रोग के साथ "हृदय-ग्रह" नामक विकार का लक्षण बताया है।

देशी वैद्यक में "शूल" एक प्रकार का स्वतन्त्र रोग है। अँग्रेजी-चिकित्सा में इसको मुख्य रोग नहीं गिना गया। यह कोष्ठ-रोगों का एक लक्षण है। कोष्ठ में मल का और अपक्व अन्न तथा वायु का संचय जब होता है, तब आंत्र में, आमाशय में, कृमि, व्रण, ग्रन्थि, अर्बुद आदि रोग होते हैं। इन रोगों के परिणाम-स्वरूप "शूल" होता है। इसी प्रकार सीसा तथा कलई का काम करनेवाले व्यक्तियों में भी शूल रोग मिलता है। इनको विशेषत: आमाशय शूल होता है। इसके अतिरिक्त माधव-निदान में "परिणाम शूल" नाम का एक और रोग लिखा है, जो भोजन के जीर्ण

होने के पश्चात् होता है। अँग्रेजी पद्धति से यह "परिणाम शूल" नामक रोग आमाशय-व्रण का एक लक्षण है। प्राचीन आचार्यों ने इस शूल-रोग को कोई स्वतन्त्र रोग नहीं माना है। निदान-सम्बन्धी विचार-कर्त्ता माधव-निदान कहता है—यदि आमाशय-सम्बन्धी कोई विकार हो, तो उस समय भोजन करने से (अजीर्ण-से) शूल-रोग उत्पन्न हो जाता है। प्रायः अन्न के विदाह से या खटास से शूल उत्पन्न होती है। इसी प्रकार उदावर्त्त-रोग को जिस प्रकार माधवाचार्य ने अलग स्वतन्त्र रोग गिना है, उस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने तथा अँग्रेजी वैद्यकों ने इसे पृथक् रोग नहीं माना। वाग्भट्ट ने लिखा है—मल-मूत्रादि के वेग को रोकने से जो रोग या लक्षण होते हैं, उनमें एक रोग या लक्षण 'उदावर्त्त' भी है। आर्य-वैद्यक-शास्त्र में 'आनाह' रोग भी स्वतन्त्र है—अँग्रेजी में इससे मिलते-जुलते रोग को 'टिम्पैनाइटिस' कहते हैं। आर्य-ग्रन्थों के अनुसार यह रोग आमाशय अथवा आंत्रों में होता है।

'गुल्म-रोग' को अँग्रेजी में 'एबडोमिनल ट्युमर' कहते हैं। जिस प्रकार ग्रन्थि शरीर के बाहर होती है, उसी प्रकार गाँठ शरीर के अन्दर भी हो जाती है। इस ग्रन्थि के अतिरिक्त उदर में दोष संचित होकर एक प्रकार की विद्रधि उत्पन्न करते हैं। यह विद्रधि जब फटती है, तो इसका मुख त्वचा के पृष्ठ पर नहीं होता, अपितु अन्दर रहता है। इसके अतिरिक्त वैद्य, जिसको 'अर्बुद' कहते हैं, यह एक प्रकार का मांसार्बुद है, जिसको अँग्रेजी में 'कैन्सर' कहते हैं। कैन्सर शरीर के किसी भाग में हो सकता है। गर्भाशय में जिस प्रकार रक्त-गुल्म होता है, उसी प्रकार अर्बुद भी होता है। इसलिये इन दोनों को पृथक् रोग समझकर उनके निदान के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। मांसार्बुद अथवा कैन्सर यदि आमाशय में हो और पककर फूट जाय, तो रक्त वमन द्वारा बाहर निकलने लगता है। आर्य-वैद्यक में पित्त गुल्म-रोग है, इसके लक्षण मांसार्बुद से बहुत कुछ मिलते हैं। आर्य-वैद्यक में गुल्म और विद्रधि—ये दोनों भिन्न-भिन्न रोग माने हैं। इनमें भेद यह है कि विद्रधि फूटती है और गुल्म पकता तक भी नहीं।

हृदय-रोग में और अँग्रेजी-चिकित्सा के हार्ट डिज़ीज़ रोग में बहुत अन्तर है। इनको एक रोग मानकर चिकित्सा करने में भूल हो जाती है। अँग्रेजी में जो लक्षण या वर्णन हार्ट डिज़ीज़ के लिखे हैं, उनका वर्णन आर्य-

वैद्यक में नहीं मिलता। आर्य-वैद्यक हृदय-रोग को एकदम असाध्य नहीं मानता; परन्तु अँग्रेजी चिकित्सा के अनुसार "हार्ट डिजीज" रोग असाध्य है। इस बात का स्पष्टीकरण करने की जरूरत है। आर्य-वैद्यक में कहे हुये हृदय-रोग के लक्षण अग्निमान्द्य, कृमि या अशक्ति के कारण हृदय में उत्पन्न लक्षणों से मिलते हैं। कृमि-जन्य हृदय-रोग का वर्णन आर्य-वैद्यक में है। इसका अर्थ यह है कि शरीर में कृमि होने से जो लक्षण हृदय में उत्पन्न होते हैं, उनको हृदय-रोग कहते हैं। साधारणत: हृदय में दो प्रकार का दर्द होता है—एक हृदय के अन्दर स्वयं या हृदय से सम्बन्धित, जिस प्रकार हृदय की कपाटियों के या उसके आवरण के विकार से उत्पन्न होती है। दूसरा अन्य कारणों से। यथा—रक्त की कमी के कारण अथवा आमाशय या यकृत-रोग के कारण। अँग्रेजी में जिस रोग को "हार्ट डिजीज" कहते हैं, वह पहले प्रकार का है, उसका वर्णन आर्य-वैद्यक-ग्रन्थों में नहीं आता। आर्य-वैद्यक में कृमि-जन्य हृदय-रोग' कहा है। उसका अर्थ यह है कि पेट में या आंत्रों में कृमि पड़ने से हृदय में विकार आजाता है। उसी प्रकार मन्दाग्नि के बहुत-से भेद बताये हैं। उनमें से एक भेद के अन्दर, हृदय के अन्दर दर्द होता है और इस दर्द को वात-जन्य हृदय-दर्द कहा गया है। अँग्रेजी में इस प्रकार के दर्दों को "कार्डेलजिया" कहते हैं। इसी प्रकार पित्त-जन्य हृदय-रोग के लक्षण आमाशय तथा पक्वाशय के विकार से उत्पन्न होनेवाले परिणाम शूल से मिलते हैं। इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों ने "अम्लपित्त" को जो पृथक् रोग माना है, वह भी पक्वाशय या आमाशय के विकारों का लक्षणमात्र है। इसी अम्ल-पित्त के बहुत-से लक्षण बहुत-से पित्त-जन्य हृदय-रोग से मिलते हैं। इस प्रकार से रोगों के नामकरण एवं निदान में बहुत गड़बड़ी है। इसलिये यही सरल उपाय है कि रोग के नाम से चिकित्सा न करके मूल कारण से चिकित्सा करनी चाहिये अथवा दोनों पद्धतियों से रोग की समीक्षा करके चिकित्सक को अपना मार्ग बनाना चाहिये।

मूत्राशय-सम्बन्धी रोगों का निदान प्राय: दोनों पद्धतियों में मिलता-जुलता है। यह निदान दूरवर्त्ती रूप में अधिक मिलता है। सन्निकृष्ट रूप में दोनों के अन्दर बहुत भेद हैं। मूत्रकृच्छ्र रोग में क्या-क्या अन्तर होते हैं, और मूत्राशय रोग के कारण अन्दर के अवयवों में क्या-क्या अन्तर आता है, इस बात का वर्णन प्राचीन आर्य-ग्रन्थों में नहीं मिलता;

परन्तु आंग्ल-चिकित्सा के ग्रन्थों में बहुत कुछ स्पष्टीकरण किया हुआ है। "मूत्रकृच्छ्र" रोग कई कारणों से होता है—मल के अवरोध से भी होता है; क्योंकि मलाशय और वस्ति-प्रदेश पास-पास में हैं। इससे एक अवयव का विकार दूसरे अवयव पर भी लागू पड़ता है। इसी प्रकार अश्मरी तथा शर्करा रोग से भी मूत्रकृच्छ्र रोग हो जाता है। वीर्य के दोष से भी मूत्र-कृच्छ्र रोग होता है। वीर्य-दोष क्या है? इसका उत्तर बाकी रहता है, इसी प्रकार अश्मरी और शर्करा में क्या भेद है? और ये दोनों वस्तुएँ किस कारण से और कहाँ बनती हैं? इत्यादि बातों का जानना आवश्यक है। अश्मरी मूत्राशय में बनती है, चूंकि वहाँ इसकी वृद्धि के लिये पर्य्याप्त स्थान होता है। शर्करा वृक्क में बनती है। वायु ही इस शर्करा को भिन्न-भिन्न रखती है। मूत्राश्मरी या शर्करा के कारण एक प्रकार का भयंकर शूल होता है। इस शूल का कारण प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट नहीं है। परन्तु मूत्र-वाहक वृक्क की नालियों में वृक्क-वस्ति में जब शर्करा रुककर रास्ता बन्द कर देती है, तब मनुष्य को दर्द होता है। इसी प्रकार वस्ति या मूत्राशय-द्वार को जब पथरी रोक लेती है, उस समय भी प्रवाहण का वेग होने से परन्तु प्रवाहण न हो सकने के कारण तीव्र दर्द होता है।

मूत्राघात और मूत्रकृच्छ्र रोग के अन्दर इतना अन्तर है कि मूत्राघात में मूत्र सर्वथा बन्द हो जाता है और मूत्रकृच्छ्र रोग में मूत्र कठिनता से आता है। आर्य-वैद्यक में मूत्राघात के बहुत-से भेद हैं। इसी प्रकार आंग्ल-चिकित्सा से भी इस रोग के कई भेद हैं। आर्य-वैद्यक में जिस रोग को "वात-कुण्डलिका" कहते हैं, अनार्य-वैद्यक में उसे "स्पोश्मैटिक स्ट्रीक्चर" कहते हैं। अनार्य-चिकित्सा में जिसको "स्ट्रिचर ऑफ यूरिया" कहते हैं, उसी रोग को आर्य चिकित्सा में "मूत्रोत्संग" कहते हैं। अनार्य-चिकित्सा में जो लोग औपसर्गिक प्रमेह (गोनोरिया) का शीघ्र इलाज करने के लिये पिचकारी का उपयोग करते हैं, उनको यह रोग बहुत जल्दी लागू पड़ता है। वात-कुण्डलिका रोग औपसर्गिक प्रमेह, मलावरोध, मूत्राश्मरी आदि रोगों से होता है। मूत्राशय के अग्रभाग में और मूत्र-मार्ग में एक ग्रन्थि है, जिसको अनार्य-चिकित्सा में "प्रोस्टेटग्लैन्ड" कहते हैं। वृद्धावस्था में तथा कई रोगों में यह ग्रन्थि बढ़ जाती है। इससे मूत्र रुक-रुककर आता है, या बन्द हो जाता है। आर्य-चिकित्सा में इस

कारण से उत्पन्न रोग को "अष्ठीला" कहते हैं। इसी प्रकार चौथी प्रकार का मूत्राघात "वात-वस्ति" है। अनार्य-चिकित्सा में इसको "रिटैन्शन ऑफ यूरीन" कहते हैं। इस रोग में मूत्र-शलाका का उपयोग प्रायः करना पड़ता है। मूत्राघात का पाँचवाँ भेद "मूत्रातीत" है। इस रोग में वस्ति की मांस-पेशियाँ और स्नायु ढीले पड़ जाते हैं, इससे मूत्राशय पूर्ण रूप से संकुचित नहीं होता, जिससे मूत्र बाहर नहीं आता। प्रायः यह रोग वृद्धावस्था में होता है। मूत्राघात का एक भेद "मूत्र-क्षय" है। इसका नाम अनार्य-चिकित्सा में "स्प्रैशन ऑफ़ दि यूरिन" है। इस रोग में वृक्कों के अन्दर मूत्र बनता ही नहीं। यह अवस्था प्रायः "कॉलरा रोग" में हो जाती है, जब रक्त इतना गाढ़ा हो जाता है कि वृक्क के छननों में से वह छन नहीं सकता। पानी के न छनने से मूत्र भी नहीं बनता। यदि यह अवस्था बहुत देर तक रहे, तो रोगी मर जाता है। इस अवस्था में मूत्राशय खाली रहता है। इसलिये शलाका का उपयोग, गरम पानी में बैठाना विशेष लाभ नहीं करता। मूत्राघात रोग का एक और भेद है, जिसको "मूत्र-ग्रन्थि" कहते हैं। इस रोग में मूत्राशय के अन्दर एक गाँठ अर्बुद-सा हो जाता है। यह रोग असाध्य है। जब मूत्र के साथ शुक्र जाता हो, तो उसे "मूत्र-शुक्र" कहते हैं। यह रोग बच्चों में १२ वर्ष से पूर्व तथा हस्त-मैथुन करनेवाले युवकों में मिलता है। इस शुक्र में प्रायः शुक्राणु नहीं होते। यह या तो शिश्न के अन्दर रहनेवाली ग्रन्थियों का अथवा अष्ठीला ग्रन्थि का श्वेत, चिकना स्राव होता है, जो आँख से देखने पर वीर्य से बिलकुल मिलता है। "मूत्रसाद" रोग को अनार्य-चिकित्सा में "सिस्तयटिस" कहते हैं। इसका अभिप्राय है मूत्राशय को शोथ। "विड्घात" रोग का अभिप्राय यह है कि मलाशय में विष्ठा के रुकने से अपान वायु कुपित होकर मूत्र को भी बन्द कर देती है। कई लोग इस रोग का यह अर्थ करते हैं कि मलाशय या आन्त्र की विद्रधि का मुख जब फूटकर उसका मल मूत्र के रास्ते बहने लगे। यह बात असम्भव है; क्योंकि आंत्र की भित्ति फटने से विष बाहर हो जायगा। "उष्णवात" रोग को अनवा कहते हैं।

प्रमेह रोगों के विषय में दोनों पद्धतियों के अन्दर बहुत भेद आगया है। उदाहरण के लिये आर्य-वैद्यक में बीस प्रकार के प्रमेह-रोग माने गये हैं।

इनमें दस प्रमेह कफ के विकार से हैं और ये साध्य हैं। छः प्रमेह पित्त के कारण हैं, ये कृच्छ्रसाध्य हैं और चार वात के कारण हैं, जो असाध्य हैं। आयुर्वेद के इक्षुमेह और शीतमेह का अन्तर्भाव कुछ लोग "डायबीटिज-मेलिटस" में करते हैं और उदकमेह का अन्तर्भाव डायबीटिज इन्सीपीडस में करते हैं। सिकतामेह, सुरामेह, सान्द्रमेह आदि भेदों में एक प्रकार का क्षार मूत्र में जाता है। उसी प्रकार वसामेह, मज्जामेह, लालामेह, पिष्टमेह आदि भेद किये हैं, जिनमें क्षार—यूरिक एसिड, ऑक्सेलिक एसिड, लाइम आदि पदार्थ बाहर निकलते हैं। इसी प्रकार मूत्र में जानेवाले एलब्युमिन आदि का भी समावेश इन्हीं प्रमेहों में किया गया है। अँग्रेजी में जिस रोग को "हिमेच्युरिया" कहते हैं, उसी रोग को यदि रक्तमेह माना जाय, तो यह रोग वात का भेद होने से असाध्य मानना चाहिये। परन्तु वास्तव में "हिमेच्युरिया" रोग कोई असाध्य रोग नहीं है।

इसके अतिरिक्त आर्य-वैद्यक में "मधुमेह" नामक एक रोग है, जिसका कारण प्रमेहों की चिकित्सा न करने से बढ़कर मधुमेह रोग में परिवर्तित होना है। कोई-कोई रोग इसे "डायबीटिज मेलिटस" मानते हैं, जो ठीक है। यह रोग प्रायः असाध्य रहता है; परन्तु अनार्य-चिकित्सा के अनुसार यह रोग पित्ताशय (पैंक्रियास) की खराबी से होता है। इसकी चिकित्सा भी उसी आधार पर की जाती है। परन्तु आर्य-वैद्यक में इसका इस अवयव के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

प्रमेह-रोग के उपद्रव-स्वरूप शरीर में दस पिटिकायें हो जाती हैं, ऐसा आर्य-चिकित्सा में लिखा है। परन्तु अनार्य-चिकित्सा में इस प्रकार का कोई भी उपद्रव नहीं बताया गया है। यह बात दोनों पद्धतियों में समान है कि प्रमेही रोगी के व्रण बहुत देर में भरते हैं।

आजकल गोनोरिया या सिफलिस अथवा सैंकर—ये तीन रोग नये मिलते हैं। इनका मुख्य कारण दुष्ट स्त्री का संक्रमण है। परन्तु आर्य-वैद्यक में इनमें से सिफलिस या उपदंश का कारण दुष्ट स्त्री के संसर्ग के अतिरिक्त पशु आदि योनि से भी सम्बन्ध बताया है। उनकी योनि में गरमी होने से यह रोग प्रायः होता है। गोनोरिया या सूजाक का वर्णन कहीं मिलता नहीं। कुछ विद्वान् इसका अन्तर्भाव शुक्रमेह के अन्दर करते हैं। स्वभावतः इन रोगों के कारण, लक्षण और चिकित्सा, आर्य-चिकित्सा के बीस प्रमेहों से नहीं

मिलते । अतः यह रोग सर्वथा भिन्न हैं। आर्य-वैद्यक का एक भी प्रमेह-रोग संक्रमण-जन्य नहीं है।

आर्य-वैद्यक में "उदर-रोग" एक स्वतन्त्र रोग है। इनमें गिने गये प्लीहोदर (इनलार्जमेंट ऑफ दि स्प्लीन) यकृद्दाल्युदर (इनलार्जमेंट ऑफ दि लीवर) बद्धगुदोदर (स्ट्रीकचर आफ दि रैकृम) तथा जलोदर (एसायटिस) हैं। इनमें से प्रथम दोनों रोग प्रायः रोगों के परिणाम-स्वरूप होते हैं। जलोदर-रोग में किस प्रकार और कहाँ पानी भरता है, इसकी विस्तृत विवेचना आर्य-वैद्यक में नहीं है। परन्तु इस पानी को निकालने की विधि ठीक उसी प्रकार आर्य-वैद्यक में दी गई है, जिस प्रकार अनार्य-चिकित्सा में है। अनार्य-चिकित्सा के अन्दर उदर के अन्दर पानी किस प्रकार से उदरा-वेष्ठनकला के अन्दर इकट्ठा हो जाता है, इसका विस्तृत विवरण दिया गया है।

इसी प्रकार एसायटिस जब व्यापकरूप में सारे शरीर पर फैल जाता है, तो इसको "एनासारका" कह देते हैं और जब आँख, पाँव या अन्य भाग पर सूजन हो जाय, तब इसको ड्रॉप्सी अथवा "शोथ" रोग कहते हैं। इस रोग की पहचान यह है कि अँगुली के दबाने से गड्ढा पड़ जाता है और फिर धीरे-धीरे ऊपर उठता है। यह रोग हृदय, वृक्क आदि के रोगों से भी हो जाता है। इसकी सम्प्राप्ति यह है कि रक्त का द्रवभाग रक्त-वाहिनियों से निकलकर तन्तुओं में इकट्ठा हो जाता है और वह वापस नहीं जाता। अनार्य-चिकित्सा में यह शोथ-रोग कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है; परन्तु रोगों का लक्षण है। परन्तु आर्य-चिकित्सा में यह स्वतन्त्र रोग है। आयुर्वेद में वर्णित वात-जन्य शोथ को यदि कार्डिक ड्राप्सी (हृदय-सम्बन्धी) पित्त-जन्य शोथ को लीवर ड्राप्सी (कलेजा-सम्बंधी) और कफ-जन्य शोथ को किडनी ड्रॉप्सी (गुर्दा-सम्बंधी) मान लिया जाय, तो कोई भेद नहीं आता। इसके अतिरिक्त अभिघात-जन्य शोथ साधारण ही है, जो आघात से या विष आदि से (यथा भिलावे के लगने से) उत्पन्न हो जाता है। चिकित्सा की सुगमता से इस प्रकार विभाग किये गये हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में रोगों का जो वर्णन मिलता है, वह सम्पूर्ण भी आज उसी प्रकार से मिलना चाहिये, अथवा आजकल के रोगों का प्राचीन-काल में होना आवश्यक था, यह बात समय और युक्ति विरुद्ध है। लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार धर्म आदि से भेद आजाता है। प्राचीन शूक-

रोग का आजकल कहीं पता नहीं चलता। इसी प्रकार आजकल के "एलोफीवर" आदि रोगों का वर्णन पहले के ग्रन्थों में नहीं आता। यहाँ पर तो केवल दोनों देशी और अँग्रेजी निदान को समझने के लिये संक्षेप से दोनों पद्धतियों की विवेचना की गई है। विशेष विवेचना का यहाँ पर स्थान भी नहीं। आर्य-चिकित्सा के प्रेमी इस विवेचना पर से इस विषय को समझ सकेंगे, इसीसे यह प्रकरण इसमें लिखा गया है। दोनों पद्धतियों में बहुत भेद है। देशी चिकित्सा का तो एक सूत्र है कि सब रोगों का कारण वात, पित्त और कफ ये तीन दोष हैं। इनके ऊपर यह शरीररूपी मकान खड़ा है। इनके विकार से शरीर में विकार आता है। इन भेदों के कारण रोगों के नाम भिन्न-भिन्न होते हैं और इनके परस्पर भेद असंख्य हैं, अतः रोग भी असंख्य हैं। इस त्रिदोष का सिद्धान्त-मूल बहुत गहरा है, उसको समझना इस सांसारिक जीव के लिये कठिन है। अतः रोग का कारण और उसकी सम्प्राप्ति को समझकर यदि कार्य किया जाय, तभी सफलता होने की आशा है।

प्रकरण आठवाँ

औषधि-योजना

औषधियाँ और उनकी रचना

विकृति को प्रकृति में बदलने का साधन औषधियाँ हैं अथवा प्रकृति को स्वस्थ रखने का भी साधन औषधियाँ हैं। औषधि अर्थात दोषों का नाश करनेवाली वस्तु औषध है। एक प्रकार से यह मनुष्य के शस्त्र हैं, जिनकी सहायता से वह रोगों के साथ युद्ध करता है। जिस प्रकार अस्त्र या शस्त्र सदा तीक्ष्ण चमकते रहने चाहियें, उसी प्रकार औषधियाँ भी सदा ताजी रखनी चाहियें।

प्रतिदिन काम में आनेवाली या आँखों के सामने से गुजरनेवाली चीजें ही समय पर औषधि का रूप धारण कर लेती हैं। पोदीना की चटनी प्रतिदिन खाई जाती है, लहसुन को सब इस्तेमाल में लाते हैं। परन्तु पोदीना प्यास को कम करता है, या गरमी को घटाता है, अथवा लहसुन वायु-रोग को या शूल-रोग को नष्ट करता है, इस बात को बहुत कम जानते हैं। इसी प्रकार हम इनके उपयोग को नहीं समझते कि किस रूप में देने से ये पदार्थ अपना प्रभाव करते हैं। हींग को यदि घी में भूनकर पेट की दर्द में दिया जाय, तो विशेष लाभ करता है।

दवाइयों के भिन्न-भिन्न रूप

१. **क्वाथ (कषाय)**— क्वाथ को उकाला, जुशांदा भी कहते हैं। इसको बनाने के लिये एक भाग दवाइयाँ और सोलह भाग पानी रखना चाहिये। औषधियाँ थोड़ा मोटा-मोटा कूट लेना चाहिये। इसको आधा घंटा

पहले पानी में भिगो देना चाहिये। फिर मिट्टी के बर्तन में इसको उबालना चाहिये। जब पानी $\frac{3}{4}$ भाग जल जाय और एक भाग बच जाय, तब मथकर छान लेना चाहिये। पकाते समय बर्तन का मुँह खुला रखना चाहिये। धातु आदि के बर्तन प्रायः औषधियों से मिलकर रासायनिक प्रभाव करते हैं। यथा—यदि लोहे के बर्तन में त्रिफले का काढ़ा करें, तो वह काला हो जाता है। ताँबे या पीतल के बर्तन में अधिक कषैला हो जाता है। इस क्वाथ के फोकट को पुनः पकाकर भी दे सकते हैं। विशेषतः जब दवाइयाँ कड़ी हों, या पानी $\frac{1}{8}$ बचाया गया हो। परन्तु यह छान रात का हो, तो उसे अगले दिन नहीं बरतना चाहिये। इस दुबारे के काढ़े को "परकाढ़ा" कहते हैं। यदि क्वाथ जल्दी बनाना हो, तो $\frac{1}{8}$ शेष रख लेना चाहिये। इस प्रकार क्वाथ करने से औषधियों के तत्त्व पानी में आजाते हैं।

जो दवाइयाँ सूखी या कड़ी होती हैं, उनका रस इस प्रकार से निकालता है। मद्य (शराब) की भाँति पानी पदार्थ के सब तत्त्वों को खींच नहीं लेता; क्योंकि मद्य तीक्ष्ण और सूक्ष्म होता है। इससे वह पदार्थ के परमाणुओं में शीघ्ररूप से घुस जाता है। क्वाथ की मात्रा अधिक होती है।

अँग्रेजी पद्धति के अनुसार क्वाथ बनाने में एक भाग क्वाथ और दो भाग पानी आजाता है। क्वाथ में मधु, पुराना गुड़, पीपली, शर्करा आदि पदार्थ अनुपान के अनुसार रोग को देखकर मिला देने चाहिये।

यदि इस ग्रन्थ में लिखे हुवे किसी क्वाथ के योग में कोई दवाई न मिले, या रोग तथा स्थिति के अनुकूल न जँचे, तो उसको निकालकर दूसरी दवाई बरत लेनी चाहिये।

२. चूर्ण—किसी भी शुष्क पदार्थ को कूटकर कपड़े में छानकर पाउडर करने का नाम चूर्ण है। यह चूर्ण मैदे की भाँति बारीक नहीं होना चाहिये। आजकल कई फार्मेसियाँ चूर्ण को बिजली की चक्कियों से बनाती हैं। यह चूर्ण मशीन के आटे की भाँति अधिक लाभदायक नहीं होता। इसको थोड़ा करकरा रखना चाहिये। इसकी मात्रा ३ माशा होती है।

३. गोली—इसको वटी, गुटिका कहते हैं। चूर्ण की अपेक्षा दवाई इस रूप में अधिक देर तक रक्खी जा सकती है। गोली से बड़ी गोली को वटक और वटक से बड़ी गोलियों को मोदक कहते हैं। किसी भी दवाई या

दवाइयों के बारीक चूर्ण को अथवा उनके सत्त्व को मधु, नींबू के रस, गुड़, गुग्गुल अथवा पानी या दूध की सहायता से गोली के रूप में बनाया जाता है। यदि गोली या मोदक गुग्गुल अथवा शर्करा में बनानी हो, तो इनकी चाष खींचनी चाहिये। चूर्ण से शर्करा चारगुणी, गुड़ दुगुना, मधु चूर्ण के बराबर और पानी आदि प्रवाही पदार्थ दुगुने अथवा आवश्यकतानुसार लेने चाहिये। मोदक को टुकड़े करके खाना चाहिये। यदि गोली कठोर होगई हो, तो पीस-कर खानी चाहिये।

४. **अवलेह**—आर्य-वैद्यक में अवलेह को ऊँची श्रेणी में रखा गया है। इसमें औषधियों का सत्त्व मधु, शर्करा आदि से मीठा बनाया जाता है। इसमें इलायची, तेजपत्र-जैसी सुगन्धित चीजें डाली जाती हैं। इस रूप में दवाइयाँ अधिक देर तक सुरक्षित रहती हैं। इस अवलेह के साथ भस्म, रस तथा अन्य दवाइयाँ दी जा सकती हैं। जिन वस्तुओं का अवलेह करना हो, उनका स्वरस अथवा क्वाथ करना चाहिये। क्वाथ को छानकर फिर उसको मीठी आँच से गरम करना चाहिये। दुबारा गरम करने के समय इसमें क्वाथ से चतुर्थांश शर्करा डाल देनी चाहिये। जिस समय पकते-पकते क्वाथ इतना गाढ़ा बन जाय कि नीचे उतारने पर ठंडा होने से अँगुली पर चिपटने की आशा हो जाय, उस समय उतार लें। और ठंढा होने पर इसमें घृत, तैल, मधु या सुगन्धित पदार्थ जो डालने हों, वे डाल देने चाहिये। अवलेह ठीक बना है, या नहीं, यह देखने के लिये पानी से भरे कटोरे में थोड़ा-सा अवलेह डालकर देखना चाहिये। यदि अवलेह ठीक पका हुआ होगा, तो वह नीचे तली पर बैठ जायगा। अवलेह की मात्रा ½ तोले से १ तोला है।

५. **पाक**— पाक बनाने की भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं। साधारण विधि यह है कि जिन चीजों का पाक बनाना हो, उन सबका चूर्ण करके सोलहगुणा या बीसगुणा दूध में डालकर खोवा बना ले। फिर इस खोवे को घी में भून लेना चाहिये। कोई इस चूर्ण को अलग घी में भूनते हैं और दूध का खोवा पृथक् बनाकर उसको पृथक घी में भून लेते हैं। घी में इतना भूनना चाहिये कि वस्तु की गन्ध आने लगे, उसका रंग लाल-सा हो जाय। फिर इन सबके बराबर की शक्कर लेकर उसकी चासनी बनानी चाहिये। जब चासनी तीन तार की हो जाय, तो इस भूने हुए पदार्थ को उसमें डालकर हिला देना चाहिये।

है। स्वरस के अन्दर घी, तेल, मधु, शर्करा और सैन्धानमक डालने की मात्रा ½ तोला है। रोगी की प्रकृति के अनुसार मात्रा को निश्चित करना चाहिये।

१९. हिम—औषधियों को कूटकर मोटा चूर्ण कर लेना चाहिये। उसमें जब ठण्डा पानी छ:गुणा रखकर बारह घण्टे रख दे और पुन: प्रात:काल छानकर काम लाये, इसको हिम कहते हैं। हिम की मात्रा ८ तोला है।

२०. मंथ—मिट्टी के बर्त्तन में वनस्पति, चूर्ण से १६ गुणा ठण्डा पानी डालकर, दवाई को खूब मथकर, कपड़े से छानकर, जो प्रवाही द्रव बनता है, उसका नाम मंथ है। हिम के समान होने से इसकी भी मात्रा ८ तोला है।

२१. क्षार—जौ आदि वनस्पतियों के अन्दर से क्षार निकालने की सामान्य विधि यह है कि वनस्पति का पंचांग लेकर इसको साफ़ अच्छे स्थान पर अथवा किसी बड़े बर्तन में रखकर जलाना चाहिये। जब सब राख हो जाय, तब इस भस्म को ६४ गुणे पानी में डालकर मिला देना चाहिये। पीछे इस पानी को थोड़ा-सा उबाल देकर छान लेना चाहिये। उबालने से क्षार का भाग पानी में भली प्रकार मिल जाता है। फिर इस पानी को ऊपर से नितार-कर दूसरे बर्त्तन में छान लेना चाहिये। इस छने हुए पानी को धूप में रख-कर या आग पर गरम करके खुश्क कर देना चाहिये। बर्त्तन के तलछट पर जो श्वेत पदार्थ रहेगा, वह क्षार है। इसी प्रकार से इमली, केला अपा-मार्ग, जौ, दाभ, मूली आदि का क्षार निकाला जाता है।

२२. लेप—शोथ के ऊपर, विषैले जानवर के डङ्क के ऊपर और कोढ़ आदि चमड़ी के ऊपर गीली या सूखी वनस्पति पीसकर मोटा लेप किया जाता है। प्राय: गरमी की सूजन के ऊपर ¼ अंगुल मोटा ठण्डा लेप किया जाता है। कफ और वायु के शोथ के ऊपर तथा गुमड़े के ऊपर गरम करके ⅓ अंगुल मोटा लेप करना चाहिये।

२३. पंचांग—किसी भी वनस्पति के मूल, छाल, पत्ते, फल और फूल इन सबको पंचांग कहते हैं।

२४. मंजन—दाँतों को घिसने की वस्तु को मंजन कहते हैं।

२५. **अञ्जन**—आँख में अंजन करने की वस्तु को "अंजन" कहते हैं। यह अंजन चूर्णरूप, गोलीरूप और नरम या प्रवाहीरूप होता है।

२६. **पिंडी**—औषधि की लुगदी बनाकर आँख के ऊपर बाँधी जाती है। इस लुगदी को "पिंडी" कहते हैं। यह भी एक प्रकार की पुलटिस है।

२७. **आश्च्योतन**—किसी भी प्रवाही दवाई को आँख में बूँद-बूँद करके गिराने का नाम आश्च्योतन है। यह बूँदें सरदी के दिनों में थोड़ी गरम करके और गरमी के दिनों में थोड़ी ठंडी करके गिरानी चाहियें।

२८. **नस्य**—नाक में सूँघनेवाली वस्तु को "नस्य" कहते हैं। यह घी, तेल या चूर्ण के रूप में हो सकती है।

२९. **पान**—किसी भी वस्तु को २२ गुणा अथवा इससे भी अधिक पानी में डालकर उबालना चाहिये। जब आधा पानी बाकी रह जाय, तो इसको पीना चाहिये। इसको 'पान' कहते हैं।

३०. **धूप**—अग्नि में दवा जलाकर घर को धुआँ देने से हवा शुद्ध की जाती है, उसी प्रकार त्वचा के कई रोगों में धुआँ दिया जाता है। विशेषतः गरमी या उपदंश के रोग में। अङ्गारे के ऊपर दवा डालकर उसके ऊपर खाट रखनी चाहिये। इसके ऊपर रोगी को बिठा दिया जाता है। उसका मुँह बाहर खुला रख देना चाहिये और सारे शरीर को ढक देना चाहिए, जिससे धुआँ बाहर न जाय। और यह धुआँ नाक, मुँह आदि के ऊपर भी नहीं आना चाहिये।

३१. **धूम्रपान**—जिस प्रकार शरीर को धूप दी जाती है, उसी प्रकार कई रोगों में बीड़ी, चिलम, सिगरेट या हुक्के के द्वारा दवाई पी जाती है। यह दवाई कभी नाक से और कभी मुख से ली जाती है।

३२. **फलवर्त्ती**—योनि अथवा गुदा के अन्दर प्रविष्ट करने योग्य मोटी वा पतली दवाइयों से बनी वस्तु को फलवर्ती कहते हैं। इस बत्ती को सूती पतले वस्त्र से लपेटकर जामुन के आकार अथवा अँगुली जैसी मोटी बनानी चाहिये। और इसको घी या तेल में चिकना करके गुदा या योनि में रखना चाहिये। बाज़ार में इस प्रकार वर्तियाँ गुदा के लिये और

योनि के लिये बनी आती हैं। गुदा की वर्ति को प्राय: मलबन्ध की अवस्था में रक्खा जाता है। और योनि-रोग तथा अन्य अवस्थाओं में योनि के अन्दर बत्ती रक्खी जाती है।

३३. गलाले--किसी भी प्रवाही को मुँह में भरकर रखना, इसको 'गंडूष' कहते हैं। और जब प्रवाही पदार्थ को मुँह के अन्दर फेर सकें, तो इसको "कवल" कहते हैं। जब मुँह थूक से भर जाय और नाक तथा आँख से पानी झरने लगे, तब मुँह से गन्डूष को फेंकना चाहिये।

३४. वस्ति (पिचकारी) --पिचकारी दो मार्गों से दी जाती है। एक मूत्र-मार्ग से और दूसरी मल-मार्ग से। आजकल रबर की पिचकारी बाज़ार में जो मिलती है, वह प्राय: अनुकूल हो जाती है। प्राचीन काल में प्राय: पशुओं की वस्ति (मूत्राशय) अथवा चमड़े से कार्य किया जाता था। आर्य-वैद्यक में वस्ति से बहुत-से रोगों की चिकित्सा लिखी है। कई प्रकार के क्वाथ, तैल आदि वस्तुओं से वस्ति दी जाती थी। वस्ति-क्रिया चिकित्सा का मुख्य अङ्ग गिना गया है। वस्ति के द्वारा पोषणकारक पदार्थ शरीर में दिये जाते थे। वस्ति-चिकित्सा का मुख्य हेतु आंत्रों के अपक्व (आम) मल इत्यादि को बाहर निकालकर आँतों को स्वच्छ करना है। इसके साथ ही वस्ति से आँतों को मज़बूती मिलती है। बहुत-से पुराने रोग इस वस्ति से दूर हो सकते हैं। प्रमेहादि विकारों से मूत्र-मार्ग बिगड़ जाता है, उस समय इसको स्वच्छ करने के लिये मूत्र-मार्ग की वस्ति दी जाती है।

वस्ति के अन्दर खाने की दवाई से दुगुना या इससे अधिक द्रव्य देना पड़ता है। विशेषत: इस वस्ति-क्रिया में यह खूबी है कि मुँह का स्वाद नहीं बिगड़ता। बंध-कोष वायु के अफरा आदि में तत्काल लाभ होता है। जिस प्रकार वस्ति फायदा करती है, उसी प्रकार अनुचित उपयोग से हानि भी करती है।

वस्ति बाम पार्श्व में लेटकर, वाम पाँव को फैलाकर और दक्षिण पाँव को सिकोड़कर गुदा में लेनी चाहिये। बर्त्तन में थोड़ा-सा पानी छोड़ देना चाहिये।

३५. स्वेद---(भाप-सेक)---शरीर से गरमी निकालने के लिये, सूजन को कम करने के लिये, दर्द को घटाने के लिये, गीला या सूखा सेक किया जाता है। इस सेक को स्वेद कहते हैं। सेक के साधारणत: तेरह भेद

हैं। इनमें गीला और सूखा दो मुख्य हैं। गीला स्वेद देने के लिये एक बर्त्तन में पानी उबालकर उसमें दो ऊनी कपड़े रख देने चाहियें। बारी-बारी से एक-एक कपड़ा निचोड़कर स्थान पर रखना चाहिये। इस पानी में खस के डोडे आदि दर्दनाशक पदार्थ डाल देते हैं। इस सेक में निचोड़ना न पड़े इसलिये पतीली के मुख पर चलनी रख देते हैं। उसमें वस्त्र के टुकड़े डाल दिये जाते हैं। इस पतीली के वाष्प से कपड़ों को गीला कर देते हैं। इनसे सेक करना चाहिये।

सूखा सेक करने के लिये मिट्टी, ईंट, खल, रेत, बिनौले आदि वस्तुओं की पोटली बनाकर सेक किया जाता है। इससे रोगी को बहुत आराम मिलता है।

भपारा—किसी बर्त्तन में भाप की दवाइयाँ डालकर उसमें चौगुना पानी डालकर अँगीठी पर उबालना चाहिये। इस पानी के जो वाष्प नाक आदि से सूँघे जाते हैं, उनको भपारा कहते हैं।

३६. बन्धारण—शरीर के किसी भाग को, विशेषतः पेट को नरम करने के लिये जो लेप या पट्टी (औषधियों की) बाँधी जाती है, उसका नाम बन्धारण है।

३७. लोपरी— (पुल्टिस)—अलसी, तिल, गेहूँ आदि के आटे को घी, तैल या पानी में पकाकर, हलवे जैसी बनाकर, शोथ या गुमड़े के ऊपर बाँधी जाती है, इसका नाम पुल्टिस है।

३८. चावलों का धोवन—४ तोला साफ किये चावलों को ८ गुणे पानी में एक घन्टे तक भिगोकर, एक घन्टे के पीछे मथकर, छान लेना चाहिये। यह पानी कई रोगों में अनुपान रूप से काम आता है।

३९. काञ्जी —गेहूँ, उड़द या चावलों को उबालकर, पानी के साथ मिट्टी के बर्त्तन में मुँह बन्द करके कुछ समय तक रख देने से जो प्रवाही तैयार होता है, उसको काञ्जी कहते हैं। उड़द या चने के भल्ले या बड़ियाँ बनाकर इनमें पानी, राई, धनिया, जीरा, अजवायन आदि गेरकर ऊपर की भाँति बर्त्तन में रखने से काञ्जी बन जाता है। यह काञ्जी, लोहा, सीसा आदि धातुओं के शोधन में काम आती है।

४०. **यूष**--मूँग आदि दाल के पानी को यूष कहते हैं। किसी भी दाल के सबूत दानों को सोलहगुणा पानी में उबालना चाहिये। जब दाल का दाना गल जाय, तब इस पानी को छान लेना चाहिये और इसमे सैन्धानमक, जीरा, हींग आदि वस्तुयें रोगी की प्रकृति के अनुसार डालनी चाहियें। आर्य-वैद्यक में मूँग के यूष की बहुत प्रशंसा की गई है; क्योंकि यह पचने में हल्का और पुष्टिकारक है।

४१. **मण्ड**--चावलों को चौदहगुणा पानी में पकाकर, उसके पानी को अलग निकालकर, उसमें सैन्धानमक, जीरा, सांठ आदि वस्तुयें आवश्य-कतानुसार डालने पर "मण्ड" तैयार होता है। यह मण्ड बहुत हल्का है। ज्वर रोगी के लिये बहुत हितकारी है।

४२. **पेया**--लाल साठी चावल अथवा किसी ऊँचे प्रकार के चावलों को सोलह गुणा पानी में पकाकर खूब गाढ़ी बनानी चाहिये, जिससे वह पीने योग्य हो जाय। यह पेया ताव तथा अतिसार के रोगी के लिये बहुत हल्की है। इसको भी मण्ड की भाँति सैन्धानमक, सांठ, जीरा आदि डालकर स्वादिष्ट बना सकते हैं।

४३. **यवागू**—पेया से कहीं कुछ अधिक गाढ़ी रबड़ी को अथवा पकाकर पतले किये हुए भात को "यवागू" कहते हैं। कांजी के नाम से इसको पहचानते हैं। यदि चावलों को छःगुणे पानी में उबाल लें, तो यवागू बन जाता है।

४४. **कांजी**—वर्त्तमान काल में साबूदाने को सब काञ्जी कहकर पहचानते हैं। यह काञ्जी ऊपर कही हुई पेया से मिलती है। साबूदाने को सोलह गुणे पानी में उबालकर उतारते समय इसमें दूध आदि पदार्थ रुचि के अनुसार डाल देने चाहियें। इसमें कुछ आदमी शक्कर डालकर पीते हैं और कुछ दूध शक्कर के स्थान में नमक डालते हैं।

४५. **कल्क**—गीली वनस्पतियों को पत्थर पर पीसकर अथवा सूखी दवाइयों का चूर्ण करके, पीछे पानी में मिलाकर, लुगदी बनाना—इसका नाम कल्क है। कल्क की मात्रा एक तोला है। यदि इसमें पानी डालना हो, तो ४ तोले डालना चाहिये; घी शहद या तेल डालना हो, तो कल्क से दुगुना डालना चाहिये और शक्कर या गुड़ डालना हो, तो कल्क के बराबर डालना चाहिये।

४६. **रस**—जिस औषधि में गन्धक और पारे का योग-मिश्रण हो, उस औषधि को "रस" कहते हैं। यथा—आनन्द-भैरव-रस, संनिपात-भैरव-रस।

४७. **भस्म**—सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, कलई, सीसा, जस्त, मण्डूर, अभ्रक आदि धातु तथा उपधातुओं को प्रथम कांजी, गोमूत्र, तेल आदि में शोधन करके पीछे भिन्न-भिन्न रीति से इनको मारा जाता है। इनको गजपुट आदि भट्ठियों में रखकर भस्म किया जाता है, जो दवाई के काम आता है।

४८. **भावना**—दवाइयों के चूर्ण को औषधियों का रस पिलाना (रस मिलाकर घोटना)—इसको भावना कहते हैं। एक बार इतना रस डालकर, जिससे कीचड़-जैसा उत्पन्न होजाय—इसको रगड़ता जाय और जब सूख जाय, तो इसे भावना कहते हैं।

४९. **गजपुट**—एक गज़ लम्बा, एक गज़ चौड़ा और एक गज़ गहरा गड्ढा खोदकर उसमें उपले भर देना यह गजपुट होता है। इस गजपुट में कपड़-मिट्टी से बन्द की हुई सम्पुटों को बीच में रखकर जला देना चाहिये। ठण्डा होने पर इन सम्पुटों को भट्टी में पकाने तक--यह एक गज-पुट हुआ।

५०. **सराव सम्पुट**—मिट्टी की दो सम्पुटों को घिसकर बराबर कर लेना चाहिये। एक सम्पुट में घुटी हुई दवाई रखकर दूसरे सरावे से उसे बन्द कर देना चाहिये। फिर कपड़-मिट्टी (चिकनी या मुलतानी) से उसको लेप देना चाहिये। इस कपड़-मिट्टी को बनाने के लिये मिट्टी में कपड़े के चीथड़े लतपत कर लेना चाहिये। इस कपड़-मिट्टी से दोनों सम्पुटों की सन्धि मिलाकर जोड़ देनी चाहिये और उन पर एक-एक परत कपड़-मिट्टी की कर देनी चाहिये, जिससे आँच से ये सम्पुट फट न जायँ।

५१—**कपड़-मिट्टी**—सराव सम्पुट को बन्द करने के लिये मिट्टी तथा कपड़े का उपयोग किया जाता है—इसको कपड़-मिट्टी कहते हैं।

५२. **दोलायन्त्र**—औषधियों को शोधन करने के लिये इस यन्त्र का उपयोग किया जाता है। जिस द्रव्य को शोधन करना हो, उसको तिहरे कपड़े में बाँधकर पोटली बनानी चाहिये। फिर एक हाँडी (मिट्टी का बर्तन)

लेकर उसमें द्रव्य—जिससे शोधन करना हो (काञ्जी, त्रिफला, क्वाथ आदि) उसको ३/४ भर देना चाहिये । इस हाँड़ी के मुख पर लकड़ी या पतली सलाई रखकर उसमें इस पोटली को लटका देना चाहिये । पोटली पानी की तह से १/२ इञ्च ऊपर रखनी चाहिये । इस हाँड़ी को अँगीठी पर रखकर उबालना चाहिये । इसकी भाप से अन्दर के द्रव्य का स्वेदन हो जाता है । इस यन्त्र को "स्वेदन-यन्त्र" कहते हैं ।

५३. **डमरूयन्त्र**—किसी वस्तु के फूल उड़ाने के लिये या पारा उड़ाने के लिये इस यन्त्र का उपयोग किया जाता है । एक हाँड़ी में फूल उड़ानेवाली वस्तु या हिंगुल बिछा देना चाहिये । इस हाँड़ी के मुख के ऊपर दूसरी हाँड़ी के मुख को ठीक तरह बिठाकर कपड़-मिट्टी से सन्धि को बन्द कर देना चाहिये । जिस हाँड़ी में वस्तु रक्खी है, उसको आग पर रख देनी चाहिये और दूसरी हाँड़ी पर ठंडे पानी की गद्दी भिगोकर रखनी चाहिये, जिससे ऊपर की हाँड़ी में लगा हुआ पारा या फूल उड़कर बाहर न जाय । ऊपर की हाँड़ी निचली हाँड़ी से ज़रा मोटी लेनी चाहिये ।

५४. **बालुका-यन्त्र**—आतशी शीशी में दवाई को रखकर पकाने के लिये इस यन्त्र का उपयोग होता है । रस-सिन्दूर, चन्द्रोदय आदि औषधियाँ बालुका-यन्त्र में तैयार होती हैं । एक चौड़ी, मोटी, गहरी हाँडी में आतशी शीशी या सराव-सम्पुट रखकर चारोंओर रेत या नमक भर देना चाहिये । शीशी का गला रेते के बाहर निकला रहना चाहिये । नियत समय तक आँच देनी चाहिये । शीशी के ऊपर सात तह कपड़-मिट्टी करनी चाहिये, जिससे शीशी न टूटे ।

५५. **पञ्चमूल**—ये मुख्य तीन हैं । यथा—१ बृहत्पंचमूल—बिल्व की छाल, अग्निमन्थ की छाल, श्योनाक की छाल, काश्मरी की छाल, बादला की छाल । २—लघु पंचमूल—शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू । इन दोनों पंचमूलों का सम्मिलित नाम दशमूल है । ३—तृण-पंचमूल—कुश की जड़, काश की जड़, ईख की जड़, दर्भ की जड़, शर की जड़ ।

अँग्रेज़ी दवाइयों का रूप

इनफ्युज़न = चाय	टिंक्चर = अर्क	ब्लिस्टर = छाला (फफोला)
एक्वा = पानी	डिकॉक्शन = काढ़ा	मिक्सचर = मिश्रण
एक्स्ट्रैक्ट = घन या सत्व	पल्वीस = चूर्ण	लाइकर = प्रवाही
एनिमा = पिचकारी	प्लास्टर = लेप	लिनीमैन्ट = तेल लगाने का
ऑलियम = तेल	पोल्टीस = लेपरी	लोशन = धोने की दवाई
ऑयंवैन्टम = प्रलेप	फोमेन्टेशन = सेंक	वाइन = आसव, शराब
इन्फैक्शन = मुरब्बा	बाथ = भाप-स्नान	

तोल और माप

दवा बनाने का माप (मागध-परिभाषा)

३ राई = १ सरसों	१६ पल = १ प्रस्थ (६४ तोला)
८ सरसों = १ जौ	४ प्रस्थ = १ आढ़क (२५६ तोला)
४ जौ = १ रत्ती	४ आढ़क = १ द्रोण (१०२४ तोला)
६ रत्ती = १ माशा	२००० पल = १ भार
४ माशा = १ शाण (½ तोला)	१०० पल = १ तुला
४ शाण = १ कर्ष (१ तोला)	१ तुला = १० सेर
४ कर्ष = १ पल	

आर्य-वैद्यक में औषधियों का निर्माण इसी माप द्वारा किया जाता है।

पीने की औषधियों का माप

(कलिंग-परिभाषा)

१२ सरसों = १ जौ	२ टाँक = १ तोला
२ जौ = १ रत्ती	४ बाल = १ आने भर
३ रत्ती = १ बाल	८ बाल = १ चवन्नी भर
३ बाल = १ माशा	१६ बाल = आधा तोला, अठन्नी भर
५ माशा = १ टाँक ; शाण	३२ बाल = १ रुपया भर
	४० रुपया = ½ सेर = १ पौंड

अँग्रेज़ी तोल-माप

सूखी हुई दवाइयों का तोल

१ ग्रेन	=	१ गेहूँ भर
२० ग्रेन	=	१ स्क्रुपल
३ स्क्रुपल	=	१ ड्राम
८ ड्राम	=	१ औंस
१२ औंस	=	१ पाउन्ड

अँग्रेज़ी दवाइयों के घरेलू माप

एक टीस्पुन फुल = १ ड्राम
एक डैजर्टस्पून फुल = २ ड्राम
एक टेबुल स्पुन फुल = ४ ड्राम
या ½ औंस
एक वाइन ग्लास फुल = २ औंस के

प्रवाही दवाइयों के माप

६० बूँद = १ ड्राम
८ ड्राम = १ औंस
१६ औंस = १ पिंट
२० औंस = १ पिन्ट
८ पिन्ट = १ गैलन के

अँग्रेज़ी माप का देशी तोल में परिवर्तन

२ ग्रेन = १ रत्ती
६ ग्रेन = १ वाल
१ औंस = २½ तोला

आयुर्वेदीय और अँग्रेज़ी माप

१ गुञ्जा = ...	१ ७/८ ग्रेन = ...
६ गुञ्जा = १ माशा	११¼ ,, = १/१६ तोला
४ माशा = १ शाण	४५ ,, = ¼
२ शाण = १ कोल	९० ,, = ½ तोला
२ कोल = १ कर्ष	१८० ,, = १ तोला
२ कर्ष = १ शुक्ति	३६० ,, = २ ,,
२ शुक्ति = १ पल	१ औंस—२८२½ ,, = ४ ,,
२ पल = १ प्रसृति	२ औंस—१२७½ ,, = ८ ,,
२ प्रसृति = १ कुडव	६ औंस—२२५ ,, = १६ ,,
२ कुडव = १ सराव	१३ औंस—७२½ ,, = ३२ ,,
२ सराव = १ प्रस्थ	१ पौन्ड—१० औंस—१४५ ,, = ६४ ,,

१०० पल	=	१ तुला	१० पौन्ड— ४ औंस—२५० ग्रैन = ४०० तोला
४ प्रस्थ	=	१ आढक	६ पौन्ड— ९ औंस—१४२$\frac{१}{२}$,, = २५६ ,,
४ आढक	=	१ द्रोण	२६ पौन्ड— ५ औंस—१३२$\frac{१}{२}$,, = १०२४ ,,
२ द्रोण	=	१ शुचा	५२ पौन्ड—१० औंस—३६५ ,, = २०४८ ,,
२००० पल	=	१ भार	२०५ पौन्ड—११ औंस—१८७$\frac{१}{२}$,, = ८००० ,,

घरेलू वज़न के अँग्रेज़ी सिक्के में माप

१ रुपया भर = १ तोला = १८० ग्रेन
०॥ ,, = $\frac{१}{२}$ तोला = ९० ,,
०। ,, = $\frac{१}{४}$ तोला = ४५ ,,
=) आनी भर = $\frac{१}{८}$ तोला = २२$\frac{१}{२}$,,
ताँबे का एक पैसा = १०० ,,

आयु के अनुसार दवाइयों की मात्रा

देशी मात्रा

पूर्ण युवा मनुष्य के लिये पूर्ण मात्रा का प्रमाण १ भाग मानकर—

१—३ मास के	बालक के लिये	पूर्ण मात्रा का	$\frac{१}{३६}$	भाग
३—६ ,,	,,	,,	$\frac{१}{२४}$	भाग
६—१२ ,,	,,	,,	$\frac{१}{१८}$	भाग
१—२ वर्ष के	,,	,,	$\frac{१}{१२}$	भाग
२—३ ,,	,,	,,	$\frac{१}{८}$	भाग
३—४ ,,	,,	,,	$\frac{१}{४}$	भाग
४—७ ,,	,,	,,	$\frac{१}{३}$	भाग
७—१४ ,,	,,	,,	$\frac{१}{२}$	भाग
१२—२१ ,,	,,	,,	$\frac{२}{३}$	भाग
२१—६० ,,	,,	पूर्ण युवा की पूर्ण मात्रा		

एक मास के बालक के लिये वायविडंग १ दाने जितनी तोल की दवा देनी चाहिये। इसी प्रकार दो महीने के बालक को दो दाने जितनी मात्रा देना चाहिये। इसी तरह प्रत्येक मास के बढ़ने के साथ एक-एक दाना

वायविडङ्ग के तोल को बढ़ाते जाना चाहिये। बारह मास के बालक के लिये बारह दाने जितनी मात्रा करनी चाहिये। जिस प्रकार बच्चे की मात्रा बढ़ानी चाहिये, उसी प्रकार ६९ वर्ष की आयु के पीछे मात्रा घटानी चाहिये। मात्रा धीरे-धीरे घटानी चाहिये। अर्थात् ६० वर्ष तक पूर्ण मात्रा रखनी चाहिये और फिर सात-सात वर्ष के पीछे मात्रा को कम करते जाना चाहिये। भस्मों तथा रसायनों की मात्रा १ राई से अधिक से अधिक दो बाल तक होनी चाहिये।

अँग्रेज़ी मात्रा

आयु		अधिक से अधिक भार एक औन्स	अधिक से अधिक भार एक ड्राम	अधिक से अधिक भार एक स्क्रुपल
१-६	मास	२४ ग्रेन	३ ग्रेन	१ ग्रेन
६-१२	,,	२ स्क्रुपल	५ ग्रेन	१$\frac{1}{2}$ ग्रेन
१-२	वर्ष	१ ड्राम	८ ग्रेन	२$\frac{1}{2}$ ग्रेन
२-३	,,	१$\frac{1}{4}$ ड्राम	९ ग्रेन	३ ग्रेन
३-५	,,	१$\frac{1}{2}$ ड्राम	१२ ग्रेन	४ ग्रेन
५-७	,,	२ ड्राम	१५ ग्रेन	५ ग्रेन
७-१०	,,	३ ड्राम	२० ग्रेन	७ ग्रेन
१०-१२	,,	$\frac{1}{2}$ औन्स	$\frac{1}{2}$ ड्राम	$\frac{1}{2}$ स्क्रुपल
१२-१५	,,	५ ड्राम	४० ग्रेन	१४ ग्रेन
१५-२०	,,	६ ड्राम	४५ ग्रेन	१६ ग्रेन
२०-२१	,,	१ औन्स	१ ड्राम	१ स्क्रुपल = २० ग्रेन

१२ वर्ष से कम व्यक्ति के आयुवाले बच्चों की मात्रा, युवाओं की मात्रा से निम्न प्रकार जानी जा सकती है। यथा—

१ वर्ष के बच्चे के लिये दवाई की मात्रा $= \frac{१}{१+१२} = \frac{1}{13}$ एक युवा की मात्रा का $\frac{1}{13}$ वाँ भाग—

४ वर्ष के बच्चे के लिये दवाई की मात्रा = $\frac{४}{४+१२}$ = $\frac{१}{४}$ एक युवा की मात्रा का $\frac{१}{४}$ वाँ भाग—

८ वर्ष के बच्चे के लिये दवाई की मात्रा = $\frac{८}{८+१२}$ = $\frac{२}{५}$ एक युवा की मात्रा का $\frac{२}{५}$ वाँ भाग—

अर्थात्—१२ में सालों को जोड़ लें और सालों को ऊपर रखकर देख लें।

बारह से सोलह वर्ष के लिये $\frac{१}{२}$ से $\frac{२}{३}$ और १७ से २० के लिये $\frac{२}{३}$ से $\frac{४}{५}$ अनुपात होना है। ६० वर्ष के पीछे मात्रा फिर घटनी आरम्भ हो जाती है।

औषधियों के प्रतिनिधि

कई बार सम्पूर्ण दवाइयाँ नहीं मिलतीं, इसलिये उनके स्थान पर अन्य दवाइयाँ डाली जाती हैं। किस दवाई के स्थान पर कौन-सी दवाई देनी चाहिये, यह नीचे दिये कोष्टक से पता लग सकता है।

अतिविषा—नागरमोथा
अभ्रक सत्त्व—कान्त लोह
अम्लवेतस—चने का क्षार
अष्टमूत्र—गोमूत्र
आक का दूध—मदार के पत्तों का पानी
उपलसरी (कूट)—कपूर कचरी
बड़ी कटेरी—छोटी कटेरी
ऋद्धि-वृद्धि—वराही कन्द, महाबला
कपूर—नागरमोथा, चन्दन, रक्तचन्दन
कंकोल—जूही का फूल, इलायची, जावित्री
कस्तूरी—जावित्री, कबाबचीनी

काला जीरा—जीरा श्वेत
काकोली—अश्वगन्धा
क्षीर काकोली—शतावरी
काला कमल—(कुमुद) रात्रि में खिलनेवाला कमल
काञ्जी—नीबू का रस (अम्ल)
कान्त लोह—गजवेल
केसर—टेसू का ताजा फूल
कत्था—कड़वे नीबू की छाल
गजपीपल—पीपरामूल
शीतलचीनी—जावित्री, जूही का फूल
चव्य—पीपरामूल, गजपीपल
नूखला—लवँग

पित्त—अहर कुचला
पीपल—मिर्च काली
पुष्कर मूल—कूट
बकरी का दूध—गाय का दूध
बकुल—कल्हार, कमल
भारंगी—कटेरी का मूल
भिलावाँ—सर्दी के लिये रतांजलि, गर्मी के लिये चित्रक मूल
काली मिर्च—लवँग
हीरा—वैक्रान्तमणी
क्षार—(कोई भी क्षार) चिर-चिटे का क्षार
मधु—पुराना गुड़
मयूरशिखा—हरड़
मसूर—उड़द
मेद· महामेदा —शतावरी
मोती—मोती की सीप
मोरवेल—दालचीनी, मजीठ
रतांजलि—बाला
रसवन्ती—(रसाञ्जन) दारुहरिद्रा
रींगणी—कड़वा नीबू
चन्दन—बाला, कपूर, रक्त चन्दन
चित्रक—दन्तीमूल· अपामार्ग की जड़
जवासा—धमासा
जावित्री—लवँग
जीरा—धनिया
जीवक—ऋषभक-विदारी कन्द
जेठीमधु—धाय के फूल
तगर—कूठ
दाड़िम—आँवला
दारुहरिद्रा—हल्दी
दन्तीमूल—पाठा
दूध—मूँग का यूष
द्राक्षा—सेमल का फूल, खजूर, महुवे का फूल
धाय के फूल—महुवा का फूल
नागकेसर—कमल का केसर
चाँदी—रौप्य माक्षिक, कान्त लोह
लक्ष्मणा—मयूरशिखा
वज्र मोरवेल, कुलिञ्जन, कठ
बाला—मोथा
शिलाजीत—सुराखार, शोरा (मूत्रल गुण के लिये)
गन्ना—वरू
संचल—नमक
शक्कर—पुराना गुड़, पुराना शहद
सोंठ—आर्द्रक
स्वर्ण—स्वर्ण माक्षिक भस्म
स्वर्ण माक्षिक भस्म—सोना गेरू-लोह
सोरठी माटी—(सौराष्ट्री) फिटकिरी
हरड़—आँवला
छोटी हरड़—आँवला

जब एक वस्तु मिल न सके, तब उसके स्थान पर दूसरा प्रतिनिधि द्रव्य उपयोग किया जाता है। इस प्रतिनिधि द्रव्य के गुण तथा प्रभाव वास्तविक द्रव्य से बहुत कुछ मिलते हैं। परन्तु मुख्य औषध के स्थान में उसका प्रति-

निधि काम नहीं दे सकता। उदाहरण के लिये "हींग्वाष्टक" में हींग का प्रतिनिधि काम नहीं दे सकता; क्योंकि इसमें हींग मुख्य है। पीपल के स्थान में पीपला मूल काम दे सकता है।

खैर आदि वृक्षों का सार (गर्भ) लेना चाहिये। नीम आदि वृक्षों की छाल, दाड़िम आदि वृक्षों का फल, जूही आदि वृक्षों का फूल, पर्पटक आदि का पत्ता लेना चाहिये। जिस औषधि में "मूल" लिखा हो, उसमें यदि वृक्ष की जड़ मोटी हो, तो उस जड़ को छाल लेनी चाहिये; छोटी हो, तो सम्पूर्ण जड़ लेनी चाहिये। जो वनस्पति छोटी हो, तो उसका पंचांग लेना चाहिये। इस प्रकार से वृहत्पञ्चमूल में सब वृक्षों की छाल और लघु पंच-मूल में सब का पंचांग लेना चाहिये।

आर्य-वैद्यक में रसादि धातुओं को बरतने से पहले, उनका शोधन, मारण करना आवश्यक होता है। शोधन करने से वस्तु के बहुत-से दोष धुल जाते हैं; क्योंकि जो पदार्थ बाज़ार में मिलता है, वह सीधा खान से निकला होता है। उसमें बहुत-सी अशुद्धियाँ मिली रहती हैं। वे अशुद्धियाँ शरीर के लिये हानिकारक होती हैं। इसके अतिरिक्त कई औषधियाँ, जो आधुनिक रासायनिक विधि से साफ़ की जाती हैं, अत्यधिक विशुद्ध होने से शरीर के लिये अयोग्य समझी जाती हैं। अतः शरीर के लिये धातुओं को योग्य बनाने के लिये आर्य-चिकित्सा में भिन्न-भिन्न विधियाँ दे रक्खी हैं। इन विधियों से औषधि शुद्ध होने पर मल-रहित हो जाती है। उदाहरण के लिये जो पारा बाज़ार में मिलता है, उसके अन्दर सीसा, वङ्ग आदि धातु मिले होते हैं। इन मलिनताओं को शास्त्र ने "कञ्चुक" रूप से कहा है। पारे को इनसे पृथक् करना आवश्यक है। इसलिये संक्षेप में, परन्तु उपयोगी शोधन-विधि दी जाती है।

धातु-उपधातु आदि कई औषधियों की शोधन-विधि उनके प्रकरण में यथास्थान दी जायगी। इसलिये यहाँ पर उनका वर्णन नहीं किया गया।

पारा—पारे को शुद्ध करने की कई विधियाँ हैं। पारा दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। १—पारा—पारे के रूप में बाज़ार में मिलता है, २—शिंगरफ़ से पारा निकाला जाय। शिंगरफ़ भी दो प्रकार का होता है—एक जो पारा गन्धक तथा और वस्तुओं से मिलाकर सूरत आदि स्थानों में बनाया जाता है। दूसरा शिंगरफ़ वह है जो खानों से निकलता है। प्रायः

बाजार में पहले प्रकार ही का शिङ्गरफ मिलता है और लोग इसीसे पारा बनाते हैं, या और चीजों में काम लाते हैं। यह बाजारू शिंगरफ प्रायः अशुद्ध रहता है और इसका पारा भी सर्वोत्तम नहीं होता। हाँ, बाजारू पारे से फिर भी अच्छा रहता है; क्योंकि इसका ऊर्ध्व-पातन हो जाता है। जिस प्रकार भपके में अर्क खींचने से या उड़ाने से पानी बाष्प के रूप में बनकर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार यह पारा भी शुद्ध हो जाता है।

हिंगुल से पारा निकालने के लिये हिंगुल को खरल में बहुत बारीक पीसकर तीन-चार दिन तक बिजौरे नींबू के रस में रगड़ना चाहिये। इस अम्ल के कारण हिंगुल के कण टूट-टूटकर अलग-अलग हो जायँगे। उसकी चमक कुछ कम हो जायगी। जब बहुत बारीक हो जाय, तब इस हिंगुल को डमरूयंत्र में रखकर ऊर्ध्व-पातन कर लेना चाहिये। ऊपर की हाँड़ी ठण्डी रखनी चाहिये, जिससे पारा वहाँ आकर जम जाय। जब समझे कि पारा निकल चुका है, तो डमरूयंत्र को ठण्डा होने दे। पीछे ऊपर की हाँड़ी में लगी हुई काली या सफेद रज-कणों को रुई के फोये से रगड़ता जाय। जब इसमें पानी डाला जायगा, तो सारा पारा एक बन जायगा। और यदि समझे कि नीचे की हाँड़ी में अभी पारा रह गया है, तो दुबारा फिर उड़ा लेना चाहिये। इस प्रकार से निकाला हुआ पारा प्रायः शुद्ध होता है।

दूसरी विधि यह है कि बाजार से पारा लेकर उसको खरल में डाल दे। साथ में लाल पक्की ईंट के चने के बराबर छोटे-छोटे टुकड़े भी डाल देना चाहिये। फिर इसको बिजौरे नीबू के रस में (रस के अभाव में टार्टरिक एसिड के घोल से) एक दिन बराबर रगड़े। फिर पानी से धोकर दूसरे दिन फिर रगड़े। इस प्रकार तोन दिन रगड़ता जाय। इसके पीछे प्याज के रस (लहसुन के रस से अच्छा है) से इसको रगड़े। फिर ईंटों को निकालकर फेंकदे। इसमें अब उनको छोटे-छोटे करके मिलाकर रगड़ता जाय। यदि मिल सके, तो चीते की भूल के काढ़े से रगड़ दे। और फिर घीकार के रस से रगड़ता जाय। अन्त में धोकर साफ कर ले। अब इस पारे की कान्ति उज्ज्वल हो जायगी। यह पारा औषधि आदि के उपयोग में काम आ सकता है। परन्तु यदि इस पारे से मकरध्वज आदि कोई रस-धातु का जारण करके [illegible]ा हो, तो इसकी तीक्ष्णता बढ़ाने के लिये इसको तीक्ष्ण बनाना पड़ता है। इसके लिये पाँचो नमक (सैन्धव, साम्भर, कालानमक, विड्लवण,

उद्भिद), राई, (तुत्थ-नीलाथोथा) और विष कुचला आदि से रगड़ना चाहिये। इस प्रकार से रगड़कर और धोने से, पारा उज्ज्वल और तीक्ष्ण हो जाता है। इस प्रकार से साफ़ किया पारा धातु-उपधातु को शीघ्र भस्म कर लेगा।

गन्धक—बाज़ार में मिलनेवाली गन्धक भी प्रायः अशुद्ध रहती है। इसको भी शुद्ध करना आवश्यक है। इसकी शुद्धि घी और दूध में होती है। इस शुद्धि के लिये एक लोहे की कड़छी में घी लेकर उसमें आँवलासार गन्धक का चूर्ण डालकर पिघलाना चाहिये। जब यह पिघल जाय, तब एक बर्त्तन में दूध गाय का, या भैंस का, लेकर उसपर बारीक कपड़ा बाँध देना चाहिये। इस पिघली गन्धक को उस कपड़े से छान लेना चाहिये। इससे मैल कपड़े के ऊपर रह जायगी और गन्धक नीचे दूध में जाकर बैठ जायगी। इस प्रकार दो-तीन बार करने से गन्धक शुद्ध हो जायगी। यदि गन्धक को बहुत अधिक राशि में एक बार शुद्ध करना हो, तो एक बर्त्तन में दूध लेकर उसके मुँह पर बारीक कपड़ा बाँध देना चाहिये। और बर्त्तन के किनारों पर मिट्टी लगाकर उनको ऊँचा उठा देना चाहिये। इस कपड़े पर गन्धक का बारीक चूर्ण बिछा देना चाहिये और किनारों को इतना ऊँचा करना चाहिये कि वे गन्धक के उपरले पृष्ठ से ऊँचे रहें। फिर इन किनारों पर लोहे का पत्तर रखकर, उसमें जलते कोयले रख देना चाहिये। इससे गरमी पाकर गन्धक पिघलेगी और वह कपड़े में से छनकर दूध में जा गिरेगी। इससे गन्धक का शोधन हो जाता है।

गन्धक बाजार में तीन-चार प्रकार की मिलती हैं। इनमें आँवला-सार गन्धक सब प्रकार से काम आने योग्य है। दोनों विधियों में आवश्यक है कि ताप इतना ही दिया जाय, जिससे गन्धक का कुदरती रंग ज़रा भी न बदले। अधिक गरम करने से गन्धक लाल या काली हो जाती है और इसका गुण बदल जाता है।

हींगुल—हींगुल को खरल में पीसकर उसको सात बार आर्द्रक के रस से अथवा लकुच के रस से या भेड़ के दूध से अथवा नीबू के रस से सात बार रगड़ने से शुद्ध हो जाता है।

मनःसिला—मनसिल को बारीक पीसकर चूने के पानी में तीन दिन

रखने से मनःसिल का शोधन हो जाता है । अथवा भाँगरे के रस में दोलायंत्र से पचाने पर अथवा आर्द्रक-रस से सात बार रगड़ने पर, या अगस्ति-पत्र-रस से सात बार भावना देने से शोधन हो जाता है।

हरताल—हरताल का चूर्ण करके इसको पोटली में बाँधकर पेठे के रस में दोलायंत्र की विधि से पाक करे। अथवा दो याम तक त्रिफला के पानी में, या तिल-क्षार जल में पाचन करे। अथवा हरताल के चूर्ण को सात बार चूने के पानी की भावना देनी चाहिये।

सोमल—सोमल के चूर्ण को दोलकायंत्र द्वारा मेघनाद के स्वरस में पकाये। अथवा क्षार जल में दोलायंत्र से पाक करना चाहिये। चौलाई के पानी में या करेले के पानी में भी पकाने से शुद्ध हो जाता है।

बछनाग—बछनाग के टुकड़े करके, इनको मिट्टी के बर्त्तन में रखकर, गोमूत्र भरकर, धूप में रख दे। इस प्रकार तीन दिन तर्क बराबर करे। प्रतिदिन नया गोमूत्र डालना चाहिये। अथवा गोमूत्र में दोलिकायंत्र से पाक करे। इसी प्रकार बकरी के दूध से शोधन किया जा सकता है।

कुचला—कुचले को गोमूत्र में दोलयिकायंत्र से पाक करने से शोधन होता है। अथवा तवे पर घी डालकर मन्दाग्नि से इनको भूनना चाहिये, जिससे ऊपर का छिलका भूरा-सा हो जाय।

अफीम—आर्द्रक के रस से भावना देने पर अफीम शुद्ध हो जाती है।

जमालगोटा—जमालगोटे की गिरी निकालकर इनको पोटली में बाँधकर तीन दिन तक भैंस के गोबर में रख देना चाहिये। फिर चौथे दिन छाछ में उबालकर गरम पानी से धोना चाहिये। फिर इनके टुकड़े करके बीच में से जीभ निकाल देनी चाहिये। इस जमालगोटे को नीबू के रस में या गरम पानी में पीसकर मिट्टी की नई हाँड़ियों के ऊपर लेप करके धूप में रख देना चाहिये। और जब लेप में तेल का अंश निकल जाय, उस समय उसको काम में लाना चाहिये। अथवा जमालगोटा को गोदुग्ध में उबालकर मिट्टी की हाँड़ियों पर लेप करना चाहिये। इसका तेल बहुत नुकसानकारक है, अतः उससे बचाना चाहिये। हाथों को ख़ूब धोकर तब मुँह या आँख पर लगाना चाहिये।

खपरिया—गोमूत्र में सात दिन तक भिगोकर रखने से अथवा दोलायंत्र में पकाने से खर्पर का शोधन हो जाता है।

धत्तूरे के बीज—गोदूध में दोलिकायंत्र द्वारा बीजों को पकाकर गरम पानी से धोना चाहिये। अथवा बीजों को गोमूत्र में दोलिकायंत्र से उबालकर खरल में ख़ूब पीसना चाहिये। और फिर वस्त्र में से छानकर काम में लाना चाहिये।

भाँग—भाँग के पत्तों को सुखाकर, पानी में धोकर, निचोड़ लेना चाहिये। और फिर इनको मन्दाग्नि से गोघृत में भूनना चाहिये। जब ख़ूब भुन जाय, तब काम में लेना चाहिये। अथवा सूखी भाँग को लेकर बबूल की छाल के क्वाथ से स्वेदन करना चाहिये। जब ख़ूब स्विन्न हो जाय, तब धूप में सुखाकर काम में लाना चाहिये।

गुञ्जा-रत्ती—नई रत्तियों को लेकर उनका चूर्ण बना लेना चाहिये। फिर दुहरे वस्त्र में बाँधकर गोमूत्र में या गोदुग्ध में दोलिकायंत्र द्वारा पचाना चाहिये अथवा काञ्जी के अन्दर दोलायंत्र से पकाना चाहिये।

भिलावाँ—भिलावे को प्रथम ईंटों के साथ मोटा कूटकर भैंस के गोबर में सात दिन तक रख देना चाहिये। फिर उसमें से निकालकर नारियल के पानी में पकाना चाहिये और फिर इनको दूध में पकाना चाहिये और जब पकते-पकते दूध गाढ़ा हो जाय, तब दही जमा देना चाहिये। इस दही में सात दिन तक रक्खे रहने देना चाहिये और फिर गरम पानी में धोकर काम में लाना चाहिये। दूध में डालने से पूर्व इनकी टोपी काट डालनी चाहिये।

कनेर—कनेर की जड़ को २४ घण्टे गोमूत्र में उबालने से शुद्ध हो जाता है।

शिलाजीत—गोदूध, त्रिफला, गोमूत्र में क्रमशः उबालकर धूप में सुखाने से शुद्ध हो जाता है।

टंकण क्षार—आग पर गरम करने से, जब फूलकर नरम हो जाय, तब काम में लाना चाहिये।

समुद्रफेन—नींबू के रस में रगड़ने से शुद्ध हो जाता है।

सुराखार—बाजारू शोरे को लेकर उसे पानी में घोलकर कड़ाही

मे चढ़ा देना चाहिये और खूब [illegible] करना चाहिये। जब सब पानी उड़ जाय, तो तेज आँच कर देनी चाहिये। [illegible] बिल्कुल सूख जाय, उस समय काम में लाना चाहिये।

मोरथुथु—तुत्थ को नींबू के रस में सात बार भावना देने से, या दोलायंत्र द्वारा गोमूत्र मे उबालने से तुत्थ शुद्ध हो जाता है अथवा तुत्थ के समान कपोत-विष्ठा लेकर इन दोनों को [illegible] कौड़ियों में भरकर, कपड़-मिट्टी करके उपलों की आग मे फूंकना चाहिये। ठण्डे होने पर काम में लाना चाहिये।

सुरमा—सुरमे के पत्थर को चूर्ण करके, उसको नीबू के रस की ३ भावना देने से शुद्ध हो जाता है।

गुग्गुल—अच्छा, बड़ा [illegible] लेकर कपड़े में बाँधकर, त्रिफला में पकाने से गुग्गुल का शोधन हो [illegible]। यदि गुग्गुल में बहुत कचरा हो, तो इसको त्रिफला-क्वाथ मे अग्नि [illegible] यता से घोल लेना चाहिये और फिर नितारकर अलग गरम करना [illegible] जब गाढ़ा हो जाय, तब काम में लाना चाहिये। अच्छा गुग्गुल घ[illegible] पश्चात् है।

एरण्ड बीज—एरण्ड की [illegible] नारियल के पानी में तीन घंटे दोला-यंत्र में पकाने से शोधन हो जाता [illegible]

लहसुन—लहसुन को छीलकर [illegible] अलग-अलग करके, छाछ में तीन दिन या रातभर रखने से उस[illegible] और [illegible]ता घट जाती है।

हींग—घी में भूनने से शुद्ध हो जाती है।

शंख—बिजौरे नीबू के रस में दोलायंत्र [illegible] से पचाने से अथवा जयन्ती के स्वरस मे दोलायंत्र से शंख का शोधन हो जाता है।

सीप—जयन्ती के स्वरस में दोलायंत्र [illegible] का शोधन होता है।

कौड़ी—काँजी के अन्दर या कुल[illegible] मे दोला-यंत्र विधि से पकाने पर कौड़ी का शोधन होता है।

कुछ पारिभाषिक शब्द

पारिभाषिक शब्दों का विवरण नीचे दिया जाता है। ये शब्द इस ग्रंथ में स्थान-स्थान पर आयेंगे, यथा—

त्रिफला—हरड़, बहेड़ा और आँवला। प्रत्येक समान भाग, या हरड़ तीन भाग, आँवला दो भाग और बहेड़ा एक भाग।

त्रिकटु—सोंठ, काली मिर्च और छोटी पिप्पली।

त्रिजातक—दालचीनी, इलायची और तेजपत्र। त्रिजातक में नाग-केशर मिलाने से चतुर्जातक बन जाता है।

पंचकोल—पिप्पली, पिपपड़ीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ। इसमे काली मिर्च मिलाने से षड्डूषण हो जाता है—

वेशवार—बिना हड्डी का मांस, पिपली, काली मिर्च, धनिया, जीरक के साथ पीसने से वेशवार बनता है।

पञ्चामृत—गोक्षीर, गोघृत, गोदधि, मधु और शर्करा।

क्षीरी वृक्ष—वट, गूलर, पीपल।

पंचवल्कल—पिलखन, पीपल, जामुन, वट, अम्लवेतस।

आवश्यक सूचनायें

औषधियों को प्राप्त करने, साफ़ करने, बनाने, रोगी को देने के विषय में कुछ आवश्यक संकेत

१—सब प्रकार की वनस्पतियों के संग्रह करने का उत्तम समय आश्विन और कार्त्तिक मास है। इस समय सब वनस्पतियों के अन्दर रस का परिपाक भली प्रकार होता है। परन्तु रेचक तथा वमनकारक औषधियों का संग्रह वैशाख मास में, वसन्त-ऋतु उतरने के पीछे करना चाहिये।

२—गीली, सड़ी, पानी में भीगी, कीड़ों से खाई, श्मशान या गन्दे स्थानों पर उत्पन्न, अपक, चौराहे पर उत्पन्न, अग्नि में जली हुई, बर्फ के गिरने से मुरझाई हुई वनस्पति का उपयोग दवाई बनाने में नहीं करना चाहिये।

३—औषधि लेने के लिये प्रातःकाल उठकर शुभ दिवस में वन को जाना चाहिये। वहाँ पर पहुँचकर वनस्पति का नाम लेकर उसको बुलाना

चाहिये, उसका पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् उसको लेने आने का अभिप्राय सुनाना चाहिये कि मैं अमुक कार्य के लिये—रोगी की हित-कामना के लिये—तेरा आरोहण करता हूँ। वनस्पति लेने का समय प्रायः प्रातःकाल सूर्योदय का है; क्योंकि इस समय पृथ्वी के सब चर-अचर प्राणी जाग जाते हैं, वनस्पतियाँ भी जाग जाती हैं। रात को सोते समय उनको उखाड़ना, तोड़ना, उनको जगाना है। वनस्पति या वृक्ष में उत्तर दिशा की ओर की चीजें लेनी चाहियें; क्योंकि सम्पूर्ण वृक्ष में इस ओर की शाखायें या मूल अधिक परिपक्व होती हैं।

४—सब औषधियाँ ताजी और नूतन ही काम में लानी चाहियें; परन्तु वायविडङ्ग, छोटी पीपल, गुड़, धनिया, शहद तथा घी—ये वस्तुयें पुरानी बरतनी चाहिये। घी जितना पुराना होगा, उतना ही प्रलेपों के लिये उत्तम है। पुराना घृत अन्तः-उपयोग के लिये उतना अच्छा नहीं, जितना वाह्य उपयोग के लिये है। यही पुराना घृत प्लेग की गिल्टी पर लगाने के लिये अद्भुत औषधि है। एक वर्ष के पीछे औषधियाँ गुणरहित तथा पुरानी हो जाती हैं।

५—गिलोय, कूड़े की छाल, बाँस के पत्ते, बिदारी, शतावरी, असगन्ध, सौंफ, प्रसारणी और कुरण्टक—ये वस्तुयें जहाँ तक ताजी और गीली मिलें, वहाँ तक इनका ही उपयोग करना चाहिये और इनका उ[illegible] कभी भी द्विगुण मात्रा में करने की आवश्यकता नहीं। इनके सिवा [illegible] वनस्पतियाँ सूखी काम में लानी चाहियें और यदि सूखी न मिलें, [illegible] लेकर द्विगुण मात्रा डालनी चाहिये।

६—यदि मोटे पुष्ट वृक्ष की मूल बहुत मोटी हो, तो उसकी मूल [illegible] स्थान पर मूल की छाल का उपयोग कर लेना चाहिये। यदि वृक्ष बहुत छोटा हो, तो सम्पूर्ण वृक्ष की जड़ का उपयोग करना चाहिये।

७—किसी प्रयोग में बहुत-सी दवाइयों का उपयोग होता हो, यदि उसमें कोई एक दवाई न मिले अथवा रोगी की प्रकृति के अनुसार प्रयोग की कोई एक या दो दवाई अनुकूल न हो, तो उनके स्थान पर उसका प्रतिनि[illegible] अथवा उसके समान गुणवाली दूसरी दवाई या रोगी और [illegible] के अनु[illegible] दूसरी औषधि डाल देनी चाहिये। परन्तु दवाई के ब[illegible] प्रकृति के अनुकूल करने की योग्यता रखनेवाले वैद्य [illegible]

का अधिकार "चरकाचार्य" ने दिया है। दूसरे को चाहिये कि वह शास्त्र के अनुसार ही कार्य करे।

८—यदि किसी प्रयोग में यह न लिखा हो कि वस्तु का क्या भाग लिया जाय, वहाँ बड़े वृक्षों को छाल और छोटी वनस्पतियों का पञ्चाङ्ग लेना चाहिये।

९—गीली वनस्पतियाँ यदि सुखानी हों, तो उनको छाया में सुखाना चाहिये, कड़कड़ाती धूप में नहीं।

१०—दवाइयों को शुष्क कराके, उनको शीशी या पीपे में ढककर रखना चाहिये, जिससे इनमें मिट्टी, धूल, धूप, पानी, हवा न जाय। इनमें जन्तु लगने से बचाना चाहिये। चौमासे में इनको समय-समय पर धूप देनी चाहिये।

११—यदि औषधि-प्रयोग में दवाइयों का तोल न दिया हो, तो सब चीजें परस्पर समान लेनी चाहियें।

१२—जिस स्थान पर यह न लिखा हो कि गोली क्वाथ किस पदार्थ में बनाये जायँ, वहाँ पानी समझना चाहिये।

१३—औषधि के लिये जंगल से लाई हुई वनस्पतियाँ यदि छाया में सुखाकर उचित साधनों से रक्खी जायँ, तो ये द्रव्य एक साल तक ...त रह सकते हैं। दवाइयों का चूर्ण काग लगे बोतलों में रखने पर दो ...र तक सुरक्षित रक्खा जा सकता है। औषधियों से संस्कृत घी या तैल ...स तक, गोली तथा अवलेह एक साल तक काम में लाये जा सकते ... इसके पीछे उनका गुण घटने लगता है। रसायन, भस्म, धातु, उपधातु, ...सव और अरिष्ट, जितने अधिक पुराने होंगे, उतने ही अधिक उपयोगी और लाभकारी होंगे। इसलिये इनको एक बार बड़े भारी जत्थे में बना लेना चाहिये; क्योंकि मेहनत एक समान पड़ती है। अधिक राशि में बनाने से भी वही मेहनत होगी और कम राशि में भी वही।

१४—जिस समय उबालने के लिए किसी पात्र का विधान न लिखा ... उस समय मिट्टी का पात्र बरतना चाहिये। क्वाथ करने के लिए मिट्टी बर्तन ...गी होता है।

... समय दवाई की "मात्रा" न बताई हो, केवल "मात्रा" ...र एक टंक की मात्रा समझनी चाहिए।

१६—औषधि लेने का समय प्रायः सब रोगों में एक समान रहता है। यथा—प्रातः और सायं। किसीमें प्रातः, मध्याह्न और सायं अथवा दो-दो या तीन-तीन अथवा चार-चार घंटे के अन्तर से दी जाती है। परन्तु आर्य-वैद्यक में कई रोगों के लिए औषधि देने का समय विशेष रूप से बताया गया है।

(१) पित्त तथा कफ के विशेष उपद्रव हों, तो पित्त को विरेचन द्वारा और कफ को वमन से निकालने के लिये औषधि प्रातःकाल देनी चाहिए। औषधि का प्रभाव जबतक न हो जाय, तबतक भोजन नहीं करना चाहिये।

(२) वायु का अनुलोमन करना हो, तो औषधि रात्रि को सोते समय देनी चाहिये।

(३) गुदा में वायु रहती हो अथवा गुदा में दर्द हो, तो भोजन से ठीक पहले दवा खानी चाहिए। भोजन करने के पश्चात् अरुचि हो, तो रुचिकारक अनुपानों के साथ औषधि लेनी चाहिये। यदि वायु विकृत हो अथवा पाचनाग्नि मन्द पड़ी हो, तो औषधि भोजन के बीच में लेनी चाहिये। यह औषधि स्वादिष्ट, रुचिकारक होनी चाहिये। यदि सारे शरीर में वायु का कोप हो, तो तुरन्त भोजन के उपरान्त औषधि लेनी चाहिए। उल्टी, आक्षेप-वायु और कम्पवायु में भोजन करने से पूर्व और भोजन करने के पीछे औषधि लेनी चाहिये।

(४) उदानवायु—कण्ठ की वायु के कुपित होने से जब स्वर बैठ गया हो, तो औषधि को ग्रास के साथ-साथ देनी चाहिये। हृदय के अन्दर की प्राण-वायु कुपित होने पर भोजन के पीछे दवाई देनी चाहिये।

(५) प्यास, उल्टी, हिचकी और श्वास आदि रोगों में तथा विष पी जाने पर औषधि बार-बार अन्न के साथ देनी चाहिये।

(६) जत्रु (हँसली) से ऊपर रोगों में—कान, नाक, मुँह, आँख आदि के विकारों में रोगी को शान्त रखनेवाली औषधि रात्रि में सोते समय देनी चाहिये और रात्रि को भोजन नहीं करना चाहिये।

१७--दवाई देने की जो मात्रा ग्रन्थ में बताई है, वह स्वस्थ युवा मनुष्य के लिये बताई है। इसलिये निर्बल या बलवान मनुष्य की शक्ति का विचार करके, रोग-दोष की स्थिति को देखकर, मात्रा का निश्चय करना चाहिये। मात्रा में ऋतु-काल, देश आदि का भी ध्यान रखना चाहिये। देहाती आदमी के लिये नागरिक व्यक्ति की अपेक्षा बलवान विरेचन चाहिये।

१८—यथासम्भव बालकों को विषयुक्त दवाई नहीं देनी चाहिये। चार मास से छोटे बच्चे को तो देनी ही नहीं चाहिये। विशेषतः छोटे बच्चों को अफीम तो कभी देनी ही नहीं चाहिये--जैसा मातायें या दाइयाँ बच्चे को सुलाने के लिये दे देती हैं। यदि कभी देनी हो, तो चिकित्सक या वैद्य की अनुमति से इसका उपयोग करना चाहिये।

१९—बालक को बहुत तीखी या नशा करनेवाली दवाइयाँ कभी भी नहीं देनी चाहिये।

२०—गर्भिणी या दूध पिलानेवाली माता को तीव्र विरेचक या दूध के रास्ते स्तनों से निकलनेवाली औषधि अथवा गर्भ के लिये हानिकारक औषधि कभी भी नहीं देनी चाहिये।

२१—पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों की औषधि-मात्रा न्यून होती है।

२२—युवा मनुष्य की अपेक्षा बच्चे और बालक को औषधि जल्दी प्रभाव करती है। पारेवाली औषधियाँ बच्चे सुगमता से जितनी अधिक मात्रा में ले सकते हैं, उतनी मात्रा में युवा व्यक्ति नहीं ले सकते।

प्रकरण नवाँ

अनुपान

जिस प्रकार तैल पानी के ऊपर फैल जाता है, उसी प्रकार औषधि भी अनुपान के बल से सारे शरीर में फैल जाती है। इसके अतिरिक्त अनुपान के योग से दवाई का स्वाद सुधारा जा सकता है, उसकी क्रिया-शक्ति बढ़ाई जा सकती है और रोग को या दर्द को शीघ्र शान्त कर सकते हैं।

किसी चूर्ण, गोली अथवा भस्म की पुड़िया को जिस वस्तु के साथ इसलिये मिलाते हैं कि वह शरीर के अन्दर सुगमता से जा सके और अपना असर कर सके, उसीको "अनुपान" या त्रिकल कहते हैं। अनुपान शब्द का अर्थ "दवा खाकर ऊपर से कुछ पीना" है। देशी वैद्यक-शास्त्र में अनुपान का बहुत महत्व है। एकही दवा अनुपान-भेद से भिन्न-भिन्न रोगों में कार्य्य करती है। उदाहरण के लिये "मकरध्वज" अनुपान-भेद से सभी रोगों में चमत्कारिक प्रभाव रखता है। इतना ही नहीं, कई बार युक्ति से सोचा हुआ अनुपान असाध्य रोगों को भी साध्य कर देता है।

अनुपान का महत्व बङ्गाल के अन्दर विशेषरूप से गिना जाता है। अनुपान की योजना के ऊपर ही चिकित्सक की बुद्धि-वैलक्षण दीखता है। ज्वर आदि रोगों मे दिया हुआ 'मृत्युञ्जय-रस' अथवा 'आनन्द-भैरव' रस अतिसार के अन्दर भी अनुपान-बल से कार्य्य कर देता है, इसलिये अनुपान को विशेष महत्व दिया जाता है।

साधारणतः अनुपान घी, दूध, छाछ, पानी, शहद, मक्खन, शक्कर, अदरक का रस, हींग, पीपल, मुरब्बा, गुलकन्द और तण्डुलोदक (चावलों का धोवन) इत्यादि होते हैं। परन्तु कई मुख्य रोगों के लिये यथा, प्रमेह, वात रक्त, आर्ष आदि के लिये विशेष अनुपानों की योजना करनी पड़ती है।

किस रोग में, किस रोगी को किस प्रकार का अनुपान देना चाहिये ? यह बात रोगी की अवस्था, रोग की दशा और चिकित्सक के ऊपर निर्भर करती है। मल्ल चन्द्रोदय अथवा स्वास्थ्य-कुठार के साथ दिया हुआ 'क्षुद्रादिक्वाथ'

अथवा 'अष्टांगावलेहिका' के साथ दिया हुआ नागरादिक्वाथ श्वास-रोग में और कफ-ज्वर में क्रमशः दुगुना प्रभाव को रखते हैं। इसी प्रकार अन्य रोगों में भी यदि अनुपान की वस्तुएँ सदा ध्यान में रहें, तो योजना करने में सरलता होती है। इसलिये नीचे सामान्य अनुपानों को रोगों के अनुपानों के साथ दिया जाता है।

यदि रस-चिकित्सा को काष्ठादिक औषधियों के साथ मिलाकर किया जाय, तो विशेष लाभ की आशा है। यह तब हो सकता है, जब रसादिक औषधियों को मुख्य मानकर काष्ठादिक औषधियों को अनुपान के रूप से बर्ता जाय।

साधारण अनुपान—जो रोगी तीखी, तमतमी और गरम चीजें खा-पी न सकते हों, उन रोगियों के लिये नीचे के अनुपानों में से कोई अनुपान चुना जा सकता है।

(१) पानी अथवा सादा शरबत (शक्कर की चाशनी)। (२) अदरक का रस १ तोला, अनार का रस ४ तोला, शक्कर ५ तोला—इन सबको मिलाकर चाशनी पकाकर रख ले। यह चाशनी कफ और पित्त के रोगों के लिये सुगमता से बरती जा सकती है। (३) नीबू का रस ४ तोला, अनार का रस २ तोला, अदरक का रस १ तोला, शक्कर १० तोला—इन सबको मिलाकर चाशनी बना ले। यह चाशनी अरुचि अग्निमान्द्य और पेट में वायु होने पर उपयोगी है। यह उत्तम पाचक है। (४) ईसबगोल का लुआब पित्त के रोगों के लिये शक्कर डालकर देना बहुत ही उत्तम वस्तु है। इसको बनाने के लिये ईसबगोल को २ तोला लेकर, रात्रि में पानी के अन्दर भिगो देना चाहिये। सबेरे उसका लुआब उठ जाता है। (५) जूफे का शरबत या उन्नाब का शरबत अथवा मगजों का शरबत (कद्दू, ककड़ी, खरबूजा और तरबूज--इन चारों के बीजों को मगज कहते हैं पित्त-रोग के लिये अच्छा है। (६) शहद एक योगवाहि वस्तु है, इसलिये सब दवाइयों के साथ देने से गुणकारी होता है। विशेषतः कफ के, कफ-वात के रोगों में उत्तम है। यदि इसको और अच्छा बनाना हो, तो अदरक का रस अथवा सोंठ का चूर्ण इसमें मिला देना चाहिये। कई काढ़े इस शहद से मीठे और रुचिकर बन जाते हैं। मीठा होने से बच्चे भी इसको चाट लेते हैं।

रोगों के अनुसार अनुपान—ज्वर—१. तुलसी, बिल्वपत्र और इनसे बनी चाय। २. तुलसी, बिल्व और सोंठ से बनी चाय। ३. तुलसी की चाय। ४. तुलसी के पत्ते का रस तथा शहद।

सन्निपात-ज्वर में—१. अदरक का रस। २. तुलसी का रस। ३. अदरक तथा तुलसी का रस। ४. पान के पत्ते का रस शहद के साथ।

शीत-ज्वर—१. भाँगरे का रस। २. अदरक का रस। ३. गिलोय का रस।

जीर्ण-ज्वर—१. मधु और छोटी पिप्पली। २. जीरा तथा पुराना गुड़। ३. जीरा तथा शक्कर। ४. शीतोपलादि चूर्ण और दूध। ५. दूध, शक्कर और सोंठ। ६. दूध। ७. मक्खन और मिश्री।

अतिसार—१. बिल्व-पत्र का रस और मधु। २. चावल का धोवन। ३. कुड़े की छाल अथवा बिल्व का गूदा। ४. बकरी का दूध। ५. छाछ। ६. चूने का पानी।

आमातिसार अथवा मरोड़ा—१. छाछ अथवा चावल का धोवन। २. बिल्व का गूदा।

संग्रहणी—१. जीरा और हींग (घी में सिके हुये)। २. छाछ। ३. दूध।

अजीर्ण—१. उपवास। २. गरम पानी। ३. नीबू की सिकञ्जबीन। ४. हींग। ५. प्याज और पोदीने का उबाला हुआ पानी। ६. छाछ (हींग और अजवायन से धूप दी हुई)। ७. हींग, सेंधानमक और हरड़ का चूर्ण।

मन्दाग्नि—१. शहद तथा छोटी पीपल। २. पान का रस। ३. त्रिकटु और हींग।

अर्श—१. सूनवाले अर्श में मक्खन और शक्कर। २. मक्खन और नागकेशर। ३. दही की मलाई और नागकेशर।

शुष्कार्श में—१. भिलावाँ। २. छाछ। ३. चित्रक-मूल की छाल।

भस्मक-रोग में—१. पका हुआ केला और घी। २. भेड़ के घी या दूध में पकी हुई वस्तुएँ।

खाँसी में—१. छोटी कटेली और त्रिकटु का काढ़ा शहद के साथ। २. पके हुये पान का रस और शहद। ३. सुहागा और शहद।

कफ तथा श्वास में—१. कूठ अथवा पुष्कर-मूल का काढ़ा शहद डालकर। २. भारङ्गी का काढ़ा। ३. अदरक का रस और शहद। ४. गरम पानी। ५. तुलसी का रस और शक्कर।

हिचकी—१. मोर के पंखों की भस्म छोटी पिप्पली और शहद के साथ। २. धतूरे की बीज या भाँग की पत्तियों का चिलम में भरा हुआ एक दम।

खाँसी में जब कफ न निकले—बाँसे का पत्र, कटेरी और अदरक इनका काढ़ा शहद के साथ।

कुत्ता-खाँसी—१. पक्का केला। २. मक्खन और शक्कर ३. धतूरे के बीज में बनी दवाई।

क्षय—१. मक्खन, शहद और घी का मिश्रण। २. मधु और शक्कर। ३. बकरी का दूध। ४. शिलाजीत। ५. बंसलोचन या प्रवाल-पिष्टि अथवा मोती-भस्म मक्खन के साथ।

स्वर-भेद—१. द्राक्षा का क्वाथ। २. दूध, शक्कर और आँवले का चूर्ण।

पांडु—१. त्रिफला और शहद। २. त्रिफला और शक्कर। ३ गोमूत्र।

कामला—१. घी। २. त्रिफला और शक्कर। ३. कुटकी और शक्कर।

अम्ल पित्त—१. किशमिश। २. अदरक तथा अनार से बनी सिकञ्जबीन। ३. शक्कर और किशमिश। ४. चन्दन किशमिश और शक्कर का काढ़ा।

अरुचि—१. बिजौरा। २. दाड़िम। ३. अदरक, नीबू तथा शक्कर की चटनी।

उल्टी—१. कच्चे नारियल का पानी। २. सोये का पानी। ३. चूने का निथरा पानी। ४. बरफ।

दाह—१. नेत्रवाला का अर्क। २. नेत्रवाला का शरबत। ३. धान्य-पञ्चक वात। ४. मोथा, पित्तपापड़ा, नेत्रवाला, चन्दन और धमासा, सोंठ इनका काढ़ा। ५. चावलों का पानी, चन्दन और शक्कर। ६. आँवले का मुरब्बा। ७. चन्दन का शरबत।

कृमि—वायविडङ्ग और मधु।

अफारा—१. क्षार—वज्रक्षार, यवक्षार। २. पिपली-मूल।

शोथ—१. पुनर्नवा। २. गोमूत्र। ३. दूध। ४. चित्रक-मूल।

अपस्माद तथा उन्माद-रोग—१. ब्राह्मी का रस और घी। २. वच। ३. अकरकरा।

मूर्च्छा तथा भ्रम—१. ब्राह्मी का रस। २. शंखपुष्पी का रस। ३. धमासा

का काढ़ा तथा घी। ४. दूध तथा शक्कर। ५. सतावरी का रस। ६. आँवले का मुरब्बा, अनार का रस और गुलकन्द। ७. शीतोपचार। ८. अश्वगन्धा का रस।

वात-रोग—१. रासना। २. घी। ३. लहसुन। ४. एरण्ड।

आम-वात—१. गुग्गुल और घी। २. गोमूत्र।

वात-रक्त—१. गिलोय का काढ़ा तथा एरण्ड-मूल। २. नीबू और खदिर का काढ़ा।

सरदी—अदरक का रस और मधु।

शीतांक—१. कस्तूरी। २. अगर, सोंठ और अजवाइन का लेप। ३. पान और कालीमिर्च।

मेद-रोग—१. शहद और पानी। २. शिलाजीत।

कार्श-रोग—अश्वगन्धा का चूर्ण और घी।

रक्त-पित्त—१. बाँसे के पत्तों का रस और घी। २. गन्ने का रस तथा शहद। ३. सतावरी का रस और शहद। ४. अंगूर का शरबत। ५ नागकेशर और मक्खन। ६. मोच-रस और मक्खन।

शूल-रोग—१. हींग तथा घी। २. क्षार। ३. सोंठ का काढ़ा और एरण्ड।

पार्श्व-शूल—पुष्कर-मूल और कूठ का काढ़ा।

गुदा का शूल—चित्रक-मूल।

गुल्म-रोग और उदर-रोग—१. गोमूत्र। २. विरेचन। ३ क्षार।

नेत्र-रोग—१. त्रिफला। २. मुलेहटी और घी।

मुख-रोग तथा दाँत रोग—१ मौलसरी की छाल और कत्था। २. कत्था और नमक।

आँखों के दर्द—शिंगरू।

शिर के रोग—१. घी तथा शक्कर। २. शंखपुष्पी तथा घी। ३. घी और पुराना गुड़। ४. पेठे का रस।

कान के रोग—सरसों का तेल।

उपदंश—१. त्रिफला। २. भाँगरा का रस। ३. घी।

ग्रन्थी—त्रिफला का काढ़ा तथा चूर्ण।

गण्डमाला—कचनार की छाल का काढ़ा।

प्रमेह—१. हल्दी कच्ची का रस तथा शक्कर। २. त्रिफला औ

३. गिलोय का रस तथा शक्कर। ४. आँवले का चूर्ण तथा शक्कर। ५. कच्चा ताज़ा दूध।

प्रदर—१. चावलों का धोवन, चन्दन और शक्कर। २. जीरा तथा शक्कर। ३. आँवले का मुरब्बा। ४. अनार का रस। ५. अशोक की छाल का काढ़ा। ६. गुलकन्द।

रक्त-प्रदर—दूर्वा का रस और शहद।

मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात—१. गोखरू का काढ़ा। २. सतावरी, गन्ना और कुष्माण्ड का रस। ३. चावलों का धोवन। ४. पञ्चतृण-मूल का काढ़ा। ५. दूध और पानी। ६. केले का क्षार या सुराखार।

बहु-मूत्रता:—१. पक्का केला। २. आँवले का चूर्ण। ३. जामुन की गिटकों का चूर्ण। ४. बड़, पीपल, पिलखन, जामुन, गूलर इनके फलों का चूर्ण।

पथरी—१. पाषाण-भेद का काढ़ा। २. शिलाजीत।

सफ़ेद कोढ़—बावची और काले तिल।

विसर्प और त्वचा-रोग—१. नीम पञ्चांग। २. त्रिफला-चूर्ण। ३. बावची। ४. खैर।

विष—घी।

शुक्र-क्षय—१. दूध। २. आँवला। ३. विदारी कन्द। ४ अश्वगन्धा। ५. भाँगरा और हरीतकी। ६. ईसबगोल की भूसी।

वात-पित्त के विकार—घी।

कफ-पित्त के विकार—मधु।

रक्त और कफ के विकार—गिलोय का काढ़ा और मधु।

रसायन—घी और दूध।

वाजीकरण—१. दूध और मधु। २. दूध और शक्कर। ३. दूध नाग-केशर या केशर इलायची और जायफल के साथ। ४. पान का पत्ता।

हृदय-रोग—अर्जुन-छाल।

यहाँ पर कुछ चुन-चुनकर मुख्य अनुपान रख दिये गये हैं। इससे भी अच्छे अनुपान मिल सकते हैं। परन्तु जहाँ पर कोई अनुपान सूझे नहीं, वहाँ पर इनसे काम लिया जा सकता है। औषधि के अभाव में ये 'न दवाई का काम दे सकते हैं।

भस्म और दवाइयाँ अनुपान-भेद से बहुत-से रोगों में उपयोगी हो

जाती हैं। यदि मनुष्य अनुपान-भेद से जानकारी रखता हो, तो उसको बहुत स्टॉक रखने की आवश्यकता नहीं होती। वह अन्य औषधियों की अनुपस्थिति में एक दवाई से, या थोड़ी दवाई से बहुत-से रोगों की चिकित्सा कर सकता है। अभ्रक-भस्म, प्रवाल-भस्म, लोह-भस्म आदि कई दवाइयाँ लोग अपने घर में रखते हैं; परन्तु उनको इन दवाइयों का अनुपान-भेद मालूम नहीं होता। इसीसे प्रायः वैद्यों के पास दौड़ना पड़ता है। इसलिये इन दवाइयों का अनुपान साधारणरूप से इस प्रकार दिया जाता है।

अभ्रक-भस्म—खाँसी कफ और दमे में—पके हुये पान के साथ या उसके रस में, मक्खन या आर्द्रक-रस के साथ।

प्रमेह में—१. शहद, पीपल तथा शिलाजीत। २. इलायची, गोखरू, आँवला, शर्करा, गाय का दूध।

जीर्ण-ज्वर में—पिप्पली और शहद के साथ।

अक्षि-रोग में—त्रिफला घी और शहद में।

ग्रहणी में—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली और घी के साथ।

रक्त-पित्त में—हरड़, गुड़, छोटी इलायची।

अर्श (पाण्डु-क्षय) में—त्रिफला, त्रिकटु, दालचीनी, इलायची, तेज-पात, नागकेशर और शहद के साथ।

प्रमेह में—पिप्पली, हल्दी शहद के साथ; अथवा गिलोय-रस के साथ प्रमेह को नष्ट करती है।

धातु-वृद्धिकारक—स्वर्ण-पत्र और चाँदी के पत्तों के साथ। स्वर्ण-पत्र को अभ्रक के साथ।

मूत्रकृच्छ्र-रोग में—भूम्याम्लकी, गोखरू, कपूर, नेत्रवाला, शर्करा इनमें से किसीको गोघृत के साथ मिलाकर चाटने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है।

मूत्राघात से—क्षारों के साथ में।

व्रण-रोग में—मूर्वा-क्वाथ के साथ।

बल-वृद्धि में—विदारी कन्द और गोदुग्ध के साथ।

शुक्रस्तम्भ—भाँग का रस और जायफल के साथ।

वात-रोग में—सोंठ, कूठ, मुलहट्ठी, अश्वगन्धा और शहद के साथ

हृदय-रोग में—कज्जली और अर्जुन-क्वाथ के साथ।

पित्त-रोग में—गोदूध, शक्कर और दालचीनी, इलायची, और नागकेशर (चतुर्जात) के साथ।

कफ-रोग मे— पिप्पली, कायफल, शहद के साथ लेने से आरोग्य होता है।

लोह-भस्म—पाण्डु-रोग में—१. गोमूत्र, २. पुनर्नवा-क्वाथ।

गुल्म तथा प्लीहा-रोग में—गोमूत्र के साथ।

संग्रहणी तथा पुराने मरोड़ मे १. बेल का मुरब्बा। २ छाछ (तोला ४) तथा कालीमिर्च का १ बाल।

अग्निमान्द्य मे—पान के पत्तों के रस मे।

खाँसी मे—बाँस के पत्ते, पिप्पली, द्राक्षा और शहद।

रक्त-पित्त मे—चतुर्जात चूर्ण और शर्करा।

कृमि-रोग मे—वायविडंग के चूर्ण और शहद।

प्रमेह मे—(१) हल्दी और शहद, (२) पिप्पली और शहद।

मूत्रकृच्छ्र मे—शिलाजीत।

कफ-रोग मे—शहद तथा पिप्पली।

धातु-वृद्धि के लिये—त्रिकटु, भाँगरा-मूल तथा शहद।

शक्ति के लिये—शहद और घी।

शूल-रोग मे—हीग, त्रिकटु और घी के साथ।

वृद्धावस्था मे पुनर्नवा और गोघृत या गोदूध के साथ।

पाण्डु-रोग मे (१) हल्दी का रस, घी, शहद, (२) हरड़ और कुटकी के साथ।

मूत्रकृच्छ्र-रोग मे गोखरू, छोटी इलायची।

आयुष्कर—आमलकी रस, त्रिफला के साथ सेवन करना चाहिये।

मण्डूर-भस्म—शोफ-रोग पुनर्नवाष्टक-काढ़े के साथ।

कामला-रोग मे— कुटकी, त्रिफला, हल्दी-चूर्ण।

ज्वर मे—दशमूल-क्वाथ के साथ।

मण्डूर-भस्म का उपयोग प्राय: लोह के समान है।

वंग भस्म—क्षय-खाँसी मे—(१) मक्खन और शर्करा के साथ (२) दाड़िम की चटनी, (३) द्राक्षासव।

श्वास मे—खाँसी का अनुपान एवं जायफल, लवंग और शहद।

उर:क्षत मे—मक्खन और शर्करा।

अपस्मार में—लहसुन।
वायु-रोग में—लहसुन।
अग्निमान्द्य में—(१) कस्तूरी तथा पिप्पली, (२) शीतल चीनी।
पाण्डु में—घी।
गुल्म में—टंकण-खार।
रक्त-पित्त में—हल्दी।
जलोदर में—बकरी का दूध।
कटि-शूल में—असगन्ध तथा जायफल।
प्रमेह में—(१) शहद तथा हल्दी, (२) त्रिफला और शर्करा, (३) तुलसीपत्र। और शतावरी के साथ।
धातु-क्षीणता में—ज्वर, श्वास और खाँसी हो, तो (१) दूध या मक्खन में, (२) घी और शर्करा में।
दाह में—नीबू-पत्र-रस के साथ (२) नीबू के शरबत के साथ।
अजीर्ण में—आमला के चूर्ण के साथ।
धातु-विकार में—जायफल, लवङ्ग तथा शक्कर।
धातु-स्तम्भन में—(१) भाँग, (२) पान के पत्ते के साथ. (३) कस्तूरी।
पुष्टी अंगवृद्धि में—लवङ्ग, समुद्रफल तथा पान के पत्ते का लेप।
पित्त-विकार में—शर्करा के साथ।
गर्मी के विकार में—१. दूध-शर्करा। २. मक्खन। ३. घी शर्करा।
ठंडी प्रकृति में—गाय का दूध, मधु।
उपदंश-जन्य प्रमेह में भी वंग-भस्म लाभ करती है।
प्रमेह-रोग में—१. गिलोय का सत्त्व, मधु। २. शिलाजीत, मधु।
गनोरिया में—रससिन्दूर, कच्ची हल्दी का रस।
शुक्र-शोधक— वंग को समुद्रफेन के साथ खाने से।
धातु-वृद्धि में—मूसली, हल्दी और शहद।

स्वर्ण-भस्म—बल वृद्धि के लिये—दूध में।
नेत्र-तेज के लिये—पुनर्नवा रस से।
वृद्धावस्था के लिये—घी के साथ।

बुद्धि बढ़ाने के लिये—दूध में या बच के साथ ।
कान्ति—केशर के साथ ।
क्षय में—दूध के साथ ।
विष—निर्विषी के साथ ।
त्रिदोष में (उन्माद में)—लौंग, सोंठ और मिर्च के साथ ।
अरिष्ट (मृत्यु-सूचक) लक्षणों की उपस्थिति में—आमला-चूर्ण और शहद ।
आयु-वर्द्धक—शंख-पुष्पी के साथ ।
पुत्र-प्राप्ति के लिये—विदारी कन्द के साथ ।
अतिसार में—जीरा, बिल्व-चूर्ण के साथ ।
पाण्डु-रोग—गिलोय का सत्त्व ।
[illegible] की शुद्धि के लिये—चोप चीनी के साथ ।
उपदंश—गिलोय, सारिवा मंजीष्ठा के काढ़े के साथ ।
अम्लपित्त—आँवला-चूर्ण के साथ ।
अण्ड-शोथ—पुनर्नवा, कज्जलि ।
स्वर-भंग—किशमिश, पिप्पली, जायफल, मुलहट्ठी के साथ ।
लावण्य के लिये—लालचन्दन, कमल, मुलहट्ठी, शर्करा, मजीठ ।
देह-पुष्टि के लिये—१. शालपर्ण, विदारी, अश्वगन्धा और कौंच के साथ । २. आँवला, शालपर्ण, सोंठ, पुनर्नवा ।
गर्भ-धारक—नागकेशर के साथ ।
अस्थि-रोग में—सिता मिश्री के साथ ।

रौप्य-भस्म(चाँदी की भस्म)—क्षय में—शिलाजीत ।
शोथ में—पुनर्नवा ।
लोहा में—त्रिफला और पिप्पली ।
कामला में—गोमूत्र ।
क्षीणता में— मांस-रस अथवा दूध ।
श्वास में—भारंगी और सोंठ ।
कास में—त्रिकटु तथा बाँस के पत्ते के रस में ।
गुल्म में—क्षार ।
प्रमेह में—तमालपत्र, दालचीनी और इलायची ।

दाह में —शर्करा ।

वात-पित्त रोग में—त्रिफला के साथ ।

कोष्ठ वायु—अजवायन, लवङ्ग के साथ ।

हृदय का स्पन्दन—छोटी इलायची के साथ ।

उर्धावभेदक—छोटी इलायची, मिश्री के साथ ।

गर्भाशय रोग—रस-सिन्दूर, लोह शिलाजीत के साथ और त्रिफला के पानी के साथ ।

गनोरिया में—हल्दी के रस, रससिन्दूर, टंकण ।

नाड़ी-शूल—चित्रक, अजवायन के काढ़े के साथ ।

उन्माद में—सिता-मिश्री और घी तथा इलायची ।

कार्श्य—शाल[illegible]र्णी, कौंच, शतावरी के साथ ।

ताम्र भस्म—शूल में—घी के साथ ।

उदर तथा गुल्म-रोग में—गोमूत्र ।

मन्दाग्नि में—मधु ।

कफ में—कालीमिर्च, लवंग, केशर, पीपल और भारंगी ।

मूर्च्छा—उशीर चूर्ण, नागकेसर के ठण्डे पानी के साथ ।

भ्रम में—दुरालभा काथ के साथ ।

पित्त शूल में—करञ्ज चूर्ण के साथ ।

प्लीहा—त्रिकटु, शंख-भस्म ।

सूतिका रोग में—कौड़ी का भस्म, जीरा ।

अग्निवर्द्धक—पिप्पली-चूर्ण ।

श्वास-रोग—भागी, विभीतक, ।

अर्श—नागकेशर और हरड़ ।

छर्दि-रोग—पीपल के वल्कल की शराब ।

यकृत-रोग—त्रिकटु, पिप्पली, मधु ।

गुल्म-रोग—आर्द्रक-रस के साथ ।

मकल्ल-शूल—त्रिकटु, चित्रक, पिप्पली के काढ़े के साथ ।

मलेरिया में—कुटकी, गिलोय, चिरायता, पित्तपापड़ा, नागरमोथा इनके काढ़े के साथ ।

यशद-भस्म—नेत्र-रोग में—गाय के पुराने घी के साथ ।

प्रमेह में—पान के पत्ते के साथ ।

पित्त-ज्वर में—चावलों के धोवन के साथ।
शीतज्वर में—लौंग और अजवायन के चूर्ण के साथ।
रक्तातिसार में—खजूर या चावलों के साथ।
उल्टी—जीरा और शर्करा के साथ।
सन्निपात में—इलायची, तेजपात और दालचीनी के साथ।
रात्रि-स्वेद में—प्रवाल-भस्म के साथ।
विचर्चिका—गोघृत के साथ लगाने से।
क्षय-कास में—अभ्रक-भस्म और शहद।
श्वास में—आर्द्रक स्वरस के साथ।
पक्षाघात—कौंच, एरना, बला, एरण्ड के कषाय के साथ।
स्वप्न-प्रमेह—वंग-भस्म या स्वर्ण-वंग के साथ।
आर्त्तव-स्राव में—अशोक-वल्कल-चूर्ण के साथ।
श्वेत-प्रदर—लोह, राल।
मस्तिष्क-निर्बलता में—रस-सिन्दूर शहद के साथ।

नाग-भस्म(सीसे की भस्म)—शक्कर के साथ खाने से वात, पित्त, मस्तक-रोग, वीर्य-दोष, दाह को नष्ट करती है।
प्रमेह—हल्दी, आँवले का रस और शहद।
रक्त-प्रदर—अशोक-क्वाथ के साथ।
रक्तार्श—नागकेशर के साथ।
कफ-प्रमेह और वात-प्रमेह में—गिलोय का सत्त्व और शहद।
अन्त्र-शोथ—स्वर्ण-भस्म, रससिन्दूर और ताम्र-भस्म।
वृक्क-शोथ—कौंच, जटामांसी, बला के काढ़े के साथ।

माक्षिक-भस्म (स्वर्ण)—त्रिफला, त्रिकटु, कालीमिर्च, मक्खन और शहद इसके साधारण अनुपान हैं।
यक्ष्मा—शिलाजीत, अभ्रक-भस्म, विडंग, मधु।
मूत्रकृच्छ्र—यव-क्षार।
शोथ—पुनर्नवा, गिलोय, सोंठ, देवदारु इनका काढ़ा।
मसूरिका—कचनार के काढ़े के साथ।
विषमज्वर—अतिविषा, करञ्ज-चूर्ण के साथ।
रक्तपित्त—कज्जली और शहद के साथ।

बलकारक—वंशलोचन के साथ।
गर्भिणी-ज्वर—रस-सिन्दूर, अभ्रक, त्रिकटु के साथ।
रक्त-स्राव—खजूर के रस के साथ मधु मिलाकर।

प्रवाल-भस्म—ज्वर में—चिरायता, कुटकी और हरड़ का काढ़ा।
जीर्णज्वर में—मधु और पिप्पली।
श्वास में—मधु और पीपल।
वायु-रोग में—मधु, शक्कर अथवा तुलसी का रस।
पित्त की खाँसी में—आर्द्रक का रस और शक्कर।
पित्त-विकार में—१. दूध तथा शक्कर। २. आँवला का मुरब्बा गुलकन्द। ३. मक्खन और शक्कर।
दाह-युक्त प्रमेह—१. चावलों का धोवन और शक्कर। २. त्रिफला का चूर्ण और शहद।
कृशता में—अश्वगन्धा के साथ।
धातु-क्षय में—पक्के केले के साथ।
प्रदर में—गाय के ताजे दूध के साथ।
धातु-पुष्टि के लिये—घी और शक्कर में।
रतौंधी (रात्रि में न दीखने पर)—प्रवाल-भस्म और चूहे की मींगनी को तुलसी के पत्ते में पीसकर मधु में मिलाकर अंजन करने से।
मूत्रकृच्छ्र में—चावलों के धोवन के साथ।
मूत्राघात—रस-सिन्दूर के साथ मिलाकर गोखरू-काढ़े के साथ।
क्षय-कास—वंशलोचन, अभ्रक-भस्म के साथ।
मुक्ता-भस्म के अनुपान भी प्रायः प्रवाल के समान हैं।

मृगशृङ्ग की भस्म—खाँसी, श्वास में—मधु और पुष्कर-मूल के साथ।
धातु-विकार में—मुगलई के दाना तथा शक्कर के साथ।
हृदय के रोग में—घी।
वात-शूल में—घी के साथ।

रस-सिन्दूर—नवज्वर में—१. जाति-पुष्प, तुलसी के रस में। २. पान के रस में।
जीर्णज्वर में—गिलोय और धनिया, पित्तपापड़े

प्रमेह में—गिलोय-रस के साथ या हल्दी के रस के साथ।
रक्त-प्रदर में—अशोक-वल्कल-क्वाथ के साथ।
अपस्मार—बच और घी।
उन्माद में—कुष्माण्ड-रस से।
श्वास-रोग में—विभीतक-क्वाथ से।
मूत्रकृच्छ्र में—मिश्री, इलायची, शिलाजीत।
वमन—त्रिकटु, धनिया, जीरा, सोंठ और मधु।
मृगी—ब्राह्मी, बच, शंखपुष्पी, कुष्ठ, इलायची इनके क्वाथ।
भगन्दर—आँवला, हरड़, विभीतक, वायविडङ्ग के काढ़े के साथ।
गुल्म में—कालेनमक के साथ।
वाजीकरण—मूसली या विदारी चूर्ण के साथ।
स्वप्नमेह—अहिफेन, कपूर, लौंग, जायफल।
आनात्यय—हींग, जीरा, सोंठ, धनिया, चव्य के साथ।
परिणाम-शूल—यव-क्षार और टंकण-क्षार।
रक्त-प्रदर—वासा-क्वाथ के साथ।
रक्त-विकार में—हल्दी तथा शर्करा।
पाण्डु में—त्रिकटु और त्रिफला।
धातु-वृद्धि में- १. लवंग, पीपल, जावित्री, अकरकरा, केशर, भाँग और अफीम। २. लौंग, केशर और पान का पत्ता। ३. विदारीकन्द का चूर्ण।
पूय-व्रण में—बड़ी कटेरी, सोंठ और गिलोय का रस। २. त्रिफला तथा गुग्गुल।
पुष्टि के लिये—१. चतुर्जात। २. त्रिफला और मूसली-चूर्ण।

पारद-भस्म (मकरध्वज)—पारद-भस्म चार रत्ती, कालीमिर्च, घी अथवा छोटी पीपल (दस) के चूर्ण के साथ लेने से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है।
श्वास तथा शूल में—त्रिकटु, भारंगी का चूर्ण, घी, मधु।
रक्त-विकार में—हल्दी तथा शर्करा।
पांडु-रोग में—त्रिकटु, त्रिफला और वासा के पत्र के साथ।
मूत्रकृच्छ्र में—शिलाजीत, इलायची और शर्करा के साथ।

धातु-वृद्धि के लिये —१. लौंग, केशर, तालीशपत्र, अकरकरा ये सब समान भाग और कपूर तथा अफीम आधी मात्रा में मिलाना चाहिये। २. बिदारीकन्द

सब ज्वरों में—सेंधानमक, लौंग, चिरायता और हरड़ के चूर्ण के साथ।

विरेचन के लिये—सेंधानमक, लौंग, केशर।

उल्टी में—भाँग तथा अजवायन के साथ।

उदर-रोग में—सेंधानमक, हल्दी, भाँग और अजवायन।

कृमि-रोग में—पोस्ता के डोड़े और गुड़ के साथ।

अतिसार में—अफीम, हींग, भाँग, लौंग के साथ।

पुष्टि के लिये—गिलोय का सत्त्व।

पित्त-रोग में—आँवला-चूर्ण और शक्कर।

कफ में—आर्द्रक-रस के साथ।

ज्वर-रोग में—१. पित्तपापड़ा, नागरमोथा। २. तुलसी के रस। ३. पिप्पली-काथ के साथ।

रक्त-पित्त में—लाक्षारस, हरीतकी या वासा-रस के साथ।

अतिसार में—क्षीरी-वृक्ष-कषाय में (वट, पीपल, गूलर, इनके काढ़े से।)

प्रवाहिका—१. आम, जामुन, के पत्ते, गुड़। २ सोंठ और कच्चे बिल्व के साथ।

अजीर्ण—पिप्पली और हींग के साथ।

क्षय—बकरी के दूध में शक्कर मिलाकर।

मूत्र-कृच्छ्र—गोखरू-क्वाथ या मसूर-क्वाथ में शहद मिलाकर।

कामला—दारुहरिद्रा, त्रिफला-काथ के साथ।

वात-रोग—लहसुन के साथ पकाये तिल-तैल के साथ।

कार्श्य—शतावरी, बला, अश्वगन्धा, मूसली इनके कषाय के साथ।

प्रमेह—त्रिफला, शिलाजीत, त्रिकटु, भृङ्गराज का स्वरस।

चन्द्रोदय-रस—मकरध्वज, जायफल, जावित्री, भीमसेनी कपूर, लौंग प्रत्येक एक-एक रत्ती और कस्तूरी आधी रत्ती मिलाकर खाने से बहुत लाभ करता है। अजीर्ण को दूर करता है, भूख लगाता है, खाये हुये को

पचाता है, बल तथा वीर्य की वृद्धि करता है और स्त्री-संग की इच्छा को उत्तेजित करता है। अथवा चन्द्रोदय ४ तोला, भीमसेनी कपूर १ तोला, जायफल, सोंठ, मिर्च, पीपल, लौंग, कस्तूरी प्रत्येक तीन-तीन माशा इनको पान के रस में खरल करके उड़द जितनी गोली बनाकर रख ले। पान में खाने से और पीछे से दूध पीने पर पुरुषत्व बढ़ता है।

हरताल-भस्म—वातरक्त में गिलोय का काढ़ा।

कुष्ठ में—गिलोय-क्वाथ।

रुधिर-विकारों में—कच्ची हल्दी का रस।

विष तथा मृगी में—जीरा।

जलन्धर में—समुद्र-फल।

भगन्दर में—कुकट बेल का रस।

सब प्रकार के कुष्ठों में—मञ्जीष्ठादि काढ़े के साथ।

पाण्डु-रोग में—त्रिफला और शर्करा।

आम-वात में—सोंठ का चूर्ण।

हिंगुल-भस्म—१. पान के पत्ते के साथ यदि आधी।रत्ती दी जाय, तो इससे श्वास, खाँसी, ज्वर आदि रोग नष्ट होते हैं। स्मरण-शक्ति बढ़ती है। २. दालचीनी, इलायची और तेजपत्र के साथ दी जाय, तो बल और जठराग्नि बढ़ती है।

पंचामृत-पर्पटी—संग्रहणी में छाछ, अथवा छाछ, सिका हुआ जीरा और घी में भूनी हींग के साथ।

अग्निमान्द्य तथा गुल्म में—गोमूत्र में।

वमन तथा दमा-रोग में—घीकार के पत्तों को सेंककर रस निकालने से तथा शहद के साथ।

वात-रोग में—घी के साथ।

पाण्डु-रोग में—त्रिफला का चूर्ण और शहद।

कृमि-रोग में—शहद तथा वायविडङ्ग के चूर्ण में।

क्षय में—मधु और शर्करा अथवा घी और शर्करा।

छोटे बच्चों के आक्षेप या अपस्मार-रोग में—गाय के दूध अथवा माता के दूध में। पंचामृत-पर्पटी की पूर्ण मात्रा १ से २ रत्ती है।

स्वर्णमालिनी-वसंत—जीर्ण ज्वर— जब ज्वर पुराना हो जाता है, अर्थात् शरीर में थोड़ा-थोड़ा ज्वर बना रहता है, भूख लगती नहीं, इस अवस्था में यह दवा विशेष लाभ करती है। अनुपान (१) १० तोला गाय का दूध और १० तोला पानी, एक पूरी छोटी पिप्पली और ½ तोला शर्करा मिलाकर उबालना चाहिये। जब पानी सम्पूर्ण जल जाय, तब १ से १½ रत्ती यह दवाई इस अनुपान के साथ देनी चाहिये। (२) गरम प्रकृति में जीरा और शक्कर के साथ। (३) शरदी प्रकृति में आँवले के मुरब्बे के साथ। (४) मधु और छोटी पिप्पली का चूर्ण।

धातु-क्षय—१. मधु, मक्खन और शर्करा प्रत्येक आधा तोला। २. गाय का दूध १० तोला, शर्करा १ तोला, गाय का घी ½ तोला डालकर पीना चाहिये।

जीर्ण-ज्वर में—एक साल का पुराना गुड़ १ तोला, जीरा १ से २ बाल।

प्रदर में—चावलों का धोवन।

यह औषध क्षय-रोग के लिये विशेष गुणकारी मानी जाती है।

लघुमालिनी-वसंत—इसमें स्वर्ण का योग नहीं होता।

जीर्ण-ज्वर में—मधु और छोटी पिप्पली।

यही अनुपान अग्निमान्द्य-रोग में है।

उष्णता में—१. जीरा तथा गुड़। २. जीरा और शर्करा। ३. सितो-पलादि चूर्ण। ४. गाय का गरम दूध और शर्करा।

गर्भपाल-रस—गर्भिणी के ज्वर, दमा, कास, संग्रहणी, अम्लपित्त, श्वेत-स्राव, अकाल-प्रसव, गर्भपात आदि उपद्रवों को रोकता है, गर्भ को पुष्ट करता है और सुख से प्रसव कराता है। अनुपान—द्राक्षा ५ तोला, शक्कर १० तोला, पानी ४० तोला इनका काढ़ा करके २० तोला रहने पर छान लेना चाहिये। इस २० तोला को पकाकर शहद जैसा घन बनाकर रखना चाहिये। इसकी मात्रा एक तोला है।

गंधक-रसायन—कुष्ठ तथा इसके उत्पन्न विकारों में—क्षत, पूय, शोथ, कृमि में अनुपान—१. नीबू पंचांग और घी। २. त्रिफला-क्वाथ। कण्डू, दाद, मस्तिष्क-व्रण में—१. पक्का केला। २. घी, शक्कर।

धातु-क्षय में—दूध और मिश्री।

कृमि-विकार में - प्रथम रेचन देकर फिर इस दवा को वाय-विडङ्ग, त्रिफला और शक्कर के साथ देना चाहिये।

नहेरुआ-कृमि में—त्रिफला और शर्करा में।

चन्द्रकला-रस—ज्वर, सन्निपात, महामारी, प्लेग तथा अतिशय दाहवाले रोगों में शान्ति देने के लिये १ से १॥ रत्ती मात्रा में दिया जाता है। अनुपान—अनार का अवलेह, दाड़िमाष्टक, मुरब्बा, गुलकन्द। मूत्र में, दाह, भ्रम, मूर्च्छा, अर्श, नासागत रक्तपित्त, मस्तिष्क-शूल। अम्लपित्त में भी इसी अनुपान से देना चाहिये।

आनन्द-भैरव—अजीर्ण में—छाछ।

विसूचिका में—१. छाछ अथवा सिंकी हुई हींग। २. वंशपत्री।

पुराने अतिसार में—चावलों के धोवन में या कुडे की छाल में।

कृमि-रोग में—अतिसार के अनुसार। ज्वरातिसार में—मधु के साथ।

अग्निकुमार-रस—अजीर्ण, कॉलरा, संग्रहणी तथा आम में—छाछ।

पुराने अतिसार में—चावलों का धोवन या कुडे की छाल।

कृमि-रोग-जन्य अतिसार में—अतिसार की भाँति।

श्वास में—१. पान के पत्ते के रस में। २. आर्द्रक का रस और मधु।

वायु-गोला में—घी।

उदर-शूल में—श्वास की भाँति।

इच्छाभेदी-रस—ज्वर उतरने पर, गर्मी, बन्धकोष्ट, वात-रोग, शूल, गुल्म और साधारण उदर-रोगों में निम्न प्रकार से देना चाहिये—प्रथम रात्रि में ८-१० तोला दूध में घी १ तोला डालकर पीना चाहिये। प्रातः दो से तीन रत्ती इच्छाभेदी-रस लेकर शर्करा या गुड़ के शर्बत के साथ पीना चाहिये। कई गुड़ में गोली बनाकर पानी की घूँट के साथ पिला देते हैं। इससे १ या २ घन्टे में विरेचन हो जाता है। विरेचन हो जाने पर दाल, चावल खाना चाहिये। गरम पानी पीने से दस्त बन्द हो जाते हैं। यदि तीन-चार घंटे तक कोई विरेचन न हो, तो दाल-भात खाना चाहिये और गरम पानी पीना चाहिये। इससे विरेचन हो जाता है। इस औषधि के पीछे दो दिन तक हलका भोजन खाना चाहिये।

शुद्ध गंधक—वात-रोगों में—तुलसी के रस के साथ तथा घी।
पित्त-रोग में—गाय का घी।
कफ-रोग में—गुड़ तथा सोंठ।
श्वास-रोग में—१. आर्द्रक का रस। २. कटेरी का फल तथा घी।
खाँसी में—गाय का घी, मिर्च अथवा पिप्पली।
हृदय के शूल में—पान के पत्तों का रस।
अजीर्ण में—आमला का चूर्ण।
संग्रहणी में—सोंठ तथा घी।
विसूचिका में—बिजौरे का रस।
प्रमेह में—गुड़, कुष्ठ, नीबू-पंचांग।
व्रण में—घी।
नेत्र-रोग में—१. त्रिफला। २. भृङ्गराज का रस। ३. शहद तथा घी।
नाक के मस्सों में—गन्धक का अर्क लगाना चाहिये।
आँख की फूली में—शहद या घी में अथवा केले के रस में गन्धक मिलाकर अंजन करना चाहिये।

महायोगराज गुग्गुल—सब प्रकार के वात-रोगों में—रास्नादि-क्वाथ।
पित्त-रोगों में—काकोल्यादिगण-क्वाथ में।
कफ-रोग में—आरग्वधादि-क्वाथ में।
प्रदर तथा प्रमेह में—दारुहरिद्रा के काढ़े में।
पाण्डु-रोग में—गोमूत्र में।
मेद-रोग में—मधु के साथ।
कुष्ठ (रक्त-विकार) में—नीबू-क्वाथ में।
वात-रक्त में—गिलोय के रस में।
शोथ तथा शूल में—छोटी पिप्पली के काढ़े मे।
मूषिक-विष में—पाठे के काढ़े में।
नेत्र-रोग में—त्रिफला के काढ़े में।
सब प्रकार के उदर-रोगों में तथा गुल्म में—पुनर्नवादि-काढ़े में, सौंफ (½ तोला), सोंठ (½ तोला) तथा धनिया, गोखरू (प्रत्येक ½ तोला) और १½ सेर पानी में काढ़ा करके अष्टमांश पानी शेष रहने पर देना चाहिये।

साधारण अनुपात—घी (½ तोला) और मधु (½ तोला) है।
रक्त-विकार में—मञ्जिष्ठादि-क्वाथ।
भगन्दर तथा नाड़ी-व्रण में—त्रिफला-क्वाथ।
साधारण संधि-वात या आमवात में—घी के साथ लेकर ऊपर से सोंठ से संस्कृत दूध पीना चाहिये। लघु योगराज के भी यही अनुपान हैं।

चन्द्रप्रभा—प्रमेह में—१. गिलोय का रस और शहद। २. गिलोय, आमले का काढ़ा शहद के साथ। ३. हल्दी का रस और मधु। ४. ठंडा पानी।
मूत्र की उष्णता (जलन) में—चावलों का धोवन तथा शर्करा।
उष्ण-वात मूत्र-कृच्छ्र (पत्थरी) में—गोखरू का काढ़ा और सेंधानमक।
पौष्टिक अनुपान—१. गाय का या भैंस का दूध और शर्करा। २. घी और मधु। ३. गिलोय का रस। यह औषधि योगवाही है। सब रोगों में गुणकारी है।

अश्व-चोली—सन्निपात में—अजवायन।
शीत-ज्वर में—जीरा।
पित्त-ज्वर में—जीरा तथा शक्कर।
रोज-दिन के ज्वर में—घीकार का रस।
दाहयुक्त-ज्वर में—आँवले का चूर्ण।
वात-शूल में—१. त्रिकटु। २. आर्द्रक का रस। ३. मधु और पिप्पली। ४. मूली के पत्तों का रस।
सब-शूल में—घी तथा शहद।
मृतिका-जन्य वायु में—१. तुलसी का रस। २. शहद। ३. घीकुवार का रस।
संग्रहणी में—१. जायफल। २. भैंस का मूत्र। ३. छाछ।
अतिसार में—दही।
विष-रोग में—१. चावलों का धोवन। २. पिप्पली। ३. अकरकरा।
पीनस-रोग में—जायफल।
मस्तक-रोग में—जायफल।
वायु-रोग में—१. घी। २. बकरी का दूध। ३. त्रिफला। ४. भाँगरे का रस। ५. असगन्ध और शहद।
पित्त-रोग में—आमले का चूर्ण और शर्करा।

उदर-रोग में—१. त्रिफला और एरंड-तैल।
शोथ में—१. प्याज का रस। २. भाँगरे का रस।
विरेचन के लिये - १. एरण्डी का तेल। २. आर्द्रक का रस।
अर्श में—जायफल।
अस्थिगत-वायु में—वच, देवदारू तथा कूट के चूर्ण के साथ।
कृमि-रोग में—करञ्ज की छाल के काढ़े में।
सर्पविष में—१. घी में। २. शिरीष के रस में।
अश्व-चोली में जमालगोटा होता है, अतः इसका उपयोग बहुत होशियारी से करना चाहिये।

त्रिफला—नित्य उपयोग—मधु और घी के साथ।
वात-रोगों में—त्रिफला-काथ में गोमूत्र मिलाकर पीने से।
प्रमेह—त्रिफला-काथ में मधु डालकर पीने से, त्रिफला-चूर्ण, मुलहट्ठी-चूर्ण, लोह-भस्म, घी और शहद इनको मिलाकर खाने से स्त्री-संग की अभिरुचि बढ़ती है, आँखों की दीप्ति होती है।
वात-रोग में त्रिफला—एरण्ड-तैल के साथ।
पित्त-रोग में—घी के और कफ में मधु के साथ खाना उत्तम है।

दूध—अतिसार, ज्वर, क्षय, निर्बलता आदि रोगों के लिये दूध अमृत है। संग्रहणी और पुराना अतिसार भी इसके सेवन से चला जाता है।
संग्रहणी में—फल यथा, आम, खरबूजा इसके पथ्य हैं।
रक्त-न्यूनता में—खजूर।
दूध का पाचन करने के लिये उसे निम्न प्रकार से संस्कृत करके भी देते हैं-
(१) सोंठ, मुनक्का, खाँड़, घी इनको दूध में उबालकर पीछे में शहद मिलाकर देने से, शोष, तृषा नष्ट होती हैं।
(२) द्राक्षा, खरैटी-बीज, मुलहट्टी, कूठ, छोटी पिप्पली, चन्दन इनके काढ़े में या इनको दूध में डालकर उबालने पर छानकर काम में लाना चाहिये।
(३) लघु पञ्चमूल से संस्कृत दूध पीने से कास, श्वास नष्ट होता है।
(४) एरण्ड-तैल या एरण्ड-मूल के काढ़े के साथ लेने से शोथ, नष्ट होती है।

(५) धारोष्ण दुग्ध शक्ति-वर्द्धक, पुष्टिकारक है।

(६) शक्कर और पीपल के योग्य से दूध रसायन गुण करता है।

(७) सोंठ, नागकेशर या केशर, बादाम, शक्कर दूध में डालकर गरम करके पीने से रति-जन्य क्षीणता नष्ट होती है।

चिकित्सा-संकेत

१ -आयुर्वेद में दो या दो से अधिक दवाइयों के संयोग से एक प्रयोग बनता है। इस प्रयोग में व्यवहार में आनेवाली दवाइयों के गुण आदि का सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो तो उत्तम है। क्योंकि कई प्रयोग इस प्रकार के हैं, जिनकी मात्रा अत्यधिक कर रक्खी है; परन्तु वे इतना लाभ नहीं करते। यथा, शृंगाराभ्र— इसके उपयोग से हजारों रमणियों के साथ रमण कर सकता है। परन्तु इससे कहीं इतना लाभ नहीं होता। "चन्द्रामृत" खाँसी की एक उत्कृष्ट औषधि है; परन्तु शास्त्र में इसकी कुछ भी प्रशंसा नहीं है। अतः योग के घटकों के गुण और शक्ति को देखकर प्रयोग चुनना चाहिये।

२—कई प्रयोगों के योग प्रायः परस्पर मिलते हैं, उनमें केवल एक या दो औषधि का भेद होता है। इतने से नाम-भेद किया गया है। यदि इन दोनों योगों को अथवा इस प्रकार के योगों की परस्पर तुलना करके एक योग बना लिया जाय, तो वह कई रोगों में लाभ दे सकता है।

३—शास्त्र में लिखा है कि बाकुची और काले तिल के खाने से कुष्ट-रोग (वात-रक्त) नष्ट हो जाता है। इस प्रयोग में बाकुची रक्त-शोधक और तिल वायु-नाशक हैं। इसी प्रकार परवल, कुटकी, गिलोय, त्रिफला, चिरायता इनके काढ़े के पीने से दाह-युक्त वात-रक्त नष्ट होता है। इनमें रवल, आदि पदार्थ, पित्त और वायु-नाशक हैं।

इस प्रकार बुद्धि से रोग-नाशक औषधि को चुनकर फिर उसके सह-योगी दो-तीन औषधियाँ मिला देनी चाहियें, जिससे औषधि का गुण बढ़ जाय। यदि मुख्य औषधि में कोई अवगुण हो, (यथा कड़वी हो) तो उसको दूर करने के लिये और औषधि भी मिला देनी चाहिये। और फिर को उचित अनुपान के साथ देनी चाहिये।

चरकोक्त महाकषाय

१. यौवन-स्थापक—गिलोय, हरड, आँवला, रास्ना, शतावरी, शालपर्णी, पुनर्नवा, मण्डूकपर्णी ।

२. गर्भच्युति-निवारक—आर्या, दूर्वा, आमलकी, हरड़, कटुकी, बला और प्रियंगु ।

३. रक्त-शोधक—मधु, मुलहठ्ठी, केशर, मोचरस, मिट्टी घड़े की, लोध्र, गेरू, शर्करा ।

४. शूल-प्रशमक—पिप्पली, पिप्पली-मूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, काली-मिर्च, अजवायन, जीरा ।

५. अंग मर्द-नाशक—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, एरण्ड-मूल, चन्दन, नेत्रबाला, इलायची, मुलहट्ठी ।

६. उदर्द-रोगनाशक—खैर, बेर, पियाल, सप्तपर्ण, अर्जुन ।

७. शीत-प्रशमक—तगर, अगर, धनिया, सोंट, अजवायन, बच, कटेरी, अग्निमन्थ, सोनापाठा, पिप्पली ।

८. दाह-प्रशमक—चन्दन, काश्मरी, मुलहट्ठी, चीनी, नीला कमल, नेत्रवाला, सारिवा, गिलोय, हीवेर ।

९. श्रमहर—किशमिश, खजूर, पियाल, बेर, अनार, फालसा, गन्ना, जौ, साठी के चावल ।

१०. ज्वर-नाशक—अग्निमन्थ, बिल्व, सोनापाठ, पाठा, गम्भारी, कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू ।

११. श्वासहर—कपूर-कचरी, कूठ, अम्लवेतस, इलायची, हींग, अगरु, तुलसी, शंख-पुष्पी ।

१२. कासहर—किशमिश, हरड़, पिप्पली, आँवला, धमासा, काकड़ा-शृङ्गी, कटेरी ।

१३ मूत्र विरेचनीय—गोखरू, पाषाण, ईख, भेद, शर, कुश, गन्ना गिलोय ।

१४. मूत्र विशोधक—कमल, स्थल पद्म, मुलहट्ठी, कसेरू, धाय फूल, दूर्वा ।

१५. मूत्र-संग्राहक—जामुन, आम, पिलखन, बड़, गूलर, पीपल, खैर ।

१६. पुरीष विरजनीय—जामुनछाल, कौंच, मुलहट्ठी, मोचरस, तिल ।

१७ हिक्का-निवारक—शटी, कूट, बेर के गुठली, कटेरी, हरड़, धमासा, काकड़ा-शृङ्गी।

१८ तृष्णानाशक - सोंठ, धमासा, मोथा, पित्तपापड़ा, लालचन्दन, चिरायता, गिलोय, धनिया।

१९ वमन-निवारक—जामुन और आम के पत्ते, बिजौरा नीबू, अनार, जौ, मुलहट्ठी, नेत्रवाला।

२०. शुक्र-शोधक—कुष्ठ, एलावालुक, कटफल, समुद्रफेन, कदम्ब की गोंद, गन्ना, उशीर।

२१ शुक्र-वर्द्धक जीवक, मेदा, जटामांसी, काकड़ा-शृङ्गी, मूँग-पर्णी, माषपर्णी।

२२. स्तन्य-शोधक—पाठा, सोंठ, देवदारू, मोथा, मुर्व्वी-गिलोय, इन्द्र-यव, चिरायता, सारिवा, कुटकी।

२३ दुग्ध-वर्द्धक—उशीर, धान्य, साठी, गन्ना, दर्भ, कुश, मोथा, गन्धवाला।

२४. विष-नाशक—हरिद्रा, मँजीठ, रास्ना, छोटी इलायची, सारिवा, लाल चन्दन, शिरीष, निर्मली फल।

२५ कृमि-नाशक—सहिजन, कालीमिर्च, विडङ्ग, निर्गुण्डी, अपा-मार्ग, गोखरू, भारंगी।

२६. कण्डू-नाशक—लाल चन्दन, जटामांसी, अमलतास, करञ्ज, नीबू कुटज, सरसों, मुलहट्ठी।

२७. कुष्ठ-नाशक—खैर, हरड़, आँवला, हल्दी, भिलावाँ, सप्तपर्णा, अमलतास, विडङ्ग, जातीपुष्प।

२८. अर्श-नाशक—कुटज, बिल्व, चित्रक, सोंठ, अतीस, हरड़, दुरालभा, वच, दारुहरिद्रा।

२९. रुचिकारक—आम, करञ्ज, आमातक, अम्लवेतस, बेर, अनार, बिजौरा, नीबू।

३० स्वर-वर्द्धक—अनन्तमूल, गन्ने की जड़, मुलहट्ठी, पिप्पली, किशमिश, विदारीकन्द, कायफल।

३१ वर्णकारक लाल चन्दन, पद्माख, नेत्रबाला, मुलहट्ठी, सारिवा, दूर्वा, शर्करा।

३२. बलकारक—कौंच, अश्वगन्धा, मुलहट्टी, शालपर्णी, खरैटी, कुटकी ।

३३. अग्नि-दीपक—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, अम्लवेतस, मरिच, अजवायन, हींग ।

३४. अस्थि-संयोजक—मुलहट्टी, गिलोय, पृश्निपर्णी, पान, मोचरस, धाय के फूल, लोध्र, प्रियंगु, कायफल ।

३५. भेदनीय—निशोथ, एरण्ड, दन्ती, जमालगोटा, चित्रक, करञ्ज, कुटकी, सनाय ।

३६. लेखनीय—मोथा, कूट, हल्दी, वच, अतीस, कुटकी, चित्रक, करञ्ज ।

३७. भोजन में अनिच्छा को नष्ट करनेवाली औषधियाँ—सोंठ, चव्य, चित्रक, विडङ्ग, गिलोय, वच, मोथा, पटोल ।

सुश्रुत में कहे हुये गण

१. विदारीगण—विदारीकन्द, गोखरू, पृश्निपर्णी, शतावरी, सारिवा, दोनों कटेरी । यह गण पित्त, वायु, गुल्म, शोष, कास और श्वास को नष्ट करता है ।

२. आरग्वधादिगण—अमलतास, मैनफल, कुटज, पाठा, गोखरू, सप्तपर्ण, इन्द्रयव, नीम-छाल, गिलोय, चित्रक और करञ्ज । इसके द्वारा विष, मेह, कुष्ठ, ज्वर, वमन और कण्डू नष्ट होते हैं ।

३. वरुणादिगण—वरुण, सहिजन, मेढ़ाशृङ्गी, करञ्ज, मूर्वा, गम्भारी, पाठा, चित्रक, कुश, कटेरी । कफ मेदो-रोग, शिरःशूल और गुल्म को नष्ट करता है ।

४. वीरतरादिगण—मोथा, गिलोय, कुश, काश, पाषाण-भेद, पाठा, इक्षु-मूल, गोखरू, कमल, वायु-विकार, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात को नष्ट करता है ।

५. साल-सारादिगण—साल, असन, खैर, सुपारी, अर्जुन, मेढ़ा-शृङ्गी, लाल-चन्दन, शीशम, शिरीष, धव, करञ्ज, अगर, कालीयक, कुष्ठ, मेह, पाण्डु और मेदो-रोग-नाशक है ।

६. **रोध्रादिगण**—लोध्र, ढाक, अशोक, भारंगी, कायफल, कदम्ब, केला, मेदो-रोग, कफ, योनि-दोष-नाशक है।

७. **अर्कादिगण**—आक, करंज, रास्ना, भारङ्गी, इंगुदी, कफ, मेदो-रोग, विष, कृमि-नाशक है।

८. **सुरसादिगण**—तुलसी, गन्धबाला, काली-तुलसी, वायुविडङ्ग, कायफल, निगुण्डी, भारङ्गी, मकोय। यह गण कृमि, प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास और कास-नाशक है।

९. **पिपल्यादिगण**—पिप्पली, पिप्पली-मूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, कालीमिर्च, गजपिप्पली, इलायची, अजवायन, इन्द्रजौ, पान, जीरा, सरसों, नीबू, बकायन, हींग, वच, कुटकी। कफ, प्रतिश्याय, वायु, अरुचि, गुल्म और शूल-नाशक है।

१०. **वचादिगण**—वच, मोथा, अतीस, हरड़, देवदारु, नागकेशर। हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, मुलहट्ठी, पृश्निपर्णी, इसको हरिद्रादिगण कहते हैं। ये दोनों गण स्तन-दुग्धविशोधक, आमातिसार-नाशक हैं।

११. **बृहत्यादिगण**—बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, इन्द्रजौ, पाठा, मुलहट्ठी। पित्त, वायु, कफ, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र-नाशक है।

१२. **काकोल्यादिगण**—काकोली, गिलोय, काकड़ा-शृंगी, वंश-लोचन, पद्माख, किशमिश, मुलहट्ठी। रक्तपित्त और वायु-नाशक, बृंहण वृष्य और स्तन्य-वर्द्धक है।

१३. **ऊषकादिगण**—सैंधव, शिलाजीत, हीराकसीस, हींग तुत्थ। कफ, मेदो-रोग, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और गुल्म-नाशक है।

१४. **सारिवादिगण**—सारिवा, मुलहट्ठी, लाल चन्दन, पद्माख, गम्भारी छाल, अशीर। पिपासा, रक्त-पित्त, पित्त-ज्वर, तथा दाह-नाशक है।

१५. **प्रियंगु और अम्बष्ठादिगण**—प्रियंगु, मँजीठ, धाय के फूल, नागकेशर, लाल चन्दन, मोचरस, रसाञ्जन (रसौत), पद्माख, सारिवा। पान, धाय के फूल, मुलहट्ठी, सोना, बिल्व, लोध्र, ढाक, पद्मकेशर। ये दोनों गण पक्वातिसार-नाशक। पित्त-नाशक और भग्न-संयोजक हैं।

१६. **न्यग्रोधादिगण**—वट, गूलर, पीपल, पिलखन, मुलहट्ठी, आम-अर्जुन, जामुन, तेजपत्र, जमोय, कुटकी, कदम्ब, बेंत, बेर, शल्लकी, लोध्र,

डाक, मेढाशृङ्गी, । व्रण-संग्रहणी-नाशक, भग्न-संधानकर, रक्त, पित्त, दाह और योनि-दोष-नाशक है।

१७. **गुडूच्यादिगण**- गिलोय, नीमछाल, धनिया, चन्दन, पद्माख, इसके सेवन से ज्वर, वमन, पिपासा नष्ट होती है।

१८. **मुस्तादिगण**- मोथा, हरिद्रा. दारुहरिद्रा, हरड़ आँवला, बहेड़ा. कूठ, स्वर्णक्षीरी, वच, पान, कुटकी. अतीस. इलायची. चित्रक। यह गण श्लेष्म-नाशक, योनि-दोष-हारक, स्तन्य-शोधक एवं पाचक है।

१९. **आमलक्यादिगण**--आमलकी. हरड़. पिप्पली. चित्रक। यह गण सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है। आँखों के लिये हितकर. दीपनीय, बलकारक तथा कफ-नाशक है।

२०. **लाक्षादिगण**—लाख, कुटज. कायफल, करवीर. हरिद्रा. दारुहरिद्रा. नीबू. सप्तपर्ण. मालती-चमेली। यह गण कफ और पित्त की पीड़ा का नाश करता है. एवं दुष्ट व्रण-शोधक है।

प्रकरण दसवाँ

पथ्यापथ्य

मिथ्या आहार-विहार के कारण रोग उत्पन्न होते हैं। यदि इस मिथ्या आहार-विहार का सुधार किया जाय, तो रोग स्वयं भी शांत हो जाता है। अजीर्णावस्था में भोजन न करने से अजीर्ण-रोग हट जाता है। इसी प्रकार कई रोगों में 'पथ्य' का सेवन करने से रोग भी शांत हो जाता है अथवा रोग के हटने में सहायता होती है। कई बार यह पथ्य रोग के अनुकूल हो सकता है; परन्तु रोग में दी जानेवाली औषधि के अनुकूल नहीं होता। इसलिये दोनों बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है।

वैद्यक-शास्त्रियों ने अपने अनुभव से तथा अनुमान से यह निश्चित कर दिया है कि अमुक पदार्थ अमुक-अमुक रोगों में पथ्य है और अमुक-अमुक पदार्थ अमुक-अमुक रोगों में अपथ्य है। इसी प्रकार अमुक बलवान औषधि के सेवन-काल में अमुक खान-पान अनुकूल आता है, इस तरह का प्रतिकूल आता है, इसको जानना आवश्यक है। पथ्य और अपथ्य के नियम समानगति से सब लोगों के लिये एक समान नहीं हैं। जो आहार-विहार एक मनुष्य के लिये अपथ्य है, वही दूसरे मनुष्य के लिये पथ्य होता है। उदाहरण के लिये संयुक्त-प्रांत-वासियों के लिये चावल ज्वर में पथ्य गिना जाता है और रोटी अपथ्य मानी जाती है; परन्तु बङ्गाल में इससे विपरीत है, वहाँ रोटी पथ्य है और चावल अपथ्य है। इसलिये अभ्यास, देश-प्रथा आदि का भी विचार करना पड़ता है। उदाहरण के लिये—

१—जो मनुष्य सदा गरिष्ठ या कुपथ्य भोजन खाते हैं, वे यदि एकदम अपने इस भोजन को छोड़कर दूसरी हल्की, पथ्य ख़ुराक का उपयोग करने लगें, तो उनको यह ख़ुराक सहसा पथ्य नहीं होगी। इसके लिये उनको चाहिये कि शनैः-शनैः भोजन के अन्दर परिवर्तन करें।

२—रोगी का भोजन रुचिकारक और इतना होना चाहिये कि वह उसको सुगमता से पचा सके। रोगी को एकबार बहुत-सा भोजन देने की अपेक्षा बार-बार थोड़ा देना चाहिये। यदि रोगी का चित्त एक प्रकार से उतर जाय, तब उसी गुण का रस-भेद करके, दूसरा भोजन देना चाहिये। उसकी पाचन-शक्ति का ध्यान सदा रखना चाहिये। आग्रह करके, या रोगी की इच्छानुसार, बिना चिकित्सक की आज्ञा के, उसको भोजन नहीं देना चाहिये।

३—यदि दो-तीन रोग या उपद्रव साथ में हों, तो ऐसा भोजन देना चाहिये, जो तीनों में पथ्य हो। यदि मनुष्य अपने शरीर, अपनी प्रकृति, अपने सात्म्य को देखकर यह भोजन (यह आहार-विहार मेरे लिये) अनुकूल है इत्यादि बातों को सोचकर ले, तो वह सदा नीरोग रहता है और दीर्घायु प्राप्त करता है। मनुष्य को सब अवस्थाओं में, नीरोगी और रोगी अवस्था में, सदा अपनी प्रकृति का ध्यान रखना चाहिये।

सामान्य पथ्य—प्राय: सब रोगों में उपयोगी रहता है। जिन रोगों में विशेष पथ्य का ध्यान न रक्खा जा सके, उन रोगों में भी कम-से-कम इस पथ्य को पालना चाहिये। लंघन और मृदु-विरेचन ये दोनों वस्तुयें सब रोगों में पथ्य हैं। लंघन शरीर के बल को देखकर करना चाहिये और भोजन यथा-सम्भव द्रव, सुपच और शक्तिदायक होना चाहिये। रोगी मनुष्य को स्वस्थ और मेहनती पुरुष की अपेक्षा शक्ति की कम आवश्यकता होती है। उसको इतनी ही शक्ति साधारणत: चाहिये, जिससे रोग के कारण शरीर में होती हुई क्षति पूर्ण हो जाय और शरीर की जीवन-शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती जाय। इसके लिये ऐसी ख़ुराक चुननी चाहिये, जिसकी मात्रा तो थोड़ी हो, परन्तु शक्ति अधिक मिले और पचने में सुगम रहे। अर्थात इस शरीर-रूपी यन्त्र में इस प्रकार का कोयला डाला जाय, जो जल्दी जल जाय, राशि में थोड़ा हो, परन्तु शक्ति अधिक उत्पन्न करे। यदि इस प्रकार न हो तो राशि को बहुत बार करके बढ़ाना चाहिये। अर्थात् पच जाने पर फिर दे देना चाहिये। बिना पचा भोजन शरीर को शक्ति भी नहीं देता। जिस प्रकार बिना जली लकड़ी या कोयला शक्ति को उत्पन्न नहीं करता।

अन्न—पचने में हल्का अन्न, यथा—पुराना चावल, अथवा कणकी, लाल चावल, साठी चावलों की काँजी, मूँग की पतली दाल या पानी अरहर की दाल का पानी, चने या मटर का पानी, साबूदाना पानी या दूध में पकाया हुआ; गेहूँ का हल्का फुलका बिना चुपड़ा।

पानी—ज्वर, मन्दाग्नि तथा कफ आदि रोगों में गरम पानी, अथवा गरम करके ठण्डा किया हुआ, या पानी के अन्दर गरम लोहा बुझाकर देना चाहिये। ... ड पानी या बरसात का पानी अथवा प्रातःकाल उबालकर ठण्डा किया हुआ पानी सायंकाल तक काम दे सकता है। पानी में पोदीना, छोटी इलायची के बीज अथवा, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, नेत्रवाला, धमासा, लालचन्दन इन पाँच चीजों को डालकर उबालने से भी पानी को काम में ला सकते हैं। गरम करके ठण्डा किया हुआ पानी पचने में सुगम रहता है, वायु और कफ-नाशक है। स्वाद में मधुर कम लगने से अधिक पिया नहीं जाता। अधिक ठण्डा नहीं रहता। रात को उबालकर ठण्डा किया हुआ पानी प्रातः नहीं देना चाहिये। बासा पानी या दो बार उबालकर पानी काम में नहीं लाना चाहिये। साधारण रोगों में कुएँ का ताजा पानी काम दे सकता है; क्योंकि यह विशेष ठण्डा या गरम नहीं होता। पानी का संचय यथा-सम्भव ताम्र के स्वच्छ बर्त्तन में करना चाहिये। पानी को सदा वस्त्र में छानकर काम में लाना चाहिये।

मसाला—रोगी के लिये शाक, भाजी या दाल में डालने के लिये मसाला बहुत ही सादा होना चाहिये। सोंठ, अदरक, धनिया, जीरा, काला जीरा, दालचीनी, लौंग, कालीमिर्च, नागकेशर, सौंफ, इलायची आदि सब वस्तुयें रोगी की इच्छानुसार और रोग के अनुसार डालनी चाहिये। लाल-मिर्च का उपयोग सर्वथा नहीं करना चाहिये, विशेषतः आँत्र या आमाशय के रोगों में। यदि करना ही आवश्यक हो, तो हरी मिर्च का उपयोग किया जा सकता है।

शाक--परवल, करेला, चौलाई, दूधी, नर्म ककड़ी, भिण्डी, तुरई, सूरन, केला आदि शाक काम में लाये जा सकते हैं। शाकों को बनाने के लिये घी तथा जीरे में छौंकना चाहिये। तीक्ष्णता के लिये कालीमिर्च डालनी चाहिये। अदरक और हरी मिर्च या सबूत मिर्च को छौंक में डाल देना चाहिये। हींग का बघार भी उत्तम है।

पञ्चूरण—खटाई में तीन साल पुरानी इमली, या कोलम परन्तु खटाई सबसे थोड़ी चाहिये। अमचूर की खटाई कम बरतनी चाहिये। आँवले की खटाई का उपयोग हो, तो सबसे उत्तम। नमकों में सैंधानमक सबसे उत्तम। मिठाई में शक्कर (चीनी) उत्तम है।

फल--मीठा अनार, अंगूर, संतरे, मोसम्बी उत्तम हैं। यदि इनका रस लिया जाय, तो और भी उत्तम है।

सूखा मेवा--काली द्राक्षा, मुनक्के के बीज निकालकर उनपर नमक लगाकर, आग पर सेंककर देना चाहिये।

घी-दूध--बकरी का, गाय का दूध सबसे उत्तम है। और यदि यह भी दूध भारी रहे, तब इसमें चौगुना पानी डालकर उबालना चाहिये। जब पानी जल जाय, तब उसको देना चाहिये। गाय का घी, मक्खन, गाय के दूध के मीठे दही में चौगुना पानी मिलाकर बिलोना चाहिये और फिर मक्खन उतारकर छाछ देनी चाहिये। यह छाछ, संग्रहणी, अम्लपित्त, सूतिका-रोग, क्षय, गुल्म में लाभदायक है।

विहार--प्रातःकाल उठकर मल-मूत्र करना चाहिये। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिये। दिन में सोना नहीं चाहिये। यदि सम्भव हो, तो रोगी के लिये दिन में दूसरी चारपाई और दूसरा कमरा रखना चाहिये। रात्रि को दूसरी चारपाई। उसके वस्त्र शुद्ध रखने चाहिये। यदि सम्भव हो, तो स्नान भी कराना चाहिये। रोगी के विश्राम की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

रोगी को चाहिये कि वह चिकित्सक के निर्देशों के अनुसार कार्य करे, घबराये नहीं, अपनी शिकायतों को छिपाये नहीं और सदा पवित्र, शुद्ध रहे।

सामान्य अपथ्य--कई पदार्थ स्वस्थ मनुष्यों के लिये भी अपथ्य हैं। फिर यदि वे पदार्थ रोगी मनुष्यों के लिये अपथ्य हों, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। प्रायः करके जो पदार्थ या आहार-विहार रोगियों के अनुकूल नहीं होते, उनको नीचे दिया जाता है।

(१) **पित्त को बढ़ानेवाले गरम पदार्थ**--दही, खट्टी छाछ, नया गुड़, सब प्रकार का तेल, तेल में बनी चीजें, सेव, पकौड़ी, साम्भर नमक, हींग, राई, बैंगन, गाजर, करेला, पपीता, कुलत्थी, चौवड़ा, शहद, खिचड़ी, दही, बासी अन्न, हवा, धूप में घूमना, मेहनत, जागना, मैथुन, क्रोध, उपवास, प्यास को रोकना, भूख को मारना।

(२) **वायु को बढ़ानेवाले और पचने में भारी पदार्थ**--चना, मोठ, बाजरा, मक्की, मसूर, सब प्रकार की फलियाँ, मुँगौड़ी, सिंगारे,

दालें, गरम चटनी, लड्डू, घी या तेल मे तले पदार्थ, पौवा; गुवार, सेम का शाक, बासी या बिगड़ा हुआ अन्न, नया धान्य, नया पानी, अजीर्ण में भोजन, मेहनत, मैथुन, चिन्ता, शोक आदि।

(३) कफ को बढ़ानेवाले पदार्थ—पक्का केला, कुष्मांड, दही, दूध से बनी चीजें —(रबड़ी, पेड़ा, कलाकन्द, खीर आदि); नया धान्य, खोपरा, मिट्टी के बर्तन का पानी, बरसात का नया पानी, नई इमली, कच्चा तथा खट्टा आम, बेर, करौंदा, कच्चा आँवला, अमरूद, अंजीर, ककड़ी, कलिंगड़ा, बादाम, चिरौंजी, पिस्ता, तिल, ठंडे पानी का स्नान, हवा या ठंडे स्थान में सोना, दिन मे सोना—इन सब बातों मे कफ बढ़ता है। पीछे से ज्वर, खाँसी, क्षय, दमा आदि उपद्रव होते हैं।

रोगी अवस्था में पथ्यापथ्य—नीरोगी पुरुष के उपयोगी पथ्य-अपथ्य का विचार पीछे सूत्र-स्थान में किया जा चुका है। यहाँ पर प्रत्येक रोग के अनुसार विशेष पथ्य-अपथ्य दिया जाता है। जिन रोगों का इस स्थान पर विचार नहीं किया गया, उनमें साधारण पथ्य दिया जा सकता है।

ज्वर में—साधारण ज्वर में हलका अन्न,यथा मूँग की दाल का पानी. पुराने चावल, अरहर की दाल, साबूदाने की काँजी, पुराना गुड़, पित्त-शमक पदार्थ-परवल, गाय और बकरी का दूध, यवोदक, शक्कर, गीली तथा सूखी किशमिश, फलों के रस, मीठा अनार, चूक की भाजी, दूधी, नारियल का पानी उत्तम है। यदि रोगी को अरुचि हो, तो काली किशमिश घी मे सेककर नमक लगाकर देनी चाहिये। पसीना आये, इस प्रकार का उपाय करना चाहिये। कागजी नीबू का शर्बत, मोसम्बी उत्तम है। गरम पानी मे राई रखकर पाँव रखवाने से पसीना आजाता है। रोगी के पास बहुत आदमियों को नहीं रखना चाहिये। ज्वर मे अपथ्य—मानसिक श्रम, स्नान, मैथुन, व्यायाम, धूप, चलना-फिरना, तमाकू पीना या खाना ये सब अपथ्य हैं।

जीर्ण-ज्वर मे, प्लीहा बढ़ने मे, पाण्डु, कामला, मन्दाग्नि, मस्तिष्क की निर्बलता आदि रोगों में पथ्य—यदि इन रोगों के साथ ज्वर भी हो, तो ज्वर का पथ्य काम में लाना चाहिये। हलका पथ्य, सोंठ, काली-मिर्च आदि से संस्कृत दूध, तुरन्त बनी मीठी छाछ, गाय या बकरी का

दूध, मूँग की दाल का जूस, परवल, दूधी, चौलाई की भाजी, शाक, अमरूद, साठी चावल, अंगूर, अनार, आम, सेव आदि फल।

पाचन-क्रिया के विकृत होने से उत्पन्न रोगों में—यथा अति-सार, रक्त या आम अतिसार में, मरोड़ा, संग्रहणी, अजीर्ण, कॉलरा, उल्टी और कृमि-रोग में पथ्य—हल्का अन्न, पुराने चावलों का भात, चावलों का माँड़, पुराने मूँग की दाल, छाछ, दही, बकरी या गाय का दूध, मक्खन, दही की मलाई, केला, कटहल, केले के फूल की भाजी, सिम्बल के फूल या फूल की भाजी, बैंगन, बेल का फल, जामुन, मीठे बेर, अनार।

रक्त-स्राववाले रोग—अर्श (बवासीर), रक्तपित्त, रक्त-प्रदर, मलमूत्र में दाह, गरम औषधियों के खाने से उत्पन्न गरमी में या दाह में, मस्तिष्क की उष्णता, मुँह की गरमी तथा विष-रोग (विष के खाने से उत्पन्न रोग।) इन सबका सामान्य पथ्य—यदि हजम हो सके, तो गेहूँ की रोटी, गेहूँ या जौ की दलिया, हलवा, पुराना चावल, मूँग की दाल, पत्तों के शाक, परवल, केला, किशमिश, पेठा, पुनर्नवा, गन्ने का रस, दूध, दही, आँवले की चटनी, चौलाई की भाजी, घी, मक्खन, ताजी मीठी छाछ, पतले (नरम) पदार्थ, मीठा अनार, सिम्बल के फूलों की या फलों की भाजी, मीठा पका हुआ आम, हरा धनिया, सेंधानमक, शरबत, अंगूर।

अपथ्य—बाजरा, गुड़, खट्टे पदार्थ, तीखे पदार्थ, मिरचें, गरम पदार्थ, मूली, बैंगन, राई, हींग, लहसुन, अदरक, कालीमिर्च, मद्यपान, स्त्री सेवन, तम्बाकू, सुपारी आदि पदार्थ नहीं खाने चाहियें।

छाती के कफवाले रोग—कफवाली खाँसी, कफ के साथ दम, कफ-क्षय, हिचकी आदि में पथ्य—इन रोगों में बकरी का दूध, गाय का दूध सर्वोत्तम है।

सूखी खाँसी तथा उरःक्षत-क्षय—(छाती में जख्म होने से कफ के साथ मिश्रित रक्त खाँसी के द्वारा आये) इन रोगों में स्वादु, सौम्य, ठण्डे पदार्थ विशेषतः खाने चाहियें। मुख्य पथ्य बकरी या गाय का दूध, घी, मीठा दही, ताजा मक्खन, आँवले या सेव का मुरब्बा, ताजा घी।

अपथ्य—गरम पदार्थ, खट्टी चीजें, खोपरा, इमली, तली हुई चीजें, तेल, ठण्डी हवा, सरदी, धूल, सेक, ताप, जागना, बहुत परिश्रम, ऊँचे बोलना या पढ़ना, ऊँचे चढ़ना आदि आहार-विहार का सेवन न करे।

मस्तिष्क-सम्बन्धी रोग—यथा अपस्मार, उन्माद, हिस्टीरिया, मृगी, मूर्च्छा, भ्रम, अर्धांग, मस्तिष्क-रोग, मानसिक विकार तथा शूल आदि रोगों में पथ्यापथ्य निम्न प्रकार से रखना चाहिये।

अन्नों के पथ्य यव, गेहूँ, चावल, घी अधिक मात्रा में, दाल मूँग, की, उड़द की या अरहर की, दूध, ताजी मीठी छाछ, परवल। पेठे का शाक, मिठाई, पुनर्नवा, माखन, द्राक्षा, अंगूर, विरेचन के लिये एरण्ड-तैल, आमी का रस।

लेप- बच, चन्दन, नेत्रवाला, भांगरा का मस्तिष्क के ऊपर लेप, सूखे आँवले का लेप, बच, कपूर, सुगन्धित फूल या अतर सूँघना, मालाओं का पहनना, स्नान करते समय सिर पर सुगन्धित ठण्डा पानी, शेष शरीर पर थोड़ा गरम पानी डालना चाहिये। रोगी के साथ प्रेम और सहानुभूति रखनी चाहिये। परमात्मा की भक्ति में मन लगाना चाहिये। सदा उत्तम नीति का पालन करना चाहिये। उत्तम धार्मिक पुस्तकें पढ़ने देनी चाहिये। सदा उसके मन का रञ्जन करना चाहिये। वह जो कुछ माँगे या कहे, उसको स्वीकार करना चाहिये। खुली या ठण्डी हवा में रखना चाहिये। एकान्त में रखना अच्छा नहीं। अपस्मार रोगी के पाँव में रात्रि के समय तेल लगाकर गरम पानी का सेक करना चाहिये। छोटे बालकों को यदि अपस्मार-रोग हो, तो उनको कमर तक गरम पानी में बिठाना चाहिये। अर्धाङ्ग वायु के रोगियों को चाहिये कि वे शरीर पर गरम वस्त्र पहनकर रक्खें। अंगों पर तेल लगायें, मर्दन करें और थोड़ा सेक भी लेना चाहिये।

धनुर्वात आदि तीव्र वात-रोगों में—रोगी को कठिन पदार्थ कभी खाने को नहीं देने चाहिये। इसलिये गेहूँ के दलिये को दूध में पकाकर उसमें घी डालकर उसको खाने के लिये देना चाहिये। लहसुन उत्तम है।

आमवात आदि वात रोगों में—गेहूँ, लाल चावल, परवल, बैंगन, लहसुन, अनार, पक्का आम, एरण्ड-तैल उत्तम हैं। दाल इस रोग में एकदम अपथ्य है। बहुत इच्छा हो, तो मूँग की दाल ले सकता है।

मेदो-रोग में—हलका कम शक्तिदायक अन्न चावल, कोद्रव, दूध, छाछ, परवल, पुराना केला, गिलोय की भाजी।

पेट के विकार में—उदर-शूल, वायु का गोला, प्लीहा-वृद्धि, यकृत की गाँठ, उदर के अन्दर की शोथ (विद्रधि), नल की वायु, पेट फूलना (अफारा), अण्ड-वृद्धि आदि रोगों में—अन्न में एरण्ड-तैल का मोइन डालकर बनाई हुई गेहूँ की रोटी, पुराना चावल, दूध, छाछ, उबालकर ठण्डा किया हुआ पानी नीबू, प्याज, परवल, बैंगन, कच्चा केला, सूखा अनार, आर्द्रक आदि।

रक्त-विकार में त्वचा के रोगों में—व्रण, भगन्दर, अर्बुद, ग्रन्थि, गण्डमाला, गलगण्ड, कान पकने में, उपदंश, वात-रक्त, विसर्प, दद्रु आदि रोगों में पथ्य—गेहूँ की रोटी, घी, उबालकर ठण्डा किया हुआ पानी, दूध, पुराने चावल, मूँग या अरहर की दाल, परवल, भिन्डी, केला, सैंधानमक आदि का सेवन करना चाहिये।

अपथ्य मेहनत का काम, स्त्री-सेवन, बहुत बोलना, दिन में सोना आदि बातों का त्याग करना चाहिये।

प्रमेह, प्रदर तथा मधु-मेह में—यथासम्भव गेहूँ, जौ, त्रिफला से भिगोकर, पुराने चावल का सेवन करना चाहिये। स्नान, परिश्रम, शरीर-शुद्धि इन सबका सेवन करना चाहिये।

गर्भिणी का रोग— सामान्य पथ्य पालना, सामान्य अपथ्य का एवं मद्य पदार्थों का त्याग करना चाहिये; अन्यथा गर्भ को हानि होगी।

प्रसूता का पथ्यापथ्य -प्रसववाली स्त्री का प्रसव होने के पीछे एक या दो सप्ताह स्त्री को उपवास करने की प्रथा बहुत स्थानों पर चलती है। कई स्थानों पर गेहूँ की रबड़ी दलिया-काँजी, दी जाती है। डाक्टरी मत से दूध में बनी काँजी, साबूदाना दिया जाता है। कई स्थानों पर हलवे में दूध घी डालकर दिया जाता है। साधारणतः प्रसूता के स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर भोजन निश्चय करना चाहिये। निर्बल स्वास्थ्य की निर्बल गठनवाली स्त्रियों को सहसा हलवा नहीं पच सकता। यदि प्रसूता का शरीर सह सके, तो एक या दो समय लंघन करवाकर घृत का उचित उपयोग करना चाहिये। पानी उबालकर ठंढा किया हुआ पीना चाहिये। बिना उबालकर दिया हुआ ठंढा पानी वायु-रोग करता है।

ताप—ताप का सेंक शरीर पर देना चाहिये, परन्तु शिर पर नहीं। सरदी की या वर्षा-ऋतु में सेंक भली प्रकार देना चाहिये। गरमी में ताप देने की जरूरत नहीं। रक्त-स्राव, मस्तिष्क मे दर्द, भ्रम, अक्षि-रोग, या गरमी आदि रोग हो, तो सेंक बहुत कम देना चाहिये। कोई दिनों पीछे शक्ति तथा दूध बढ़ानेवाले पदार्थ देने चाहिये। गेहूँ, ज्वार, चावल, उड़द, सेंकी हुई मूँग की दाल, घी, खाँड़, भिंडी, पुराना कद्दू, परवल, दूर्वा, प्याज और साधारण मसाला दिया जा सकता है। प्रसूता स्त्री को ज्वर, खाँसी, अतिसार आदि रोग हों, तो रोग के अनुसार पथ्य करना चाहिये। प्रसूता को यदि ज्वर आदि रोग हो, तो दूध बच्चे को नहीं देना चाहिये; क्योंकि इससे बालक तथा माता दोनों को हानि है। ज्वर आदि रोगों से ग्रसित माता के दूध से बच्चे को भी रोग होते हैं।

बाल-रोग दूध पीनेवाले बालकों को यदि विकार हो, तो उस रोग का पथ्य माता को पालना चाहिये। यदि बच्चे को गाय का दूध देना हो, तो यदि वह पतला (बकरी के दूध के समान) न हो, तो उसमें पानी डालकर पतला करके, उसे उबालकर हल्का बनाना चाहिये और फिर बच्चे को देना चाहिये। बकरी का दूध बच्चे को जल्दी पच जाता है। यदि बच्चे को दूध न पचे, तो उसमें छोटी पिप्पली उबालकर देनी चाहिये, या सौंफ का पानी देना चाहिये। बच्चों के लिये उपवास, गरम पानी बहुत उत्तम पथ्य है। चूने का नितरा हुआ स्वच्छ पानी दूध के साथ मिलाकर या स्वतन्त्ररूप से भी देना उत्तम है, विशेषतः जब बच्चा दूध गिराता हो, या उसे फुटकियाँ मल में आरही हों।

पुष्टिकारक-पथ्य—शरीर में किसी प्रकार का रोग न हो, खाया हुआ भोजन भली प्रकार पचता हो, मल साफ होता हो, साधारण मेहनत का कार्य सुगमता से हो सकता हो, तो यदि इस प्रकार के मनुष्य शक्ति बढ़ाने के लिये औषधि सेवन करें, तो उनको चाहिये कि वे औषधि या पथ्य की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ायें। दूध यदि पचता न हो, तो उसको थोड़ा-थोड़ा दूसरे पदार्थों के साथ लेना चाहिये। इसी प्रकार दूध की अन्य वस्तुयें—बरफी, पेड़ा, दूध-पाक आदि; दही के पदार्थ—छाछ, घी, खाँड़; गेहूँ की बनी चीजें—रोटी, पूड़ी, लड्डू आदि भी उचित मात्रा में सेवन करने चाहिये। सूखे मेवे—किशमिश, पिस्ता, बादाम, पक्के आम खाने चाहिये।

यदि कोई औषधि या पाक सेवन करना हो, तो उसको देख लेना चाहिये कि वह उत्तम विधि से बना हो, उसके खाने से शरीर में किसी प्रकार का विकार नहीं होना चाहिये। औषधि खाकर पर्याप्त मेहनत भी करनी चाहिये, जिसमें वह शरीर में लीन होकर रग-रग में पहुँच जाय, एक ही स्थान पर इकट्ठी न रहे। इस प्रकार पुष्टिकारक औषधि के खाने से पूर्व शरीर की शुद्धि आवश्यक है। जिस प्रकार धुले हुये कपड़े पर रंग अच्छा चढ़ता है, उसी प्रकार नीरोगी, स्वस्थ शरीर पर औषधि भी अपना प्रभाव रखती है।

व्रण-रोगी —जौ, साठी, गेहूँ, पक्षियों का मांस, कटु तैल, घी, शहद, मूँग, अरहर।

अपथ्य —नूतन धान्य, उड़द, कुलत्थी, शीतल जल, दधि, छाछ, गुड़, मद्य, पत्रशाक, विदाही, देर में पचनेवाले भोजन, खट्टी चीजें, मैथुन, व्यायाम, ऊँचे पढ़ना, घूमना, दिन में सोना, स्त्री-दर्शन, रात्रि में जागना, अजीर्ण, श्रम, क्रोध, धूप, वर्षा ये सब अपथ्य हैं।

दूसरा खण्ड

औषधियाँ

आर्य-चिकित्सा में जो औषधियाँ प्रायः काम में आती हैं, उनका वर्णन यहाँ संक्षेप में किया जाता है। इन औषधियों के परस्पर मिलने से "प्रयोग" बनता है। अतः इन प्रयोगों को समझने के लिये, अथवा उनका विश्लेषण करके गुण-धर्म पहचानने के लिये, अथवा स्वयं प्रयोग निर्माण करने के लिये औषधियों के गुण आदि से परिचय करना आवश्यक है। इस लिये यह प्रकरण लिखा गया है।

यह प्रकरण दो भागों में विभक्त किया गया है। यथा—१ वनस्पति-वर्ग और २—धातु-वर्ग तथा प्राणि-वर्ग की औषधियाँ।

वनस्पति-वर्ग

अकरकरा यह एक प्रकार की लकड़ी बाजार में पंसारियों के यहाँ मिलती है। साधारणतः ३—४ अंगुल लम्बी और अँगूठे जितनी मोटी और भूरे रङ्ग की होती है। इसका स्वाद तीखा और चरपरा होता है। चबाने से जीभ पर चिरचिराहट लगती है। मुँह में रखने से लार (थूक) निकलती है। इसका वृक्ष अफ्रीका के उत्तर में, अलजीरिया तथा मिश्र एवं अरबस्तान देश में मिलता है।

गुण—उष्ण, वातहर, तीक्ष्ण तथा लेखन है। इसका उपयोग प्रायः उच्चारण को शुद्ध और स्पष्ट करने में होता है। अकरकरा को मुँह में रखने से और लार गिरने से मुँह का पक्षाघात आराम होता है। मूत्रल, कफघ्न, आर्त्तवजनक तथा पुरुषत्व देनेवाला है,ऐसा विचार आधुनिक डाक्टरों का है। कोकण और काठियावाड़ प्रान्तों में बच्चों को उच्चारण सिखाने के लिये इसका उपयोग होता है। हिस्टीरीया रोग में यह अच्छा प्रभाव करती है। इसके लिये इसे ब्राह्मी और शंखावली के साथ काढ़े के रूप में देना चाहिये। इसका चूर्ण

उत्तेजक है। अकरकरा और कपूर इन दोनों का मंजन उत्तम है। एक तोला अकरकरा का पाँच तोले काँदे (प्याज के रस में पीसकर लेप करने से इन्द्रिय मोटी होती है।

बनावट—अकरकरा आदि चूर्ण और अकरकरा आदि वटी।

२. अखरोट—इसके वृक्ष हिमालय में काशमीर से लेकर मनीपुर आदि बहुत-से देशों में होते हैं। यह दो प्रकार का होता है, एक बोया हुआ और दूसरा स्वयं उगा हुआ। बोये हुए का छिलका पतला होता है, इसको काग़ज़ी अखरोट कहते हैं। इसके पेड़ प्राय: ५० फ़ीट से अधिक ऊँचे होते हैं। पत्ते ५—७ इञ्च लम्बे अण्डाकार और नोकदार होते हैं। इसका फल प्राय: सूखे मेवे के रूप में काम आता है। अखरोट से तेल निकलता है।

गुण—पोषक, वृष्य, कृमिनाशक, रुचिकर, गरम है। इसका तेल रेचक है (मात्रा २ से ४ तोला)। इसके काढ़े से पेट के कृमि मरते हैं। इसकी छाल और फल के छिलके रङ्ग के काम आते हैं।

तेल निकालने की विधि—१. इसकी गिरी को महीन कूटकर मोटे कपड़े की थैली में रखकर यंत्र में दबाने से तेल निकल जाता है। वह सफेद और पतला होता है।२. यदि दस सेर गिरी में से तेल निकालना हो, तो प्रथम ८ सेर को कोल्हू में पीसना चाहिये। जब उसमें से तेल निकलने लगे, तब बाक़ी दो सेर भी डाल देना चाहिये। जब यह अधपिसा हो जाय, तब उसमें मिश्री के बड़े-बड़े टुकड़े डालकर पेरने से तेल अलग हो जाता है। इसको छानकर चीनी या काँच के बर्त्तन में रखने से निर्मल हो जाता है।

३. अगर—यह चन्दन का एक भेद है। श्याम और सिंगापुर से आता है। इसका रङ्ग काला होता है। अगर एक सुगन्धित एवं गरम पदार्थ है। पंसारी अगर के धोखे में कई बार तगर दे देते हैं। बढ़िया अगर की लकड़ी भार में वज़नदार, तेलदार, पानी में डूबनेवाली और सुगन्धि-युक्त होती है।

गुण—उष्ण, तीक्ष्ण, पित्तकर तथा लेप में उष्ण तथापि दाह को शान्त करनेवाली है। चरक में अगर का उपयोग ज्वर में तथा कासनाशक रूप में किया गया है। सुश्रुत में वात-कफ-हर, वर्ण-कारक, कुष्ठ और कण्डू-नाशक कहा है। विषर्प तथा अन्य उपदंश-जन्य उपद्रवों में इसका लेप उत्तम है।

४. अगस्त--इसके वृक्ष हिन्दुस्तान के दक्षिणी और पूर्वीय प्रान्त में मिलते है । इसके पुष्प वर्षा-ऋतु में आने लगते हैं और अगस्त्य के उदय होने तक रहते हैं, इसीसे इसका नाम "अगस्त" पड़ा है। इसके पश्चात आश्विन में फलियाँ आजाती हैं। इसके फूलों का शाक भी बनता है। पत्ते, मूल और गोंद औषधि के रूप में काम आते हैं।

गुण—पित्तघ्न, कफघ्न, ग्राही, शीतल तथा कड़वा है। इसकी छाल संग्राही है। इसके पत्ते या फूल का रस नाक में टपकाने से सिर-दर्द और प्रतिश्याय मिटता है। मसूरिका तथा अन्य ज्वरों में इसकी छाल का हिम-क्वाथ पिलाना उत्तम है। चोट पर पत्तों की पुलटिस बाँधने से सूजन उतरता है। रक्तान्ध रोगी को इसके पत्तों का शाक खाना चाहिये। चातुर्थिक ज्वर में इसके फूलों का रस सुँघाने से लाभ होता है। प्रमेह में फूल शाक के साथ दिये जाते हैं।

एक लाल फूल का अगस्तिया होता है। लाल फूल के अगस्तिया की छाल का लेप सूजन को नष्ट करता है, विशेषत: गठिया की सूजन को। इसके पत्ते सारक होते हैं। इसके रस से खुजली मिटती है।

५. अपामार्ग—यह भारत के सब जंगलों में पैदा होता है। वर्षा-ऋतु में पैदा होता है, उसी समय फूलता और फलता है, फल पक जाने पर पीछे सूख जाता है। यह एक से तीन हाथ ऊँचा होता है। यह दो प्रकार का होता है, लाल और सफेद। इसका सारा वृक्ष दवाई के रूप में काम आता है।

गुण—कफघ्न, उष्ण, मूत्रल है। इसमें से क्षार निकलता है। यह क्षार मूत्र-विरेचक है। इसकी जड़ के काढ़े को पिलाने से प्रसव जल्दी होता है। इसकी बाल को गर्भाशय के मुँह पर छुवाने से भी प्रसव तुरन्त हो जाता है। इसके बीजों को दूध में खीर बनाकर खाने से कई दिनों तक भूख नहीं लगती, इसलिये भस्मक-रोग की उत्तम चिकित्सा है। इसके बीजों का चूर्ण कण्डू और पसीने को हटाता है। इसमें संग्राही गुण होने से इसे प्रदर में भी काम लाते हैं। क्षार में "पोटाश" होने से इसका क्षार कास, श्वास, कफ-रोग में भी काम आता है। क्षार में या पञ्चाङ्ग में काढ़े में सिद्ध किया हुआ तिल तैल कान में डालने से कर्ण-शूल (बधिरता) नष्ट होती है। क्षार को हरताल के साथ मिलाकर लगाने से त्वचा से ऊपर की कालिमा मिटती है। इसका फूल

या मूल पानी में पीसकर बिच्छू या ततैये के कटे स्थान पर लगाने से विष उतर जाता है। इसके बीजों को पीसकर तण्डुलोदक के साथ लेने से अर्श का खून बन्द होता है। गर्भवती स्त्री की नाभि और पेडू पर किया गया इस की जड़ का लेप शीघ्र प्रसव कराता है। बनावट—क्षार तैल।

६. **अजमोदा**—यह हिन्दुस्तान में सर्वत्र पाया जाता है। इसके वृक्ष शीतकाल में लगाये जाते हैं, इसके पुष्प सफेद होते हैं। पुष्प गिरने के पीछे दाने उत्पन्न होते हैं। इसके बीजों में से तेल निकलता है, जो दवाई की तरह काम आता है। इसके तैल में से एक वस्तु 'थाईमोल' नाम की सफेद रङ्ग की अलग बनाई जाती है।

गुण—उष्ण, वात-हर, कृमि-नाशक, दीपन, पाचन, शूल-नाशक, एवं उत्तेजक है। पेट-दर्द और कृमि-नाशक रूप में यह अमोघ औषधि है। शायद ही कोई प्रयोग इन दोनों रोगों का ऐसा होगा, जिसमें अजमोदा का योग न हो, नहीं तो सबमें इसका उपयोग है। थाईमोल भी पेट के कीड़ों में, दाँत के कीड़े को मारने के काम आता है। बनावट—अजमोदादि चूर्ण, यवानी खाण्डव-चूर्ण, अजमोदादि गुटिका।

७. **उड़द**—उड़दों की खेती भारत में प्रायः सब स्थान पर होती है। उड़द दो प्रकार के होते हैं, एक काले रंग का और दूसरा हरे रंग का। उड़द दवाई के रूप में प्रायः कम काम आता है। इसको मांस का प्रतिनिधि समझते हैं। औषधि के रूप में इसका गुण पौष्टिक, वातहर, वीर्यवर्द्धक, मूत्रल तथा स्तन्य-वर्धक है। उड़द की दाल के लड्डू बनते हैं। पीपवाले फोड़ों पर इसकी पुल्टिस काम देती है। दाल खाने से दूध बढ़ता है। बनावट—माषादि मोदक।

८. **अतीस**- अतीस के पौदे हिमालय में कमाऊँ तक, शिमले और चम्बा के आसपास होते हैं। प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में श्वेत, भूरी और लाल इन तीन जातियों का वर्णन आता है। अतीस में कीड़ा बहुत जल्दी लगता है, इससे इसका आटा शीघ्र खराब हो जाता है। स्वाद कड़वा लगता है, बालकों के अतिसार के लिये यह एक उत्तम दवा है।

गुण—कटु, पौष्टिक, ज्वरघ्न और कृमिघ्न है। अतिसार, खाँसी, विष तथा ज्वर को मिटाती है। आधुनिक चिकित्सक ज्वर के चढ़ने से ४-५ घंटे पूर्व, २० से ३० ग्रेन की मात्रा में देते हैं। ज्वर और बच्चों के अतिसार

के लिये अमोघ औषधि है। इसका चूर्ण शहद के साथ चाटने से खाँसी मिटती है। बनावट—अति विषादि-काथ, कृष्णादि-चूर्ण और वात चतुर्भद्रिका।

९. अफीम—आर्य-वैद्यक में प्राय: अफीम का उपयोग नहीं मिलता। यह हिन्दुस्तान में प्राय: सब जगह मिलती है। खसखस के वृक्ष में से अफीम बनती है, यह वृक्ष ३-४ हाथ ऊँचा होता है।

गुण—स्नायुवों को ढीला करनेवाली, गरम पसीना करनेवाली, कफघ्न तथा विषकारक है। अफीम संग्राही होने से अतिसार और रक्त को बन्द करती है। पीड़ा-शामक होने से प्राय: अन्त: और बाह्यरूप में उपयोग होती है। निद्रा लानेवाली है, इसीसे दर्द के कारण यदि नींद न आती हो, तो उत्तम है। स्तम्भक एवं संग्राही होने से वीर्य-स्तम्भकरूप में बरती जाती है; मधु-मेह में लाभ करती है। अफीम शोषक गुण रखती है, इसीलिये शुष्क-काम में लाभकारक नहीं है। अफीम दूध को सुखाती है, अत: दूध पिलानेवाली माताओं को नहीं देना चाहिये। बनावट—अहिफेनासव, अहि-फेनादि गुटिका।

१०. अमरबेलि—यह भारत में सब स्थान पर मिलती है। यह बड़ी भारी पीले रंग की बेल होती है, वृक्ष पर चढ़कर अपना सम्बन्ध पृथ्वी पर से उठा लेती है। इसके फूलों में से मीठी सुगन्ध आती है।

गुण—पित्तशामक, ग्राही, कड़वी, थोड़ी मधुर, हृदय के लिये हितकारक, कफघ्न और आमनाशक है। यूनानी चिकित्सा में शोथ-रोग के लिये इसे अमोघ औषधि माना है। इसका काढ़ा यकृत और उन्माद-रोग में बहुत ही लाभदायक होता है। यह रेचक गुण रखती है। इसको पीसकर लेप करने से खुजली और पामा मिटती है। इसका काढ़ा पिलाने से आँवल जल्दी गिर जाती है। इसके काढ़े से जलोदर मिटता है।

११. अम्लवेतस—अम्लपंचक में से यह भी एक अम्ल है।

गुण—अतिअम्ल, कषाय, गरम, वातघ्न, अरोचक-हर है। अग्नि-दीपक, पित्तकारक है। उदावर्त्त-रोग में अजीर्ण में उत्तम है।

१२. अर्जुन-वृक्ष—यह हिन्दुस्तान के संयुक्तप्रान्त में, बिहार में, दक्खिन में प्राय: होता है। अर्जुन-वृक्ष ६० से ८० फ़ीट ऊँचा होता है। इसकी गोलाई १० से २० फीट तक होती है। छाल श्वेत, खाकी, भूरी या बैंजनी रंग की होती है।

गुण—शीतल, पौष्टिक और स्तम्भक है। हृद्-रोग में अर्जुन की छाल विशेषत: उपयोगी होती है। क्वाथ, चूर्ण, घृत आदि रूप में इसका उपयोग होता है। टूटी हुई अस्थि के लिये इसका चूर्ण उत्तम है। इसका अन्त: और वाह्य दोनों प्रकार से उपयोग होता है। इसकी छाल का चूर्ण घिसकर लगाने से मुँह की छाया मिटती है।

१३. **अडूशा**—अडूशा के पौदे सब जगह पाये जाते हैं। सफेद और काले फूलों के भेद से यह दो प्रकार का है। इसके फूल का आकार सिंह के मुँह के समान होता है, इसलिये इसको "सिंहास्य" भी कहते हैं।

गुण—कफघ्न, रक्तस्तम्भक, ज्वरघ्न। कामला, ज्वर, रक्तपित्त, क्षय-रोग के लिये एक अमोघ औषधि मानी हुई है। कास और श्वास में पुटपाक से बनाया हुआ स्वरस बहुत ही लाभ करता है। बनावट—वासा स्वरस, वासा पुटपाक, वासादि-क्वाथ, वासासव, वासावलेह, वासा घृत।

१४. **अरलु**—इसके वृक्ष संयुक्तप्रान्त, बिहार, गुजरात में मिलते हैं। इसके वृक्ष की उँचाई ६० से ८० फीट तक होती है। दवा के लिये छाल और मूल का उपयोग होता है।

गुण—कटु, पौष्टिक, ज्वरघ्न, ग्राही, स्वेदन, दीपन है। अतिसार और रक्तातिसार में इसका उपयोग होता है। इसकी छाल के पुट-पाक में या स्वरस में मोचरस और शहद मिलाकर देने से सब प्रकार के अतिसार मिटते हैं। बनावट—अरलु पुट-पाक।

१५. **अरणी**—गुजरात, सीलोन, बङ्गाल में बहुतायत से होता है। इसकी उँचाई ५ से ११ फीट होती है। छाल का रङ्ग श्वेत, भूरा-सा होता है। फूल श्वेत, सुगन्धित होता है। इसका मूल दशमूल में काम आता है।

गुण—वातहर, शोथघ्न, कफघ्न और संदल है। इसके पत्तों का रस अथवा पत्तों को सेंककर शोथ-युक्त स्थान पर बाँधते हैं। डा० पाण्डुरंग गोपाल अपने आर्य-औषधि-संग्रह-कोष में लिखते हैं कि इसकी छाल का चूर्ण २ माशा लेने से पित्त की उल्टी होती है और स्वेद आता है। इसके काढ़े के पिलाने से वसा प्रमेह मिटता है। बनावट—अग्नि-मन्थ क्वाथ।

१६. **अरीठी**—यह वृक्ष दक्षिण भारत तथा सिंहल-द्वीप में बहुत होता है। इसका आकार बहुत कुछ महुवे से मिलता-जुलता है। डा० डीमोक के कथनानुसार यह दो प्रकार का होता है। रीठे में मैल काटने का तथा चिकनास-गुण होता है। यह कपड़ा धोने के काम प्रायः आता है। दवाई के लिये इसका उपयोग बहुत कम होता है।

गुण—उष्ण, तीक्ष्ण तथा लेखन-गुण करता है। नस्य और वमन के लिये इसका उपयोग होता है। रीठे का पानी पीने से उल्टी होती है। इसलिये विष-चिकित्सा में लाभदायक है। रीठे का बीज गर्भपात करने में तथा ऋतु-प्रवृत्त करने में काम आता है। नाक में इसका पानी डालने से चेतनता आती है, इसलिये हिस्टीरिया रोगी के लिये उत्तम है। बिच्छू या कनखजूरे के दंश पर इसका लेप करना चाहिये। रीठे का निकला हुआ पानी पिलाने से मूत्रकृच्छ्र-रोग मिटता है। रीठे के पानी में पीसकर नस्य देने से अर्धशीशी दूर होता है।

१७. **अहालिम**—यह प्रायः सब स्थानों पर बोये जाते हैं। इसका दाना राई जैसा होता है।

गुण—वात-हर, कफघ्न, शोधक तथा पौष्टिक है। खाने से यकृत तथा प्लीहा के जमे हुये रक्त को तोड़ता हैं। संधिवात, कमर के दुखाव में इसका उपयोग उत्तम है। इसका लेप अस्थि-भंग में मैदा की लकड़ी के साथ करने पर बड़ा लाभ करता है। जल्दी प्रसव कराने में इसका काढ़ा उत्तम है। इसके काढ़े से गर्भपात हो जाता है।

क्वाथ करने की विधि—दरकच किये हुये दो तोले बीज और मुलहट्ठी ३॥ माशे, पानी १२॥ छटांक में १० मिनट तक उबालना चाहिये।

१८. **अलसी**—अलसी का दाना लाल रंग का होता है। इसका दाना बहुत कुछ कुलत्थी से मिलता है। इससे तेल निकलता है। यह तेल लकड़ी के ऊपर पॉलिश करने के काम आते हैं। इसका दाना पुल्टिस के रूप में सर्वत्र काम में आता है।

गुण—शीतल तथा मूत्रल है। मूत्र के रुकने में, पथरी की जलन में इसकी चाय काम में आती है। सूजाक में इसका तेल काम में आता है। अस्थि टूटने पर इस तैल का लेप विशेष काम में आता है। सन्धिवात,

निमोनिया, शोथ, छाती के दुःख में पुलटिस बाँधने से लाभ होता है। चूने के पानी में अलसी का तेल मिलाकर जले हुये स्थान पर लगाने से लाभ होता है। इस तैल का उपयोग कॉडलिवर ऑयल के स्थान पर हो सकता है। इसका आटा बहुत ही पौष्टिक होता है। इसको पौष्टिकरूप में काम लाते है।

१९. **आक**—आक का झाड़ सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह दो प्रकार का होता है, श्वेत और लाल। इसके फल में गिरी नहीं होती, इसमें से रुई निकलती है। इसके सब पञ्चाङ्ग दवाई के काम आते हैं।

गुण—१—उष्ण, शोधक, स्वेदक, वामक, कफघ्न, क्षोभक और वातहर है। आक पारद की भाँति गुणकारी है, इसका उपयोग लम्बे समय तक करना चाहिये। इसमें से 'इमेटीन हाइड्रोक्लोरेट' नाम का तत्त्व निकलता है। प्राचीन काल में इसको उत्तम विरेचन पदार्थ गिना जाता था। आक की मूल की छाल में पसीना लाने का और उल्टी कराने का विशेष गुण है। इसलिये चर्म-रोगों में, यकृत के रोगों में, जलोदर में काम आता है। २—आमवात में, रक्तातिसार में तथा उपदंश के विकार में छाल की १॥ माशा मात्रा की फाँकी दिन में तीन-चार बार देनी चाहिये। ३—अरबी हकीम मीर अब्दुलहमी का कहना है कि श्वित्र-रोग में इसके दूध मे भिगोया हुआ अन्न खाना चाहिये। ४—डा० रॉयल तथा डा० प्लेफेर का कथन है कि श्लीपद (हाथी-पाँव) रोग में ३ से ६ रत्ती आक की छाल में १॥ ग्रेन "कैलोमल" मिलाकर गोली के रूप में दो-तीन बार देने से लाभ होता है। ५—मूल की छाल का चूर्ण २ से ३ माशे आधे से एक घन्टे के अन्तर में लेने से अच्छी प्रकार झाड़ा होकर उल्टी होती है। ६—इसका फूल जठराग्नि को बढ़ाता है, इससे अरुचि, अतिसार, खाँसी, श्वास तथा अर्श-रोग में भी फायदा करता है। ७—अर्क-फूल और मिर्च मिलाकर गोली बनाकर खाने से खाँसो और श्वास में लाभ होता है। इसमें यदि थोड़ी-सी अफीम और यवसार थोड़ा-सा मिला दें, तो तत्काल लाभ करता है। इसका दूध अभ्रक आदि की भस्म बनाने में काम आता है। दर्द या पेट पर आक के पत्तों पर घी लगाकर गरम करके बाँधने से लाभ होता है। पके हुए पीले पत्ते का रस कान में डालने से बाधिर्य और कर्ण-शूल नष्ट होता है। इसके रस से जू आदि रक्त-क्रमि मरते हैं।

स्नायुक —(नहरवा) क्रमि को निकालने या मारने के लिये पत्तों पर एरण्ड का तेल लगाकर बाँधने से क्रमि निकल आते हैं, और दूध में रुई

भिगोकर रखने से मर जाते हैं। संधिवात पर भी पत्तों का सेंक सूजन कम करता है। पत्तों और सैंधानमक को एक बन्द हाँडी में जलाकर राख बना लेना चाहिये। यह क्षार तक्र के साथ पीने से प्लीहा, यकृत, उदर में विशेष लाभ करता है। लाल फूल के आक का फूल और कालीमिर्च समान भाग लेकर पाँच-पाँच ग्रेन की गोली बनाकर खाने से हिस्टीरिया, मृगी में लाभ होता है, ऐसी लोगों की मान्यता है। खेंचतान, आक्षेप व्याधि में भी लाभदायद है। आक के दूध को सुखाकर यदि उसकी एक-एक ग्रेन की गोली बनाकर रख ली जाय, तो वह छाल तथा फलों की अपेक्षा अधिक प्रभाव रखती है। अर्क एक प्रकार का उपविष है, अतः इसका उपयोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिये। आक के मूल की छाल को छाछ में पीसकर अण्ड-वृद्धि पर लगाने से लाभ होता है।

२०. **अंकोल**—अंकोला का वृक्ष समस्त भारतवर्ष में मिलता है। इसके कई रूप हैं। इसका झाड़ कनेर के झाड़ के समान होता है; पत्ते भी कनेर के पत्तों से मिलते हैं। फूल श्वेत होता है। औषधि के काम में इसका मूल आता है।

गुण—शोधक, स्वेदल तथा कान्तिकारक है। चूहे तथा कुत्ते के विष में इसकी लकड़ी घिसकर पिलाई और स्थान पर लगाई जाती है। कइयों का विचार है कि इसमें विष प्रतियोगी गुण है, अतः विष-रोग में यह उत्तम औषधि है। रेचक और वामक गुण के लिये सर्पदंश, मूसिकादंश में भी काम आता है। वमन के लिये मात्रा ३ माशे से ६ माशे तक है। पसीना लाने के लिये ३ से ५ रत्ती तक इसकी फँकी देनी चाहिये।

२१. **आर्द्रक**—एक प्रकार का कन्द होता है। यह पहाड़ी तथा पानीवाले प्रदेश में बहुत होता है। इसका वृक्ष एक हाथ ऊँचा होता है। पत्ते इलायची के ढङ्ग के होते हैं। इसका अचार बनता है।

गुण—उष्ण, दीपन, पाचन, वात और श्लेष्म-नाशक तथा रुचिकर है। आर्द्रक के रस में शहद मिलाकर चटाने से बलगम दूर होती है। हृदय-रोग तथा ज्वर में, शूल में लाभकरता है। जठराग्नि को बढ़ाता है, भोजन में रुचि उत्पन्न करता है। इसकी मात्रा ½ तोला से २ तोला है। आर्द्रक ही से सोंठ

बनती है। आर्द्रक के ऊपर के छिलके को उतारकर धूप में सुखाने से यह सोंठ में बदल जाता है। यह सड़ न जाय, इसलिये इसको चूने के पानी में उबाल देते हैं। बनावट--१. आर्द्रक-स्वरस, २. आर्द्रकावलेह।

२२. **अम्लिका**—इमली का वृक्ष सर्वत्र देखने में आता है। यह मृदु, रेचक है। दवाई के रूप में इसकी छाल, पत्ते और फल काम में आते हैं। इसकी छाल में खार होता है। यह खार "शंखवटी" औषधि में पड़ता है। इसके पत्ते ठण्डे होने से शोथ-युक्त आँख पर एवं भिलावे की गरमी पर लगाने से ठन्ड देते हैं। इसी प्रकार जमालगोटे के कारण उत्पन्न हुए उपद्रवों को शान्त करने के लिये इमली का शरबत पिलाना चाहिये। गर्मियों में चलती लू या गरमी को, ज्वर की प्यास को इमली का हिम-क्वाथ खाँड़ के साथ देने से चमत्कारिक प्रभाव होता है। इससे पेशाब की जलन भी कम हो जाती है। पकी इमली के अधिक खाने से जोड़ों में दर्द हो जाता है, सन्धियाँ अकड़ जाती हैं। इसके बीजों को घिसकर फुन्सियों पर लेप किया करते हैं। इसके बीजों को पीसकर भग में मलने से संकोचन होता है। इमली के पानी से कुल्ला करने पर मुख-पाक मिटता है। इमली के बीजों की मींगी और बावची दोनों को पानी के साथ पीसकर लेप करने से श्वेत दाग मिटते हैं।

२३. **आँवला**—इसके वृक्ष भारत के उष्ण भाग में प्राय: मिलते हैं। यह वृक्ष ३०-४० फीट ऊँचा होता है। छाल भूरी और पतली होती है। पत्ते प्राय: इमली-जैसे होते हैं। कच्चा फल हरा और कड़वा होता है; पकने पर पीला, लाल-सा और स्वाद में मीठा हो जाता है। यह एक अमूल्य रसायन है। आर्य-वैद्यक में इसकी बहुत ही प्रशंसा की गई है। यहाँ तक कि इसके सेवन से बुड्ढा भी जवान बन जाता है। आँवला पौष्टिक है।

गुण—१—अम्ल, शीतल, पित्तशामक, शोधक, सारक, पौष्टिक, वृष्य और रसायन है। आँवला तीनों दोषों का शमन करता है। क्षय-जैसे रोग में च्यवन-प्राश के रूप में आँवला विशेष फायदा करता है। २—आँवला आँख तथा बालों को लाभ करता है। ३-दाह, पित्त, उल्टी में लाभ करता है। ४-प्रमेह के लिये उपयोगी है। शोधक गुण के लिये रक्त-विकार में तथा शरीर की कान्ति के लिये इसका चूर्ण त्वचा पर मला जाता है। ५-रक्त-पित्त या अतिसार में आँवला स्तम्भिक प्रभाव रखता है। इसके चूर्ण के सेवन से प्रदर और बहूमूत्र-रोग कम होता है। उर:-क्षत रोग-अंत्र-जन्य

रक्त-पित्त, मूत्रमार्ग-जन्य रक्त-पित्त आदि रोगों में आँवला विशेष उपयोगी है। आँवले के चूर्ण को आँवले के रस में भावना देकर सेवन करने से वाजीकरण होता है। आँवले का चूर्ण लोह-भस्म के साथ खाने से पाण्डु, कामला आदि रोग नष्ट होते हैं; शरीर में रक्त बढ़ता है। बनावट धात्री-स्वरस, आमलकी रसायन, धात्र्यासव, च्यवनप्राशावलेह, आँवले का मुरब्बा।

२४. आम्बाहल्दी—इसका वृक्ष बंगाल में और कहीं-कहीं गुजरात में मिलता है। इसके पत्ते कमल-जैसे होते हैं। इस पेड़ के तने में गाँठे होती हैं। इन गाँठों में से आम या महुवे-जैसी गन्ध आती है। इसकी गाँठों का उपयोग अचार के रूप में या कच्चे रूप में व्यञ्जन के साथ किया जाता है। इसका लेप जमे हुये रक्त को हटानेवाला है।

गुण—रोपण, कफघ्न, शोधक और वर्णकारक है। रोपण गुण के लिये रक्त-विकार की औषधियों में पड़ती है। गुम चोट के ऊपर सज्जी, क्षार, मैदा, लकड़ी और इसको पीसकर गरम करके लेप करने से जल्दी आराम होता है। खाँसी, तथा श्वास-रोगी एवं निर्बल फेफड़ेवाले व्यक्तियों को इसका उपयोग निरन्तर करना चाहिये।

२५. आम—आम का पेड़ मशहूर है। औषधि के रूप में इसकी छाल, पत्ते, गुठली और फूल काम में आते हैं।

गुण—पित्त-शामक, ग्राही, कृमि-नाशक और पौष्टिक है। पित्त-शामक और ग्राही होने से इसके छाल का काढ़ा या पत्तों का पुटपाक अथवा गुठली का चूर्ण अतिसार तथा रक्त-स्राव में विशेष लाभकारी है। आम के पके हुये फल का रस कृमिघ्न है और कच्चा सूखा हुआ फल दन्तवेष्टन की शोथ तथा रक्त-स्राव को रोकता है। प्रमेह को नष्ट करता है, शरीर को बढ़ाता है, मन को प्रसन्न करता है। शरीर की कान्ति बढ़ाता है, संभोग-शक्ति की वृद्धि करता है। खट्टा आम आँखों के लिये नुकसानदायक है। बनावट—आम का मुरब्बा

२६. आवर्त्तकी—इसके वृक्ष प्राय: मध्यभारत, दक्षिण-प्रदेश, सीलोन, और राजपूताने में मिलते है।

उपयोग—इस वृक्ष के प्राय: सब अंग काम में आते हैं। इसके पंचांग आदि चमड़े को रँगने के काम आते है। लोग दवाई की तरह इसके उपयोग बहुत कम करते है।

गुण—शोफघ्न, ज्वरघ्न, कफघ्न, पित्तघ्न और ग्राही है। इसके बीजों का लेप करने से आँख की पीड़ा और पीप का बढ़ना बन्द होता है। छाल बहुत संकोचक होती है। शूल, प्रवाहिका, मरोड़ा, उल्टी में मूत्र का काढ़ा दिया जाता है। पेट पर चोट लगने से इसके पत्ते बाँधे जाते हैं। चोट लगने पर तो इसके पत्ते तेल में पीसकर हल्दी के साथ मिलाकर बाँधने चाहिये। यदि अंग अकड़ गये हों और वायु शरीर में जोर कर रही हो, तो इसके पत्तों को चारपाई पर बिछाकर नीचे से आग रखनी चाहिये। इससे अंग खुल जाते हैं। इसके पत्तों को बाँधने से कठिन अंग नर्म पड़ जाते हैं। स्त्रियों के प्रदर तथा रक्त-स्राव में इसके फूल की सोगठी पिलाई जाती है। शर्करा-मेह और बहुमूत्र को रोकने के लिये फूल का काढ़ा दिया जाता है। इसके फूल का गुलकंद प्रमेह तथा प्रदर के काम आता है। इसके फूल का उबटन शरीर को चम्पक-वर्ण बना देता है। पशुओं के लिये भी औषधि के तरीके इसका उपयोग बहुत होता है। बैल को अफारा चढ़ने पर इसका काढ़ा दिया जाता है। पशु के मुँह से लार गिरती हो, घास न खाता हो, तो इसके पत्तों को नमक के साथ मिलाकर उसकी जीभ पर मलना चाहिये।

२७. अश्मन्तक—यह संयुक्त-प्रान्त में बहुतायत से मिलता है। इसका झाड़ सीधा होता है, इसका फूल छोटा और श्वेत रङ्ग का होता है। इसकी फलियों का स्वाद कसैला और मीठा होता है। यह शुद्ध कचनार नहीं है, परन्तु कचनार से मिलता-जुलता है। इसके पत्ते दो भागों में बँटे हुये होते हैं, इसीसे इसको 'युग्मपत्र' भी कहते हैं। दवाई के रूप में इसकी छाल तथा मूल का उपयोग बहुत होता है।

गुण—छाल का रस कषैला और मधुर है और गुण ठण्ढा और कृमिघ्न है। कोढ़, गुद-भ्रंश, विष, गण्डमाला, विदाह, कंठ-रोग तथा रक्त-विकार में लाभ करता है। इसकी मूल की छाल का काढ़ा यकृत-शोथ में उपयोगी है। कृमिघ्न होने से कृमि-जन्य हृदय-रोग में लाभ देता है। इसके काढ़े में दूध मिलाकर पीने से हृदय-रोग मिटता है। कचनार के स्थान में बहुत-से आदमी इसका उपयोग करते हैं। गुजरात में इसके पत्ते प्रायः बीड़ी बनाने के काम आते हैं।

२८. अशोक—इसके वृक्ष प्रायः सब स्थानों पर मिलते हैं। इसका वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता। इसके पत्ते प्रायः १ फुट लम्बे होते हैं। फूल

बैंजनी रंग के होते हैं, वे फिर धीरे-धीरे लाल हो जाते हैं। इसकी छाल गर्भाशय के रोगों में बहुत काम आती है। इसकी छाल के काढ़े में दूध मिलाकर पिलाने से तीव्र रक्त-प्रदर मिटता है। छाल का काढ़ा पिलाने से रक्तार्श का रुधिर बन्द हो जाता है। हृदय के लिये हितकारी है एवं पित्त, दाह, श्रम, रक्त-पित्त, गुल्म, उदर-शूल, प्रदर तथा विष-रोग को मिटाती है। अशोक का मुख्य उपयोग गर्भाशय के विकार को दूर करने में आता है। बनावट—अशोकारिष्ट।

२९. अश्वगन्ध —यह एक प्रकार का पौधा है। यह भारत के सूखे प्रदेश में होता है। पंसारियों के यहाँ असगन्ध नाम से जो टुकड़े मिलते हैं, वे असली असगन्ध नहीं, असली असगन्ध अँगूठे जितना मोटा और थोड़ा-सा मधुर होता है। इसके पत्ते सुअर के कान जैसे होते हैं,इसलिये इसको वराह-कर्णी कहते हैं। इस औषधि में पुरुषत्व देने की शक्ति है, इसलिये इसे अश्व-गन्ध या वाजिगन्धा कहते हैं। इसकी गन्ध घोड़े के समान होती है। इसमें फल के स्थान पर पोपटा आते हैं, पकने पर बीज लाल रत्ती-जैसे हो जाते हैं। औषधि के रूप में इसकी जड़ काम आती है। यह पौधा मादक-गुण-युक्त माना जाता है, इसकी जड़ घिसकर प्लेग की गाँठ पर लगाई जाती है। इसके और सोंठ के चूर्ण को घी में भूनकर दूध के साथ लेने से सन्धि-वात, गृध्रसी में लाभ करता है। इसका चूर्ण घी या दूध के साथ लेने से शरीर की पुष्टि करता है।

गुण—पौष्टिक,धातु-वर्द्धक और शोधक है। शक्ति देने के लिये और पुरुषार्थ बढ़ाने के लिये इसका स्थान काष्ठौषधि में सबसे ऊपर है। यह कई पौष्टिक पाकों में पड़ता है। कृश आदमी को मोटा करने के लिये इसका उपयोग उत्तम है। असगन्ध का काढ़ा, लोंढ़ी, पीपल, घी तथा शहद इन चीजों को मिलाकर देने से शरीर में शक्ति आती है। असगन्ध, काले तिल और खजूर इनको घी में भूनकर खाने से दुबले पुरुष मोटे होते हैं, छोटे ठिगने बड़े होते हैं। वात-रक्त के लिये इसको चोपचीनी के साथ देना चाहिये। गर्भवती स्त्री को पौष्टिक रूप में इसका सेवन करने से बालकों की वृद्धि होती है। इसके चूर्ण में खाँड़ मिलाकर मासिक-धर्म में जाता हुआ अधिक रक्त बंद होता है। बनावट—अश्वगंधादि-चूर्ण, अश्वगंधारिष्ट, अश्वपाक, अश्वगंधघृत।

३०. **इंगुदी**—इंगुदी के वृक्ष कानपुर से सिकम तक, बिहार, गुजरात, खानदेश, दक्खिन आदि कई देशों में होते हैं। इसका वृक्ष ३० फीट ऊँचा और कँटिदार होता है।

गुण—कटु, उष्ण, कृमिघ्न, शूलघ्न। इसके बीज रेचक हैं। सर्प-विष-हर है। इसका तेल व्रणों को भरने के काम आता है। यह तेल इसके बीजों में से निकलता है। बीज कफ में २ से ३० गेहूँ भर दिये जाते हैं। इसके फूलों को पानी में भिगोकर उसका सत्त्व निकालना चाहिये। इस सत्त्व के साथ सोंठ, अगर, पीपल मिलाकर शहद के साथ कालीमिर्च के बराबर गोली बनानी चाहिये। यह गोली हिस्टीरिया-रोग में उत्तम है। इसकी छाल की फक्की देने से पेट के कीड़े मरते हैं। इसकी मींगी को पानी में घिसकर अंजन करने से आँख की ज्योति बढ़ती है। तेल को शरीर पर मर्दन करने से कान्ति बढ़ती है।

३१. **इन्द्रजौ**—जिसके ये बीज हैं, उस वृक्ष का नाम कुडा है। इसकी फलियों में से बीज निकलते हैं। इसकी छाल बहुत कड़वी होती है। इसके बीज जौ के आकार के होते हैं, परन्तु वे जौ से ज़रा अधिक लम्बे होते हैं।

गुण—संग्राही, दीपन, पाचन, ज्वरघ्न तथा कृमिघ्न, अतिसार, रक्तातिसार, अर्श, बालकों की प्रवाहिका में, कृमि-रोग में व्यवहृत होता है। वाय-विडंग के साथ देने से इसका कृमिघ्न गुण विशेष लाभ करता है।

३२. **इन्द्रवारुणी**—इसकी बेल पश्चिमोत्तर प्रदेश में, राजपूताने में प्रायः होती है। यह बहुत ही कड़वा फल होता है। फल का रङ्ग पीला होता है। इसकी जड़ और फल दवा के काम में आते हैं।

गुण—रेचक, उष्ण, कामक, कृमिघ्न तथा पित्तघ्न है। यह एक संशोधक द्रव्य है। उदर-रोग में, रजोनिरोध में, मूढ़-गर्भ में, गर्भ को बाहर निकालने में, प्लीहा तथा यकृत-रोग में इसका उपयोग होता है। इसके फल का चूर्ण या काढ़ा तीव्र रेचक है। इसको सँभालकर और औषधियों के साथ में देना चाहिये। इसकी जड़ योनि में रखने से रजः-प्रवृत्ति होती है और गर्भपात होता है। तीव्र रेचक गुण के कारण कामला, पाण्डु में लाभदायक है। अनार्य-चिकित्सा में इसका सत्त्व काम में आता है, जिसका नाम कोलोसिन्थ

है। श्वास-रोग का उत्तम औषधि है। इसकी जड़ को पीसकर, गौ के घी में मिलाकर भग में लगाने से बच्चा तुरन्त सुख से पैदा हो जाता है। इसके पके हुए फल की धूनी देने से दाँत का कीड़ा मर जाता है। इसके रस में रुई का फाहा भिगोकर रखने से बच्चा तुरन्त पैदा हो जाता है। इसकी जड़ को गाय के दूध के साथ कई दिन तक लेने से बाल काले हो जाते हैं। बनावट – विशाला चूर्ण।

एक दूसरी प्रकार का इन्द्रायन होता है। इसका फल लाल रङ्ग का होता है। बीज नारंगी के रंग के होते हैं। इसके फल को पीसकर नारियल के तेल में मिलाकर लगाने से कान तथा नाक के व्रण एवं कृमि-युक्त दुष्ट व्रण भी अच्छे हो जाते हैं। फल को चिलम में रखकर पीने से श्वास मिटता है।

३३. ऊँटकटेरा — यह मारवाड़ में बहुत होता है। इसका पौधा कटैली जैसा होता है, इसमें गोल डोडे लगते हैं। फल, डाली और पत्तों पर सीधे काँटे होते हैं। इसका फूल आसमानी रङ्ग का होता है। इसकी जड़ की छाल को गरम काढ़े के रूप में देने से प्रसव के समय स्त्री को अधिक कष्ट नहीं होता। इसकी जड़ को पीसकर गर्भवती स्त्री के पेट पर लेप करने से बालक सुख से पैदा होता है। तालमखाने, मिश्री और इसकी जड़ की छाल के चूर्ण की फङ्की देने से मूत्रकृच्छ्र मिटता है। इसकी सूखी जड़ के एक-एक तोले चूर्ण को मधु में मिलाकर ७ दिन खाने से अधिक पसीना आना मिटता है।

गुण—रुचिकर, वीर्य-वर्द्धक, कटु तथा मूत्र-कृच्छ्र, पित्त-वात, तृषा, हृदय-रोग और विस्फोटक मिटाता है। इसके बीज शीतल, वीर्य-वर्द्धक, तृप्ति-कारक और मधुर हैं।

३४. उन्दरकानी —यह अधिक उष्ण प्रदेशों की आर्द्र भूमि में, बिहार, दक्षिण हिन्दुस्तान में होता है। इसके छत्ते होते हैं, इनके गोल पत्ते जमीन पर चिपटे रहते हैं। इसके पत्तों का आकार चूहे के कान से मिलता है। इसका फूल पीला होता है। चूहे के दंश पर इसका स्वरस लगाना चाहिये। इसको कालीमिर्च के साथ घोंट-छानकर पिलाने से मूत्र का विरेचन होता है। इसके पञ्चांग को औटाकर पिलाने से बच्चों के श्वास, कास और पेट के रोग मिट जाते हैं।

गुण—शोधक तथा मूत्रल है। इसका स्वरस पिलाने से रक्त-विकार मिटता है। विसर्प में इसका रस लगाया जाता है।

३५. उपलसरी—इसको अनन्तमूल भी कहते हैं। इसका पौदा लम्बा होता है। बाज़ार में इसकी शाखायें इसके मूल के नाम से बिकती हैं। इसकी दो जाति हैं—एक काली और दूसरी सफेद। ऊपर से छिलका उतारने पर नीचे पीली लकड़ी दिखाई देती है। ताजे मूल में एक मीठी गन्ध आती है।

गुण—(चरक के अनुसार)—वर्णकारक, स्तन्य-शोधक, ज्वरहर और दाह-प्रशमक। (सुश्रुत के अनुसार)—वात-पित्त प्रशमन, रक्त-शोधक, रक्त-पित्तहर और शुक्र-दोषनाशक है। मूत्रल और स्वेदक है। उपदंश-रोग में, त्वचा के विस्फोटों में, संधिवात में इसका प्रयोग होता है। सारक औषधियों के साथ भी इसका प्रयोग होता है। इसके काढ़े के साथ अतीस देने पर अतिसार नष्ट होता है। इसके गुण को बढ़ाने के लिये इसे चोप-चोनी के साथ उपदंश में दिया जाता है। इसके जड़ के काढ़ा में मधु मिलाकर पाने से आँखों का नेत्र-रोग मिटता है। बनावट—सारिवादि-क्वाथ, अनन्तादिघृत।

३६. उपलेट—इसको साधारणत: कूठ कहते हैं। यह दो प्रकार की है, कड़वी और मीठी। इसके टुकड़े बाज़ार में आते हैं। ये अंगूठे जितने मोटे और काले, भूरे रंग के होते हैं। इसको कूटने से मीठी गन्ध आती है।

गुण—पौष्टिक, शोधक, वात-कफहर, श्वास-नाशक और जन्तु-नाशक है। इसका धुआँ देने से कृमि मरते हैं। ज्वर में इसका उपयोग श्लेष्मा को कम करता है। श्वास रोग की यह एक अमूल्य औषधि है, विशेषत: "स्पाजमेटिक दमे" के लिये इसका काढ़ा विशेष गुणकारी माना जाता है। गरम होने से हैजे में प्रभाव करता है। वायुनाशक होने से आक्षेप-रोग में लाभ करता है। बनावट—अग्निमुखचूर्ण।

३७. उदुम्बर—इसको गूलर कहते हैं। गूलर का पेड़ बहुत मोटा होता है। इसमें फल लगता है। फूल अभी तक देखने में नहीं आया। औषधि के रूप में इसकी छाल, फल और दूध काम में आता है।

गुण—शीतल, कफघ्न और पित्तहर है। इसके मूल की छाल का काढ़ा, स्वरस, या पुटपाक रक्तातिसार में काम आता है। इसका दूध बताशे में रखकर खाने से प्रमेह और उपदंश में लाभ करता है। इसके फलों का चूर्ण या भाजी मधुमेह रोग में विशेष लाभ करती है। शक्ति के लिये इसका दूध काम में आता है। स्त्रियों को खिलाने से दूध बढ़ता है। बच्चे का पोषण होता है। सब प्रकार के स्रावों को—रक्त-स्राव, मूत्र-स्राव को बन्द करता है। वीर्य और दूध को बढ़ाता है। बनावट—पंचत्वक्।

३८. ईक्षुगन्धा (तालमखाना)—इसका झाड़ दो-तीन हाथ ऊँचा होता है। इसके तने और डाली में गाँठें होती हैं। औषधियों में इसके बीज, छाल और मूल काम में आते हैं। इसके ताजे कटे हुये पौदे की गन्ध गन्ने से मिलती है, इसलिये इसको तालमखाना कहते हैं। इसका दाना काले-भूरे रंग का होता है।

गुण—धातु-पौष्टिक, शीतल, वृष्य और मूत्रल है। इसका उपयोग प्राय: अश्वगन्धा के साथ मिलाकर पौष्टिकरूप में किया जाता है। प्रमेह और मूत्र-रोग में इसका उपयोग लाभदायक रहता है। जलोदर, संधिवात और शोथ में लाभ करता है। असगन्ध, तालमखाने को शक्कर के साथ मिलाकर खाने से शक्ति आती है। इसके ताजे पत्ते खाने से कण्ठमाला मिटती है।

३९. एरण्ड—यह एक साधारण वृक्ष है। इसका पत्ता हाथ की भाँति पाँच स्थानों पर फटा होता है, इसलिये इसे "पञ्चाङ्गुल" भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं, लाल और श्वेत अथवा बड़ी और छोटी। बड़ा १० से १५ हाथ ऊँचा रहता है। इसकी लकड़ी खोखली कच्ची रहती है। बीज छोटा होता है। इन बीजों में से तेल निकलता है। यह तेल घरों में जलाने तथा साबुन बनाने के काम आता है। साफ़ किया हुआ यही तैल औषधि के तरीके काम में आता है। इसको "कैस्टर ऑयल" कहते हैं। औषधि के रूप में इसके जड़, पत्ते, छाल सब काम में आते हैं।

गुण—रेचक, शोधक और वातहर है।

एरण्ड-मूल के गुण—शोधक तथा सारक है, वातहर होने से वात-व्याधि तथा आमवात रोगों में काम आता है। कई काढ़ों में इसका उपयोग होता है। पसीना लाने का गुण इसमें होने से ज्वर में इसका

उपयोग होता है । पार्श्वशूल, सन्धिशूल, उदरशूल, में इसका काढ़ा लाभ करता है । प्रसूता तथा प्रसव के समय इसका उपयोग बहुत लाभ करता है । प्रसवकालीन वेदनाओं में दिया जाता है । इस समय इसके दशमूल के साथ मिलाकर देना चाहिये ।

एरण्ड-तैल—नवजात शिशु से लेकर वृद्ध व्यक्ति तक इसका उपयोग किया जा सकता है । गर्भिणी स्त्री के लिये भी इसका निषेध नहीं है । सुरक्षित और निरुपद्रवी विरेचन है । इसके पीने से किसी प्रकार का मरोड़ा आँतों में नहीं होता । इसकी दुर्गन्धि कम करने के लिये गरम दूध या गोंद के साथ मिलाकर लेना चाहिये । सोंठ के काढ़े में लेने से किसी भी प्रकार का मरोड़ा या शूल के होने का भय नहीं रहता । इससे हृदय-रोग और योनि-शूल मिटती है । वालोदर में, पेट के अफारे में, गुल्म में, कटि-ग्रह में, वात-रक्त में आमवात में तथा कब्जियत में इससे बहुत फायदा होता है । वायु का यह शत्रु है, इसलिये इसको "वातारि" कहते हैं । यदि मल के शुष्क होने से मरोड़े से मल आता हो या, वायु रुकी हो, तो एरण्ड-तैल से बढ़कर कोई और औषधि उत्तम नहीं है ।

पत्ते—इसके पत्तों पर घी या तेल लगाकर, गरम करके शोथ या दर्द-युक्त स्थान पर बाँधने से विशेष लाभ देखने में आता है । स्त्रियों के स्तनों के ऊपर बाँधने से दूध का स्राव कम हो जाता है । यदि गाँठ हो, तो वह घुल जाती है । एरण्ड-तैल का प्रभाव माता के दूध में भी आजाता है ।

बीज—व्रणों का शोधन, रोपण या पकाने के लिये इसके बीजों को पीसकर पुलटिस के रूप में काम में लाते हैं । बनावट—एरण्ड-क्वाथ ।

४०. एला (इलायची)—यह एक प्रकार के झाड़ का फल है । यह प्रायः मैसूर, कुर्ग, मलाबार, कोचीन में होता है । इसका वृक्ष हल्दी के वृक्ष से मिलता-जुलता है । इसका फूल श्वेत और लाली लिये होता है । इलायची का दाना मुखवास के रूप में खाया जाता है । यह दो प्रकार की होती है—छोटी और बड़ी ।

गुण—शीतल, वात और कफहर । श्वास, खाँसी, अर्श, मूत्रकृच्छ्र तथा प्यास में लाभ करती है । क्षय-रोग में, मूत्रकृच्छ्र रोग में तथा कष्ट के रोग में प्रायः बरती जाती है । अधिक खाने से गर्भपात होता है । इलायची का

चूर्ण, पाषाण-भेद और सर्ज-क्षार के खाने से मूत्र खुलकर आता है । इनके बीजों में से एक प्रकार का तेल निकलता है, जिसको पाचन तथा सुगन्धित गुण के लिये व्यवहार में लाते हैं । बनावट—एलादि चूर्ण, एलाद्यरिष्ट ।

४१. **एलुवा**—एक प्रकार का काला सूखा हुआ पदार्थ बाजार में इस नाम से मिलता है । यह पदार्थ घीक्वार के रस से बनता है । स्वाद में बहुत ही कड़वा होता है । इसका मुख्य तत्व "एलोईन" है । यह तत्त्व रेचक है ।

गुण—उष्ण, रेचक तथा ऋतु लानेवाला है । भेदन और उष्ण गुण होने के कारण गर्भवती स्त्री को देने से गर्भपात होने की सम्भावना रहती है । पेट के दुखाव में, शूल में इसका पेट पर लेप किया जाता है । गुदा के मस्सों पर लगाने से मस्से गिर पड़ते हैं । बंधकोष में लाभ करता है । हिस्टीरियावाली स्त्रियों को हीग के साथ देने से लाभ होता है; विशेषतः जब रोग का कारण रज-सम्बन्धी हो । इसमें खास गुण यह है कि इसके विरेचन के पीछे बद्धकोष नहीं होता । बनावट-- रजःप्रवर्त्तिनी वटी, कन्या-लोहादि गुटी ।

४२. **ईषवगोल**—इसका पौधा होता है । यह भारत में उत्पन्न नहीं होता, ईरान से आता है । अतः आर्य-चिकित्सा में इसका प्रयोग नहीं मिलता । यूनानी में इसका उपयोग बहुत होता है । इसके बीज पानी में भिगोने से इसमें लुवाब उठ जाता है ।

गुण—शीतल तथा ग्राही है । चीनी के साथ लेने से शरीर की गर्मी तथा रक्तातिसार को नष्ट करता है । हाथ-पाँव की जलन में इसके लुवाब को प्रातः चीनी के साथ लेना चाहिये । इसके पीने से शुक्र में उत्पन्न गर्मी कम हो जाती है । मरोड़ में खास उपयोगी है । दाँतों या जिह्वा की खुजली में इसका शीत कषाय बहुत लाभ करता है ।

४३. **कचूर**—इसका झाड़ होता है । इसके पत्ते हल्दी के पत्तों से मिलते हैं । इसकी जड़ में हल्दी जैसी गाँठ में रहती है । कपूरकचरी और कचूर ये दोनों एक जैसी हैं, अतः इनमें धोखा हो जाता है ।

गुण—शोधक, इसका रस कड़वा, तीखा और गरम है । यह अग्नि-दीपक और रुचिकर है । त्रिदोष-ज्वर में पाचन करने के लिये तथा त्वक-दोष-

हर कार्यों में इसका उपयोग होता है। सुगन्धित द्रव्यों में इसकी गिनती है, इसलिये सुगन्धित तेलों में इसका व्यवहार होता है। बनावट—शट्यादि-क्वाथ।

४४. कूठ—इसका वर्णन प्रथम (३६ में) आ चुका है। कुछ लोग "पुष्कर-मूल" को कूठ मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुष्कर-मूल जो साधारणत: "पोहकर-मूल" के नाम से बाजार में मिलता है, एक श्वेत, अँगूठे के समान लकड़ी है। इसका गुण श्वास-कासहर है। कफ-ज्वर में या कफ के विकारों में इसका उपयोग किया जाता है।

४५. कड़वी तोरी - यह वृक्ष जंगल में चढ़ती है। इसके बीज तरबूज जैसे काले होते हैं। इसके सम्पूर्ण अंग दवा के लिये काम आते हैं। इसके फल का छिलका उतारकर इसको पाँव आदि धोने के काम में लाते हैं।

गुण—ज्वरघ्न, रेचक तथा उल्टीकारक है। कफ तथा पित्त-नाशक है। शक्तिदायक तथा मूत्रल है। मलेरिया ज्वर में तथा जलंधर एवं प्लीहा-रोग में वरती जाती है। पत्तों का रस, शोथ तथा विष-जन्य व्रणों पर लगाये जाते हैं। इसका बीज रेचक है, वामक है। शुष्क तोरी का चूर्ण कामला-रोग में नस्य के रूप में नाक में दिया जाता है। इसका फल रेचक और वामक है, इसीसे विष गिना जाता है।

४६. कड़वी तुम्बी—जिसको तैरना सीखने के काम लाते हैं, जिससे सितार आदि बनते हैं और जिसको साधु लोग पानी के लिये बरतते हैं, यह तुम्बी भी औषधिरूप में काम आती है। इसका दूसरा भेद घिया कद्दू है, जिसकी हम भव भाजी बनाकर खाते हैं।

गुण—रेचक, कान्तिकारक तथा रज:-प्रवर्त्तक है। इसका बीज पौष्टिक और मूत्रल है। पत्तों का काढ़ा करके पीने से कामला में रेचन होता है। मूल अथवा पत्ते पानी में पीने से उल्टी होकर जहर होता है। कड़वी तुम्बी के बीज और लोध्र पानी में पीसकर योनि में लेप करने से संकोचन होता है। इसका शुष्क चूर्ण नाक में सूँघने से पानी झरकर शिर-दर्द कम हो जाता है।

४७. कटुनाही—नाही की बेलें पंजाब, सिध, गुजरात और दक्खिन में होती है। यह दो प्रकार की होती है—मीठी और कड़वी। यह बाँझ करेले की जड़ से बहुत मिलती है। नाही—कड़वी, कषैली, वामक, रेचक और उष्ण

है। रुधिर को शुद्ध करने और उपदंश को मिटाने के लिये इसका व्यवहार होता है। वायविडंग और इसके चूर्ण की फक्की देने से पेट के कीड़े मरते हैं। वैद्यक-ग्रन्थों में इसका वर्णन कहीं नहीं आता।

गुण—पौष्टिक, शोथघ्न है। इसकी गाँठ घिसकर पिलाने से मन्द ज्वर उतरता है।

४८. **कुटज**—"कुड़े की छाल" करके जो छाल बाजार में मिलती है, वह इसी वृक्ष की छाल है। इसकी छाल मोटी और वजन में हल्की होती है। स्वाद में बहुत कड़वी होती है।

गुण—स्तम्भक, रक्तशोधक, ज्वरघ्न, पित्त-शामक तथा दीपक है। अतिसार एवं रक्तातिसार में भिन्न-भिन्न रूप से दी जाती है। प्रवाहिका और रक्तातिसार में बहुत लाभ करता है। आर्य-शास्त्र में यह दवाई अतिसार के लिये, विशेषतः रक्तातिसार में बहुत लाभदायक है। रक्तार्श के ऊपर भी इसका असर बहुत क़ीमती होता है। विषम ज्वर तथा आंत्र-ज्वर में इसकी छाल लगभग क्वीनीन का काम करती है। बनावट—१. कुटजारिष्ट। २. कुटजावलेह।

४९. **कटुकी**—यह एक मोटी मूलवाली गाँठ है। इसके वृक्ष के पत्ते अंडे के आकार के होते हैं। इसकी पतली लकड़ी पंसारी के यहाँ मिलती है। ये लकड़ियाँ स्वाद में कड़वी, रंग में काली होती हैं। स्वाद में बहुत कड़वी होने से इसे "तिक्ता" कहते हैं।

गुण—सारक, भेदक, पाचक और ज्वरघ्न है। कुटकी अग्निदीपक, पाचक तथा तिक्त होने से ज्वर में लाभ करती है।

वीर्य में शीत है, पाचन में हल्की है। पित्त-शोधक एवं पित्त-शामक होने से इसका काढ़ा कामला में बहुत लाभ करता है। क्लोम में रुके हुये पित्त को अपने तिक्त और सारक गुण के कारण बाहर करती है। बालकों के लिये सारक और प्रभावशाली औषधि है। बनावट—तिक्तादि-काढ़ा, कुटकी-पाचन, कुटकी-चूर्ण और कडूभर्जित

५०. **करवीर**—हिन्दी और मराठी में इसे कनेर कहते हैं। इसका फूल श्वेत, लाल, पीला और गुलाबी चार प्रकार का होता है। औषधि के काम में प्रायः इसका मूल व्यवहृत होता है।

गुण—तीक्ष्ण, उष्ण तथा संग्राही है। प्रमेह, कुष्ठ तथा अर्श में काम आता है। यह विषैला वृक्ष है। इसका मूल घिसकर सर्प-दंश और वृश्चिक-विष पर लगाया जाता है। मूल को पेडू या भग पर लेप करने से प्रसव शीघ्र हो जाता है। इसके पत्ते काँजी में पीसकर दाद आदि चर्म-रोगों पर लगाये जाते हैं। बनावट—करवीरादि तेल।

५१. **काम्पीलल**—इसको कमीला कहते हैं। यह एक वृक्ष के ऊपर लगता है, उसके फल में से निकलता है। इसके वृक्ष के ऊपर गाँठें होती हैं। इसका रंग लाल होता है।

गुण—कृमिघ्न, रेचक तथा रोपण है। काम्पीलल का मरहम घाव, विस्फोटक और व्रण पर लगाया जाता है। कृमिघ्न होने से गुड़ अथवा छाछ के साथ लेने से पेट के कृमि निकल जाते हैं। काम्पीलल रेचक है, परन्तु अधिक मात्रा में लेने से दर्द करता है।

५२. **कपूर**—यह एक प्रकार के वृक्ष से उत्पन्न होता है। कपूर का उपयोग प्राचीन ग्रन्थों में औषधि-रूप में कम मिलता है, परन्तु शरीर वास के लिये इसका उपयोग किया जाता था। राज-निघन्टु के अनुसार यह तीन प्रकार का है—१—भोमसेनी कपूर, २—पत्री, ३—चीनी। मलाया, सुमात्रा, चीन, जापान में इसके वृक्ष होते हैं। वहाँ से इसके वृक्ष भारत में आये हैं। कपूर के वृक्ष से तेल निकलता है। यह वृक्ष में से निकलता है। जब वृक्ष आठ वर्ष का हो जाता है, तो उसको काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं। इन टुकड़ों की छाल के नीचे छोटे-छोटे श्वेत कण होते हैं, यह कच्चा कपूर है। पत्री कपूर वृक्ष के पत्तों से बनाया जाता है। इस प्रकार के पेड़ चीन, टेनासरीम और कर्मोन पर्वत पर होते हैं। टुकड़ों से बने हुये कपूर से यह कपूर हल्का रहता है।

गुण—उष्ण, स्वेदल, बलकारक, वीर्यस्रावावरोधक, मूत्राघात में व्यवहार किया जाता है। ताप तथा अन्य मूर्च्छा में देने से शरीर को चेतन करता है। प्रसूता के ज्वर में कपूर शीघ्र प्रभाव करता है। कुचले के विष का प्रति विष है। आक्षेप, उन्माद, भ्रम आदि में कपूर उत्तम लाभ करता है। कपूर की मात्रा बाल-बाल करके देनी चाहिये। एक बार बड़ी मात्रा देने से नुक़सान

करता है। कॉलरा की बेभान अवस्था में कपूर गरमी देता है। जिस समय नाड़ी धीमी पड़ रही हो, उस समय उत्तेजना देने के लिये इसका इंजैक्शन दिया जाता है। मधुमेह-जन्य "कौमा" रोग में अफीम और कपूर की गोली मूँग जितनी देनी चाहिये। अधिक मात्रा में यह हृदय की गति को अनियमित करके मृत्यु का कारण बन जाता है। कपूर का बाह्य उपयोग बहुत अधिक होता है। मोड़ चसका, कटिशूल आदि में कपूर को तिल-तैल में मिलाकर मालिश किया जाता है। कपूर दुर्गन्ध एवं कृमिनाशक है, इसलिये विषर्प, दाद आदि रोगों के मरहम में काम आता है। सुगन्धित पदार्थ होने से शरीर के अङ्गरोगों में, मंजन में पड़ता है। दाँत-दर्द में कपूर लाभ करता है। बड़ के दूध में कपूर घिसकर अंजन करने से आँख का फूला मिटता है। कपूर को पीसकर बत्ती बनाकर मूत्र-मार्ग में प्रविष्ट करने से मूत्राघात अच्छा होता है। बनावट—कर्पूर-रस, कृमि-कुठार, कर्पूरासव, भीमसेनी कपूर

५३. **कपूरकचरी**—एक प्रकार के वृक्ष की जड़ है। इसका गोल टुकड़ा, जो कचूर से मिलता-जुलता है, बाजार में मिलता है। हिन्दी में इसको "गन्धपलाशी" कहते हैं।

गुण—शीतल, मुख्य उपयोग बाहर लगाने में किया जाता है। सुगन्धित तेलों में इसका उपयोग होता है। दाह में इसका लेप करना चहिये।

५४. **कपूरमधुरी**—यह वृक्ष एक से दो हाथ भर ऊँचा होता है। पत्ते तुलसी जैसे परन्तु श्वेत होते हैं। इसके ऊपर तुलसी जैसी मंजरी लगती है। कई लोग कपूरमधुरी और सारिवा को एक मानते हैं; परन्तु यह बात अशुद्ध है। इसका उपयोग सुगन्धित द्रव्यों में आता है।

गुण—तीखी, कड़वी, शीतल और बलकारक है। इसका उपयोग प्रमेह, ज्वर, रक्त-दोष में किया जाता है।

५५. **कमल**—कमल की उत्पत्ति तालाब में होती है। कमलनाल के ऊपर एक चौड़ा फूल होता है। पत्ता बहुत चौड़ा होता है। इसके कई भेद हैं। यथा—श्वेत कमल, लाल, नीला, गुलाबी। प्रत्येक का नाम भी भिन्न-भिन्न रक्खा हुआ है। यथा—श्वेत कमल का पुंडरीक, लाल

कमल का कोकनद, नीले कमल का इन्दीवर । इसके फल को कमल गट्टा कहते हैं। कच्चा होने पर इसे खाते हैं। यह पौष्टिक है, इसलिये खीर बनाकर खाई जाती है।

गुण—शीतल, तृप्तिकारक, वर्णकारक और तापहर है। रक्त-पित्त, तृषा, दाह, रक्त-दोष, विषर्प, विष आदि रोगों में विशेष लाभ करता है। गुदभ्रंश रोग में कमल के कोमल पत्ते को शक्कर के साथ खाना चाहिये। कमल और केले के पत्तों की शय्या बनाकर सोने से शरीर का दाह शान्त होता है। श्वेत कमल की कलियाँ, मुलहट्टी और शर्करा का काढ़ा या शर्बत पीने से पित्त की गरमी शान्त होती है। फूल संग्राही है, और इसलिये अर्श-रोग में रक्त बन्द करता है।

५६. करञ्ज—करञ्ज का वृक्ष मोटा और बड़ा होता है। इसका फल बादाम जैसा होता है। उसपर काँटे होते हैं। इसके अन्दर से बीज निकलते हैं। जो ऊपर से भूरे नीले से होते हैं। इससे तेल बनता है। दवाई के रूप में इसकी छाल, मूल, फल काम में आते हैं।

गुण—वातहर, ज्वरहर, कुष्ठहर, प्रमेहहर, शुक्रदोषहर एवं उष्ण है। विशेष करके इसका उपयोग बाहर लगाने में किया जाता है। इसके बीज का काढ़ा देने से बहुत जोर का पसीना आता है और ज्वर उतर जाता है। यह एक उत्तम स्वेदक है। इसके पत्ते काँजी में पीसकर लेप करने से चर्म-रोग अच्छे होते हैं। इसका तेल व्रणों का शोधक और रोपक है। कड़ुवा होने से कृमिनाशक है। दुष्ट व्रणों पर इसके पत्तों की पुल्टिस बाँधनी चाहिये। त्वचा के रोगों के लिये, सिर में पड़ी जू आदि को मारने के लिये यह एक उत्तम औषधि है। बनावट—करञ्जादि तैल।

५७. किरातक (चिरायता)—यह औषधि आर्य-चिकित्सा-शास्त्र में बहुत काम आती है। ज्वर एवं पित्तहर तथा रक्त-शुद्धि के लिये इसका उपयोग प्रायः होता है। इसका वृक्ष एक से दो हाथ ऊँचा होता है। पत्ते नीम के पत्ते की भाँति होते हैं। नीम के समान कड़ुवा होने से इसको "भूनिम्ब" कहते है। इसका सम्पूर्ण वृक्ष काम में आता है। हिमालय और कश्मीर में बहुतायत से होता है।

गुण—ज्वरघ्न, सारक, कृमिघ्न, पित्त-नाशक, है। ज्वर के सब पाचनों में प्रायः इसका उपयोग होता है। बनावट—भूनिम्बादि काढ़ा (किरातादि पाचन), महासुदर्शन-चूर्ण, लघुसुदर्शन चूर्ण।

५८. कालीजीरी—यह जीरे का भेद है। इसमें जीरे की गन्ध रहती है। इसका स्वाद कड़ुवा और तीखा होता है।

गुण—उष्ण है। कफ, वायु, शूल और अफारे को दूर करता है। यह उद्गार को मिटाता है।

५९. कलंभ—कलभ के टुकड़े पंसारियों के यहाँ ½ इञ्च से २ इञ्च तक घेरेवाले बीच से पीले रङ्ग के मिलते हैं। इनके बीच में चक्र होते हैं। यह दवाई सम्भवतः कोलम्बो, लङ्का से आई है, इसलिये इसको अनार्य-भाषा में "कोलम्बीया" कहते हैं।

गुण—कटु, पौष्टिक, पाचक तथा भेदक है। ज्वर में, अजीर्ण में, ज्वर की निर्बलता में, गर्भवती स्त्री के वमन में इसका उपयोग होता है। आर्य-वैद्य इसका उपयोग मन्दाग्नि और ज्वर में करते हैं।

६०. करौंदा—करौंदे का वृक्ष जङ्गल में बहुत होता है। इसका फूल जूही के समान श्वेत, ख़ुशबूदार होता है। इसका फल छोटा बेर के समान होता है। जब फल पकता है, तो जामुन के रङ्ग का हो जाता है। स्वाद में खट्टा और मीठा होता है।

गुण—शीतल है, त्रिदोष, विष, यकृत-शोथ, और कृमि को नष्ट करता है और दस्त साफ़ लाता है।

६१. कसौंदी—यह प्रायः बरसात में बहुत होती है। इसका पौधा एक या दो हाथ ऊँचा होता है। इसके पत्ते तक्र के साथ पीसकर लगाने से दाद मिटती है। कुष्ठ एवं त्वचा के कण्डू-युक्त रोगों के लिये यह अमोघ दवाई है।

६२. कुलत्थी—यह वस्तु खेतों में उत्पन्न होती है। इसके दो भेद हैं, श्वेत और लाल। साधारणतः इसका उपयोग दाल के रूप में किया जाता है—इसका दाना अलसी के साथ बहुत कुछ मिलता है। धातुओं के शोधन में इसका काढ़ा काम में आता है।

गुण—उष्ण, मूत्रल, स्वेदहर तथा अश्मरीघ्न है। वायु के रोग से मूत्र

रुका हुआ हो, या पथरी से मूत्र रुक जाय, तो इसके काढ़े के साथ योग्य मूत्रल दवा देने से मूत्र आजाता है। शरीर में शीत लगने पर शरीर को गरम बनाने के लिये कुलथी का चूर्ण शरीर पर रगड़ा जाता है। स्त्रियों के रजो-दोष में तथा प्रसूता के गर्भाशय की शुद्धि के लिये इसका काढ़ा बहुत दिनों तक दिया जाता है।

६३. **कठ करञ्जवा**—इसको नाटा करञ्ज भी कहते हैं। इसका वृक्ष बड़ा होता है। इसमें काँटे बहुत होते हैं। इसके पत्ते इमली के पत्तों से मिलते हैं। फल के ऊपर भी काँटे होते हैं। इसके बीज, पत्ते और मूल काम में आते हैं।

गुण—कृमिघ्न, पौष्टिक, ज्वरघ्न, पाचक और स्वेद लानेवाला है। मलेरिया के ऊपर इसका असर अच्छा है, परन्तु किनीन से कम। स्वाद में कड़ुवा होता है। जिनको किनीन माफिक न आती हो, उनके लिये इसका उपयोग उत्तम है। इसके पत्तों का रस दूध के साथ लेने से और सम्पूर्ण दिनभर दूध के ऊपर रहने से संग्रहणी में लाभ होता है। इसके पत्ते या मूल का काढ़ा पेट के कृमि पर दिया जाता है। पशुओं के लिये भी इसका काढ़ा या चूर्ण लाभदायक है। इससे उल्टी, हिचकी, कफ, शोष, प्लीहा आदि मिटते हैं।

६४. **काकड़ा-शृङ्गी**—काकड़ा-शृङ्गी हिमालय में होती है। इस वृक्ष की डालियों पर कीड़े रहते हैं, उन्हींसे इसके फल भर जाते हैं। काकड़ा-शृङ्गी दो इञ्च लम्बी, एक इञ्च चौड़ी और सिरे पर नोकदार होती है। काकड़ा-शृङ्गी को काम में लाने से पूर्व इसको तोड़कर इसके अन्दर से कीड़े आदि निकाल देने चाहियें। जो काकड़ा-शृङ्गी भारी है, वह बरतने में अच्छी होती है।

गुण—कफघ्न। यह दवाई बालकों के लिये अमृत है। खाँसी में मधु के साथ या दूध में उबालकर, फेफड़ों के रोगों में तथा ज्वर में इसका उपयोग चूर्ण या काढ़े के रूप में करना चाहिये। दम भरने में भी इसका उपयोग होता है। बनावट—शृंग्यादि-चूर्ण।

६५. **ककड़ी**—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। साधारणतः खाने में और शाक बनाने में इसका उपयोग होता है। वर्षा-ऋतु में खाने के योग्य चीज़ नहीं है।

गुण—मूत्रल, ठण्डी, प्यास कम करनेवाली। इसके बीजों को घोटकर बादाम आदि के साथ पीने से शरीर में ठण्डक होती है। शक्कर तथा जीरे के साथ लेने से मूत्राघात मिटता है। ककड़ी के बीज और कबूतर की बीट इन दोनों को मिलाकर चावल के धोवन के साथ देने पर मूत्रमार्ग की शर्करा साफ हो जाती है। ककड़ी के बीज एक तोला, श्वेत कमल की कलियाँ या कमलगट्टा पीसकर उसमें जीरा और शर्करा मिलाकर देने से स्त्रियों का श्वेत-प्रदर अच्छा होता है। दूध में पानी मिलाकर ककड़ी के बीजों के चूर्ण में जौखार मिलाकर लेने से मूत्र-विरेचक प्रभाव होता है।

६६. **कचनार**—इसका वृक्ष ३०-४० फीट ऊँचा होता है। इसपर लाल, गुलाबी रंग का सुन्दर फूल आता है। औषधि के काम में इसकी छाल बरती जाती है।

गुण—शोधक, पौष्टिक, रोपण, व्रणनाशक तथा कफहर है। जिन रोगियों को थोड़ा-थोड़ा ज्वर बना रहता है, शरीर पर गाँठें उभर आती हैं, उनके लिये यह वृक्ष बहुत लाभदायक है। इसके फूलों का रायता बनाकर खाया जाता है। गले में जब ग्रन्थियाँ पक जाती हैं, या उठ जाती हैं अथवा फूटकर व्रण का रूप ले लेती हैं, या कोई व्रण भरता न हो, या अस्थि गलने लगे, उस समय इसकी छाल का काढ़ा अथवा इसकी छाल के चूर्ण को गुग्गुल आदि औषधियों के साथ मिलाकर देने से बहुत लाभ होता है। इसके सेवन से व्रण बहुत जल्दी भरता है। जिन बच्चों में बचपन से रक्तस्राव होता है, उनमें यह और शाल्मली बहुत उत्तम प्रभाव करते हैं। बनावट—कचनार गुग्गुल।

६७. **कुरण्ड**—इस फूल का झाड़ तीन-चार हाथ ऊँचा होता है। इसमें काँटा होता है। इसमें पीले रंग का फूल होता है, जिसमें से सुगन्ध आती है। इसके सब स्थानों पर लम्बे काँटे होते हैं।

गुण—उष्ण, कफघ्न, स्वेदल, वातहर, शोधक, रोपण। बालकों के दम चढ़ने पर इसके पत्तों का रस शहद के साथ दिया जाता है। इसके पत्तों की राख घी में मिलाकर लगाने से जख्म भर जाते हैं। इसके पत्तों के चबाने से दन्त-शूल मिटता है।

६८. **कत्था**—यह खैर के वृक्ष से निकलता है। यह वृक्ष अपनी

पक्की लकड़ी के लिये प्रसिद्ध है। आर्य-चिकित्सा में इसका उपयोग दो बातों में विशेषरूप से किया जाता है। एक तो कुष्ठ आदि रक्त-विकारों में—इसके लिये इसका काढ़ा या घृत अथवा अरिष्ठ बनता है। दूसरा शरीर को दृढ़ करने के लिये इसके लिये। खैर से "अयस्क्रांति" बनाई जाती है। अर्थात् खदिर की जड़ में गड्ढा करके उस वृक्ष के प्रकाण्ड से एक लोहे का बर्त्तन रख दिया जाता है। इस बर्त्तन में खदिर का सार इकट्ठा होता रहता है। दोनों ही बातों में यह अमूल्य औषधि है। सुश्रुत के अनुसार भयंकर से भयंकर कुष्ठ-रोग भी इस खदिर के उपयोग से अच्छा हो जाता है।

गुण—ग्राही, शीतल, रोपण है। कत्था—इसके छाल का घन रसक्रिया द्वारा तैयार किया जाता है। अतिसार और रक्त-स्राव में तथा मुख शोधन में इसका उपयोग प्रायः होता है। इसके खाने से स्वर-भंग, खाँसी अच्छी होती है। मुँह के व्रणों पर इसका लेप करना उत्तम है। पान में मुख-रोग के लिये इसका उपयोग किया जाता है। पुराने अतिसार में अफीम के साथ देने से लाभ करता है। बनावट—खदिरारिष्ठ, खदिरादिवटी

६९. **कायफल**—कायफल के वृक्ष हिमालय में, समशीतोष्ण कटिबन्ध में, मलाया और सिंगापुर में होते हैं। इसके पत्ते लम्बे होते हैं। इसका फल जायफल जैसा लम्बा गोल होता है। इसकी छाल बहुत मोटी होती है। काम में इसकी छाल आती है। इसीको कायफल कहकर पहचानते हैं। जो छाल वजन में भारी, मोटी तथा ख़ुशबूदार हो, उसको बरतने के योग्य समझना चाहिये।

गुण—उष्ण, कफघ्न तथा वातहर है। इसका रस कषैला और कड़ुवा होता है। वायु तथा कफ से उत्पन्न रोग में इसका उपयोग करना अच्छा है। प्रतिश्याय में इसकी छाल का नस्य दिया जाता है। कॉलरा-रोग में इसका चूर्ण मधु के साथ जीभ पर मलने से गरमी आती है। कायफल, काकड़ा-शृङ्गी और अतीस इनको परस्पर मिलाकर देने से बालकों की खाँसी में बहुत लाभ होता है। बनावट—कट्फलादि चूर्ण, कट्फलादि-क्वाथ, अष्टांगावलेहिका।

७०. **काला जीरा**—यह प्रायः काश्मीर में होता है। इसके अन्दर बहुत तीव्र ख़ुशबू होती है।

गुण—शोधक, त्वक्दोषहर, कृमिघ्न, भूख लगानेवाला है। चमड़ी के पुराने रोगों में जैसे विचर्चिका, कुष्ठ, दाद आदि में बहुत लाभ करती है। ज्वर में भी इसको दिया जाता है। उदर-शूल, अफरा, अजीर्ण में भी इसका उपयोग होता है। काले जीरे को कपड़े में रखने से कृमि नहीं लगते। काले जीरे को नीबू के रस में पीसकर शिर पर लगाने से शिर की जूँ मर जाती है। काला जीरा, कुचला और आँवले का चूर्ण मिलाकर लेप करने से विष-जन्य शोथ मिटता है।

७१. कालीपाठ (पाठा)—पाठा क्या वस्तु है, इसमें अभी बहुत भेद है। कोई तो बेल के रूप में प्रसिद्ध लता विशेष को पाठा मानते हैं। दूसरे इसको वृक्ष मानते हैं। चूँकि यह बृहत्पंचमूल में गिना हुआ है, जिसमें विशेष चार महावृक्ष हैं, अतः इसको वृक्षरूप से प्रसिद्ध वृक्ष ही जानना उचित है। वृक्ष ही की छाल को ग्रहण किया जाता है।

गुण—शोधक, ज्वरघ्न, कफघ्न, ग्राही, शोथहर है। अतिसार और प्रमेह में इसका उपयोग ग्राही होने से किया जाता है। इसके लिये चूर्ण या काढ़ा देते हैं। कुष्ठ में इसका उपयोग रक्त-शोधक गुण के लिये होता है। ज्वर और कास में इसका उपयोग अन्य औषधियों के साथ में होता है।

७२. कीटमारी—इसकी लता होती है। इसके पत्ते गोल, काले धुएँ के रंग के होते हैं। फूल किमजी रंग का तथा कालिमावाला होता है। इसकी गन्ध बहुत बुरी होती है। इसका सारा वृक्ष औषधि के रूप में काम आता है।

गुण—उष्ण, वातहर, कफघ्न, ज्वरघ्न, कृमिनाशक तथा शोथनाशक है। इसका स्वाद कड़ुवा तथा वीर्य में गरम है। इसका उपयोग मुख्यतः ज्वर और कृमि-रोग में होता है। शोथ के ऊपर इसके पत्ते बाँधे जाते हैं। ज्वर में शरीर के ऊपर बाँधने से पसीना आकर ज्वर उतर जाता है। दुष्ट व्रण को साफ़ करने के लिये इसके पत्तों की पुलटिस बाँधनी चाहिये। इन्द्रजौ, वायविडंग, कीटमारी, कालीजीरी आदि वस्तुयें प्रत्येक घर में रहनी चाहियें। बालकों के लिये यह वस्तुयें अधिक उपयोगी हैं।

७३. कुकड़बेल (देवदाली)— इसका फल ककोड़ा जैसा होता है। इसके बीज काले होते हैं। कुछ लोग इसको और कड़ुवी तुम्बी को एक

मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि देवदाली के ऊपर काँटे होते हैं। इसलिये इसका दूसरा नाम "कण्टकफला" है, परन्तु तुम्बी की बेल पर काँटे नहीं होते। इसके पत्तों में पाँच खाँचे होते हैं। इसका फल रेचक तथा वामक है।

गुण—रेचक, वामक, छींक लानेवाला और विषनाशक है। अति-तीक्ष्ण और उष्ण है। रेचक और तीक्ष्ण गुण के कारण सर्पदंश और पागल कुत्ते के काटने पर काम आती है। साधारण विरेचन के लिये इसका उपयोग नहीं करना चाहिये; यदि कभी हो जाय, तो घी पीना चाहिये। इसके नस्य से कामला-रोग अच्छा होता है। उल्टी कराने से कफ मिटता है। अर्श में भी इसके फल का उपयोग होता है।

७४. **द्रोणपुष्पी (गोमा)**—वर्षा-ऋतु में यह विशेषतः उत्पन्न होती है। इसमें फूल गुच्छे के रूप में निकलता है। इसका फूल श्वेत होता है। पत्ता छोटा और लम्बा होता है।

गुण—स्वाद में कड़वी, कषैली और गरम है। वातहर, कफघ्न तथा स्वेदल है। रुचिकर, तीक्ष्ण, भेदक एवं सारक है। इसका उपयोग वात, कफ, अग्निमान्द्य, छाती के कफ, आम-शोथ, कामला, कृमि और शूल में होता है। इसका काढ़ा या स्वरस विषम ज्वर में दिया जाता है। बालकों की खाँसी तथा कफ में इसका स्वरस, टंकण और मधु के साथ मिलाकर देना चाहिये। इसके तथा नीम के पत्तों को पानी में उबालकर शोथ-युक्त स्थान पर बाँधना चाहिये।

७५. **कुलिंजन**—कुलिंजन का पौधा आमाहल्दी-जैसा होता है। देखने में अंगूर की बेल की भाँति लगता है। इसके पत्ते में मीठी गन्ध आती है। इसकी जड़ की गाँठें सुखाकर बाजार में कुलिञ्जन के नाम से बिकती हैं। इसका रंग भूरा और स्वाद तीखा होता है। स्वाद में और सुगन्ध में कुष्ठ से मिलता है, इसलिये इसको कुष्ठ-कुलञ्जन कहते हैं।

गुण—दीपन, पाचन, वातहर है। कुलिंजन का रस उष्ण और तीक्ष्ण है। इसके द्वारा मुँह और कण्ठ की शुद्धि होती है। इसका चूर्ण सूँघने से शिर-दर्द उतरता है। इसको मुँह में रखकर इसका रस चूसने से स्वर-भंग अच्छा होता है। इसका चूर्ण दन्तमञ्जन के रूप में या और मञ्जनों के साथ मिलाकर काम में लाया जा सकता है। इससे दाँत का दर्द भी दूर

होता है। मधु-प्रमेह में कुलिञ्जन देने से मूत्र की उत्पत्ति कम होती है। जो बालक तुतलाकर बोलते हों, या देर में बोलने लगें, उनके लिये इसकी लकड़ी का चूर्ण या अकरकरा-चूर्ण शहद के साथ देना उत्तम है।

७६. **चक्रमर्द**—इसका झाड़ चौमासा में उगता है। इसके पत्ते गोल तथा एक डण्डी पर पाँच-पाँच होते हैं। इसमें पीला फूल और फलियाँ लगती हैं। इन फलियों में से निकलनेवाले बीजों में "क्राइसोफैनिक एसिड" का मुख्य भाग रहता है। इस एसिड को अनार्य-चिकित्सक प्रायः दाद में बरतते हैं। इससे दाद नष्ट होती है। दवाई के काम में इसके पत्ते और बीज व्यवहार में लाये जाते हैं। इसके पत्तों को नीबू के रस में या तक्र में पीसकर लगाने से दाद मिटती है।

७७. **कुमारी**—इसको घीकार भी कहते हैं। यह प्रायः सर्वत्र होती है। इसकी दो जात हैं—एक कड़वी और दूसरी मीठी। कड़वी जात के घीक्वार का पाठा बहुत मोटा, रसदार और गर्भ से भरा होता है। इसका गुदा बहुत कड़वा होता है। एलुवा इसी गर्भ में से निकलता है। मीठे कुँवार के गुदे की भाजी तथा आचार बनता है, जो बहुत रुचिकर होता है।

गुण—रेचक, शोधक, पित्तशामक। कुँवार शीतल, कड़वी, अग्नि-वर्धक, रसायन, भेदक, मधुर, पुष्टिकारक तथा बलकारक है। कफ, पित्त, दम, श्वास, कास, प्लीहा, गुल्म, गाँठ, त्वचा के रोग, विस्फोटक आदि रोगों में फायदा करता है। १—मूत्राश्मरी में या मूत्र-शर्करा में इसके रस के अन्दर हल्दी मिलाकर पीना चाहिये। २—खाँसी में पत्ते को जरा गरम करके इसका रस निकाल लेना चाहिये। इसमें मधु और छोटी पिप्पली और लवंग का चूर्ण मिलाकर देना चाहिये। ३—कफ में इसी गूदे को शहद, सैंधानमक डालकर पीना चाहिये। ४—दुखती आँख पर कुँवार के रस में फुलाई हुई फिटकिरी और अफीम मिलाकर लेप करना चाहिये। ५—प्रमेह में, जलन में और अंगदाह में कुँवार के रस में जीरा तथा कालीमिर्च मिलाकर देना चाहिये। ६—जलने से बने घाव पर इसका गूदा बाँधना चाहिये। ७—कुँवार के पट्ठों को गरम करके पेट के ऊपर बाँधने से यकृत की शोथ, पेट की गाँठ और मल का जमाव टूटता है। विषम ज्वर के पित्त को कम करता है। इसका आसव यकृत तथा प्लीहोदर में लाभ देता है। कामले में भी कुँवार लाभ करता है। कुमारिकासव से मस्तिष्क की गर्मी दूर होती है,

चक्कर हटता है। आँखों में तेज आता है। कुँवार का आसव स्त्रियों के रजोदोष को ठीक करता है। बनावट—कुमारिकासव।

७८. करीर—इसके वृक्ष प्रायः सर्वत्र मिलते हैं। मारवाड़ में विशेषतः पैदा होता है। इसके वृक्ष में कभी पत्ते नहीं होते, यहाँ तक कि बसन्त-ऋतु में भी इसमें पत्ते नहीं आते। इसमें फल आता है। इसको केरा कहते हैं। इसके फल का अचार बहुत उत्तम बनता है। फूलों का भी शाक बनता है।

गुण—उष्ण दवा के रूप में इसकी मूल बरता जाता है। मूल को चबाकर खाने से दाँत का दर्द मिटता है। व्रण, शोथ, अर्श, कफ, आम, विष, अरुचि, दमा, शूल, कृमि के रोगों में इसका मूल घिसकर पिलाने से फ़ायदा होता है।

७९. केसर—इसको अरबी में "ज़ाफ़रान" कहते हैं। यह एक प्रकार के पौधे का फूल होता है। इसका पौधा प्रायः स्पेन में और काश्मीर में होता है। केसर के नाम से इस पौधे की जड़, पतली शाखायें आदि सब बिकती हैं, इतना ही नहीं, परन्तु सन इत्यादि के धागे काटकर उनको रङ्गकर भी इसमें मिलाकर बेचते हैं।

गुण—गरम, स्तम्भन, वाजीकर तथा पौष्टिक है। केसर का मुख्य उपयोग शरीर में गर्मी देने के लिये, वाजीकर गुण के लिये किया जाता है। इसको पाकों में, रसों में, मिठाइयों में डाला जाता है। स्तम्भन गुण के कारण अतिसार में या स्वप्नदोष में अफीम के साथ देते हैं। हृदय को उत्ते-जित करता है। नाक में से रक्त गिरता हो, तो उसको बकरी के दूध में घोल-कर नस्य लेने से या माथे पर लगाने से रक्त बन्द हो जाता है। अर्धसीसी में या सिरदर्द में इसको घी में भूनकर नस्य लेने से लाभ होता है। गर्भिणी का रक्तस्राव बन्द करने के लिये इसको मक्खन में देना चाहिये। मात्रा १ से २ रत्ती। बनावट—कुमकुम वटी।

८०. कोकम (वृक्षाम्ल)—जिस प्रकार उत्तरीय भारत में अरहर या अन्य दाल आदि में खटास पैदा करने के लिये अमचूर का उपयोग होता है, उसी प्रकार दक्षिण भारत में कोकम का उपयोग होता है। यह प्रायः भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर कोंकण, गोवा आदि प्रदेशों में होता है। यह वृक्ष बहुत ही सुन्दर होता है। इसमें नारङ्गी जैसा लाल फल होता है। इसके फल के अन्दर की गिरी और अन्दर जो पानी होता है, वह पीने

के काम में आता है। फल के ऊपर की छाल सुखा दी जाती है, इससे "कोकम" बनता है। कोकम के अन्दर बीज होते हैं। इसमें से तेल निकलता है, जो घी की तरह होता है, इसको "कोकोजम" कहते हैं। यही कोकोजम आज-कल घी के धोखे में बाज़ार में काम लाया जाता है। यह कोकोजम हाथ-पाँव फटने में लगाया जाता है।

गुण—ग्राही, मधुर तथा रुचिकर एवं अग्निदीपक। इसमें पौष्टिक अंश कुछ भी नहीं।

८१. **कैथ**—कैथ का वृक्ष प्रायः पहाड़ों पर होता है। इसका वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता। कैथबिल के समान कठिन और धूसर रङ्ग का फल होता है। इसके फल के छिलके का और इसके गूदे का उपयोग दवाई के रूप में तथा चटनी के लिये किया जाता है।

गुण—शीतल, संग्राही, अम्ल और शोधक है। इसके गुण प्रायः बिल्व फल से मिलते हैं। संग्राही गुण होने के कारण अतिसार में बरता जाता है। इसका विशेष उपयोग पित्त-जन्य अतिसार में करना चाहिये। बनावट—कपित्थाष्टक चूर्ण।

८२. **कुष्माण्ड**—इसकी बेलें होती हैं। इसमें बहुत बड़ा फल लगता है। इसका छिलका श्वेत, हरा होता है। इसका शाक प्रायः कम बनता है, परन्तु मिठाई के काम में प्रायः इसका उपयोग होता है। अन्दर से श्वेत निकलता है। दवाई में यही काम आता है।

गुण—पित्तशामक, पौष्टिक, बलकारक, मेधावर्धक, ग्राही। नाक में से रक्त निकलने पर या अन्य रक्त-पित्त में यथा उरःक्षत में इसका स्वरस चीनी के साथ काम में लाने से रक्त बन्द हो जाता है। शिर की गरमी एवं अपस्मार, उन्माद, अनिद्रा आदि मस्तिष्क विकारों में इसका स्वरस, मुरब्बा, मिठाई बहुत लाभकारी है। ब्राह्मी घृत यदि इसके स्वरस में बनाया जाय, इसी प्रकार भृंगराज तैल यदि इसके साथ तैयार किया जाय, तो विशेष गुणकारी होते हैं। गर्भाशय की शुद्धि में इसका उपयोग होता है। धातुपौष्टिक होने से बहुत-से पाकों में पड़ता है। बनावट—कुष्माण्डावलेह, कुष्माण्डपाक, खण्ड-कुष्माण्ड, कुष्माण्ड का मुरब्बा।

८३. **कौंच**—कौंच की बेल बाड़ों पर होती है। इसमें फलियाँ आती हैं। इन फलियों के ऊपर रोवें होते हैं। इन फलियों में से दाने निकलते

हैं। यदि यह फली शरीर पर लग जाय अथवा कपड़े पर लगा दी जाय, तो बेहद खुजली होती है। इन बीजों में खुजली नहीं होती। चिकित्सा में यही बीज या इसकी जड़ काम में आती है। कौंच के दाने निकालने की रीति यह है कि इसकी फलियों के नीचे आग जला देनी चाहिये, जिससे रोयें जल जायँ, तब इसको हाथ लगाना चाहिये।

गुण—धातु-पौष्टिक, उष्ण, वाजीकरण, शुक्रल है। इसकी फलियाँ कृमिघ्न हैं। इसके काँटों को छुरी से छीलकर, इनको दही या गुड़ में एक दो दिवस तक देने से पेट के कृमि मर जाते हैं। पीछे विरेचन से इनको निकाल देना चाहिये। कौंच के पाक बनते हैं, जो पुष्टि के काम आते हैं। बनावट—आत्मगुप्तादि चूर्ण, वानरी गुटिका, कौंचपाक।

८४. **कंकोल**—इसकी पैदाइश चीन में होती है। हिमालय में भी होती है। इसकी बेल होती है। इसको शीतलचीनी से अलग समझना चाहिये। इसका दाना शीतलचीनी से बड़ा होता है।

गुण—शीतल, रोपक और सुगन्धित द्रव्य है। गनोरिया में इसको विशेषत: अनार्य-चिकित्सा में बरता जाता है। इसका तेल निकलता है। इसको बताशे या मिश्री के साथ दिया जाता है। सुगन्धित तेलों में इसको भी मिलाया जाता है।

८५. **खेतपापड़ा**—इसको संस्कृत में पर्पटक या पित्तपापड़ा कहते हैं। यह प्राय: खेतों में होता है, इसलिये इसको खेतपापड़ा कहते हैं। यह जवासे के पौधे से मिलता-जुलता है, परन्तु होता है बहुत छोटा। इसके ऊपर मंजरी होती है। इसके दो रूप हैं—एक लाल फूल का और दूसरा नीले फूल का। इसमें लाल फूल का उत्तम है। यह वर्षा-ऋतु में बहुतायत से होता है।

गुण—ज्वरघ्न और पित्त-शामक। यह शीतल है, इसलिये पित्त-ज्वर में दाह, प्यास, उल्टी, भ्रम आदि रोगों में दिया जाता है। वात, पित्त-ज्वर में इसको सोंठ या कालीमिर्च और पिप्पली के साथ देते हैं। पित्तपापड़े के हिम कषाय में शर्बत डालने से एक उत्तम पित्त-शामक शर्बत बनता है। बनावट—पर्पटादि क्वाथ

८६. **खसखस के बीज**—इसको साधारण भाषा में पोस्त के डोडे कहते हैं। अंग्रेजी में इन डोडों को पोपी कहते हैं।

गुण—पीड़ाशामक, ग्राही, पौष्टिक, वातहर और वाजीकरण है। पीड़ाशामक गुण के लिये इन डोडों को पानी में उबालते हैं। उस पानी का स्वेद शोथ एवं पीड़ा-युक्त स्थान पर किया जाता है। संग्राही गुण के कारण अतिसार और स्वप्न-दोष में काम लाते हैं। इन डोडों को दूध में उबालकर और दूध को कढ़ाकर पीने से शरीर में पुष्टि और वाजीकरण होता है। इसको कई पाकों में मिलाकर वाजीकरण पाक तैयार करते हैं। अफीम भी इसीसे निकलती है। अफीम जितना गुण यद्यपि इसमें नहीं, परन्तु यह शरीर के लिये विशेषत: वाजीकरण प्रभाव के लिये तथा रेत-स्तम्भन के लिये अधिक श्रेष्ठ है।

८७. ढाक—यह एक मशहूर पेड़ है। यह दो प्रकार का होता है, एक लाल या पीला और दूसरा श्वेत फूल का। इनमें पहिले प्रकार का ढाक साधारण है। ढाक की प्रत्येक अनुशाखा में तीन पत्ते इकट्ठे होते हैं। इसलिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि "वही ढाक के तीन पात"। इसके फूल बहुत सुन्दर होते हैं; परन्तु उनमें गन्ध नहीं होती। इसके फूलों से केसरिया पीला रङ्ग बनता है। इसमें लाल रङ्ग की लम्बी फलियाँ लगती हैं। इनके अन्दर से पापड़ा निकलता है। इनको ढाक-पापड़ा कहते हैं। इन पापड़ों का चूर्ण कृमियों के मारने के, विशेषत: पेट के कीड़ों को मारने के, काम आता है।

गुण—मूत्रल, कृमिनाशक, चक्षुष्य और संग्राही है। रक्त-शुद्धि में भी इसका काढ़ा बरता जाता है। इसके फूल ठण्डे हैं। मूत्रा-घात में पेड़ू पर इसके फूल पीसकर लेप करने से या उनकी भाप देने से मूत्र आता है। आर्य-चिकित्सा-शास्त्र में लिखा है कि यदि ऋतुमती स्त्री ढाक के पत्ते को पीसकर दूध के साथ ले ले, तो जिस स्त्री को गर्भ-धारण न होता हो, उसको भी हो जाता है। इसका काढ़ा अथवा फूलों का हिम कषाय शर्करा और जौखार के साथ पीने से मूत्राघात और प्रमेह में लाभ होता है। यज्ञ के लिये इसकी लकड़ी निर्दोष मानी गई है। स्त्रियों के योनिकन्द के ऊपर इसकी पुलटिस बाँधने से योनिकन्द गिर पड़ते हैं। सर्पदंश की अवस्था में इसकी छाल का स्वरस अथवा पानी में इसकी मूल घिसकर पिलानी चाहिये। ढाक के गूदे में अनार्य-चिकित्सा के "काइनो" जैसे गुण हैं। पलाश की जड़ में से पाताल यंत्र की विधि से तेल निकालकर उसका अंजन करने से आँखों की ज्योति ठीक होती है। बनावट—पलाशांजन।

८८. **खदिरसार**— विशेष वर्णन के लिये कत्था देखिये।

८९. **खुरासानी अजवायन**—इसमें और खेत में होनेवाली अजवायन में बहुत अन्तर है। संस्कृत का "यवानी" शब्द इसके लिये है और अजमोदा शब्द उस अजवायन के लिये। क्योंकि यह अजवायन खुरासान या 'पारस' (फारस) में होती थी, इसलिये इसको "पारसीक यवानी" कहते हैं। इसके खाने से नशा होता है। साधारणरूप में इसका व्यवहार खाने में नहीं होता। इसमें एक विषैला पदार्थ होता है, जिसका नाम "हाईसोमीन" है, यह ½ सैकड़ा होता है। यह पीड़ाशामक, आक्षेप-निवारक, वायु और कृमिनाशक है। उन्माद में, प्रलाप में, हिस्टीरिया में, वात-विकारों में, पेट-दर्द में इसका उपयोग बड़ा चमत्कारिक प्रभाव रखता है। इससे उत्तेजित स्नायु ढीले पड़ जाते हैं। अधिक मात्रा में खाने से नशा चढ़ता है। इसके सत्व "हाई सोमीन" के अधिक मात्रा में शरीर के अन्दर जाने से भ्रम, आँखों में अँधेरा, पलकों में जड़त्व, एक वस्तु के दो दीखना आदि लक्षण होते हैं। प्राचीन रोम-राज्य में जिनको प्राण दण्ड दिया जाता था, उनको इसका रस पिलाया जाता था। साधारणत: इसका मुख्य उपयोग अजीर्ण और कृमिरोग में किया जाता है। मात्रा १ से २ वाल।

९०. **गोकर्णी (मूर्वा)**—इसकी बेलें हिन्दुस्तान के पूर्वीय किनारे पर ऊपर बङ्गाल से मद्रास तक होती हैं। फूल के अनुसार इसके दो भेद हैं—लाल और काला। इसका फूल गाय के कान के आकार का होता है। इससे सम्भवत: यह नाम इसको दिया गया है। इसमें लम्बी फलियाँ होती हैं। इनमें दाना होता है। ओषधि के रूप में इसका बीज, पत्ता और मूल सब बरते जाते हैं। इसका बीज रेचक है।

गुण—रेचक, मूत्रल, भेदनीय और संशोधक है। इसके बीज को घी में भूनकर उनकी कॉफी बनाकर देने से निशोथ जैसा विरेचन लगता है। सोंठ, सैंधानमक और गोकर्णी का बीज इनको चूर्ण के रूप में लेने से उत्तम विरेचन होता है। हरताल या संखिया विष के ऊपर इसका रस पिलाना चाहिये। कफ के संचय को तोड़ने के लिये इसका १ से २ तोला रस गाय के दूध में मिलाकर देना चाहिये। गर्भपात को रोकने के लिये इसकी जड़ को दूध में घिसकर पिलानी चाहिये।

९१. **गरमाला (अमलतास)**—इसका वृक्ष साधारण ऊँचा होता है। यह प्राय: जङ्गल में उगता है। इसका फूल सुनहले रंग का होता है, इसलिये इसको "हेमपुष्पी या स्वर्णपुष्पी" कहते हैं। इसमें हरी-हरी लम्बी-लम्बी फलियाँ लगती हैं, जो पकने पर काली हो जाती हैं। इन फलियों के अन्दर काला गूदा होता है। साधारणत: इसी गूदे का उपयोग किया जाता है। यह गूदा सुख विरेचक है। यूनानी-चिकित्सा में इसका प्राय: उपयोग रेचन के लिये किया जाता है। परन्तु आर्य-चिकित्सा में इसके पत्तों का उपयोग कुष्ठ के लिये तथा इसकी छाल या फलियों का उपयोग प्रमेह के लिये किया जाता है।

गुण—रेचक, कुष्ठघ्न है। इसका विरेचन सुरक्षित है। स्वाद में मीठा है। इसको बच्चों के लिये भी भली प्रकार दे सकते हैं। इसको विरेचन के लिये पानी में या अन्य काढ़ा में घोलकर फिर छानकर उसमें शर्बत या चीनी मिलाकर देना चाहिये। इसको आग पर गरम करने की जरूरत नहीं। मृदु विरेचन के लिये इसकी मात्रा ३ आना और रेचन के लिये १ तोला है। इसके अतिरिक्त गण्डमाला आदि गाँठों पर भी इसका लेप किया जाता है। इसके पत्ते जन्तु-नाशक हैं। दद्रु, कुष्ठ, खस आदि चर्म-विकारों में इसके पत्ते पीसकर नीबू के रस में या सरसों के तेल में अथवा तक्र में लगाने चाहियें। बालक के जन्म के पीछे जब शरीर पर शीत-पित्त या कोठ निकलें, उस समय इसके पत्तों को गाय के दूध में पीसकर लगाना चाहिये।

९२ **गोभी (गोजिह्वा)**—गोभी की जड़ का काढ़ा पिलाने से मूत्राघात मिटता है। इसके पत्तों को पीसकर टिकिया बना कर बाँधने से अक्षि-रोग मिटते हैं। इसके शाक के खाने से अर्श मिटता है। पत्तों की लुपरी गुदा पर बाँधने से गुदा का दाह कम होता है। सूखी खाँसी में हकीम इसकी चटनी देते हैं।

गुण—ठण्डी, पित्त-शामक, रोपण और ग्राही है।

९३. **नील**—इसका झाड़ १-२ हाथ ऊँचा होता है। इसका फूल गुलाबी रंग का और पत्ते शंखपुष्पी के आकार के होते हैं। इसमें टेढ़ी और गोल फलियाँ होती हैं।

गुण—शोधक, रोपण तथा रेचक एवं स्वाद में कड़वी होती है। इससे नीला रंग बनता है। बाजार में शुद्ध नील नहीं मिलता। जब से

विदेश से रंग आने लगा है, तबसे इसकी खेती भारत में मारी गई। इसका उपयोग आर्य-चिकित्सा में भृंगराज तैल के अन्दर मिलता है। इससे बाल काले हो जाते हैं। इस नील को धोये हुये घी में मिलाकर लगाने से दुष्ट व्रण अच्छा होता है।

९४. **गिलोय(अमृता)**—गिलोय की बेल होती है। बेल जिस वृक्ष या झाड़ का आश्रय लेकर फैलती है, उसका गुण, दोष बेल में आजाता है। इसलिये यदि गिलोय नीम के ऊपर फैली हो, तो उसका गुण अधिक होता है। गिलोय की बेल जितनी पुरानी होगी, इसकी शाखायें जितनी मोटी होंगी, उतनी अधिक यह गुणकारी होगी। कच्ची बेलवाली गिलोय अपक्व रस होने से बिलकुल गुणकारी नहीं होती।

गुण—ज्वरघ्न, शोधक, मूत्रल, रक्त-पित्तहर एवं वृष्य तथा प्रमेह-नाशक है। कटु होने से पित्त-शामक है। १. गिलोय वात, पित्त और कफ तीनों दोषों को शान्त करती है। गिलोय के रस में मधु डालकर पीने से कफ का; शर्करा डालकर पीने से पित्त का और घी डालकर पीने से वायु का शमन होता है। ३. वात-रक्त तथा अन्य त्वचा के रोगों के लिये गिलोय अमृत-स्वरूप है। ४. गिलोय के काढ़ा में गुग्गुल या एरण्ड-तैल मिलाकर पीने से कफ रक्त-दोष हटता है, वायु-रोग नष्ट होते हैं। ५. गिलोय, अमलतास और वासा इनके काढ़ा में एरण्ड-तैल डालकर पीने से वात-रक्त नष्ट होता है। इसके हिम कषाय में या स्वरस में शहद डालकर पीने से प्रमेह और उल्टी बन्द होती है। गिलोय के काढ़े में पिपली चूर्ण मिलाकर पीने से जीर्ण ज्वर नष्ट होता है। गिलोय से इसका सत्त्व निकाला जाता है, जो देखने में श्वेत होता है और स्वाद में फीका होता है। बाजार के सत्त्व में प्रायः मिलावट रहती है। गिलोय के रस की या हिम कषाय की घन रस-क्रिया बहुत अधिक गुणकारी होती है। गिलोय को सदा हरा ही काम में लाना चाहिये। केवल चूर्ण करने के लिये इसको शुष्क लेना चाहिये। गिलोय की जड़ को कूटकर १५ से २० ग्रेन की मात्रा में बीस-बीस मिनट बाद देने वमन होकर साँप का विष उतर जाता है। जीर्ण-ज्वर, विषम-ज्वर, प्रमेह, वात-रक्त में विशेष उपयोगी है। बनावट—अमृता-स्वरस, गुडूच्यादि क्वाथ, रसायन-चूर्ण, अमृतामोदक, अमृताघृत, अमृतारिष्ठ, संशमनी।

९५. **गुग्गुल**—गुग्गुल एक प्रकार की गोंद है। इसके वृक्ष सिंगा-

पुर, सिन्ध और मारवाड़ में होते हैं । गर्मियों के दिनों में इस वृक्ष में से रस चूता है। वह गिरकर जम जाता है। सूखने पर इसको उठा लाते हैं। इसको गुग्गुल कहते हैं। गुग्गुल की कई जातियाँ हैं; परन्तु जो गुग्गुल स्वर्ण के समान पीला, लालिमा लिये हुये, पारदर्शक और बड़ा होता है, उसको महिसाक्ष गुग्गुल कहते हैं। यह गुग्गुल सर्वोत्तम है । इस गुग्गुल में मिट्टी, पत्थरों के टुकड़े, पत्ते आदि पदार्थ मिले रहते हैं, अतः काम में लाने से पूर्व इसका शोधन कर लेना चाहिये।

गुण— वात-नाशक, रक्त-शोधक, सारक, रोपण और पौष्टिक है। जन्तुघ्न होने से इसका धुवाँ दिया जाता है, इसका धुवाँ सुगन्धि युक्त होता है। गुग्गुल का उपयोग स्नायु-संधि तथा वात रोगों में विशेषतः किया जाता है। नर्वस के कारण उत्पन्न वात रोगों में यथा आक्षेप या पक्षाघात आदि रोगों में इसका उपयोग कम होता है; परन्तु मांसपेशी सम्बन्धी रोगों में जैसे—अंग का गति न करना, संधि की सूजन आदि में इसका विशेष उपयोग होता है। गुग्गुल के मूत्रल और शोधक गुण के कारण वात-रक्त और मूत्राशय के रोगों में भी उपयोग होता है। अस्थिगत व्रण तथा गम्भीर व्रणों में इसका अन्तः उपयोग शीघ्र लाभदायक है। स्त्रियों के रजोदोष और पुरुषों के रजोदोष को अच्छा करता है। इसका बाह्य उपयोग भी संधिवात, पार्श्व-शूल आदि में होता है । अनार्य-चिकित्सा की "एन्टीफ्लोजैस्टीन" से इसका असर कम नहीं। गुग्गुल को घी से बहुत स्नेह है, इसलिये अन्तः उपयोग के तथा कृमिनाशक गुण के लिये धुवाँ देने में इसके अन्दर घी की मात्रा अधिक से अधिक डालना चाहिये। गुग्गुल में जितना घी डाला जायगा, उतना ही यह अधिक गुणकारी होगा। गुग्गुल की बनावट बहुत हैं। यहाँ पर मुख्य-मुख्य बनावटें नीचे दी जाती हैं। बनावट—अमृता गुग्गुल, कांचनार गुग्गुल, केशोर गुग्गुल, योगराज गुग्गुल, गोक्षुरादि गुग्गुल, त्रयोदशांग गुग्गुल, त्रिफला गुग्गुल, पथ्यादि गुग्गुल, सिंहनादि गुग्गुल, रास्ना गुग्गुल।

९६. **गोंद**—भिन्न-भिन्न वृक्षों में से जो रस झरकर निकलता है, उसे गोंद कहते हैं। कीकर, सिम्बल, बबूल, नीम आदि कई वृक्षों से गोंद निकाला जाता है। खाने के काम में बबूल, कीकर, सिम्बल का गोंद आता है। इसके अतिरिक्त तैल-युक्त दवाइयों में इनका मेल करने से उनका सफेद "एम्लसन" बन जाता है, इससे पीने में बुरी नहीं लगती।

गुण—पौष्टिक, चिकना करनेवाली है। पौष्टिक गुण के कारण कई प्रकार के पाकों में, लड्डुवों में पड़ती है। चिकना होने से पुरुष और स्त्री के वीर्य और रज के ऊपर भी प्रभाव करती है। गोंद के उपयोग से स्त्रियों के श्वेत प्रदर में लाभ होता है। इससे कमर का दर्द भी दूर होता है।

९७. **गुलाब के फूल**—गुलाब का फूल सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसकी अधिक उत्पत्ति तुर्किस्तान में होती है। वहाँ इसके बन के बन होते हैं। इसके दो भेद हैं, मौसमी और बरसाती। फूलों की भिन्नता के कारण इसके बहुत से भेद हैं। इसकी महक के कारण शौकीन लोग इसपर मुग्ध हैं। कई प्रकार की वस्तुएँ जैसे, गुलाब का अर्क, इसका इत्र आदि बाजार में बिकते हैं।

गुण—शीतल, सारक और सुगन्धि-दायक एवं पौष्टिक है। शीतल होने से इसका शर्बत गर्मियों में पिया जाता है। इसका अर्क कपड़ों पर, धनी लोग पड़दों पर छिड़कते हैं। आर्य-चिकित्सा में पित्त-ज्वर तथा रक्त-पित्त में इसका उपयोग किया जाता है। सारक गुण के लिये इसके पत्तों से गुलकन्द बनाया जाता है। पत्तों को शक्कर के साथ खाने से या अन्य चीजों में मिलाकर देने से एक मृदुरेच लगता है। बच्चों को जुलाब देने के लिये उत्तम है। ठण्डा होने से आँख में डालनेवाली औषधियाँ इसमें बनाई जाती हैं। गुलाब का अर्क प्रवाल आदि की पुष्टि में काम आता है। बनावट—गुल-कन्द, गुलाब का शर्बत।

९८. **गुलबाँस**—इसके अन्दर सायंकाल फूल आता है, इसलिये इसको "सायंकली" भी कहते हैं। इसका पौधा होता है। इसमें कई प्रकार के फूल उगते हैं, जैसे, लाल, पीला, श्वेत और पँचरङ्गी। इनमें श्वेत फूल का गुलबाँस सबसे अच्छा होता है। इसका फूल, पत्ता और मूल दवाई के रूप में बरती जाती हैं। पत्तों को गरम करके चोट-युक्त स्थान पर बाँध देने से लाभ होता है। इसकी जड़ में जो गाँठ होती है, वह चोपचीनी से मिलती-जुलती है। इस जड़ के चूर्ण को गाय के दूध के साथ देने से शरीर में शक्ति आती है और धातु की पुष्टि होती है।

९९. **गोखरू**—इसके दो भेद हैं, छोटे और बड़े। छोटे गोखरू जमीन पर फैले रहते हैं और बड़े गोखरू का पेड़ खड़ा रहता है। बड़े में

पाँच और छोटे में तीन काँटे होते हैं। दवाई में इसके सब अंग काम में आते हैं। वैद्य लोग बड़े गोखरू को अधिक पसन्द करते हैं।

गुण—पौष्टिक, उष्ण, मूत्रल, शीतल होने से एवं मूत्र-मार्ग के लिये अधिक उपयोगी होने से इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी और प्रमेह में किया जाता है। वातहर होने से मूत्राशय की वायु को नष्ट करता है। धातु की पुष्टि करता है, वीर्यस्राव को रोककर कमकूवत और नपुंसकत्व को दूर करता है। हस्त-दोषी मनुष्य के लिये गोखरू का चूर्ण, तिल-चूर्ण या अश्वगन्धा-चूर्ण के साथ लेकर ऊपर से दूध पीना चाहिये। गोखरू के हरे पत्तों के लुवाब में शक्कर डालकर पीने से प्रमेह की जलन कम होती है। बनावट—गोक्षुरादि काथ, गोक्षुरादि अवलेह, गोक्षुरादि चूर्ण।

१००. **गोरख मुण्डी**—इसका पौधा हाथभर ऊँचा होता है। इसका पत्ता पतला परन्तु लम्बा, फूल आसमानी रङ्ग का तथा इसकी गन्ध तेज होती है। यह अधिकतर गीली भूमि में उगती है। इसका पञ्चांग काम में आता है।

गुण—कृमिघ्न, पाचक, बलवर्द्धक, रसायन और रक्त-शोधक है। गोरखमुण्डी का मूल कड़ुवा और रुचिकर होता है, इसीसे चिरायते की तरह भूख लगानेवाला है। इसका अर्क या स्वरस शहद के साथ रक्त-शुद्धि के लिये दिया जाता है। जख्म के ऊपर इसका रस लगाने से व्रण भर जाता है।

१०१. **गुड़मार**—यह एक प्रकार की बूटी है, जो मध्यभारत में अधिक होती है। इसको खा लेने पर किसी भी मीठी वस्तु का मिठास नहीं लगता। इसीसे इसको गुड़मार कहते हैं। लोगों का विचार है कि इससे "मधुमेह" पेशाब में जानेवाली शर्करा रुक जाती है। परन्तु अभी तक किसीको पूर्ण आराम होने की खबर मालूम नहीं हुई।

१०२. **गोवाधारी लकड़ी**—इस नाम की लकड़ी के टुकड़े पंसारियों के यहाँ मिलते हैं। यह लकड़ी विषैली नहीं है।

गुण—कटु पौष्टिक, कृमि तथा उदर-शूल में घिसकर पिलाई जाती है। इसी प्रकार शोथ, मचकोड़ आदि में दरियाई नारियल के साथ घिसकर लगाई जाती है और पीने को भी देते हैं। शोथ के ऊपर इसका लेप किया जाता है। आंत्रज्वर में बहुत लाभ करती है।

१०३. **चन्दन**—चन्दन के वृक्ष मैसूर, ट्रावनकोर और मलाबार में बहुत होते हैं। इसके पत्ते नीम जैसे और सुगन्धि-युक्त होते हैं। इसका फल बारीक काले रङ्ग का होता है। चन्दन के वृक्ष की लकड़ी काटकर उसको कुछ समय तक भूमि में दबाकर रखना चाहिये और फिर कुछ समय पश्चात् उसको निकालकर बरतना चाहिये। चन्दन के बहुत भेद हैं, जैसे श्वेतचन्दन पीलाचन्दन, बर्बर, हरिचन्दन, शब्दचन्दन, लालचन्दन, पर्लंग, कालीयक आदि। चन्दन में से तेल निकलता है।

गुण—चन्दन स्वाद में जरा कड़वा, वीर्य में ठण्डा होता है। शीतल, विषनाशक है, इसीलिये लेपों में पड़ता है। इसका लेप बहुत ठण्डक देता है। सुगन्धि गुण के लिये इसको स्नानरज चूर्ण में डाला जाता है। लू से बचाने के लिये इसका लेप माथे या शरीर पर किया जाता है। चन्दन, गुलाबजल और कपूर का लेप दाह की शान्ति करता है। चन्दन ज्वर की गरमी को कम करता है। खुजली के ऊपर चन्दन का तेल नीबू का रस मिलाकर लगाना चाहिये। गरमी, प्यास, दाह तथा रक्तातिसार में चन्दन को चावलों के धोवन में घिसकर शहद और शर्करा के साथ पीने से लाभ होता है। चन्दन का कल्क करके पीने से पूययुक्त प्रमेह मिटता है। अनार्य-चिकित्सक और यूनानी हकीम इस रोग में चन्दन का तेल देते हैं। प्रमेह तथा प्रदर के स्राव के लिये वंशलोचन, इलायची एक-एक तोला लेकर चन्दन के तेल से गोली बना लेनी चाहिये। इसको शर्बत के साथ पीना चाहिये। बनावट—चन्दन-चूर्ण, चन्दनादि-चूर्ण, चन्दनादि-तैल।

१०४. **चणोठी (गुञ्जा)**—इसकी बेल होती है। इसका पत्ता इमली के पत्ते से कुछ मिलता है। इस बेल में श्वेत और लाल दो प्रकार की रत्ती लगती हैं। इसकी जड़ मुलहट्टी से बिलकुल मिलती है। इसके गुण मुलहट्टी से मिलते हैं। यह भी बलकारक और कफनाशक है। दवाई रूप में इसकी जड़, पत्ते तथा फल काम में आते हैं। दवाई में श्वेत र[illegible] बरतनी चाहिये।

गुण—उष्ण, वातहर, रोपण, पौष्टिक है। रत्ती के ऊपर की [illegible] विषैली होती है। खाँसी में रत्ती का पत्ता सेंककर बाँधना चाहिये। त्वचा के कई रोगों में, जैसे श्वित्र में—चीतामूल के साथ, बाल उड़ जा[illegible]

पर दाद की अवस्था में—इसका चूर्ण, हाथी-दाँत और रसौत के साथ मिलाकर लगाते हैं। अधिक खाने से उल्टी होती है। पौष्टिक होने से इसका अन्त: उपयोग किया जाता है।

१०५. चमार दुधेली (कण्टकफला)—इसकी बहुत बड़ी बेल होती है। इसका फूल श्वेत होता है। इसका फूल आक के फूल की भाँति युग्म होता है। इसके ऊपर काँटे होते हैं। इसके तोड़ने से दूध निकलता है।

गुण—उष्ण, कफनाशक, शोथघ्न तथा कान्तिकारक। इसके पत्तों का शाक खाने से शोथ, कृमि, कोढ़, अर्श मिटता है। इसका फल गरम होता है।

१०६. चांगेरी—इसका पत्ता खट्टा-मीठा होता है। यह बागों में जहाँ पानी बहुत होता है और छाया होती है, वहाँ उगती है। इसमें तीन पत्ते होते हैं।

गुण—शीतल, पाचक, स्तम्भन। इसका स्वरस रक्तार्श में या रक्तातिसार में अथवा पित्तातिसार में, गुद-भ्रंश में दिया जाता है। इसके स्वरस में घी बनता है, जिसको चांगेरी-घृत कहते हैं। यह गुद-भ्रंश में या गर्भाशय-च्युति में दिया जाता है।

१०७. चित्रक (चीतामूल)—चीता का झाड़ दो-तीन हाथ ऊँचा होता है। इसकी डालियाँ पतली और गाँठवाली होती हैं। इसका फूल श्वेत होता है। परन्तु एक लाल फूल का भी चित्रक होता है। यह झाड़ गीली भूमि पर होता है। इसमें फूल बसन्त-ऋतु में निकलता है।

गुण—दीपन, पाचन तथा दम्भक है। चित्रक की मूल की [illegible] गरम है। त्वचा पर कूटकर बाँधने से छाला उत्पन्न हो जाता है [illegible] के [illegible] मूल से भी [illegible] में और गरम [illegible], आमांद्य में विशेषत: काम आता इसका अलग उपयोग कम है; परन्तु और दवाइयों के योग में बहुत ही प्रभाव करता है। संग्रहणी में भी इसका उपयोग अच्छे गुण के लिये जाता है। बनावट—चित्रक हरीतकी।

१०८. चोपचीनी—यह एक प्रकार के बेल की गाँठ है। इसका भावप्रकाश में देखने में आता है। यह चीन से आती है, इसलिये

इसका नाम चोपचीनी रक्खा गया है। चोपचीनी दो प्रकार की बाजार में मिलती है, एक तो भूरी या कुछ लाल लकड़ी जो तोल में भारी होती है, और दूसरी छिलकेदार पतले-पतले वर्कों में।

गुण—शोधक, उपदंशहर और पौष्टिक है। इसके सेवन से मूत्र-मार्ग का शोधन होता है। यह व्रण का रोपण करनेवाली है। इसलिये इसका उपयोग फिरंग-रोग में विशेषतः किया जाता है। इसके सेवन से अफीम की नशा छूट जाती है। इससे जहर की शान्ति होती है। पुरुषत्व को बढ़ाती है। अनार्य-चिकित्सक भी इसके पौष्टिक गुण को मानते है। बनावट—चोपचीनी-चूर्ण, चोपचीन्यादि-चूर्ण, चोपचीनी-पाक।

१०९. जटामांसी—जटामासी का जड़ें बिल्ली के रूँवटे की भाँति होती है। यह पानीवाले प्रदेशों में होती है। इसकी जड़ में से अलग-अलग [illegible] गुच्छे निकलते हैं। इसके पत्ते श्वेत होते हैं।

गुण—[illegible], कफहर, वर्ण-प्रसादन, कण्डु-[illegible]नाशक, पीड़ाशा[illegible] तथा [illegible]नाशक है। इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक में किया जाता है। अनार्य-चिकित्सा की "वैलेरियन" नामक औषधि का गुण इसमें मिलता है। इसका काढ़ा करके दिया जाता है। हिस्टीरिया-रोग में इसका प्रभाव अच्छा होता है।

११०. जौखार—जौ से इसको बनाया जाता है। इसमें पोटाश का भाग होता है। बाजार में जो जौखार मिलता है, वह शुद्ध नहीं होता। उसमें सर्जखार का मेल किया जाता है।

गुण—ठंडा, मूत्रल, रुक्ष, सारक, अग्निवर्द्धक तथा लेखन है। मेद, तृषा, पित्त, वायु, रक्तदोष, श्वास, कास, प्रमेह, पीनस में लाभ करता है। जौ का आटा तथा शर्करा समभाग खाने से बार-बार होता हुआ गर्भपात रुकता है। कफ तथा खाँसी में लाभ करता है। मकल्ल-शूल में प्रसव के पश्चात् की वेदनाओं में या प्रसवकालीन वेदनाओं में विशेष लाभ करता है। बालकों के भरणी रोग में, साँस चढ़ने में, जौखार को पिप्पल्ली और मधु के साथ चटाने से फायदा होता है। जौ का उपयोग शरीर को पुष्टि देता है। अँग्रेजी में "मल्टाईन कॉड लीवर" नामक जो औषधि आती है, उससे अधिक गुण इस जौ में रहते हैं। इसका दलिया विशेषतः लाभदायक है। विद्यार्थियों को चाहिये कि इसका उपयोग बढ़ायें। बनावट—यवक्षार।

१११. जवास—यह प्रायः धमासा के गुणों में, पत्तों में और काँटे में मिलता है। अन्तर केवल यह है कि यह धमासे से अधिक मोटा और बड़ा होता है। इसमें पतला लाल फूल आता है। गर्मियों में अधिक खिलता है। इसमें गोंद-जैसा रस दाने के आकार में जमता है। इसको "यवास-शर्करा" कहते हैं।

गुण—सारक एवं वात-पित्त नाशक है। इसके बहुत-से गुण मुलहट्टी से मिलते हैं। इसके पञ्चांग को काढ़ा करके घन बनाने पर इसका स्वाद कड़ुवा एवं मुलहट्टी के सत की भाँति लगता है। यह शीतल तथा पित्तशामक है। इससे प्यास एवं पित्त का ज्वर मिटता है। इसके पत्तों की बीड़ी पीने से खाँसी मिटती है। इसके काढ़े या स्वरस से हल्का विष उतरता है।

११२. जामुन—यह प्रसिद्ध वृक्ष है। इसके पके हुए फल प्रायः खाने में आते हैं। औषधियों में इसके पत्ते, छाल, गुठली और फल काम में आते हैं।

गुण—ग्राही तथा शीतल। फलों की गुठली तथा इसका स्वरस अथवा पत्तों का पुटपाक स्वरस रक्तातिसार में, पित्तातिसार में लाभ करता है। इसकी गुठलियों का चूर्ण अथवा फल मधुमेह में शर्करा को कम करता है। इसकी छाल का काढ़ा संकोचक है, इसलिये गुदभ्रंश में, गर्भाशय-भ्रंश में अथवा योनि-संकोचन के लिये लाभकारी है। फलों का सिरका बनता है। यदि प्लीहा बढ़ी हो, तो लाभ करता है। जामुन के स्वरस में लोह मारने का गुण होता है। बनावट—जम्बादि स्वरस, जम्बूस्वरस।

११३. जायफल— जायफल का वृक्ष सुमात्रा मलाया में होता है। यह इस वृक्ष का फल है। जायफल के ऊपर नारियल जैसा पड़ चढ़ा होता है। इसको जावित्री कहते हैं।

गुण—उष्ण, ग्राही है। जायफल मल को रोकता है, इसलिये अतिसार की दवाइयों में पड़ता है। जायफल से तेल निकलता है। यह गरम और उत्तेजक है, इसलिये तेल के रूप में अन्य औषधियों के साथ मिलाकर शिश्न पर लगाया जाता है। शिर-दर्द में जायफल घिसकर लगाया जाता है। अनिद्रा रोग में जायफल घी में घिसकर आँखों पर लगाना चाहिये। जलाकर इसकी राख दन्तमंजनों में मिलाने से उनमें उत्कृष्टता आती है। इसका

राख व्रणों पर लगाने से वह भर जाते हैं। सरदी, प्रतिश्याय और अतिसार में इसका उपयोग उत्तम है। मुख में निकलती हुई कीलों पर जायफल दूध में घिसकर लगाना चाहिये। बनावट—जातिफलादि चूर्ण।

११४. जावित्री—जायफल का सुपारी जैसा डोडा होता है। इसमें फूल-जैसी कली निकलती है। इसको जावित्री कहते हैं। इस कली के अन्दर जायफल रहता है। जायफल के ऊपर कौंच-जैसी सख्त छाल होती है। इसके ऊपर जावित्री लगी रहती है।

गुण—गरम है। स्वाद में तीखी, जरा कड़वी और मीठी है। कफ, अरुचि, मन्दाग्नि, कास, कृमि तथा विष को मिटाती है। कॉलरा में ३ माशा जावित्री पीने से शरीर में गरमी आती है। आमातिसार और अतिसार के ऊपर जावित्री का अढ़ाई माशा चूर्ण गाय के दही में या छाछ में दिया जाता है।

११५. जीरा—ज[illegible] होता है। [illegible]माल में जो [illegible] बरता जाता है, वह सफेद जीरा है। [illegible] जीरा और प्रकार का होता है। उसका आकार काला रहता है। गन्ध उग्र और तेज [illegible] है।

गुण—दीपन, वातहर, कृमिनाशक है। जीर्ण ज्वर में एक-एक पैसा भर फंकी पुराने गुड़ के साथ लेनी चाहिये। प्रदर में जीरा तथा शर्करा को चावलों के धोवन में लेना चाहिये। ग्रहणी रोग में जीरा पर्पटियों के अनुपान के साथ दिया जाता है। खाने के दो-तीन घन्टे पीछे जो शूल होती है, उसमें जीरे को सैन्धानमक और हींग के साथ गरम पानी या घी में लेना चाहिये। हरताल के विष में जीरा तथा शक्कर सात दिन तक पीनी चाहिये। दूध बढ़ाने के लिये जीरा माताओं को दिया जाता है। जीरा हिक्का, आध्मान, शूल आदि को मिटाता है। बनावट—जीरा पाक।

११६. जूही (जाती)—इसका पौधा होता है। इसमें श्वेत फूल होता है। इसके दो भेद हैं, एक छोटे फूलवाली और दूसरी बड़े फूलवाली। छोटे फूलवाली को "चमेली" कहते हैं। दवाई में फूल तथा पत्ते सब काम में आते हैं। मोगरा और माधवी भी जूही की जाति हैं।

गुण—रोपण। जूही में रोपण गुण होने से त्वचा के रोगों में, व्रणों में, घावों में लाभ करती है। जूही के पत्ते चबाने से मुँह की गरमी मिटती

है। जूही के पत्ते, दारुहल्दी तथा त्रिफला के मसाले करने से तीव्र मुखपाक मिटता है। बनावट—जात्यादि घृत और जात्यादि तैल।

११७ जेठीमधु (मुलहट्ठी)—इसकी बेल होती है। पानीवाली एवं सूखी जमीन में उगती है। इसका पत्ता बहुत कुछ जवास के पत्ते से मिलता है। जेठीमधु का मूल पंसारियों के यहाँ मिलता है। यह खाने मे मीठी होती है, परन्तु इसका सत काले रङ्ग का और कुछ कड़ुवा होता है।

गुण—शीतल, कफघ्न, पौष्टिक और बलकारक है। दाहवाले ज्वरों में, खाँसी में, विशेषतः स्वरभंग-युक्त में इसका उपयोग होता है। वृष्य गुण के लिये इसका चूर्ण काम में आता है। नेत्र-रोग के लिये इसका चूर्ण तथा शिर पर लगाने के तेलों में इसका दरकच चूर्ण डाला जाता है। नेत्र-रोगों मे शहद के साथ खाना चाहिये। पित्त, वात-रक्त, रक्तपित्त, क्षय, शोथ, विष, उल्टी मे दी जाती है। औषधियों का स्वाद ठीक करने के लिये इसको मिलाया जाता है। उबालकर काढ़ा करने से मुँह की गरमी मिटती है। यदि गर्भवती स्त्री का गर्भ अपूर्ण अवस्था में गिर जाय, तो उस स्त्री को मुलहट्ठी दूध के साथ देनी चाहिये। स्त्रियों के रक्त-प्रदर में इसका चूर्ण ½ तोला शक्कर के साथ तथा तण्डुलोदक के साथ देना चाहिये। बनावट—यष्टिमधुकादि चूर्ण।

११८. ज़हरकुचला—यह गरम प्रदेशों में यथा मद्रास मे बहुत होता है। इसका फल नारङ्गी जैसा गोल और सुन्दर होता है। इसको 'रम्यफल' कहते हैं। इसके अन्दर जो चपटा गोल बीज होता है, उसका नाम ज़हरकुचला है। इसके ऊपर मखमल जैसा पड़ होता है। ज़हरकुचला स्वाद में बहुत कड़वा और विषैला है।

गुण—पौष्टिक और वातहर है। इसका प्रभाव विषैला होता है, इसलिये सम्भवतः प्राचीन आर्य-चिकित्सकों ने इसको महत्व नहीं दिया। परन्तु युक्ति एवं योग्य उपाय से इसका प्रभाव चमत्कारिक होता है। अनार्य-चिकित्सा में इसको एक मुख्य स्थान दिया गया है। ज्ञान तन्तुओं पर इसका बहुत असर होता है, इसलिये इनके प्रायः सब विकारों में इसका उपयोग किया गया है। इसके उपयोग से ढीले पड़े हुए निर्बल तन्तु सशक्त बनते हैं, इसलिये निर्बल एवं वृद्ध पुरुषों के लिये इसका उपयोग किया जाता है। इसके अधिक उपयोग से या देर तक लगातार सेवन करने से हाथ एवं पाँव के स्नायु तन जाते हैं।

चौड़ा और ५-६ इञ्च लम्बा होता है। इसका गुण तज से मिलता है। दीपन, पाचन, एवं सुगन्धित द्रव्य है। त्रिजातक में पड़ता है। गरम कफ वा अर्शनाशक, हिक्का, अरुचि, प्रतिश्याय, विष, वस्ति-रोग, त्रिदोष आदि में लाभ करता है। सुगन्धित मसालों में भी पड़ता है।

१२३. **तिल**—तिल का झाड़ सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसमें से तेल निकलता है। यह तेल खाने के एवं बालों पर लगाने के काम आता है। तिल काले और श्वेत होते हैं। खाने में सफेद तिल्ली का तेल काम में आता है और काले तिल का तेल दवाई के काम में अच्छा है। इसमें से खली निकलती है। यह खली बैलों और भैंसों को दी जाती है। इसका भी उपयोग अर्श में तथा अन्य कई रोगों में होता है।

गुण—पौष्टिक, स्निग्ध, मूत्रल, ऋतु-प्रवर्त्तक तथा सारक है। तिल को मक्खन के साथ, या नागकेसर और मक्खन के साथ खाने से अर्श में लाभ करता है। इसकी लुपरी बाँधने से व्रण शीघ्र भर आता है। स्त्रियों को यदि ऋतु न आती हो, तो इसका काढ़ा पिलाना चाहिये। एक तोले काले तिल को २० तोले पानी में उबालकर पीछे जब पाँच तोला रह जाय, तब इसमें गुड़ डालकर पीने से ऋतु आती है। इसमें गाजर के बीज डालकर काढ़ा करके पिलाने से गर्भपात होता है। इसी प्रकार खली को पीसकर पेड़ू पर बाँधना चाहिये। मूत्रकृच्छ्र-रोग में या मूत्राघात में तिल या खली का लेप पेड़ू पर करना चाहिये। तारुण्य-पिटिका के ऊपर पुरानी खली को दूध या गोमूत्र में पीसकर लेप करना चाहिये। बालकों के रक्तातिसार में तिल तथा शर्करा का चूर्ण मधु में चाटना चाहिये। स्त्रियों के रक्त-गुल्म में तिल का काढ़ा, त्रिकटु, सेंकी हुई हींग, इसकी फाँको पीनी चाहिये।

तेल—मुँह के दर्द में तिल का तेल सेंधानमक के साथ लगाना चाहिये। धतूरे के विष में तिल का तेल और गरम पानी पीना चाहिये। तिल और गोखरू को दूध में उबालकर पीने से धातुस्राव बन्द होता है, नपुंसकता दूर होती है। ज्वर में विशेषत: जीर्ण ज्वर में, प्रमेह में तथा नित्य-प्रति तेल के मलने से शरीर कोमल, चिकना रहता है। बालों पर लगाने से उसमें चमक आती है।

१२४. **तवाशीर (तुगाक्षीरी)**—यह स्टार्चवाले पदार्थों की जड़

में से या उनसे उत्पन्न होता है। विशेषत: अरारोट की जड़ से बनाया जाता है। अब भी महाबलेश्वर की पहाड़ी पर हल्दी की जाति का एक कन्द होता है। उससे भी तवाखीरी बनाई जाती है। बाजार में जो तवाखीर बिकता है, उसमें कई वस्तुओं का सार मिला रहता है। तुगाक्षीरी को चरक सुश्रुत में जीवनीय और बृंहणी कहा गया है। सम्भवत: हिमालय में जो कन्द मिलता होगा, उससे निकली हुई तवाशीर में ये गुण हों। तवाखीर की कांजी बनती है। पंसारी गिलोय-सत्त्व में तवाखीर मिला देते हैं। बालकों के मुँह में यदि व्रण हो जाय, तो इसको लगाना चाहिये। इसको रबड़ी पौष्टिक है।

१२५. त्रायमाण—यह पथरीली जमीन में होती है। हिमालय और उत्तर प्रदेश में पकता है। इसकी जड़ पंसारियों के यहाँ मिलती है। यह ईरान से आती है।

गुण—कटु और सारक है।

१२६. तालीसपत्र—इसका पौधा हिमालय में होता है। बाजार में तालीसपत्र के नाम से लकड़ी या डंठल मिलते हैं।

गुण—वातहर, दीपन, पाचन, कफघ्न, ग्राही और कासनाशक है। क्षय-रोग में और कास में इसका उपयोग विशेषत: होता है। उर:क्षत-रोग में बाँस के पत्र-स्वरस में इसको मधु के साथ देना चाहिये। सुगन्धित द्रव्य होने से तेल में पड़ता है। धातु को चेतन करने के लिये धातु-पौष्टिक औषधियों में पड़ता है। यह मल को बाँधता है। बनावट—तालीसादि-चूर्ण।

१२७. तुलसी—यह एक सुगन्धित मंजरीवाला पवित्र वृक्ष है। इसीसे मन्दिरों में लगाया जाता है। लोग इसे देवताओं पर चढ़ाते हैं। इसकी मंजरियों में 'तकमरीया' से छोटा काला बीज निकलता है। तुलसी की दो जाते हैं—काली तुलसी और श्वेत या रामतुलसी। गुण में दोनों समान हैं।

गुण—उष्ण, तीक्ष्ण तथा अग्निदीपक है। वायु, श्वास, कास, हिचकी, उल्टी, कृमि, विष तथा भूतज्वर, ताव, आक्षेप के ऊपर काम में लाई जाती है। इसके पत्तों की चाय बहुत बढ़िया बनती है। लगभग १ तोले पत्तों को २० तोले पानी में उबालना चाहिये। जब आधा या चौथाई रह जाय, तो इसमें दूध मिलाकर पीना चाहिये। इसमें सोंठ, कालीमिर्च, दालचीनी डाल

दी जाय, तो और भी बढ़िया स्वाद बन जाता है। इसके पीने से ताव, सुस्ती, अरुचि, दाह, वायु एवं पित्त शान्त होते हैं। तुलसी के वृक्ष के पास मच्छर, साँप, बिच्छू नहीं आते। मलेरिया के ज्वर में तुलसी बहुत उपयोगी है। इसके तथा बेल के पत्तों के काढ़ा से मलेरिया के ज्वर को आराम होता है। इसका धुवाँ तथा वृक्ष मच्छर के लिये अच्छा है। बनावट—तुलसी-स्वरम।

१२८. **थोर**—इसके कई भेद हैं। साधारणतः दो प्रकार के थोर काम में आते है, एक डण्डा थोर और दूसरा दूधिया थोर। एक थोर में दूध होता है और दूसरे में बड़े-बड़े पत्ते होते हैं। गुण—लगभग समान है।

गुण—उष्ण, शोधक तथा विरेचक है; इसका दूध लगाने से शरीर पर फोला उठ जाता है। दुखती हुआ संधि में लोग इसको बाँधते हैं। पुलटिस के रूप में व्रण पकाने के लिये इसका उपयोग होता है। कई वायुहर चूर्णों को इसके दूध की भावना देने से गुण बढ़ता है। जलोदर आदि रोगों में जब तीव्र विरेचन की आवश्यकता होती है, उस समय इसका उपयोग करना अच्छा है। इसको जलाकर राख बनाकर उसमें तेल मिलाकर लगाने से त्वचा की खुजली मिटती है। इस राख को अरडूसे के रस में या शहद में देने से छाती का कफ मिटता है। गाँठ के ऊपर दण्डाथोर का लेप होता है। दमे के ऊपर आक का फूल अपामार्ग की मूल इनको थोर के दूध में लगाना चाहिये। सूखी खाज के ऊपर थोर का दूध लगाने से प्रथम पकाता है और फिर मिटता है।

१२९. दन्ती संस्कृत नाम जयपाल और हिन्दी में जमालगोटा कहते हैं। इसका झाड़ होता है। इसको दन्ती कहते हैं और इसके फल को जमालगोटा कहते है। पंसारियों के यहाँ इसकी मूल नहीं मिलती; परन्तु फल या बीज मिलता है। दन्ती की दो जाते हैं, एक छोटी (लघु) दन्ती और दूसरी बड़ी (बृहद्) दन्ती। इसका बीज भी छोटा और बड़ा होता है। इसकी जड़ रेचक है, फल तीव्र विरेचक है।

गुण—तीक्ष्ण, विरेचक और शोथ उत्पन्न करनेवाला गरम है। इसका उपयोग शुद्ध करके करना चाहिये। भली प्रकार शुद्ध किया हुआ दन्ती गोमूत्र के साथ पीसकर आँखों में अञ्जन करने से भ्रम, मूर्च्छा आदि रोग नष्ट होते हैं। अशुद्ध या अपूर्ण शोधित दन्ती शरीर को बहुत हानि पहुँचाता है। इससे तीव्र विरेचन लगता है। शरीर में दाह उत्पन्न करता है।

डाक्टरी में इसका तेल बरता जाता है। यह बन्धकोष को तोड़ने में काम आता है। इस तेल की मात्रा $\frac{१}{६}$ से २ बूँद है। इसको बताशे या 'कैपसूल' में रखकर देना चाहिये, जिससे मुँह की श्लेष्म कला को न लगे। जिस समय विरेचन बहुत लगा हो, उस समय दूध या घी पीना चाहिये। इसकी अधिक मात्रा से विरेचन होने के साथ वमन भी होता है। वृद्ध अथवा दुर्बल व्यक्ति को दन्ती का विरेचन नहीं देना चाहिये। शोथ में, जलन्धर में, अफारे में, यकृत तथा प्लीहा की शोथ में इससे अथवा मूल की छाल से विरेचन दिया जाता है। बनावट—इच्छाभेदी रस, दन्तहरीतकी।

१३०. दर्भ—दर्भ जंगलों में घास के साथ उगती है। प्राय: नदी के किनारे उगती है।

गुण—शीतल, स्वाद में मीठी तथा कषैली है। दर्भ का मूल बहुत ठण्डा होता है। यह स्त्रियों के रजोदोष और पुरुषों के वीर्यदोष को ठीक करता है। कफ, रक्तपित्त, दम, प्यास, मूत्रकृच्छ्र, वस्तिरोग, कामला, विषर्प, उल्टी, पथरी, रक्तविकार, ज्वर तथा पित्त को मिटाती है। इसकी मूल गर्भ को स्थापित करने की शक्ति रखती है। श्राद्ध, पूजा आदि देव-कार्यों में इसका आसन बनता है। इसको मूत्रकृच्छ्र में पंचतृण मूल के साथ देते हैं।

१३१. दशमूल—में पाँच-पाँच मूल होती हैं। लघुपंचमूल और वृहत्पंचमूल के मिलने से दशमूल बनता है।

(१) शालपर्णी—इसका पत्ता घोड़े के कान जैसे आकार के होते हैं। इसका वृक्ष २—४ फीट ऊँचा होता है।

(२) पृश्निपर्णी—(पीठवन) इसकी झाड़ २ से ३ फीट ऊँची होती है।

(३) बड़ी कटेरी—इसका वृक्ष ४ से ६ फीट ऊँचा होता है।

(४) कटेरी छोटी—यह प्रसिद्ध है।

(५) गोखरू

(६) बिल्व—यह प्रसिद्ध है।

(७) अग्निमन्थ—अरणी

(८) श्योनाक—(सोना)—इसमें लम्बी-लम्बी फलियाँ लगती हैं।

(९) काश्मरी (गम्भारी)—इसका झाड़ ५० से ६० फीट ऊँचा होता है। इसका बहुत बड़ा विस्तार होता है। इसके पत्ते सन्मुख में होते हैं। पीपल के पत्ते से बड़े और लम्बी आणीवाले होते हैं। फूल भूरा, पीले रंग का

होता है। इसके ऊपर शहद की मक्खियाँ तथा भ्रमर चक्कर मारते रहते हैं। इसका फल पीले रंग का और अण्डाकृति होता है।

१० पाटला (पाढ़ल)—यह झाड़ ३० से ६० फीट ऊँचा होता है और गीले स्थानों में उगता है। इसका पत्ता लम्बा और आमने-सामने रहता है। फूल लाल रङ्ग का और मीठी गन्धवाला होता है। इसका फल अर्थात् फलियाँ १ से १॥ फुट लम्बी होती हैं। पाढ़ल की दो जात हैं, सफेद और लाल।

गुण—लघुपंचमूल—स्वाद में कषाय और कड़ुवा, पौष्टिक, बलकारक त्रिदोषहर, न बहुत गरम और न बहुत ठंडा होता है। पित्त, श्वास, वायु, कफ, ज्वर, पथरी को नष्ट करता है। वृहद्-पंचमूल—स्वाद में कड़ुवा, कषैला और मीठा। गरम, अग्निदीपक, वातहर, कफहर, त्रिदोषहर, कफ, वायु, श्वास तथा खाँसी को मिटाता है।

दशमूल का गुण—त्रिदोषहर, श्वास, कास, शोथ, प्रसव के पश्चात् के रोगों में, ताव में, पार्श्वशूल में तथा अरुचि में लाभदायक है। बनावट—दशमूलारिष्ठ।

१३२. दाड़िम—इसके पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग भेद से दो भेद हैं। जो पुलिङ्ग होता है, उसका वृक्ष बड़ा होता है। उसमें फल भी बड़ा आता है। दूसरा स्त्रीलिङ्ग, इसका वृक्ष छोटा होता है, फल भी छोटा और अधिक खट्टा होता है। इसको अनार कहते हैं। काबुल की तरफ इसकी बहुत अधिक पैदाइश होती है। मस्तक की तरफ से जो अनार आता है, वह सबसे अधिक मीठा होता है। अनार के फूल और छाल में से रङ्ग निकलता है।

गुण—पित्तशामक, स्तम्भक तथा कृमिघ्न है। अनार का रस पित्तशामक है। इसलिये उल्टी दब जाती है। इसके लिये इसका रस या थोड़े-थोड़े दाने को मुँह में रखकर चूसने चाहियें। अनार का शर्बत पीने से गरमी तथा प्यास की शान्ति होती है। इसकी छाल में स्तम्भन गुण है। अनार की मूल की छाल इससे अधिक स्तम्भक है। अनार का फल अतिसार आमातिसार और संग्रहणी में बहुत उपयोगी है। नकसीर में इसके फूल का रस डालने से खून बन्द होता है। दाड़िम के छाल का काढ़ा पीने से पेट के कृमि मरते हैं। इस बात को अनार्य-चिकित्सक भी मानते हैं। यूनानी हकीमों का कहना है कि एक साबूत अनार लेकर उसमें गड्ढा करके, उसके अन्दर बादाम या बनफसे का तेल भरकर आग पर धीरे-धीरे गरम करना चाहिये,

ज्यों-ज्यों तेल अन्दर पचता जाय, उसमें थोड़ा-थोड़ा और भी मिलाते जाना चाहिये। जब सब पच जाय, तो इसको चूसने से सूखी खाँसी, छाती के रोग मिटते हैं। अथवा दाड़िम के रस में शर्करा, बबूल का गोंद, बदाम का तेल और गेहूँ का सत्त्व मिलाकर गरम करके पीना चाहिये। बनावट—दाड़िम पुटपाक, दाड़िमाष्टक चूर्ण, दाड़िम चतुःसम।

१३३. द्राक्षा—अंगूर की बेल होती है। अपने देश में बगीचों में भी इसको लगाते हैं; परन्तु इसकी अधिक पैदाइश काबुल, क्वेटा आदि में होती है। इसका फूल गुच्छे के रूप में होता है। इसमें द्राक्षा गुच्छे के आकार में लगती है। इसकी तीन-चार जाते हैं। औषधि के काम में "मुनक्का" (बड़ी द्राक्षा) उत्तम गिनी जाती है। इसको अंगूर भी कहते हैं। यह रंग में लाल तथा बड़ी होती है। एक काले रंग की द्राक्षा होती है और दूसरी श्वेत-हरे रङ्ग की। इन दोनों में बीज नहीं होता।

गुण—पित्तशामक तथा सारक। किशमिश का गुण साधारणतः सब जानते हैं। यह एक उत्तम पौष्टिक मेवा है। ज्वर में, दाह में, खाँसी में, क्षय में इसका उपयोग होता है। अम्लपित्त रोग में या रूक्ष पित्त-जन्य अतिसार में या पित्त-जन्य वमन में इसका उपयोग होता है। बनावट—द्राक्षारिष्ठ, द्राक्षासव, द्राक्षाक्षीर पाक।

१३४. दारुहरिद्रा—इसकी बेल होती है। दारुहल्दी इसी बेल की लकड़ी होती है। इसका रंग पीला-सा होता है। इसमें से रसवन्ती (रसाञ्जन) बनती है। इसको बनाने की विधि यह है कि दारुहल्दी को कूटकर इसके चूर्ण को पानी में भिगो देना चाहिये। इस पानी को उबालना चाहिये और उबल आने पर इसमें इसके बराबर गाय या बकरी का दूध मिलाना चाहिये। और जबतक घना न बने, तबतक उबालते रहना चाहिये। यह रसाञ्जन आँख में अंजन के तरीके काम में आता है। इसको शरीर के अन्दर देने से अतिसार, रक्तातिसार, प्रदर तथा अत्यार्त्तव नष्ट होता है। मात्रा १ से २ वाल।

गुण—शीतल, ग्राही, पित्तशामक है। चरक में इसे मूल व्याधि (अर्श) नाशक एवं कण्डूनाशक कहा है। सुश्रुत इसको मेहहर, मेदहर, स्तन्य-शोधक, दाहनाशक, स्तम्भक संग्राही एवं कृमिहर लिखता है। कइयों का विचार है कि दारुहल्दी के छिलके में लकड़ी से अधिक गुण होते हैं।

हल्दी तथा दारुहल्दी में गुण समान हैं। पित्त-शामक होने से पित्त-ज्वर में दी जाती है। प्रमेह में भी इसका उपयोग होता है। रसाञ्जन को पानी में घोलकर शर्करा के साथ देने से अतिसार, रक्तातिसार, प्रदर, आर्त्तव में लाभ होता है। दारुहरिद्रा के काढ़े में मधु डालकर पीने से कामला, प्रमेह मिटते हैं। बालकों के मुख-पाक में रसाञ्जन का लेप किया जाता है। दुष्ट व्रण इसके काढ़े से धोने पर शीघ्र भरता है। चावलों के धोवन में रसौंत के पीने से स्त्रियों का प्रदर बन्द होता है। आँख के दुखने पर इसका लेप आँख के चारोंओर किया जाता है। रसौंत से पोव जल्दी बन्द होती है। दारुहरिद्रा शीत-ज्वर में लाभदायक है। इसमें से "बैरबेरीन" नामक तत्त्व निकलता है। बनावट—रसाञ्जनादिवटी, दार्व्यादि काढ़ा

१३५. देवदारु—देवदारु के पेड़ काश्मीर, शिमला, ब्रह्मदेश में होते हैं। यह पेड़ बहुत ऊँचा है। देवदारु में से तेल निकलता है। यह बहुत ही अच्छा कृमिनाशक, शोथघ्न है।

गुण—स्वेदल, मूत्रल, कफघ्न, तथा दीपन, पाचन है। इसका अधिक उपयोग प्रायः काढ़ों में होता है। ज्वर के साथ यदि किसी मर्म स्थान पर शोथ हो, तो इस अवस्था में देवदारु अपने मूत्रल और स्वेदक प्रभाव के कारण अधिक उपयोगी होता है। प्रसूत ज्वर में इसका उपयोग होता है। बनावट—देवदार्व्यादि काढ़ा।

१३६. धतूर—यह दो हाथ ऊँचा झाड़ होता है। यह दो प्रकार का होता है, काला और श्वेत। इनमें काला धतूरा अच्छा है। धतूरे के फल में गोल ढोंढ़ लगता है। इसमें बीज रहते हैं। इस फल के ऊपर काँटे होते हैं। दवाई के रूप में धतूरा श्वास-रोग में पिया जाता है। इसको सिगरैट के रूप में या चिलम में रखकर खींचते हैं। इसके पीने से दमे का वेग घट जाता है। शीत-ज्वर में धतूरे का रस या बीज दिये जाते हैं। शिर की जूँ या अन्य कृमि मारने के लिये इसका स्वरस बरता जाता है। आंत्र-ज्वर में इसके पत्तों का रस पाँच बूँद मिर्च के चूर्ण या दही के साथ देना चाहिये। उन्माद में धतूरे के तीन-चार बीज पाँच रुपये भर घी के साथ खिलाने चाहिये। शोथ के ऊपर इसके पत्तों का रस लगाना चाहिये। स्तन-रोग में या बच्चा मर जाने पर जब स्तनों का दूध सुखाना होता है, उस समय इसके पत्ते बाँधने से दूध सूख जाता है। योनिशूल में (जख्म न हो, तो) धतूरे के दो-तीन पत्ते

पीसकर उनमें सेंधानमक और घी मिलाकर इनको पोटली योनि मे रखनी चाहिये। पागल कुत्ते के काटने पर इसका रस जख्म पर लगाना चाहिये और इसीका रस पीने के लिये देना चाहिये। दन्तशूल में धतूरे के बीज की गोली दाँत के खोखल में रखने से दन्तशूल नष्ट हो जाती है। बनावट—कनकसुन्दर रस, स्वल्प ज्वरांकुश, कनकासव।

१३७. **धमासा**—धमासे का झाड़ एक हाथ भर ऊँचा होता है। यह जवासे की जात है। इसकी पतली डालियाँ होती है और सम्पूर्ण वृक्ष काँटों से भरपूर होता है।

गुण—शीतल, अन्दर एवं बाहर के दाह के लिये इसका उपयोग होता है। धमासे का काढ़ा घी डालकर पीने से मूर्च्छा तथा भ्रम को मिटाता है। इसकी मूल के कल्क में चावलों का धोवन मिलाकर पीने से रक्तातिसार मिटता है। इसके काढ़े में गलाले करने से मुखपाक मिटता है।

१३८. **धनिया**—यह रोज के खाने की मसाले की वस्तु है। इसको सब पहचानते हैं। दवाई में धनिये का उपयोग होता है। बहुत-से पित्तशामक काढ़ों में इसका उपयोग होता है। इसकी दाल मुखवास के रूप में बरती जाती है। अँग्रेज़ी वैद्यक में धनिये से निकाला हुआ तेल काम में आता है। इसको वातहर गिनते हैं। वह तेल गरमी से उड़ जाता है।

गुण—दीपन, पित्तशामक, उल्टी, प्यास और दाह के ऊपर बरता जाता है। प्यास को मारने के लिये उत्तम है। पित्त-ज्वर में धनिया और द्राक्षा का पानी बहुत लाभ करता है। धनिया तथा शर्करा पीने से पेट की जलन शान्त होती है। बनावट—धान्यपंचक क्वाथ।

१३९. **धातकी**—इसका पौधा चार-पाँच हाथ ऊँचा होता है। इसमें बहुत-सी शाखायें होती हैं। इसके पत्ते लम्बे होते हैं। इसमें लाल लवंग जैसे फूल आते हैं। इसके फूल तथा पत्ते रंग के काम में आते हैं। दवाई में इसके फूल बरते जाते हैं। धातकी के फूलों का अधिक उपयोग आसवों में होता है। यह बात प्रसिद्ध है कि इसके डालने से "फर्मेन्टेशन" सड़ने की क्रिया बन्द होती है।

गुण—धातकी के फूल स्तम्भक होते हैं, इसीलिये अतिसार के अन्दर दिये जाते हैं। इसी गुण के कारण रक्तातिसार में, संग्रहणी में, बालकों के

अतिसार में, वमन में इनका उपयोग होता है। बनावट—धातक्यादि क्वाथ, धातक्यादि चूर्ण।

१४०. दूर्वा—यह एक प्रकार का तृण है, जिसको साधारण भाषा में दूबड़ा कहते हैं। घोड़े का और गधे का बहुत बढ़िया चारा है। पूजा में पवित्रता के लिये इसका उपयोग होता है। इसकी दो जात हैं, श्वेत और लाल।

गुण—शीतल, रक्तस्तम्भक, पित्तघ्न और संग्राही है। शीतल होने से प्रमेह में विशेषत: शुक्रमेह में दी जाती है। रक्तस्तम्भक होने से चोट पर कूटकर बाँधी जाती है। नाक से निकलते हुए रक्त के इसका नस्य बन्द कर देता है। इसके रस में चावलों का पानी मिलाकर पीने से पित्त की उल्टी बन्द होती है। शिर-दर्द में इसके रस से घी बनाया जाता है। यह घृत रक्त-पित्त, रक्त-प्रदर, क्षय में जब रक्तस्राव होता है, तब उपयोगी होता है। चूहे के विष में इसके रस में चावल पीसकर लेप करना चाहिये। रक्तार्श में इसके रस में साठी के चावलों का कल्क बनाकर बाँधना चाहिये।

१४१. निर्गुन्डी (सम्भालु)— इसका झाड़ ५ ६ हाथ ऊँचा होता है। इसमें पाँच-पाँच पत्तों की पखंड़ियाँ होती हैं। पत्ता अरहर के पत्ते के समान लम्बा, तंग कम चौड़ा और नोकीला होता है। इसमें आसमानी, काला-सा फूल आता है। इसका फल आम के बौर की भाँति निकलता है। इसको रेणुका बीज़ कहते हैं। सम्भालु की एक दूसरी जात है, जिसमें श्वेत फूल आता है।

गुण—वातहर, वायु की शोथ, ग्रन्थि, गलगण्ड आदि रोगों में इसका पत्ता बाँधा जाता है। ज्वर में इसके पत्त भापकर शिरदर्द की अवस्था में बाँधे जाते हैं। संधिवात में इसके पत्ते और सोभाञ्जन की छाल पीसकर बाँधी जाती है। इसके पत्ते व्रण के जीवों के मार देते हैं। पित्त-ज्वर में इसका उपयोग होता है। दुष्ट व्रण तथा भगन्दर में इसके पत्तों से बना तेल काम में आता है।

१४२. निशोथ (त्रिवृत्त)—इसकी बेल होती है। इसकी दो-तीन जाते हैं, श्वेत, काली और लाल। प्राय: सफेद निशोथ मिलती है। निशोथ, भारी, बिना घुन से खाई हुई, पानी में डूबनेवाली अच्छी होती है। इसके दो-दो इञ्च के टुकड़े पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

गुण—रेचक। आर्य-वैद्यक में इसका रेचन सबसे अच्छा गिना जाता है। निशोथ के चूर्ण को ६ माशे की मात्रा में दूध या शक्कर के साथ लेने से तीन-चार दस्त होते हैं। पित्त निकालने के लिये यह एक उत्तम विरेचन है। यदि इसके पीने से पेट में शूल होने का भय हो, तो सेंधानमक तथा कालेनमक के साथ देना चाहिये। बनावट—त्रिवृत्तादि चूर्ण

१४३. **निर्वीषी**—यह विषैली नहीं होती। इसको "निर्वीषी" नाम शायद इसलिये दिया गया है कि यह वछनाग की जाति में है। वह विषैला है। एक यही बिना विष की है और इस जात की अन्य सब वनस्पतियाँ विषैली होती हैं।

गुण—पौष्टिक, शोधक और विषनाशक है। गरमी, संधि-वात, गुमचोट, मोचक तथा अस्थिभ्रंश आदि लेपों में काम आता है। यह वछनाग के साथ ही में उगता है और उसके विष को दूर करता है।

१४४. **नागकेशर**—पुन्नाग नाम के वृक्ष से नागकेशर निकलता है। पंसारियों के यहाँ नागकेशर के नाम से जो गोल दाना मिलता है, वह असली नागकेशर नहीं। असली नागकेशर बद्रीनारायण, अल्मोड़ा तथा कूचबिहार से आता है। यह असली केशर पराग होता है। इसकी गन्ध बहुत ही उग्र होती है। बहुत गरम और वाजीकरण तथा स्तम्भक है।

गुण—शीतल है। अर्श में विशेषत: रक्तार्श में इसको मक्खन के साथ खाने से रक्त बन्द हो जाता है। इससे रक्त-प्रदर, शरीर का दाह, प्यास तथा उल्टी शान्त होती है।

१४५. **नागरमोथा**—यह एक प्रकार का मोथा (जड़ोंवाला घास) है, जो पानीवाले आर्द्र-प्रदेश में होता है। इसकी जड़ों को मोथा या नागरमोथा कहते हैं। मोथा का रंग काला-सा होता है। उसपर रेशे होते हैं। नागरमोथा लम्बा होता है। इसका असर पित्त शान्त करने में, प्यास कम करने के लिये तथा पाचन-क्रिया को बढ़ाने में किया जाता है।

गुण—चरक कहता है कि नागरमोथा लेखनीय, भूख लगानेवाला, पाचक, कण्डूनाशक, दूध को बढ़ानेवाला तथा प्यास को कम करता है। सुश्रुत के अनुसार—शोधक, दोषक, पकानेवाला और आमातिसार को शान्त

करता है। यूनानी हकीम इसको लेखन, स्वेदक और मूत्र-दोषनाशक कहते हैं। बच के स्थान में नागरमोथे का उपयोग हो सकता है। स्वेदल तथा ग्राही भी है। आमाशय तथा आंत्र-शोथ को कम करता है। इसके काढ़े से प्यास, ज्वर, रक्तस्राव बन्द होता है। बनावट—मुस्तादि-क्वाथ।

१४६. **नारंगी**—इसका झाड़ सर्वत्र प्रसिद्ध है। मोझाम्बी से जो नारंगी आती है, उसको साधारणतः "मोसम्बी" कहते हैं। इसका छिलका पीला, पतला होता है। और दूसरी नारंगी का छिलका मोटा होता है। इसके छिलके में से एक प्रकार का तेल निकलता है, जो बहुत सुगन्धित होता है। दवाई में इसका शरबत मिलाने से सुगन्धि होती है। इसका रस रुचिकर, शर्बत गरमी कम करनेवाला, पित्तशामक है। दाँत के मसूड़ों में से रक्त निकलता हो, तो नारंगी के चूसने से या उसके छिलके का चूर्ण मिलाने से रक्त बन्द होता है।

१४७. **नारियल**—नारियल के फल को भी नारियल कहते हैं। इसमें से तेल निकलता है। नारियल का वृक्ष बहुत ऊँचा होता है। यह प्रायः समुद्र के किनारे उगता है। इस तेल की सहायता से साबुन बनता है। भिलावा खाने से जब शरीर फूटने लगे, उस समय इसका पानी पीने से या तेल लगाने से लाभ होता है। इसका पानी ठण्डा, पित्तशामक, वमन को बन्द करनेवाला है। गरमियों में प्यास को बुझाने के लिये उत्तम है। इसके पानी में फिटकिरी भरकर कीचड़ में रखने से फिर निकालकर पीने से मूत्राघात अच्छा होता है। बालों को चमक देता है। दाद, पुराना कुष्ठ, छाजन आदि पर नारियल के छिलके का तेल निकालकर लगाते हैं। बनावट—नारिकेलक्षार।

१४८. **नीम**—नीम का झाड़ सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह कड़ुवा होता है, परन्तु एक और प्रकार की मीठी नीम होती है। इसका पत्ता मीठा और रुचिकर होता है। यह पत्ता शाक-भाजी में पड़ता है। एक और नीम का भेद है, जिसको बकायन (महानीम) कहकर पहचानते हैं। औषधि के रूप में नीम के पत्ते, इसकी अन्तः छाल, फल, गोंद और नीम के अन्दर का तेल काम में आते हैं। नीम जब बहुत पुराना हो जाता है, तब उसमें से चन्दन जैसी सुगन्धि आती है। नीम की छाया शीतल और नीरोगी होती है। इसलिये चौराहों पर, बगीचों में एवं आँगन में लगाया जाता है।

गुण—शोधक, ज्वरघ्न, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न तथा शामक है। व्रण, शोथ, कृमि, उल्टी, पित्त, विष, दाह, कोढ़, तृषा, रक्त, रक्तदोष, ज्वर, प्रमेह आदि रोगों में हितकारक है। पित्त के ज्वर में नीम की छाल का बहुत उपयोग होता है। जब कीनीन की गरमी हो, तो इसका शीत कषाय बहुत लाभ करता है। मलेरिया, या शीत ज्वर में कीनीन वेग उतरने के पीछे दी जाती है, परन्तु इसका शीत कषाय चढ़े।हुये ज्वर में भी दिया जा सकता है। चेचक, खसरा, मसूरिका आदि में नीम या गिलोय बहुत लाभ करती है। गरमी के ऊपर नीम के पत्तों का रस शर्करा डालकर सात दिन पीना चाहिये।

विषम ज्वर—कड़ुवे नीम की छाल के काढ़े में धनिया और सोंठ डालकर पीना चाहिये। नीम की कच्ची निम्बोली खाने से अर्श, प्रमेह, कृमिरोग में अच्छा लाभ होता है। कृमि-रोग में इसके पत्तां का रस मिर्च के चूर्ण के साथ खाना चाहिये। संखिये के विष के ऊपर भी इसका रस पीना चाहिये। शीत पित्त या दर्द में इसके पत्ते पीसकर घी के साथ चाटना चाहिये या अन्त: छाल का काढ़ा पीना चाहिये। सर्प-विष के ऊपर कड़ुवे नीम के पत्ते चबाने चाहिये। यदि सर्प ने काटा होगा, तो पत्ते कड़ुवे नहीं लगेंगे। इसके पत्तों का स्वरस या अन्त:छाल का काढ़ा बराबर पिलाते जाना चाहिये, जबतक रोगी को कड़ुवा न लगने लगे। रक्त-प्रदर में अन्त: छाल का काढ़ा जीरे के साथ लेना चाहिये।

प्रमेह में विशेषत: शर्करा मेह या शुक्रमेह में इसका स्वरस या अन्त: छाल का काढ़ा पीना चाहिये। कॉलरा, मृगी आदि रोगों में रोगी को आक्रमणों से बचाने के लिये उसको नीम के पत्ते, कपूर और हींग की गोली खानी चाहिये। अर्श-रोग में पकी हुई निम्बोली की गिरी ३ माशे और गुड़ ६ माशे रोज़ सायंकाल या प्रात: खानी चाहिये। उपदंश-प्रमेह आदि में इसका फांट प्रात: पीना चाहिये, और खाने में घी शक्कर का उपयोग करना चाहिये। दुष्ट, पीव-युक्त व्रणों के ऊपर इसके पत्तों को पीसकर उनमें शहद मिलाकर लगाना चाहिये। खुजली के ऊपर पत्तों को अन्तर्धूम विधि से जलाकर उस भस्म को करञ्जादि तैल में मिलाकर लगाना चाहिये। रक्त-पित्त तथा कुष्ठ रोगियों को चाहिये कि इसके काढ़ा से स्नान करें। इसके स्वरस को गाय के दूध में मिलाकर पियें, नीम की छाया में सोयें-बैठें। दाह-युक्त शोथ के ऊपर नीम के पत्तों को पीसकर लगाना चाहिये। यदि ज्वर में बहुत दाह प्रतीत हो, तो नीम के पत्तों से

झाग बनाकर शरीर पर लगाना चाहिये। सूतिका-रोग में स्त्री को पुराने नीम की अन्तः छाल के काढ़ा से स्नान कराना चाहिये अथवा इसके काढ़े की देकची या चारपाई के नीचे (शिर, कमर और पाँव के नीचे) रखनी चाहिये, जिससे भाप लगकर पसीना आये। योनि, कण्डु-रोग में नीम और एरण्ड के बीजों की गिरी को नीम के रस में घोंटकर योनि में रखनी चाहिये। व्रणों पर इनको शहद में मिलाकर लगाना चाहिये। अथवा इसके कषाय से धोना चाहिये। व्रण पर नीम के पत्ते, मुलहट्ठी, दारुहल्दी इनके चूर्ण को घी तथा शहद में मिलाकर लगाना चाहिये।

नीम के पके हुये पत्ते तथा हरड़ अथवा आँवले के साथ नित्यप्रति दो मास तक खाने से और पथ्य के पालन करने से त्वचा के रोग और कण्डू, कुष्ठ आदि विकार दूर हो जाते हैं। नीम के पत्तों की सेंधानमक के साथ बनी पुलटिस या लुगदी आँख पर बाँधने से अथवा इसके कषाय से आँखों को धोने से या इसकी छाया में सोने से आँख की शोथ को, उसकी लालिमा को लाभ होता है। निम्बोली, हरड़ तथा शर्करा इनकी फंकी खाने से प्रमेह नष्ट होता है। नीम के पंचांग का चूर्ण सेवन करने से कुष्ठ मिटता है। यह शीत ज्वर में लाभ करता है। नीम के तेल का या निम्बोलियों का उपयोग आज-कल साबुन बनानेवाले करने लगे हैं। कारबोलिक तेल के स्थान में निम्बोलियों का तेल व्यवहार में लाया जा सकता है। इसके पत्तों का सेक भी शोथ को कम करता है। इसके लिये पत्तों को तेल में गरम करके बाँधना चाहिये। बनावट—निम्बादि-चूर्ण, निम्बपत्रादि-चूर्ण, पंचनिम्ब-चूर्ण।

१४९ **निर्मली**—इसका वृक्ष होता है। इसका बीज बटन के आकार का गोल होता है। इसके बीज के ऊपर कोमल रेशम जैसे बाल होते हैं। इसके द्वारा पानी निर्मल हो जाता है, इसीलिये इसका नाम निर्मली है। सुश्रुत में पानी को साफ करने की एक वस्तु कतकबीज (निर्मली) कही है। मूत्रल, कान्तिकारक, स्वाद में कड़ुवा होता है। इसका बीज जहरकुचले के बीज से मिलता है। निर्मली के बीज को पानी या गुलाबजल में घिसकर लगाने से लाभ होता है। आँख के लिये हितकर एवं शीतल है। प्रमेह, मधुमेह, मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में इसका उपयोग होता है। इसका पका हुआ फल गरम तथा वमनकारक होता है। इसलिये शोथ, पाण्डु, विष, सरदी आदि रोगों में लाभदायक है। मूत्रल गुण के लिये २ बाल, वल्टी के लिये ६ बाल हैं।

१५०. **नीबू** – नीबू का वृक्ष सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसका पत्ता गोल होता है, इसमें नीबू जैसी गन्ध आती है। नीबू पकने पर ऊपर से पीला और अन्दर से खट्टा-मीठा हो जाता है।

गुण—काग़ज़ी नीबू खट्टा और ठण्डा होता है। पेट की वायु, अफारा शूल, कास, आम, कृमि, अरुचि, मुँह की खराब बास को दूर करता है। जठराग्नि को बढ़ाता है। अन्न में रुचि पैदा करता है। नीबू में सड़ाँद दूर करने का गुण रहता है। नीबू का शरबत पित्तशामक है। नित्यप्रति खाने से पेट के कृमि नष्ट होते हैं। रक्त को शुद्ध करता है। दाँतों से रक्त और पीव आती हो, तो इसको खूब चूसना चाहिये। इससे पीव कम हो जाती है। अफीम तथा फिटकिरी भुरककर नीबू को दुखती आँख पर रखने से, आँख में जमा हुआ रक्त पीछे वापिस हो जाता है। अजीर्ण और अरुचि-वाले को नित्यप्रति नीबू, आर्द्रक, सैन्धानमक भोजन से पूर्व खाना चाहिये। कॉलरे के दिनों में नित्यप्रति नीबू का रस दाल, शाक में खाना चाहिये। अथवा नीबू के रस और प्याज के रस में शक्कर डालकर पीना चाहिये। पके हुए फल की छाल में से तेल निकलता है। यह तेल सुगन्धित मच्छरों को भगानेवाला होता है। इस तेल को "कोलन वाटर" के बनाने के काम में लाते हैं। छाल का अर्क और शरबत बनता है। बनावट—नीबू का शरबत।

१५१. **पटोल**—इसकी दो जात हैं, कड़वी और मीठी। यह फल टोडाणा जैसा होता है। पकने पर लाल हो जाता है। उस समय इसका रङ्ग बिम्बी फल से मिलता है।

गुण—रेचक, शोधक तथा ज्वरनाशक। पाचन करनेवाला, अग्नि-दीपक है। पित्त, कफ, रक्तविकार, ज्वर, दाह, कृमि, मूत्रकृच्छ्र, तृष्णा आदि को मिटाता है। इसके मूल में रेचक गुण रहता है। पत्ते गरमी को शान्त करते हैं। और फल त्रिदोषहर है। यह अनेक काढ़ों में पड़ता है। बनावट—पटोलादि क्वाथ।

१५२. **पाषाणभेद**—यह तुलसी की श्रेणी की सुगन्धित वन-स्पति है। यह पथरीली भूमि में कुल्लु आदि पहाड़ी प्रदेशों में होती है। इस-लिये इसे पाषाणभेदी कहते हैं। दूसरा कारण यह है कि इस वनस्पति का काढ़ा मूत्राश्मरी को या मूत्र-शर्करा को तोड़ता है। बाज़ार में पंसारियों के

यहाँ इसका १॥ इञ्च का टुकड़ा बिकता है। इसका आकार भूरा एवं चोप-चीनी से मिलता है।

गुण—मूत्रल, अश्मरीनाशक है। इस गुण के कारण पेशाब की जलन में व्यवहार आता है। बनावट—पाषाणभेदी-चूर्ण।

१५३. **पिलखन**—यह पीपल के समान बड़ा मोटा वृक्ष होता है। इसका पत्ता बड़ा और अधिक गहरा हरा होता है। फल पीपली जैसा होता है। इसकी छाल और पत्ते का उपयोग होता है। छाल का उपयोग व्रणों के धोने तथा स्तम्भक गुण के लिये किया जाता है। फल का उपयोग प्रमेह में होता है। "पंचवल्कल क्वाथ" में इसका उपयोग किया जाता है।

१५४. **पिप्पली**--इसकी बेल होती है। इसके पत्ते पान जैसे होते हैं। इसके फल का नाम पिप्पली है। हिन्दुस्तान में यह आसाम, बंगाल और दक्षिण में होती है। इसका आकार चूहे की मींगनी जैसा होता है। इस लिये इसको लींड़ीपीपल कहते हैं। यह चूँकि मगध में होती है, इसलिये-इसको 'मागधी' कहते हैं। एक दूसरी छोटी पीपली अफ्रीका के सुवाल प्रान्त से आती है, इसलिये इसको सुवाली पिप्पली कहते हैं। यह पिप्पली बहुत हल्की होती है।

गुण—उष्ण, दीपन, पाचन, वातहर। पिप्पली अग्निमान्द्य तथा कफ-वात को दूर करती है। दमा, खाँसी, ज्वर विशेषत: जीर्ण ज्वर में, अर्श में, प्लीहा में अधिक उपयोगी है। इसको बहुत काल तक सेवन नहीं करना चाहिये। पिप्पली के चूर्ण को दुगुने गुड़ के साथ लेने से श्वास, खाँसी, अरुचि, जीर्ण ज्वर मिटता है। मेद, कफ श्वास, पाण्डु, प्लीहा रोगों में शहद के साथ चाटनी चाहिये। दूध बढ़ाने के लिये गरम दूध के साथ पीना चाहिये। पीपल और हरड़ की फंकी गरम पानी के साथ पीने से आमातिसार का शूल मिटता है। हिचकी में पिप्पली तथा मोर की पिच्छा (पंखों) की भस्म शहद में चाटनी चाहिये। रतौंधी में इसको गोमूत्र में घिसकर अंजन करना चाहिये और आस्तीया के पत्तों का शाक खाना चाहिये। उदर के रोगों में पिप्पली का चूर्ण गोमूत्र के अन्दर कई दिनों तक पीना चाहिये। गुल्म में पिप्पली और जौखार शहद तथा आर्द्रक के रस में चाटनी चाहिये। कफ में पिप्पली का चूर्ण घी और शहद में खाना चाहिये। हृदय-रोग, क्षय, खाँसी तथा ज्वर में गाय का दूध

ढाई सेर, इसको उबालना चाहिये। जब दूध आधा रह जाय, तब इसमें दो-दो तोला घी, शहद, शक्कर डालना चाहिये और उसमें १ तोला पिप्पली का चूर्ण डालकर पीना चाहिये। अथवा दूध तथा पिप्पली को शक्ति के अनुसार पीना चाहिये। यदि बालक के शरीर में वृद्धि न हो या गर्भिणी माता बच्चे को दूध पिलाती हो, तब पिप्पली का चूर्ण शहद में चाटना चाहिये।

परिणाम शूल में पिप्पली का चूर्ण ४ तोला, गुड़ ६ तोला, गाय का घी ६४ तोला, दूध २५६ तोला यह सब परिपक्व करके इसमें से ४ तोले सबार में खाना चाहिये। विषम ज्वर, हृदय-रोग, खाँसी, दमा तथा क्षयवाली स्थिति में शहद, घी, दूध, शक्कर तथा पिप्पली सम भाग लेकर चाटनी चाहिये। धातुक्षय, धातुगत ज्वर, खाँसी, दम तथा मन्दाग्निवाली स्थिति में शहद १ तोला, घी २ तोला, पिप्पली ४ तोला, शक्कर ८ तोला, दूध ३२ तोला और चतुर्जात १६ तोला, इन सबको मिलाकर इसमें से एक-एक या दो-दो तोला भर खाना चाहिये। अजीर्ण या अरुचि में पिप्पली को नीबू के रस में तथा सेंधानमक में दो-चार भिगोकर पीछे सुखाकर दो-चार पिप्पली खानी चाहिये। अपस्मार में नीम के रस में पिप्पली का चूर्ण उबालकर पीना चाहिये।

१५५. **पिप्पली (वर्द्धमान)**—इसका अभिप्राय यह है कि पिप्पली को बढ़ा-बढ़ाकर सेवन किया जाय। अर्थात् यदि आज तीन पिप्पली खाई है, तो इसको उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने चाहिये और फिर एक नियत समय पश्चात् इसको क्रमशः पूर्व की भाँति घटाते जाना चाहिये। (१) प्रथम दिन ३ पिप्पली दूध में उबालकर पीनी चाहिये। और दूसरे दिन ६ पिप्पली, तीसरे दिन ९ इस प्रकार प्रतिदिन तीन-तीन पिप्पली बढ़ाकर १० वें दिन ३० पिप्पली खानी चाहिये। इसके पीछे ग्यारहवें दिन ३ पिप्पली कम करनी चाहिये। अर्थात् २७ पिप्पली लेनी चाहिये, इस प्रकार प्रतिदिन तीन-तीन पिप्पली घटाते जाना चाहिये। यहाँ तक कि बीसवें दिन ३ पिप्पली रह जाय। (२) दूसरी विधि यह है कि प्रतिदिन एक-एक पिप्पली बढ़ाई जाय। इस प्रकार २१ दिन तक बढ़ाकर फिर घटाना आरम्भ करना चाहिये। यहाँ पर भी एक-एक पिप्पली घटानी चाहिये। पिप्पली के साथ दूध पर्याप्त पीना चाहिये।

गुण—जीर्णज्वर, पाण्डु, कास, श्वास, कफ, पीनस, अग्निमान्द्य

आदि रोगों में इससे लाभ होता है। विद्वान वैद्यों की सलाह से यह प्रयोग करना चाहिये और जबतक यह प्रयोग करते रहें, तबतक सात्विक प्रयोग करना चाहिये। कोई भी गरम ख़ुराक नहीं खानी चाहिये। बनावट—पंच-कोल, पिप्पली-क्वाथ, पिप्पली-चूर्ण, पिप्पल्यादि-चूर्ण, पिप्पल्यासव।

१५६. **प्याज़**—यह दो प्रकार का होता है, लाल और श्वेत। यह दवाई के काम आता है।

गुण—वातहर, गरम, वाजीकर, शुक्रल। वात-व्याधि में विशेषत: पेट के अफारे में इसका उपयोग होता है। विसूचिका की अवस्था में इसका रस पिलाना चाहिये। मूर्च्छा आने पर इसको काटकर सूँघना चाहिये। लू लगने पर या गरमी से माथा दुखने पर इसको सूँघना चाहिये। यह लोकोक्ति है कि इसको पास में रखने से लू नहीं लगती। नकसीर में इसका रस सूँघना चाहिये। तम्बाकू के विष में इसका रस देना चाहिये। छोटे-छोटे मस्सों को नष्ट करने के लिये इसको कूटकर बाँधना चाहिये। पुरुषत्व के लिये भी इसका उपयोग होता है। कान के दर्द में इसका रस गरम करके डालना चाहिये। बनावट—रसोनपिण्ड, कन्दर्पपाक

१५७. **पिप्पलीमूल**—लीढ़ी पिप्पली के वृक्ष की जड़ को पिप्पली मूल कहते हैं। इसमें गाँठें होने से इसको "ग्रन्थि" कहते हैं।

गुण—उष्ण, दीपन, पाचन, उदर-रोग, अफारे, अग्निमान्द्य, कृमि, गुल्म, श्वास आदि रोगों में लाभ करता है। भूख के लिये, पेट की वायु को दूर करने के लिये, प्रसव होने के पीछे इसकी वायु मिटाने के लिये, गर्भाशय को संकुचित करने के लिये पिप्पलीमूल दी जाती है। जीर्णज्वर, अजीर्ण या वायु में पिप्पलीमूल का काढ़ा या चूर्ण लाभ करता है। पार्श्वशूल में एवं वायु के कारण यदि अनिद्रा-रोग हो, तो पिप्पलीमूल गुड़ के साथ खाने से लाभ होता है। बनावट—ग्रन्थादि क्वाथ।

१५८. **पीपल**—इसका वृक्ष प्रसिद्ध है। भारत में यह वृक्ष पूजा की दृष्टि से देखा जाता है।

गुण—शीतल, पित्तशामक, रक्तशोधक, योनि-दोषहर, व्रणशोधक।

रक्त-पित्त में—पीपल के पत्तों का स्वरस १ भाग, हीराबोल ६ भाग और दुगुना शहद इनको मिलाकर खाने से छाती में से पड़ता रक्त रुकता है।

प्रदर—पीपल की लाख एक-एक तोला छाछ में डालकर पीने से श्वेत

प्रदर बन्द होता है। दमा और खाँसी में पिप्पली का चूर्ण घी और शर्करा में चाटना चाहिये। उर:क्षत, क्षय में पिप्पली का चूर्ण, शहद और घी डालकर पीना चाहिये। व्रणों को भरने के लिये या जले हुये व्रणों पर पिप्पली का चूर्ण घी में या वैजलीन में मिलाकर लगाना चाहिये। पुंसवन के लिये इसके चूर्ण का या काढ़े का उपयोग होता है। अफीम के विष में पीपल की छाल का काढ़ा देना चाहिये।

बालकों के मुखपाक—पिप्पल का ताजा पत्ता तथा छाल पीसकर शहद के साथ चाटना चाहिये। बच्चों के तोतलेपन के लिये—पीपल का पका हुआ फल खाने से बच्चा बोलना सीखता है।

उपदंश—सूखी छाल की राख बुरकनी चाहिये। पीपल का फल पौष्टिक होने से शक्ति देता है। बनावट--पंचवल्कल क्वाथ।

१५९. **पीलुड़ी (काकमाची)**—हिन्दी में इसे मकोय कहते हैं। इसका पतला फूल होता है। पत्तों की जड़ में फल लगता है। यह फल रत्तियों की भाँति गुच्छे के आकार में लगता है। पकने पर नीला काला हो जाता है, स्वाद में मीठा होता है।

गुण--शोथघ्न, कफघ्न है। यह शोथ, शूल, कफ, अर्श, हिचकी तथा दमे को मिटाता है। इसका पत्ता पीसकर शोथ के ऊपर लगाया जाता है।

१६०. **पपीता** —इसका वृक्ष ५-६ हाथ ऊँचा होता है। इसमें नीले रङ्ग का फूल आता है। इसका फल नारियल के समान वृक्ष के साथ गुच्छों में लगता है। पत्ते की डंडियाँ लम्बी और खोखली होती हैं। कच्चे पपीते की भाजी बनती है। पक्का पपीता खाने में मीठा होता है।

गुण—गरम, पौष्टिक है। पपीते के तोड़ने से जो दूध निकलता है, उसको क्रमिघ्न कहते हैं। इसको खाज में भी बरता जाता है। पपीते के वृक्ष में से एक प्रकार का सत निकाला गया है। इसको "पैपीन" कहते हैं। यह औषधि प्राणी-वर्ग से बनाई जानेवाली 'पैप्सोन" के स्थान पर बरती जा सकती है। पपीता, प्लीहा एवं यकृत-रोग में लाभ करता है। पपीते के बीजों का चूर्ण रज की कृच्छ्रता को दूर करता है। इसे यदि गर्भिणी को दिया जाय, तो गर्भपात का भय रहता है। इसके फल का उपयोग तथा दूध शरीर की निर्बलता को दूर करने की एक उत्तम ख़ूराक है। कच्चे पपीते का रस अर्श के मस्सों पर लगाने से वे जल जाते हैं। गर्भिणी स्त्री के मल को साफ़ करने के लिये पक्का पपीता देना चाहिये।

१६१. **पुनर्नवा** — यह ज़मीन पर फैलती है। इसकी बेल होती है। बरसात में पुष्कल होती है। इसके दो भेद हैं। एक रक्त-पुनर्नवा, जिसकी डंडी लाल रंग की होती है, और दूसरी सफेद पुनर्नवा, इसका डण्ठल श्वेत होता है। इन दोनों के गुण प्राय: समान होते हैं। परन्तु श्वेत पुनर्नवा अधिक मूत्रल है।

गुण—शोथघ्न, शोधक, सारक तथा मूत्रल है। शोथनाशक होने से बहुत-से कषायों में पड़ती है। शोथघ्न और मूत्रल गुण के कारण जलोदर में, मूत्राशय के दर्दों में तथा सूतिका-रोग में पड़ती है। आँख के श्वेत फूली में इसकी जड़ घिसकर अंजन करना चाहिये। आँख से पानी गिरता हो, तो श्वेत पुनर्नवा के मूल का रस शहद तथा भाँगरे के रस में घिसकर अंजन करना चाहिये। परवालों के लिये इसको मूल घिसकर अंजन करना चाहिये। रतौंधी में इसको जड़ छाछ या कांजी में घिसकर अञ्जन करना चाहिये। रक्तार्श में पुनर्नवा के मूल का चूर्ण हल्दी के काढ़े के साथ लेना चाहिये। गुल्म में पुनर्नवा के पञ्चांग का चूर्ण गोमूत्र तथा सैन्धानमक के साथ लेना चाहिये। अन्तर्विद्रधि के ऊपर पुनर्नवा और वरुण का काढ़ा पीना चाहिये। चतुर्थक ज्वर में इसकी मूल को दूध में पीना चाहिये। शोथ के ऊपर इसको देवदारु, अमलतास, सोंठ तथा उशीर के साथ पीना चाहिये। कुत्तों के विष के ऊपर पुनर्नवा का रस पिलाना चाहिये। बनावट—पुनर्नवाष्टक्वाथ, पुनर्नवादि-क्वाथ।

१६२. **पुदीना** —इसका बहुत छोटा पौधा होता है। इसे चटनी बनाने के काम में लाते हैं। इसमें एक प्रकार की सुन्दर गन्ध आती है।

गुण—शीतल, दीपन तथा पाचन है। इसके काढ़े को देने से प्यास कम होती है। पुदीना और तुलसी का काढ़ा पीने से प्रतिदिन आनेवाला ज्वर मिटता है। पुदीने का रस, आर्द्रक का रस, सैन्धानमक इनको पीने से पेट की शूल नष्ट होती है। इसकी चटनी ख़ुराक में रुचि करती है।

१६३. **पान**—इसकी बेल सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसका पत्ता मुखवास के लिये सब स्थानों पर काम में आता है। यह कामोद्दीपक, रुचिकर और कान्तिकारक गिना जाता है। पान में एक सुगन्धित तेल होता है, जिससे मुँह में गन्ध आती है। चबाने से पाचक रस अधिक निकलता है। पाचन-

क्रिया को उत्तेजना मिलती है। आर्य-चिकित्सा के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को पान खाना चाहिये। पान के अतियोग से दाँत खराब होते हैं, बल का क्षय, नेत्र-रोग तथा पित्त बढ़ता है। गर्भिणी और बालक को पान नहीं खाना चाहिये। पान के रस से पारद का निवारण होता है।

१६४. **बादाम**— यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसका झाड़ ऊँचा होता है। इसकी दो जातें हैं, मीठी और कड़वी। कड़ुवे बादाम से जो तेल निकलता है, वह विशेष काम में नहीं आता। इस कड़ुवे बादाम में एक प्रकार का विष होता है, जिसे "एसिड हाइड्रोसैनिक" कहते हैं।

गुण—पौष्टिक, गरम है। वात और पित्त रोगों में दिया जाता है। बादाम को घी में खाने से शरीर के अन्दर पुष्टि आती है। आँखों की ज्योति के लिये अच्छा है। बादाम से जो तेल निकलता है, वह सारक है। क्षय-रोग में, खाँसी में तथा शरीर की कमज़ोरी में यह तेल शरीर पर चुपड़ा या मला जाता है। खुश्की हटाने के लिये इससे अच्छा साधन और कुछ नहीं है। कड़ुवे बादाम का तेल गुर्दे की पथरी को नष्ट करता है, ऐसा बहुत-से लोगों का कहना है। जिन रोगों में कॉड लिवर ऑयल शरीर पर मला जाता है, उन सबमें बादाम खुशी से बरता जा सकता है। बनावट—बादाम-पाक।

१६५. **बलादाना (बला-खरैंटी)**—वैद्यक ग्रन्थों में चार प्रकार की बला का वर्णन आता है। यथा—बला, अतिबला, महाबला और नागबला। यद्यपि इन चारों के पौदों की ऊँचाई में अन्तर होता है, तथापि यह चारों एक ही श्रेणी की वनस्पति हैं। नागबला को साधारण लोग "कंघी" घास करके पहचानते हैं। बला का पौधा एक फीट तक ऊँचा होता है। पत्ता गोल और छोटा किनारों पर कटा हुआ-सा। अतिबला का पौधा २-३ फीट ऊँचा और पत्ता बला से कम चौड़ा होता है। इसका पत्ता अलग-अलग तथा शाखा में थोड़े होते हैं। महाबला का वृक्ष होता है और पत्ते चौड़े होते हैं। और नागबला प्रायः देखने में नहीं आती। इसलिये इसके स्थान में गंगेरन बरती जाती है। नागबला के गुण इसमें होते हैं।

गुण—पौष्टिक तथा मूत्रल है। बाजार में केवल खरैटी के बीज मिलते हैं। बला के बीज धातु-पुष्टि के लिये दिये जाते हैं। पानी में इनको भिगो रखने से एक प्रकार का चिकना लुवाब उठता है। इसमें शक्कर या मिश्री डालकर पीने से पुष्टि होती है। इसका तेल वात, व्याधि, पक्षाघात आदि में

काम आता है। बला के बीजों में मूत्रल गुण है, परन्तु इनसे अधिक मूत्रल गुण बला की छाल में है। मात्रा १ तोला। बनावट—क्षीरबला-घृत।

१६६. **बावची**—बावची का वृक्ष लगभग दो हाथ ऊँचा होता है। इसमें छोटे, काले बीज निकलते हैं। बावची और आवची बावची दोनों भिन्न वस्तुयें हैं। गुण में भी भिन्न हैं। इनमें से तेल निकलता है।

गुण—शोधक और कुष्ठघ्न। इसका धुवाँ जन्तुनाशक है। शोधक तथा जन्तुघ्न प्रभाव के कारण त्वचा के रोगों में गुणकारी है। इसका अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार का उपयोग होता है। कुष्ठ के लिये यह एक कीमती औषधि गिनी जाती है। इसका उपयोग बहुत दिनों तक करना चाहिये। प्रथम इससे छाले निकल आते हैं और फिर रंग बदल जाता है। जब इससे छाले उठ जाँय, तब इसका लेप बन्द कर देना चाहिये। हरताल ½ तोला, आँवला ७ तोले और बावची ८ तोला, इनको गोमूत्र में पीसकर लगाना चाहिये।

१६७. **बबूल**—बबूल का वृक्ष सब स्थानों पर प्रसिद्ध है। औषधि में इसकी छाल, पत्ते और गोंद काम में आते हैं।

गुण—संग्राही, शीतल, पौष्टिक है। अतिसार में बबूल की छाल का रस दही डालकर पीना चाहिये। आँख में से पानी गिरता हो, तो बबूल के पत्तों के रस में या काढ़ा के रस में शहद डालकर अंजन करना चाहिये। मुँह के पाक में बबूल तथा जामुन की छाल के काढ़े में फिटकिरी डालकर काढ़ा करना चाहिये। प्रमेह, दाह के ऊपर बबूल के पत्ते प्रातः सायं एक-एक तोला शर्करा के साथ खाना चाहिये। पुष्टि के लिये गेहूँ का दाना और बबूल का गोंद घी में सेंककर, शर्करा की चाशनी में पाक करके खाना चाहिये। आँख उठी हो, तो बबूल के पत्तों की पुलटिस बाँधनी चाहिये। इसके पत्तों का रस आँख में लगाना चाहिये। व्रण को इसकी छाल के काढ़े से धोना चाहिये। इसीकी छाल जलाकर व्रण पर लगानी चाहिये।

१६८. **ब्राह्मी**—यह पानी के किनारे, छाया-युक्त स्थान पर होती है। इसका पौधा होता है। इसके पत्ते १॥ इञ्च चौड़े और २ इञ्च लम्बे होते हैं। इन पत्तों के दूसरी ओर रोयें होते हैं। यह देहरादून, ऋषिकेश की तरफ बहुत होती है।

गुण—शोधक तथा पौष्टिक है। बुद्धि बढ़ाने के लिये या उन्माद रोग में अथवा मस्तिष्क को शक्ति देने के लिये इसका उपयोग प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त यह रक्त-संचार को बढ़ाती है। त्वचा के दोषों को सुधारती है। उपदंश के प्रारम्भ में यह लाभ करती है। ब्राह्मी को धूप में सुखाकर नहीं रखना चाहिये। इससे इसका प्रभाव जाता रहता है। ब्राह्मी के पत्तों को बादाम, खीरे के बीज आदि वस्तुओं के साथ घोटकर सरदाई के रूप में पीते हैं। ब्राह्मी का घी बनता है। यह त्वचा के रोगों में लगाया जाता है। मन के उदासीपन में भी ब्राह्मी लाभ करती है। मस्तिष्क के रोगों में ब्राह्मी का रस उसका घी अथवा चूर्ण लाभ करता है। बुद्धि बढ़ाने के लिये इसे शंखपुष्पी के साथ लेना चाहिये। बनावट—ब्राह्मीस्वरस, सारस्वत-चूर्ण, ब्राह्मीघृत।

१६९. **बिजोरा (मातुलुंग)**—नीबू की अपेक्षा बिजौरा दुगुना, तिगुना बड़ा होता है। इसकी छाल बहुत मोटी होती है और खड़खड़ीया होती है।

गुण—आम्ल, पित्तशामक, दीपन, रुचिकर, अजीर्णनाशक है। इसका उपयोग अजीर्ण में चूर्णों के रूप में या गोलियों के रूप में होता है। यह गुल्म, अफारा और पेट-शूल में तथा प्लीहा में लाभ करता है। शूल में बिजौरे का रस मधु तथा जौखार के साथ खाना चाहिये। अरुचि में बिजौरे की कलियों को शहद के साथ चाटना चाहिये। हिचकी में बिजौरे का रस शहद तथा संचल नमक डालकर पीना चाहिये। बनावट—बिजौरे का मुरब्बा।

१७०. **बेल**—बेलपत्र भगवान पर चढ़ाया जाता है। इसका काँटा मजबूत और लम्बा होता है। पत्ते हरे और एक-एक के साथ तीन-तीन होते हैं। इसका फूल नीला-सा श्वेत रंग का तथा मोठी गन्धवाला होता है। इसमें कैथ जैसा फल होता है। कच्चे फल का शाक, अचार और मुरब्बा होता है। इसकी जड़ दशमूल में बरती जाती है। बेल का कच्चा फल ग्राही होता है। इसका मुरब्बा अतिसार बन्द करने के काम आता है। पका फल सारक है। बाजार में पंसारियों के यहाँ जो गूदा मिलता है, वह कच्चे फल को धूप में सुखाकर तैयार किया जाता है। पुराने अतिसार में बेल बहुत लाभ करता है। पका फल शीतल होता है। इसका शर्बत भी बनता है। गरमियों में लू के समय इसका शर्बत प्रातः पीने से लू का भय नहीं रहता। प्यास कम लगती है। शहद के साथ खाना चाहिये।

आम संग्रहणी में—कच्चा सूखा हुआ बेल, सोंठ और सौंफ का काढ़ा पीना चाहिये। सब प्रकार के अतिसारों में बेल का गूदा, आम की गुठली, इनका काढ़ा उबालकर उसमें शक्कर और शहद डालकर पीना चाहिये। लोहू या आमयुक्त अतिसार में बेल के गूदे को घी में सेककर उसका चूर्ण करके उसमें गुड़ मिला देना चाहिये। शीत ज्वर तथा मलेरिया में बेल तथा तुलसी की चाय पीनी चाहिये। गर्भिणी के उल्टी में सूखा हुआ कच्चा बेल तथा सोंठ का काढ़ा जौ के साथ पीना चाहिये।

त्रिदोष-जन्य वमन में--बेल के काढ़े में शहद डालकर पीना चाहिये। जीर्ण ज्वर में बेल के मूल का काढ़ा दूध में उबालकर पीना चाहिये। कॉलरे में बिल. सोंठ तथा कायफल का काढ़ा पीना चाहिये।

बाधिर्य-रोग में—बेल को गोमूत्र में पीसकर उसको तेल में पकाकर कान में डालना चाहिये। बनावट—बिल्वादि-चूर्ण, बेल का मुरब्बा।

१७१. **बहेड़ा**—बहेड़ा का वृक्ष बहुत ऊँचा और मोटा होता है। इसका पत्ता बेल के पत्तों से मिलता है। बहेड़ा का फल सुपारी जैसा गोल होता है। सूखने पर इसका फल पीला-सा होता है। इसके टूटने से अन्दर पीला रंग निकलता है। फूल के अन्दर कलियाँ तथा उसके अन्दर श्वेत बीज होता है। इसकी छाल रँगने में तथा दवाइयों के काम बरतो जाती है। बहेड़े की मींगो जहरीली होती है।

गुण—स्वाद में कषाय तथा मधुर है, कफ-पित्तनाशक है। छाल को पुटपाक रीति से बनाकर मुँह में रखने से स्वर-भंग और खाँसी मिटती है। बहेड़ा आँख का तेज बढ़ाता है। बहेड़े की मींग कुकर खाँसी के काम आती है। त्रिफला में यह भी पड़ता है। बनावट—कास-कंडनावलेह, विभीतक पुटपाक।

१७२. **भाँग**—भाँग का वृक्ष ३-४ हाथ ऊँचा होता है। गाँजा भी भाँग से बनाया जाता है। इसका पत्ता लम्बा, कम चौड़ा और नोकदार होता है। इसका फल, बीज बहुत ही छोटा दाना होता है। चरस, गाँजा, माजूम आदि चीजें इसीसे बनाई जाती हैं। आर्य-चिकित्सा में इसके बीज व्यवहार में आते हैं।

गुण—भाँग स्वाद में कड़वी, कषैली, गरम, वात और कफ को नष्ट करनेवाली, संग्राही, बलकारक, मेधा करनेवाली है। भाँग मादक है, अधिक लेनें से पागलपन उत्पन्न करती है। भाँग के सेवन करने पर मन एक विषय में तल्लीन हो जाता है, इससे कोई-कोई लेखक या कवि इसके उपासक हो जाते हैं। इसकी सरदाई गर्मियों में लू से बचाती है। इसके फूल में से निकला हुआ सत्त्व (चरस) स्नायुवों को जड़ बनाता है। इस गुण के कारण आक्षेप आदि वात-रोगों में स्नायुवों की उत्तेजकता को कम करने के लिये इसका उपयोग होता है। इस लाभ के लिये इसे तम्बाकू के साथ रखकर चिलम में पीना चाहिये। धनुर्वात एवं आक्षेप के रोगियों को लाभ होता है। भाँग संग्राही होने से इसके बीज अतिसार, संग्रहणी आदि रोगों की दवाइयों में पड़ते हैं। भाँग में वाजीकरण असर भी है। इसलिये तथा स्तम्भक गुण होने के कारण लोग इसको पाकों के लिये व्यवहार करते हैं। यूनानी लोग इसको प्रमेह और अंत्रवृद्धि रोगों में बरतते हैं। भाँग को दूध में पीसकर अर्श के मस्सों पर लगाने से आराम होता है। निद्रा लाने के लिये घी में सिकी हुई भाँग का उपयोग करने के लिये कितने कहते हैं।

१७३. **भाँगरा**—यह पानी के किनारे गीली भूमि में बरसात के समय बहुत होता है। इसका पौधा बहुत ऊँचा नहीं होता। इसके दो भेद हैं. एक सफेद फूल का और दूसरा काले फूल का। भाँगरे का रस निकालने से या हाथ पर लगने से हाथ काला हो जाता है। इस गुण के कारण शायद इसको काला भाँगरा कहते हैं; चूँकि यह काला करने का गुण रखता है, इसीलिये बालों के लिये उपयोगी है। इससे इसको "केशराज" भी कहते हैं। इसका गुण अनार्य-चिकित्सा की दवाई से बहुत कुछ मिलता है। यकृत के ऊपर इसका प्रभाव अच्छा होता है।

गुण—उष्ण, कफघ्न, वातहर, कृमिघ्न तथा रसायन। भाँगरे का स्वाद कड़ुवा होता है। यह कफ, दमा, खाँसी, शोथ, पाण्डु, कोढ़, आँख, छाती और शिर के रोगों को नष्ट करता है।

भाँगरा स्थावर—पारद आदि के विष के लिये तथा जंगम विष कुत्ते आदि के काटने पर लगाने से लाभ करता है। गरमी के व्रण को भाँगरे के रस से धोना चाहिये। गले से ऊपर के सब रोगों में, जैसे—आँख, कान, नाक, दाँत, शिर-दर्द आदि में भाँगरे का रस काम में आता है। पारा शरीर में

शोरा मिलाकर छाछ के साथ पीने से पारा शरीर से बाहर हो जाता है। भृङ्गराज का स्वरस रसायन के लिये बरता जाता है। बनावट—भृङ्गराज-स्वरस, भृङ्गराज तैल, षड्बिन्दु तैल।

१७४. भारङ्गी—भारंगी का वृक्ष बहुत बड़ा और सुन्दर होता है। इसके ऊपर भ्रमर बहुत उड़ता है। इसका फूल श्वेत और फल आसमानी रंग का होता है। इसका पत्ता महुवे के पत्ते जैसा होता है। दवाई में इसका मूल बरता जाता है। इसको भारंगी-मूल कहते हैं।

गुण—उष्ण, कफघ्न, दीपन, पाचन, ज्वरघ्न है। कफ-ज्वर में भारंगी का बहुत उपयोग होता है। इससे कफ, तन्द्रा आदि रोग दूर होते हैं। बनावट—भारंग्यादि-क्वाथ।

१७५. भिलावा—भिलावे का वृक्ष बड़ा होता है। इसमें काले-काले बीज लगते हैं।

गुण—उष्ण, वातहर, पाचन। भिलावे में एक प्रकार का तेल होता है, जो शरीर पर लगाने से या अन्दर जाने से दाह उत्पन्न करता है। इसके लगाने से फफोले उठ आते हैं। भिलावे में कई चमत्कारिक गुण हैं, इसलिये इसका उपयोग किया जाता है। परन्तु कई बार यह मनुष्यों की प्रकृति के अनुकूल नहीं आता। इसलिये इसे बहुत सँभालकर व्यवहार करना चाहिये। भिलावा वात और कफ-प्रकृतिवालों के बहुत अनुकूल रहता है, और पित्तवालों के लिये इतना उपयोगी नहीं। इसके खाने से शरीर पर जब खाज होने लगे, उस समय इसको बन्द करके घी खिलाना चाहिये। शरीर पर चूने का पानी या नारियल का तेल लगाना चाहिये। शीत उपचार करना अच्छा है। भिलावे के खानेवाले व्यक्ति को पित्तकारक औषधियों से बचना चाहिये। गरम पानी में स्नान, धूप में बैठना आदि काम नहीं करने चाहियें। भिलावा अर्श-रोग की एक उत्तम और क़ीमती दवाई है। पुराने संधि-वात आदि वात-व्याधि में भी भिलावा फ़ायदा करता है। सन्धि के ऊपर भिलावा लगाने से सन्धि की शोथ कम पड़ती है। वातोदर में एवं जलोदर में भिलावे का गुण अच्छा होता है। यदि सूतिका-रोग पुराना हो, उसमें ज्वर न हो, तो इसका उपयोग करना अच्छा है। भिलावे का प्रभाव उसको खा चुकने के बाद होता है, उपयोग करते समय इसका लाभ नहीं होता। भिलावे के टुकड़े करके घी में तलकर बरतना चाहिये। इसका शोधन करके

योग्य वैद्य की देख-रेख ही में इसका उपयोग करना उत्तम है, यह रसायन है, वाजिकरण है, कल्प है। बनावट-नारसिंह चूर्ण, अमृतभल्लातक।

१७६ बोरेगिणी (कटेरी)—कटेरी दो प्रकार की होती है, एक छोटी और दूसरी बड़ी। इसकी डाली और पत्तों पर काँटे होते हैं। फल कच्चा रहने पर हरा और पकने पर पीला हो जाता है। बड़ी भारंगी का फल कैथ जितना कड़ा होता है। इसका पत्ता, पौधा और फल का आकार रेंगिणी जैसा होता है। फूल नारंगी रङ्ग का होता है। इसकी जड़ के खाने से ऋतुमती स्त्री गर्भ धारण करती है। दोनों कटेरियों का पंचांग दशमूल में पड़ता है।

गुण—कफघ्न, ज्वरघ्न, दमा, खाँसी, में लाभ करती है। इसके बीजों का धुवाँ दाँत में लेने से दन्त-शूल मिटता है।।बनावट—कण्टकारी स्वरस, कण्टकारी-पुटपाक, कण्टकारी अवलेह।

१७७ मजीठ—इसकी बेल होती है। मजीठ की जड़ गोल, पतली, लाल रङ्ग की होती है।

गुण—शोधक, शीतल और पित्तशामक है। सब प्रकार के त्वचा के रोगों में और वात-रक्त में मजीठ को व्यवहार में लाया जाता है। विस्फोट आदि रोगों में, मुँहासे पर मजीठ का बहुत उपयोग होता है। यह रक्त के अन्दर की गरमी को शान्त करता है। साधारणतः मजीठ रक्त-शोधक है। बनावट मंजीष्ठादि-क्वाथ, लघुमंजीष्ठादि-काथ।

१७८ मरोड़फली—इसकी बेल होती है। इसका फल मरोड़े खाये हुये होता है। इसलिये अनार्य-भाषा में इसे "स्क्रू ट्री" कहते हैं, और आर्य-भाषा में इसको अजशृंगी या मेढ़-शृंगी कहते हैं।

गुण—स्वाद में कड़ुई तथा कषैली होती है। पेट-पीड़ा, अतिसार, मरोड़ा, कास, कफ और दमे आदि में लाभ करती है।

१७९ मिर्च (कालीमिर्च)—हिन्दुस्तान में मलावार के किनारे इसकी बहुत अधिक पैदाइश होती है। इसके पत्ते पान की बेल के समान होते हैं। इसके फल झुमके के रूप में होते हैं। इसके फूल को मिर्च कहते हैं। आर्य-चिकित्सा में 'मिर्च' शब्द का उपयोग कालीमिर्च के लिये ही आता है।

गुण—उष्ण, वातहर, दीपन, पाचन, सारक। मिर्च मन्दाग्नि में बहुत अच्छा प्रभाव करती है। इससे कफ और वात को लाभ होता है, उष्ण होने पर पित्त को नहीं बढ़ाती। तिक्त को, ज्वर को शान्त करती है। शीत ज्वर में कालीमिर्च की चाय बनाकर पीने का साधारण रिवाज है। शर्करा तथा मिर्च की चाय धीरे-धीरे ज्वर दूर करती है। ज्वर का पाचन करके मल को लाती है। बेबुद्धि, तन्द्रा, सन्निपात में मिर्च का काढ़ा सुस्ती को दूर करता है। इसका अंजन संज्ञानाश को हटाता है। मिर्च, घी तथा शर्करा को मिलाकर खाने से शिर के चक्कर, भ्रम आदि दूर होकर ठंडक होती है (उल्टी आदि में मिर्च को चबाने को चाल है) दूध को पचाने के लिये मिर्च को दूध में उबालकर पीना चाहिये, इससे जठराग्नि बढ़ती है। शिर के ऊपर जहाँ से बाल उड़ गये हों, उस स्थान पर या श्वित्र के स्थान पर मिर्च का चूर्ण रगड़ने से लाभ होता है। मिर्च का चूर्ण घी में चाटने से बलगम, नजले को लाभ होता है। तुलसी के पत्तों का रस, मिर्च मधु इनको पिप्पली के साथ पीने से विषम ज्वर दूर होता है। मिर्च, चित्रक-मूल और काला नमक इनको संग्रहणी में छाछ के साथ देना चाहिये। प्लीहा और अर्श में इसको चित्रक के साथ सेवन करने से बहुत लाभ होता है। इसके उपयोग से आँतों को जोर मिलता है, विष को दूर करती है, प्लीहा के लिये उपकारी है। मिर्च के रासायनिक-द्रव्य को "पैपरीन" कहते हैं। बनावट—श्वासकुठाररस, मरीच्यादि-चूर्ण, मरिच-चूर्ण, प्राणदा गुटिका।

१८०. **माजूफल**—इसका वृक्ष बहुत बड़ा होता है। इसके फल के ऊपर काँटे होते हैं। इसका फल और छाल बहुत अधिक संग्राही होता है। इसका चूर्ण और राख दाँतों के लिये मंजनों में पड़ती है। यह बहुत संग्राही होता है, इसलिये अतिसार में योनि के संकोचन में काम आता है। अफीम का योग देने से इसका प्रभाव बहुत अच्छा होता है। फिटकिरी और इसकी छाल का क्वाथ करने से मुँह की गरमी अच्छी होती है। माजूफल में से "गैलिक एसिड" निकलता है। खून स्रावी अर्श में इसका प्रलेप एवं अन्तः-उपयोग बहुत लाभ करता है। इसमें से "टैनिक" ५० प्रतिशत निकलती है।

१८१. **मालकंगनी (ज्योतिष्मती)**—इसकी बेल होती है। इसके फल गुच्छे के आकार में लगते हैं। पकने पर लाल हो जाते हैं। इसके बीज

के ऊपर पड़ होता है। उसको उतार देने पर अन्दर से चपटा, पीला। बीज निकलता है। इन बीजों में से पीले रंग का तेल निकलता है। औषधि के काम में पत्ते, फल, मूल और तेल व्यवहार में आते हैं।

गुण—गरम, स्वेदक, स्मरण-शक्ति बढ़ानेवाली है। चरक में शिरो-विरेचन के लिये सुश्रुत ने व्रण-शोधन, कुष्ठघ्न तथा संशोधक कहा है। उन्माद में, भ्रम में, संज्ञानाश में इसके बीजों का चूर्ण मिर्च के चूर्ण के साथ देना चाहिये। इसका तेल शरीर के ऊपर लगाने से वायु के दर्द मिटते हैं। कई डाक्टरों का अनुभव है कि इसका तेल मूत्रल और स्वेदल है।

१८२. **मैनफल**—इसका वृक्ष बड़ा होता है। इसका फल बड़ी सुपारी-जैसा तथा अखरोट के फल के समान होता है।

गुण—कान्तिकारक, ग्राही है। वमन कराने के लिये इसका विशेषतः उपयोग किया जाता है। इसके बीज का गर्भ १ से २ माशा मात्रा में पानी के साथ देने से वमन होता है। साधारण प्रभाव में कफघ्न और संग्राही है। खील, बाल-तोड़ आदि अन्तः-विद्रधि को फोड़ने के लिये गुड़ और मैनफल को पीसकर लेप करना चाहिये। मात्रा उल्टी के लिये ६ से ८ बाल, विरेचन के लिये ४ से ६ बाल।

१८३. **मूसली**—मूसली पंसारियों के यहाँ मिलती है। इसकी दो जाति हैं, काली और श्वेत।

गुण—धातु-पौष्टिक, वीर्य को गाढ़ा करनेवाली है। धातुपौष्टिक पाकों में मूसली का उपयोग होता है। बनावट—मूशल्यादि-चूर्ण।

१८४. **मेथी**—मेथी के पत्तों की भाजी बनती है। पकने पर इसमें बीज, दाने लगते हैं, जो छोटे और पीले रंग के होते हैं। इन बीजों का उपयोग दवाई के लिये किया जाता है।

गुण—वातहर, पौष्टिक। संधिवात, कमर के दुखाव में, वात-व्याधि में मेथी के बीजों का उपयोग बहुत अच्छी प्रकार से किया जाता है। स्त्रियाँ मेथी का उपयोग बहुत करती हैं। इनसे निर्बलता दूर होकर शक्ति आती है। जठराग्नि बढ़ती है, प्रसव के पीछे गर्भाशय को शोधन करने के लिये, एवं संकुचित करने के उद्देश्य से मेथी के बीज, गाजर के बीज, सुवा के बीज तथा मालकंगनी के बीज—इनको गरम काढ़ा बनाकर, गुड़ डालकर

देते हैं। यही औषधि गर्भपात के लिये काम में आती है। प्लीहा, गुल्म तथा पेट के अन्य वात-सम्बन्धी विकारों में मेथी के लड्डू या मेथी का पाक लाभ करता है। बनावट—मेथीपाक।

१८५. **मेंहदी**—मेंहदी का पौधा होता है, बाग-बगीचों में बोई जाती है। इसके पत्ते छोटे-छोटे होते हैं। इन पत्तों को पीसकर हाथ, पाँव, बाल रँगे जाते हैं।

गुण—पौष्टिक, ग्राही और शोथघ्न है। हाथ-पाँव की जलन, उनमें से खाज निकलना आदि शिकायतें इससे दूर होती हैं। इसके फूलों का इत्र खिँचता है। इसके रस में शक्कर मिलाकर पीने से क्षय में लाभ होता है। यह गरमी के रोगों का नाश करती है। कर्ण-पाक में इसके पत्तों का रस डालना चाहिये। विसर्प, विस्फोट तथा गरमी के व्रणों पर इसके पत्तों का लेप उत्तम है।

१८६. **मेदा लकड़ी**—मेदा लकड़ी का झाड़ बड़ा होता है। इसकी छाल भूरे रङ्ग की होती है। यह छाल पंसारियों के यहाँ मिलती है। कइयों का विचार यह है कि जीवनीय गण की जो "मेदा" वनस्पति है, वह यही है। गुम चोट के ऊपर इसको हालों लकड़ी के साथ पीसकर अथवा सर्जक्षार और आम्बाहल्दी के साथ मिलाकर लेप करना चाहिये। मेदा लकड़ी पित्तशामक है, इसलिये ठण्डे पानी में पीसकर या हिम क्वाथ करके पीने से प्रमेह और दाह शान्त होता है। इसी प्रकार अतिसार और मरोड़ा भी मिटता है।

१८७. **मोचरस**—यह सिम्भावल के वृक्ष का गोंद है।

गुण—शीतल, ग्राही, वृष्य है। बनावट-लघुगंगाधर-चूर्ण, वृद्ध-गंगाधर-चूर्ण।

१८८. **मार्कण्डी**—इसको सनाय भी कहते हैं।

गुण—रेचक, शोधक तथा कृमिघ्न है। स्वाद में कषैली और कड़वी-सी है। सोनामक्खी का जुलाब धीमा और मृदु लगता है, इसलिये बिना भय के दे सकते हैं। त्वचा के जीर्ण विकारों में इसका शोधक असर होता है। वात-रक्त अथवा कब्ज में इसको निम्न प्रकार से देना चाहिये : स्वर्ण-मुखी, सौंफ, मुनक्का, उन्नाव, अंजीर, रेशाखतमी, मुलहट्टी आदि चीजों को

उचित मात्रा में लेकर चाय बनाकर देना चाहिये। इसके लेने से किसी प्रकार की शूल नहीं होती। इसके विरेचन में ख़ासियत यह है कि पीछे से कब्ज़ नहीं होती। बनावट-पवित्र चूर्ण।

१८९. **रोहितक**—इसको भाषा में रोहेड़ा कहते हैं। दवाई में इसकी छाल बरती जाती है। इसकी छाल रक्त-शोधक है। यकृत और प्लीहा आदि में पेट की गाठें तोड़ने के लिये लाल रोहेड़े की छाल काम में आती है। श्वेत प्रदर में इसकी मूल का कल्क शहद में देना चाहिये। चोट के कारण जमे हुये रक्त को हटाने के लिये इसका चूर्ण घी में चाटना चाहिये या पानी में लेप करना चाहिये।

१९०. **रतवेलीया (जलपिप्पली)**—इसको बंगाली में मेघनाद कहते हैं। यह नदी के किनारे या पानीवाले स्थान में अधिक होता है। इसका पत्ता बड़ी लोणी के समान किनारों पर कटा हुआ होता है।

गुण—दाह-शामक। जलपिप्पली स्वाद में कषैली और ठंडी होती है। विषर्प रोग पर इसको पीसकर लगाते हैं। इसलिये बालकों को विषर्प, गरमी तथा यकृत के रोग में देते हैं। इससे रक्तातिसार, अतिसार, दाह, भ्रम, ज्वर, विष, प्यास तथा श्वास में लाभ होता है। गुमड़े के ऊपर भी लगाते हैं।

१९१. **रक्तचन्दन**—श्वेत चन्दन के समान लाल चन्दन भी मलाबार के किनारे, मैसूर में, ट्रावनकोर आदि प्रान्तों में होता है। इसकी लाल लकड़ियाँ पंसारियों के यहाँ मिलती हैं। यह चन्दन अन्तः-उपयोग में काम आता है और श्वेत चन्दन बाहर लगाने के।

गुण—शीतल, पित्तशामक, वृष्य, प्यास को दूर करता है। इन सब गुणों के कारण इसका उपयोग ज्वर में होता है। दवाइयों का रङ्ग बदलने के लिये भी इसका उपयोग होता है। उल्टी, प्यास, ज्वर, रक्त-विकार वात, पित्त आदि में इसका उपयोग होता है।

१९२. **रसवन्ती**—इसको रसाञ्जन भी कहते हैं। यह दारुहल्दी से बनता है। बनावट-रसांजनादिवटी।

१९३. **राई**—इसका पौधा हाथ भर ऊँचा होता है। इसके पत्तों का शाक बनाया जाता है। इसकी भाजी गरम, पित्तकारक और वातहर होती है। राई के पौधे में फलियाँ होती हैं। इनमें से राई निकलती है। अचार में,

शाक-भाजी में, रायते में इसका प्रतिदिन उपयोग होता है। दवाइ के लिये राई का उपयोग बाह्य-उपचार में किया जाता है। बंगाल में राई का तेल खाने के काम आता है।

गुण—उष्ण, क्षोभक और कांतिकारक। राई के पिलाने से उल्टी होती है। जिस समय किसीने ज़हर पी लिया हो, उस समय इसके पानी में घोलकर देना चाहिये। इससे वमन हो जाता है। जिस समय पेट की दवाई टिकती न हो, उस समय इसका लेप पेट (कौड़ी-प्रदेश) पर करना चाहिये। पन्द्रह मिनट के पीछे इसके उतार देना चाहिये। पार्श्व-शूल तथा अन्य दर्दों में भी इसका लेप किया जाता है। जिस स्त्री के ऋतु कठिनता से आती हो. उसे इसके पानी में (इसकी १ औन्स की मात्रा ४ गैलन पानी में घोलकर) बिठाना चाहिये। जिस समय शिर में रक्त का संचार बढ़ गया हो, उस समय राई के पानी में रोगी के घुटने तक पाँव डालकर बैठाना चाहिये और शिर पर ठंडा पानी रखना चाहिये। राई के त्वचा के ऊपर १०-१५ मिनट से अधिक नहीं लगाना चाहिये। ऊपर से घी का लेप कर देना चाहिये। मात्रा—वमन के लिये आधा तोला।

१९४. **रास्ना**—रास्ना क्या वस्तु है, यह बात अभी तक निश्चित नहीं हुई। कहीं तो इसके पत्ते व्यवहार में आते हैं और कहीं पर इसकी जड़ें या लकड़ी काम में आती हैं। कोई इसके बेल मानता है और कोई इसका पेड़ मानता है।

गुण—उष्ण, वातहर। वात-व्याधि के लिये यह एक सर्वोत्तम दवा है। अस्सी प्रकार के वात-रोगों में रास्ना सबसे अच्छी है। बनावट—रास्ना-पंचकक्वाथ, महारास्नादि क्वाथ, रास्नादि क्वाथ।

१९५ **राल**—यह शाल के वृक्ष में से गोंद के रूप में निकलती है।

गुण—ग्राही, रक्त-विकार में, कण्डू में इसका उपयोग होता है। बालकों के अतिसार में, रक्तातिसार में राल शर्करा के साथ दी जाती है। व्रण के ऊपर राल का चूर्ण देने से रक्त बन्द होता है। राल का प्रलेप बनता है। इसके जलाने से हवा शुद्ध होती है। रोपक होने से गनोरिया में दी जाती है। इसका प्रलेप बिवाई या जले हुये घावों पर लगता है।

१९६. **खेतचीनी**—इसका वृक्ष हिमालय में, मलाबार के किनारे, चीन में होता है। इसका वृक्ष लगभग ६-७ हाथ ऊँचा होता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके 'क्षीरोणी' या 'काञ्चनक्षीरी' नाम से कहा है। चरक ने इसके

शोधनीय गुणों में गिना है। खेतचीनी की मुख्य पैदाइश चीन में होती है और वहीं से अधिक मात्रा में आती है।

गुण—रेचक, कृमिघ्न है। अनार्य-चिकित्सक रुवर्ब का उपयोग अतिसार में तथा मलबन्ध में करते हैं। इस दवाई के अन्दर दोनों विरोधी गुण रहते हैं। प्रथम यह विरेचन असर करती है और फिर यही संग्राही प्रभाव भी करती है। इस गुण के कारण यह बच्चों के लिये विशेष उपकारी है। यदि इससे पेट में मरोड़ या दर्द मालूम पड़े, तो इसमें सोंठ मिलाकर बरतना चाहिये। खेतचीनी, चणकत्राव, सुगाखार तथा इलायची समान भाग लेकर इसका चूर्ण करके, इसकी ६ माशा मात्रा २६ टंक पानी और दो छटाँक दूध के साथ मिलाकर पीने से मूत्र का रेचन होता है। खेतचीनी शोधक होने से इसको पीसकर व्रण पर लगाने से लाभ होता है।

१९७. **लवंग**—इसका वृक्ष मलाया, जंजीवार और मलावार में होता है। लवङ्ग—यह झाड़ की कलियाँ हैं। जिस लौंग में तीव्र गन्ध हो, स्वाद में तीखा हो और नख से दबाने पर अन्दर से तेल निकले, उसको अच्छा लवङ्ग जानना चाहिये।

गुण—उष्ण, कफघ्न, दीपन तथा आमनाशक है। लवंग का विशेष उपयोग मुखवास में, मसाले में, प्यास रोकने में, ज्वर में, शूल में काम आता है। अफारा, शूल, खाँसी, श्वास, हिचकी तथा क्षय में भी इसका उपयोग होता है। लौंग को पीसकर माथे पर लगाने से शिर-दर्द मिटता है। सरदी के ऊपर लौंग का काढ़ा देना चाहिये।

रतौंधी में—इसको बकरी के मूत्र में घिसकर अंजन करना चाहिये। दाँत के दुखाव में लौंग के तेल का फाहा रखना चाहिये। अजीर्ण, अग्नि-मान्द्य तथा हैजे में लवंग का काढ़ा देना चाहिये। दाँत के मञ्जनों में भी लौंग का उपयोग होता है। बनावट—लवंगादि चूर्ण, लवंगादि-वटी।

१९८. **लहसुन**—लहसुन सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसमें कन्द लगता है, जो जमीन के अन्दर होता है। यही कन्द काम में आता है।

गुण—उष्ण, वातहर। वायु के ऊपर लहसुन का उपयोग बहुत प्रसिद्ध है। लहसुन की कलियाँ घी में तलकर खाने से टूटी हुई अस्थियाँ जुड़ती हैं। इससे शरीर को पुष्टि मिलती है। वात-प्रकृतिवालों को विशेषतः उपयोगी होता है। पित्त-प्रकृतिवालों के लिये लहसुन बहुत गरम पड़ता है।

कच्चे आम के दोष को पकाने के लिये लहसुन में सोंठ-जैसा गुण होता है। इसलिये लहसुन अजीर्ण की एक उत्तम औषधि है। बालकों के अतिसार में लाभदायक है। वात-रोग में लहसुन को उड़द के साथ तिल-तैल में तलकर, या उड़द के साथ पकाकर खाना चाहिये।

आमवात—संधिवात में लहसुन को घी में तलकर प्रतिदिन भोजन से पूर्व खाना चाहिये। शूल के ऊपर लहसुन घी में खाना चाहिये। विसूचिका में लहसुन का स्वरस पिलाने से अवश्य लाभ होता है।

उदर-रोग में—लहसुन १ भाग, सेंधानमक आधा भाग और घी में भुनी हुई हींग चौथाई, सबके बराबर आर्द्रक का रस—इन सबको घोंटकर चार-चार रत्ती की गोली बनाकर सेवन करना चाहिये। व्रण में कृमि पड़े हों, तो इसका रस लगाना चाहिये। वात-रोग में इसे हींग के साथ देना उत्तम है।

कान के अन्दर यदि झनझन होती हो, तो इसको तेल में पकाकर कान में डालना चाहिये। सेंकी हुई हींग, जीरा, सेंधानमक, सोंचल, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, प्रत्येक एक-एक माशा, इनके चूर्ण के बराबर लहसुन मिलाकर चार-चार आने भर की गोली बना लेनी चाहिये। इन गोलियों को खाकर ऊपर से एरण्ड-मूल का काढ़ा पीना चाहिये। इससे पक्षाघात, उरुस्तम्भ, कटिशूल, पार्श्वशूल, पेट के कृमि, पेट की वायु तथा सब अंगों की वायु मिटती है। पागल कुत्ते के काटने पर लहसुन का लेप करना चाहिये। लहसुन उबालकर पीना चाहिये, खूराक में भी लहसुन का उपयोग करना चाहिये। क्षय-रोग में लहसुन प्रभाव करता है। बनावट—लहसुनादि-चूर्ण।

१९९. **लोध्र**—लोध्र का वृक्ष मध्यम ऊँचाई, मध्यम मोटाई का होता है। यह हिमालय या विन्ध्याचल के पहाड़ों पर मिलता है। दवाई के काम में इसकी छाल बरती जाती है। इसकी दो जातियाँ हैं—श्वेत और पतली छाल; दूसरी लाल और मोटी छाल। दूसरी प्रकार की छाल को पठानी लोध्र कहते हैं।

गुण—शीतल तथा संग्राही। इसका लेप या चूर्ण अंगराग के लिये अथवा शरीर-शुद्धि के लिये मला जाता है।

युवान-पिटिका—मुँहासों में इसको धनिया या मजीठ के साथ मिलाकर शहद के साथ लगाते हैं। संग्राही होने से दाँतों के मंजनों में, अतिसार

५५

की दवाइयों में डाला जाता है। लोध्र की गरम पुल्टिस आँख पर बाँधने से दुखती आँख को आराम मिलता है। लोध्र, मुलहट्ठी, फिटकिरी इनको गुलाब-जल में घिसकर आँख पर लगाने से दुखती आँख अच्छी हो जाती है।

२००. **लोहबान**—यह एक प्रकार के वृक्ष का रस है। बाजार में जो 'कौड़िया लोहबान' के नाम से बिकता है, वह सच्चा है। इसके अन्दर मिलावट बहुत होती है।

गुण—कफघ्न, जन्तुघ्न और रोपण। लोहबान खाँसी में, दमे में, क्षय में, क्षय के जीर्णरूप में लाभ करता है। दुष्ट व्रण को भरता है। इसका धुआँ सुगन्ध-युक्त होता है। लोहबान को उड़ाकर इससे फूल बनाये जाते हैं, यह उल्टी को, कुक्कुर खाँसी को कम करता है।

२०१. **वत्सनाभ**— यह हिमालय, सतपुड़ा और खानदेश के जंगलों में बहुत होता है। दवाई के काम में इसका मूल बरता जाता है। यह मूल ४-५ अंगुल लम्बा, रङ्ग में काला, बहुत कठोर, ऊपर से खुरदरा तथा मोटा, नीचे से पतला होता है। यह विषैली वनस्पति है। भावप्रकाश में वत्सनाभ की नौ जातियाँ लिखी हैं। चरक ने इसके १३ भेद किये हैं। वत्स-नाभ का उपयोग विशेषत: भावमिश्र के समय से आरम्भ हुआ है। औषधि में व्यवहार करने से पूर्व इसकी तीक्ष्णता कम करने के लिये इसका शोधन करना आवश्यक है।

गुण—ज्वरहर, वातहर है। वत्सनाभ स्वेदल एवं मूत्रल है। लोगों का विचार है कि यह हृदय को कमजोर करता है; परन्तु आर्य-चिकित्सा के ज्वर की ९५ प्रतिशतक औषधियों में इसका उपयोग होता है। चढ़े हुये ज्वर को उतारने में या ज्वर के वेग को रोकने में यह सबसे उत्तम औषधि है। इसको हिंगुल या रससिन्दूर के साथ तथा अन्य खनिज भस्मों के साथ मिलाकर व्यवहार में लाते हैं। वातज्वर में या कफज्वर में विशेषत: उपयोगी है। इसके अतिरिक्त संधिवात, चसका आदि में इसका तेल बाह्य उपचार के काम आता है। इससे पाताल-यन्त्र-विधि द्वारा तैल निकालकर शरीर पर मलते हैं। अनार्य-चिकित्सा में इसका उपयोग 'लिनीमेंट' के रूप में होता है। बछनाग अजीर्ण में लाभ करता है, एक प्रकार से नाड़ियों को शक्ति प्रदान करता है, इसलिये इसका उपयोग रामबाण-रस या अजीर्ण-कण्टकरस में किया जाता है। वत्सनाभ तन्द्रा, आलस्य, जड़ता को दूर करता है। प्लेग की

गाँठ, कर्ण-शोथ, बद, गण्डमाला आदि कठोर शोथ के ऊपर इसको गोमूत्र या नीबू के रस में पीसकर लगाते हैं। वत्सनाभ मधुमेह (शर्करामेह) में विशेष प्रभाव रखता है। इसके सेवन से प्रथम दिन ही में प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। मूत्र की राशि घट जाती है, शर्करा कम हो जाती है। मूत्र यदि रुकता न हो, तो इसको उचितरूप में सेवन करने से मूत्राशय को शक्ति मिलती है और मूत्र रुकने लगता है। अनार्य-चिकित्सा में इसका उपयोग टिन्चर, लिनीमेंट और ऐक्सट्रैक्ट के रूप में होता है। यह आर्य-चिकित्सा की बहुत-सी औषधियों में बरता जाता है। जैसे—भैरव-रस, आनन्दभैरव-रस, महा-ज्वरांकुश, अजीर्ण कण्टक-रस, रामबाण, हिंगुलेश्वर, चण्डेश्वर, ज्वर-मुरारी आदि। मात्रा—शुद्ध वत्सनाभ ½ रत्ती से १ रत्ती। बनावट—अमृतादि वटी, मृत्युञ्जय रस।

२०२. वच— वच का पौधा पानीवाली जमीन में या भीगी जमीन में होता है। मणीपुर की तरफ विशेष होता है। बाजार में इसकी जड़ के गाँठोंवाले टुकड़े मिलते हैं। इनमें से उग्र गन्ध आती है। इस गन्ध के कारण साँप भी भाग जाते हैं। इस वच को घोड़ावच भी कहते हैं। ईरान से एक प्रकार की श्वेत वच आती है। दवाई में घोड़ावच ही काम आती है।

गुण—स्वाद में कड़वी और तीखी होती है। वातघ्न, कफनाशक, और कान्तिकारक है। वच दीपन, कण्ठ-मल-मूत्र का शोधन करनेवाली, बुद्धिवर्द्धक गिनी जाती है। अपस्मार, अतिसार, शूल, अफारे को नष्ट करती है। बड़ी मात्रा में (३० ग्रेन ६ बाल) लेने से वमन कराती है और छोटी मात्रा में (१० से २० ग्रेन) लेने से दम मिटता है। प्रथम १५ से २० ग्रेन वजन से आरम्भ करके पीछे प्रत्येक दो-तीन घण्टे के पश्चात् १० ग्रेन की मात्रा में शहद के साथ लेना चाहिये। स्वर-भंग के लिये इसको गरम दूध के साथ खाना चाहिये। कफ के लिये इसका कटका मुँह में रखकर चूसना चाहिये। ग्राही होने से अतिसार को बन्द करती है। वच की पोटली सूँघने से सरदी, शिर-दर्द, प्रतिश्याय मिटता है। अपस्मार और उन्माद में वच का चूर्ण दूध या घी के साथ अथवा इसमें कूट का चूर्ण मिलाकर शहद के साथ देना चाहिये। बालक का तलुवा गिरने पर वच तथा जायफल को दूध या घी में घिसकर तालुओं पर लगाना चाहिये। खाने की मात्रा २ बाल, उल्टी के लिये ६ बाल।

२०३. **वट**—बरगद का वृक्ष प्रसिद्ध है। औषधि में इसकी छाल, फल और दूध काम में आता है। छाल और फल ग्राही और कफ-शामक हैं। वट का दूध धातु-पौष्टिक, धातु का स्तम्भन करनेवाला है। वट के शुङ्ग कई भस्मों के बनाने में काम आते हैं। वट का दूध और कपूर का अञ्जन करने से आँख की फूली कटती है। पंचवल्कल क्राथ में इसकी छाल पड़ती है। यह क्राथ व्रणों को धोने के लिये, योनि को धोने के लिये, रक्त या श्वेत-प्रदर में काम आता है। इसका फल प्रमेह में काम आता है। बनावट न्यग्रोधादि चूर्ण।

२०४. **वरुण (वरण)**—इसका झाड़ बहुत बड़ा होता है। इसके पत्ते बेल की भाँति तीन-तीन होते हैं, फल सुपारी जैसे होते हैं। पकने पर यह फल लाल हो जाते हैं। इसके पत्तों की एरण्ड के पत्तों की भाँति लम्बी डंठलियाँ होती हैं। दवाई के काम में इसकी छाल बरती जाती है।

गुण—इसका रस कड़वा, कपैला, कुछ मीठा और गरम होता है। छाल मूत्रल है। सुश्रुत में इसको कफमेद-नाशक, शिरः-शूलहर तथा वात-संशमन कहा है। वायु, कफ, मूत्रकृच्छ्र, वातरक्त, गुल्म, रक्त-विकार, कृमि, योनि-शूल, मस्तिष्क-शूल आदि रोगों को नाश करता है। अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में वरुण की छाल, गोखरू तथा सोंठ का काढ़ा गुड़ एवं जौखार में डालकर पीना चाहिये। मुँहासों को इसके काढ़े से धोना चाहिये। गण्डमाला रोग के ऊपर वरण या कचनार की छाल का काढ़ा शहद डालकर सेवन करना चाहिये। वरुण के अन्दर पथरी के गलाने की शक्ति रहती है। बनावट—वरुण-क्राथ।

२०५. **विधारा**—इसकी बेल होती है। समुद्रशोष की जड़ को विधारा कहते हैं। इसकी दो जातियाँ हैं। इसमें बड़े विधारे को समुद्रशोष की जड़ मानते हैं, और छोटे विधारे को फांग की बेल मानते हैं। औषधि के काम में विधारे की जड़ बरती जाती है।

गुण—स्वाद में कड़वी, कषैली और गरम होती है। पौष्टिक और वातहर है। आम, शोथ, रक्त-विकार तथा वायु के रोगों को दूर करती है। यह रसायन है। इसके सेवन से शुष्क गर्भ का पोषण हो जाता है। अर्श में भी लाभ करता है। इसके पत्ते विद्रधि के ऊपर बाँधे जाते हैं। बनावट—वृद्धदारक चूर्ण।

२०६. **वाराहीकन्द**—इस कन्द की बेलें पहाड़ पर होती हैं। कोंकण के प्रान्त में यह बहुत होता है। इस कन्द के दो-तीन भेद हैं। उत्त-रीय भारत में यह गोल निकलता है, और दक्षिण भारत में लम्बूतरा रहता है। इसके ऊपर सुअर के बाल जैसे लम्बे, मोटे और विरले-विरले रेशे (बाल) होते हैं, इसीसे इसको वाराहीकन्द कहते हैं। इसका पत्ता पान के पत्ते से मिलता है।

गुण—स्वाद में मीठा तथा कड़ुवा-सा लगता है। पौष्टिक, उष्ण और रसायन है। कुष्ठ, प्रमेह, त्रिदोष, कृमि, मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में लाभ करता है।

२०७. **वायविडंग**— बाजार में वायविडंग नाम से एक काला दाना, मिर्च जैसा मिलता है। यही विडंग है, इस बात का अभी तक कोई पूर्ण निश्चय नहीं हुआ। विडंग को सुश्रुत में कृमिघ्न एवं रसायन लिखा है। बाजार में मिलनेवाले विडंग में इस प्रकार का कोई गुण देखने में नहीं आता। बाजार में आनेवाला वायविडंग सिंगापुर, वर्मा से आता है।

गुण—स्वाद में तीखा और जरा कड़ुवा होता है। कृमिघ्न, वातहर और शोधक है। दवाइयों में कृमिघ्न गुण के लिये व्यवहार में आती है। इससे आँतों की सड़ांद दूर होती है। वायविडंग दीपन और पाचन भी है। पेट की शूल, वमन, आक्षेप, अफारे को दूर कर देती है। वायविडंग को इन्द्रजौ के साथ देने से पेट के कृमि मर जाते हैं, पीछे से एरण्ड-तैल की मात्रा देनी चाहिये।

२०८. **वंशपत्री**— यह वृक्ष होता है। फूल श्वेत होता है। यह वृक्ष की गोंद है।

गुण—कृमिघ्न, वातहर, गुल्महर। कृमि तथा कब्जीयत की अवस्था में बच्चों को दी जाती है। ६ से १० वर्ष के बालकों को ३ रत्ती देने से पेट के कृमि मर जाते हैं। पेट के कृमि के लिये घर की बुड्ढी माताएँ इसका उपयोग भली प्रकार जानती हैं।

२०९. **वंशलोचन**—बाँस में से निकलने के कारण इसको 'वंशकर्पूर' कहते हैं।

गुण—शीतल, कफशामक, पौष्टिक, रक्त-स्तम्भक है। यह एक प्रकार से खटिक (कैलसीयम) ही है। इसलिये क्षय, कास, ज्वर, पित्त, रक्त-

विकार, अरुचि आदि रोगों में काम आता है। बिना कफ की खाँसी में बहुत लाभ करता है। इसलिये क्षय के प्रारम्भ में सितोपलादि चूर्ण के रूप में दिया हुआ वंशलोचन बहुत लाभ करता है। क्षय के प्रारम्भ में सितोपलादि चूर्ण खाँसी को नष्ट करता है। इतना ही नहीं, परन्तु क्षय के ज्वर को, रक्त के वमन को तथा शरीर की क्षीणता को दूर करता है। बनावट— सितोपलादि चूर्ण।

२१०. **विदारीकन्द**—इसकी बेल होती है। इसका कन्द भूमि में रहता है। इसका आकार 'कूष्माण्ड' से बहुत बड़ा होता है, इसीलिये इसको 'भूमि-कूष्माण्ड' भी नाम दिया गया है। इसकी बेलें ऊपर से छोटी होती हैं। खोदने पर कन्द मिलता है, जो ऊपर से भूरा, अन्दर से श्वेत, स्वाद में मीठा निकलता है। पंसारियों के यहाँ जो विदारीकन्द के टुकड़े मिलते हैं, वे सुखाये हुये होते हैं।

गुण—धातुपौष्टिक, मूत्रल और वृष्य है। इसका विशेष उपयोग धातुपौष्टिक प्रभाव के लिये होता है। जीवनीयगण की औषधियों के अभाव में इसीसे काम लिया जाता है। निर्बलता, नामर्दी को दूर करता है। स्त्रियों में दूध को बढ़ाता है। इसके चूर्ण की मात्रा चौथाई तोला है। बनावट— विदारीकन्द के धातुपौष्टिक प्रयोग।

२११. **शङ्खपुष्पी**—इसका पौधा कुछ पथरीली, कंकड़वाली भूमि पर होता है। इसका पत्ता बारीक और पुष्प शंख के समान होता है, इसीलिये इसको शंखपुष्पी कहते हैं। कई लोगों का विचार है कि जिस शंखपुष्पी का फूल काला होता है, उसे विष्णुकान्ता कहते हैं।

गुण—स्वाद में कषैली है। यह बुद्धि को स्थिर करती है, विक्षिप्त मन को शान्त करती है। शीतल तथा पित्तशामक है। उन्माद तथा अपस्मार रोग में शंखावली का रस, कूठ का चूर्ण तथा शहद डालकर पीना चाहिये। इससे कृमि, कुष्ठ और विष मिटता है।

२१२. **शतावरी**—यूनानी में इसको 'शकाकुल मिस्री' कहते हैं। शतावरी का पौधा होता है। इसकी जड़ें बहुत होती हैं, इसलिये इनको शत-मूली कहते हैं। जो लोग इसको बेल मानते हैं, वे भ्रम करते हैं। इसकी जड़ें दो-चार हाथ लम्बी होती हैं। इसकी जड़ें अँगूठे से भी अधिक मोटी होती हैं।

गुण—शीतल, धातुपौष्टिक, संग्राही है। शतावरी का रस लगातार खाने से आँखों की रतौंधी दूर होती है। धातु-पौष्टिक दवाई के लिये इसका उपयोग प्रसिद्ध है। इसका चूर्ण दूध में डालकर या दूध के साथ पीते हैं। पुरुष की धातु और स्त्री के दूध को बढ़ाती है। स्त्रियों के श्वेत-प्रदर के लिये यह उत्तम दवाई है। संग्राही एवं पौष्टिक है। शतावरी वायु के लिये भी उत्तम है, इसका रस वातहर तैलों में पड़ता है। स्त्रियों के गर्भाशय को शक्ति मिलती है। इसलिये इसे फलघृत में डालते हैं। बनावट—फलघृत, नारायण तैल।

२१३. **शरपुङ्खा**—शरपुङ्खा के पत्तों को बीच में से यदि तोड़ा जाय तो वह सीधा नहीं फटता, अर्थात् टूटते हुये वह तिरछा टूटता है।

गुण—शरपुङ्खा स्वाद में कड़वा और कषैला होता है। मूत्रल, कफघ्न, पौष्टिक और उष्ण है। प्रमेह में इसके पत्ते मिर्च के साथ दिये जाते हैं। इसका क्षार बनाया जाता है। प्लीहा में इसका मूल छाछ में पीस-कर दिया जाता है। इसकी जड़ की बीड़ी पीने से कास तथा दम मिटता है। शरपुङ्खा गर्भाशय को सुधारती है। इसको देर तक सेवन करने से बन्ध्यत्व मिटता है।

२१४. **शिरीष**—संस्कृत-साहित्य में इसकी उपमा कोमलता से दी जाती है। हाथी को यह वृक्ष बहुत प्यारा होता है। इसका पत्ता आमने-सामने होता है। इसमें श्वेत खुशबूदार फूल होता है, जो बाल के समान बारीक, रेशम के समान रेशों से भरपूर होता है। दवाई के काम में इसकी छाल बहुत काम आती है। आर्य-चिकित्सा में इसको विषहर मानते हैं।

गुण—शीतल, दाह-शामक, शोथघ्न और विषहर है। दुष्ट व्रण, गर्मियों की शोथ, विस्फोटक की शोथ और जहरीले डंक की शोथ पर इसकी छाल का लेप करने से विष उतर जाता है। विषर्प तथा मूसिका आदि के काटने से उत्पन्न शोथ पर या दाह पर इसका लेप उत्तम है, इससे विष शीघ्र दूर हो जाता है। शिरीष के बीजों से तेल निकलता है। इसका अंजन करने से आँख के रोग मिटते हैं। बनावट—दशांगलेप।

२१५. **शिवलिङ्गी**—इसकी बेल होती है, जो बाड़ों पर फैली रहती है। इसके बीजों के ऊपर श्वेत चिह्न बना रहता है, इसपर शिव की मूर्त्ति का आकार बना रहता है। प्रत्येक ढोढ़े में से ३ या ४ बीज निकलते हैं।

गुण—शोधक, सारक और पौष्टिक है। इसके पत्तों को तेल में बनाकर १०-१५ दिन तक खाने से विरेचन होता है। कुष्ठ, आम, विष रक्त-दोष, शोथ, उदर-रोग को भी नष्ट करती है। इसके पत्तों का रस शोथ के ऊपर लगाया जाता है। इसके बीजों का चूर्ण खाने से या पंचांग का काढ़ा पीने से गर्भाशय की शुद्धि होती है और गर्भाशय बीज ग्रहण करने के लिये उत्तम क्षेत्र बन जाता है। लोगों का विचार है कि इससे गर्भ-धृति भी होती है; पुत्रदा है।

२१६. **शीतलचीनी**—यह अपने देश की उत्पत्ति नहीं है। आजकल यह सिंगापुर से आती है। यह बहुत कुछ आकार में गोलमिर्च से मिलती है। ऊपर से चिकनी होती है।

गुण—दीपन, पाचन, मूत्रल और मूत्र-मार्ग-शोधक है। इसका मुख्य उपयोग मूत्रमार्ग के रोग में किया जाता है। कहा जाता है कि मूत्र-मार्ग में रहनेवाले आगन्तुज कृमियों को नष्ट करती है। इस गुण के कारण तथा शोधक होने से इसका तेल गनोरिया में बरता जाता है। इस तेल को चन्दन के तेल या चूने के पानी में अथवा गोंद के साथ लेने से विशेष प्रभाव होता है। इससे पेशाब की जलन कम हो जाती है। इसका चूर्ण मक्खन या शक्कर के साथ लेने से अर्श के मस्से गिरते हैं। मुख-पाक में इसके चूर्ण को कत्था, इलायची के साथ मक्खन में मिलाकर लगाना चाहिये।

२१७. **सहदेवी**—इसका पौधा हाथ भर ऊँचा होता है। चौमासे में यह बहुत होती है। इसके ऊपर श्वेत, काला और जामुनी रंग का फूल आता है। इसका पत्ता राम-तुलसी से मिलता है। दवाई में सहदेवी का पंचांग बरता जाता है। आर्य-चिकित्सा शास्त्र में लिखा है कि "सहदेवी की जटा बाँधने से ज्वर उतर जाता है।" जो सहदेवी मिलती है, उसके अन्दर यह गुण है, या नहीं, इसका अभी निर्णय नहीं हुआ। इसका पचांग ज्वर रोगी को भी दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अनिद्रा-रोग में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

२१८. **गन्ना**—गन्ना सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके कई भेद हैं। जिन गन्नों को बोते समय रासायनिक प्रकार के क्षार बहुत अधिक दिये जाते हैं, उनका रस मीठा होने पर क्षारीय रहता है। उनमें से शक्कर अधिक मात्रा में बनती है, परन्तु पुरुषत्व या वीर्य को हानि करनेवाला होता

है। क्षार शुक्र के लिये खराब होता है। दवाइयों में मूल, रस बरता जाता है।

गुण—पित्तशामक और पौष्टिक है। इसका रस और मूल मूत्रल है। इसका रस ठण्डा होने से प्यास को कम करता है। बनावट—तृण-पंचमूल।

२१९. **सोभाञ्जन**—यह वृक्ष १०-१२ फ़ीट ऊँचा होता है। इसके पत्ते शिरीष या अगस्त से मिलते हैं। जब यह फूलता है, तो बहुत ही फूलता है। उसका परिणाम यह होता है कि फूलों के बोझ से पत्ते और डालियाँ टूटकर गिर जाती हैं। इसमें फलियाँ आती हैं, जिसको शाक-भाजी में बरता जाता है। इसके अतिरिक्त एक और किस्म होती है। वह कड़ुवी होती है।

गुण—वातहर, उष्ण, ग्राही तथा दम्भक है। शिग्रू के मूल की छाल में राई के जैसी गन्ध आती है। इसकी छाल का काढ़ा लेने से पेट के अन्दर की गाँठ, विद्रधि, प्लीहा और यकृत की शोथ मिटती है। इसके पत्तों का रस कान में टपकाने से कान के अन्दर का कीड़ा मरता है। इसकी छाल के काढ़े में हींग मिलाकर पीने से शूल मिटती है। इसकी मूल की छाल को पीसकर मोटा लेप करने से शोथ उतरता है। जलोदर में छाल का काढ़ा, चित्रक-मूल का चूर्ण, सेंधानमक और पिप्पली इनको मिलाकर लेने से लाभ होता है। इसकी छाल का लेप, सन्धिवात, गाँठ तथा शोथ को कम करता है। शिग्रू के मूल की तीखी छाल, चित्रक-मूल और कुत्ते की विष्ठा इन तीनों को कूटकर लेप करने से नहरुवा कृमि मरता है। बनावट—शिग्रू का काढ़ा, शिग्रवादि क्वाथ, दोषघ्नलेप।

२२०. **सेमर**—सेमर का वृक्ष बहुत ऊँचा होता है। यह प्रायः भारत के सब प्रदेशों में मिलता है। छोटे वृक्ष में बहुत-से काँटे होते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों काँटों का लोप हो जाता है। इसका फूल बहुत बड़ा, लाल रङ्ग का होता है। इसका फल लम्बा, ककड़ी के आकार का होता है। गर्मियों में जब यह फल फटता है, तो इसमें से रुई निकलकर उड़ती है। यह रुई बहुत गरम होती है। यह तकिया, बिस्तरे आदि में भरी जाती है। इस वृक्ष से जो गोंद निकलता है, उसको 'मोचरस' कहते हैं। दवाई के काम में इसका मूल और गोंद बरता जाता है। इसके

काँटों को गाय के दूध में घिसकर मुँहासों (युवानपिडिका) पर लगाने से उनके दाग नष्ट हो जाते हैं। शीत ऋतु में इसके पत्ते झड़ने लगते हैं और शिशिर में कोरा नङ्गा हो जाता है, इसमें केवल फूल ही फूल रह जाते हैं।

गुण—शोधक, शीतल, धातुपौष्टिक। इसका मूल शीतल और संग्राही होने से रक्तातिसार और स्त्रियों के अति आर्त्तव-दोष में बरता जाता है। प्रदर-प्रमेह में भी लाभ करता है। इसके मूल का चिकना लुवाब होता है। उसमें शर्करा मिलाकर पीने से पेशाब की जलन कम होती है। इसके मूल का चूर्ण पुरुषत्व के लिये बरता जाता है।

२२१. **सरसों**—सरसों का पौदा राई जैसा होता है। इसमें फलियाँ लगती हैं। इन फलियों में राई जैसे बीज रहते हैं। परन्तु ये राई से मोटे होते हैं। सरसों पीली और काली दो प्रकार की होती है। गुजरात में पीली सरसों बहुत होती है। इसमें से तेल निकलता है। यह तेल गरम होता है। आँखों में या त्वचा पर लगाने से चिरचिराता है, इसीलिये इसको कडुवा तैल कहते हैं। पूर्व में इस तैल को विशेषतः खाने में बरतते हैं।

गुण—वातहर, उष्ण, शोथनाशक। सरसों का स्वाद राई की अपेक्षा जरा तीखा होता है। दवाई में इसका बीज और तेल बरता जाता है। सरसों वातघ्न होने से शोथ और गाँठों के लेप में पड़ती है। कर्णनाद, कर्ण-शूल तथा बहरेपन में इसका तेल कान में डालना चाहिये। श्वास-रोग में सरसों का तेल पुराने गुड़ के साथ मिलाकर खाना चाहिये। 'अपची' नामक गाँठ के ऊपर सरसों, नीम के पत्ते तथा भिलावे की राख सबको मिलाकर गोमूत्र में पीसकर गरम-गरम लेप करना चाहिये।

२२२. **साबूदाना**—यह सुमात्रा, जावा की तरफ से आता है। चावलों से सर्वथा भिन्न है। पचने में हलका तथा नीरोगी है। इसलिये बालकों तथा अशक्त पुरुषों के लिये बरता जाता है।

२२३. **सालममिश्री**—सालम एक प्रकार की वनस्पति है, जो तुर्किस्तान, काबुल, गान्धार की ओर विशेषरूप में होती है। इसमें कंद लगता है, उसीको सालममिश्री के नाम से कहते हैं।

गुण—पौष्टिक, धातुस्तम्भक, वीर्य-स्राव को रोकनेवाली, प्रदर एवं

धातु-विकार में लाभदायक है। सालममिश्री को मूसली के साथ लेने से विशेष लाभ होता है। बनावट सालम-पाक।

२२४. सौंफ—इसका पौधा 'सुवा' जैसा होता है।

गुण—स्वाद में मधुर और कुछ कड़वी-सी लगती है। यह दीपन और वातहर है। तृषा, वमन, पेट की शूल, अफारा आदि लक्षणों को शान्त करती है। मुखवास के लिये इसे भोजन के पश्चात् खाते हैं। सौंफ स्त्रियों के दूध को बढ़ाने के काम आती है। गर्भाशय को शुद्ध करती है। रोगी व्यक्ति को इसका अर्क या पानी देना लाभदायक है।

२२५. सोंठ—यह आर्द्रक की सूखी हुई गाँठ है।

गुण—उष्ण, दीपन, पाचन, वातहर है। सोंठ का मुख्य उपयोग शरीर में गरमी लाने के लिये होता है। वायु, कफ को दूर करने के लिये एवं दीपन और पाचन गुण के लिये इसे व्यवहार में लाते हैं। आमवात, शीत-ज्वर में सोंठ अच्छा प्रभाव करती है। सोंठ को पीसकर, जरा गरम करके रोगी के माथे पर लगाकर और गरम कपड़ों में सुलाने से पसीना आता है। प्रसूता स्त्री के पेट में यदि वायु जोर करे, तो सोंठ को घी और शर्करा के साथ पकाकर खिलाना चाहिये। अरुचि होने पर सौभाग्य सुण्ठी-पाक खिलाना चाहिये। बरसात में अधिक पानी में रहने से जब सरदी लग जाती है, उस समय इसको गुड़ और घी के साथ मिलाकर खाना चाहिये। आक्षेप में या पेट की शूल में इसको घी में भूनकर एरण्ड के तैल के साथ देना चाहिये। सोंठ, सेंधानमक और राई को तेल में गरम करके उस तैल की मालिश से संधिवात, आमवात आदि वायु-रोग शान्त होते हैं। शीतांग में सोंठ का चूर्ण शरीर पर मलना चाहिये। बनावट—सुण्ठीपुट-पाक, नागरादि काथ, नागरादि पाचन, शुण्ठ्यादि चूर्ण, समशर्कर चूर्ण, प्राणदा गुटी, सुण्ठी काथ, सौभाग्य शुण्ठीपाक।

२२६. स्वर्णक्षीरी—इसका वृक्ष एक या दो हाथ ऊँचा होता है। इसकी डण्ठलियों से पीला, चिकना रस निकलता है। इसलिये इसको स्वर्णक्षीरी कहते हैं। इसके फल से काला बीज निकलता है।

गुण—रेचक तथा शोधक। सुश्रुत में इसे व्रण-रोपक, गुल्म-नाशक कहा है। इसका रस आँख की कनीनिका पर उत्पन्न हुई 'ओपसीटी'

(अपार दर्शकता)पर लगाने से आराम होता है। इसके बीजों में से पीला तेल निकलता है। इस तेल को १ से आधा तोला तक दूध के साथ देने पर २-३ बार विरेचन होता है। इससे बनाया हुआ घी व्रण पर लगाने से वह भरता है। इसके रस के पीने से और लगाने से विस्फोटक नष्ट होता है।

२२७. **सूरन**—यह एक प्रकार का कन्द है, जो ज़मीन में होता है। इसमें बहुत ही तीक्ष्णता होती है। इसलिये यह ताम्र आदि को भस्म करने के लिये अथवा बवासीर में मस्सों का लेखन करने के लिये काम आता है। इसका शाक बनता है। इसको जीभ पर रखने से बहुत ही चिरपराहट, जलन होती है। मीठा सूरन-कन्द दवाई में विशेष उपयोगी नहीं होता। चूँकि यह अर्श की विशेष दवाई है, इसलिये इसको अर्शघ्न कहते हैं। नाक या शिश्न के अर्श पर इसके पत्ते बाँधने से वे नष्ट हो जाते हैं। अर्श के रोगियों को चाहिये कि वे इसका उपयोग विशेषरूप में किया करें। बनावट—सूरण-वटक।

२२८. **सुवा**— यह प्राय: सब रूपों में सौंफ से मिलता है। स्वाद में कुछ चिरपरा, कड़ुवा होता है। इसकी भाजी भी बनती है।

गुण—वातघ्न, पाचक, मूत्रल और योनि-दोषहर है। सुवा का पानी बच्चों को दिया जाता है। कफ, कृमि, वमन, शूल आदि में बरता जाता है। इसकी पोटली योनि में रखने से योनि-शूल मिटती है। इसका काढ़ा रज की कृच्छ्रता को दूर करता है। इसके काढ़े से गर्भपात भी हो जाता है। इसलिये गर्भिणी को नहीं देना चाहिये।

२२९. **हरीतकी (हरड़)**- हरड़ का वृक्ष बहुत बड़ा होता है। यह हिमालय, देहरादून, कमाऊँ, बंगाल में बहुत होता है। आर्य-चिकित्सा-शास्त्र में इसके कई भेद लिखे हैं। जैसे, विजया, रोहिणी, पूतना, अमृता, अभया, जीवन्ती, चेतकी। इनमें से चेतकी के अन्दर यह गुण लिखा है कि इसका फल हाथ में लेने से विरेचन लगता है। संस्कृत में इसके इक्कीस नाम हैं, जो इसके भिन्न-भिन्न गुणों का दिग्दर्शन कराते हैं। हरड़ के अन्दर पाँचों रस माने जाते हैं, इसलिये यह तीन दोषों का शमन करती है। इसमें एक लवण रस नहीं है। जो हरड़ पानी में डूब जाय, कठिन, तोड़ने से जल्दी न टूटे, मोटी और लम्बी हो, उसको बढ़िया हरड़ कहते हैं। यही काम में लानी

चाहिये। काबुली या पंजाबी हरड़ जो बाज़ार में आती हैं, वे बढ़िया समझी जाती हैं।

गुण--हरड़ स्वाद में कषैली और जीर्ण होने पर मधुर है। सारक, शोधक, रसायन है। हरड़ जहाँ सारक गुण रखती है, वहाँ इसमें स्तम्भक गुण भी हैं। थोड़ी (४ माशे की) मात्रा में देने से स्तम्भक गुण होता है। आर्य-चिकित्सा-शास्त्र में इसको रसायन अर्थात् बुढ़ापे को और व्याधि को दूर करनेवाली कहा है। इसीलिये व्यापक रोगों के फैलने के समय इस हरीतकी को सेवन करने का आदेश चरक में किया है। यह शुक्र-दोषहर, संशोधक, मेदनाशक, अर्शघ्न तथा ज्वरहर है। त्रिफला चूर्ण में पड़ती है। छः ऋतुओं में इसको भिन्न-भिन्न अनुपानों के साथ सेवन करना चाहिये। जैसे, बसन्त में मधु के साथ, ग्रीष्म में पुराने गुड़ के साथ, वर्षा में सेंधानमक के साथ, शरद् ऋतु में शर्करा के साथ, हेमन्त में सोंठ के साथ तथा शिशिर में पिप्पली के साथ सेवन करना उत्तम है। घी के साथ खाने से वायु को, गुड़ के साथ खाने से विबन्ध को, शर्करा के साथ खाने से पित्त को और शहद के साथ खाने से कफ को शमन करती है। गर्भवती स्त्री को, रास्ते की मुसाफिरी से थके हुये मनुष्य को, दुर्बल व्यक्ति को, उपवास के कारण क्षीण हुये, एवं पित्तप्रधान मनुष्य को हरीतकी का सेवन नहीं करना चाहिये। हरीतकी के सेवन से हृदय, आमाशय और आँत्रों के तथा यकृत, प्लीहा के रोग मिटते हैं। वात-रक्त में इसको गुड़ के साथ खाकर गिलोय का स्वरस पीना चाहिये।

आर्य-चिकित्सा में सब रोगों के अन्दर इसका उपयोग होता है। इसीसे किसी ने वैद्यों पर चुटकी देते हुये लिख दिया कि जिस प्रकार कष्ट के समय माता का स्मरण आता है, उस समय यदि माता न हो, तो हरीतकी का स्मरण करना चाहिये। इसका सेवन करना चाहिये। यह अवश्य माता की भाँति दुःख से बचायेगी। हरड़ और सोंठ का कल्क पानी के साथ लेने से दम और हिचकी मिटती है। अम्लपित्त रोग में द्राक्षा और शर्करा के साथ लेनी चाहिये। गोमूत्र के साथ हरड़ को लेने से कमल, पाण्डु, शोथ, जलोदर-रोग मिटते हैं। अंडवृद्धि या श्लीपद रोग में इसको एरण्ड-तैल के साथ लेना चाहिये। प्रमेह में हरीतकी को हल्दी के साथ सेवन करना चाहिये। आम-वात में हरड़ एरण्ड के तैल के साथ खानी चाहिये। बालकों

के बन्धकोश में इसको घिसकर देना चाहिये। आँख के रोगों में त्रिफले को पानी में भिगोकर प्रातः आँखों को धोना चाहिये।

एक छोटी हरड़ होती है, जो बहुत हाजिम मानी जाती है। इसको घी में भूनकर चूर्ण करके बरतना चाहिये। बालकों के लिये इसे घिसकर काम में लाते हैं। यह बहुत ही मृदु विरेचक है। इसमें संग्राही गुण विशेष रहता है। गरमी आदि के व्रणों में इस छोटी हरड़ की भस्म या त्रिफले की भस्म बहुत उत्तम होती है। इसको घी में मिलाकर लगाना चाहिये। बनावट—त्रिफला, अभयादि क्वाथ, पथ्यादि क्वाथ, त्रिफला पिप्पली, हरीतक्यादि चूर्ण, पथ्यादि गुटी, पथ्यादि गुग्गुल, अभयारिष्ठ, अमृत हरीतकी, मधुपक्क हरीतकी, हरीतकी अवलेह।

२३०. हल्दी—हल्दी नित्यप्रति बरतने की चीज है। परन्तु इसके गुणों से बहुत कम व्यक्ति परिचित हैं। साधारण लोग इसको मसाले की चीज समझकर रंग लाने के लिये शाक-भाजी में इसका उपयोग करते हैं।

गुण—हल्दी स्वाद में जरा कड़ुवी, तुरस होती है। यह कफघ्न, रक्त-शोधक, रोपण, कुष्ठघ्न एवं प्रमेहनाशक है। रक्तशोधक गुण के कारण कंडु, कुष्ठ, विसर्प, पांडु, विष में भी उत्तम लाभ करती है। हल्दी का उपयोग प्रायः हड्डी के टूटने पर किया जाता है अथवा किसी प्रकार के तीव्र आघात पर इसको दूध में घोलकर पिलाते हैं। व्रणों के विष के लिये इसे घी में पकाकर बाँधते हैं। श्लीपद में हल्दी और गुड़ को गोमूत्र के साथ पीना चाहिये। स्वर-भंग के लिये हल्दी को गरम दूध के साथ खाना चाहिये। प्रमेह के लिये कच्ची हल्दी का स्वरस मधु के साथ बरतना चाहिये।

हल्दी को वशीकरण तथा सौन्दर्य के योगों में भी व्यवहार करते हैं। इसके लिये इसे गोरोचन से मिलाकर काम में लाते हैं। दक्षिण या महाराष्ट्र में स्त्रियाँ सौन्दर्य के लिये हल्दी का लेप मुँह पर करती हैं।

स्तन-रोग के ऊपर हल्दी को घीकार के पट्ठे पर लेप करना चाहिये। मुंठमार चोट पर हल्दी को नमक के साथ पीसकर और तेल या घी में पकाकर बाँधना चाहिये। बनावट—हरिद्रारि गुटी।

२३१. हींग—यह भारत में उत्पन्न होनेवाली वस्तु नहीं है। यह ईरान, अफगानिस्तान से आती है। हींग जो खाने के काम आती है, यह

हींग नामक वृक्ष का गोंद है। इसके अन्दर बहुत मिलावट की जाती है। शुद्ध हींग की गन्ध बहुत उग्र होती है।

गुण—गरम, वातहर, कृमिनाशक तथा स्नायुओं को शिथिल करनेवाली है। स्वाद में बहुत तीक्ष्ण तथा गरम होती है। कृमिघ्न तथा वातहर होने से पेट के दर्द में, अफारे में कृमि-जन्य शूल में इसका उपयोग होता है। स्नायुओं में जब अकड़ांद या खींचतान हो रही हो, उस समय इसका उपयोग लाभदायक होता है। इसीलिये आक्षेप, हिस्टीरिया आदि रोगों में इसका जटामासी के साथ उपयोग बहुत गुणकारी होता है। अजीर्ण में इसकी चने जितनी गोली लाभदायक होती है।

परिणाम-शूल में—हींग, सैन्धव, जीरा इनकी काफी घी और शहद में लेना चाहिये। अपस्मार में हींग, संचानमक और घी इनको गोमूत्र में पकाकर देना चाहिये। कॉलरे में हींग, अफीम, कपूर, लाल मिर्च के दाने इनको बराबर लेकर पानी के साथ एक रत्ती के बराबर गोली बना लेनी चाहिये। व्रण के कीड़ों के लिये नीम के पत्ते और हींग को पीसकर लेप करना चाहिये। प्रसूता या सूतिका-रोग में हींग को घी में भूनकर चाटना चाहिये। दन्त-शूल में हींग को दाँतों के नीचे दबाना चाहिये। वत्सनाभ विष में हींग को १ बाल मात्रा में गाय के घी के साथ चटाना चाहिये। अफीम का जहर उतरवाने के लिये हींग को छाछ के साथ पीना चाहिये। हिचकी को रोकने के लिये इसका धुआँ लेना चाहिये। बनावट—हींग्वाष्टक-चूर्ण। इसके अतिरिक्त अनार्य-चिकित्सा में इसका उपयोग कई प्रकार से होता है।

२३२. हीराबोल—यह गुग्गुल जैसी एक प्रकार की गोंद है।

गुण—कफघ्न, उष्ण, ऋतु लानेवाला और जन्तुघ्न है। जन्तुघ्न गुण के कारण दाँतों के मंजनों में, नासूर, भगन्दर आदि दुष्ट व्रणों में मलहम के रूप में बरतते हैं। स्तम्भन गुण के कारण बहते हुये रक्त को रोकता है। स्त्रियों के रक्त-प्रदर में और पुरुषों के रक्त-प्रमेह में हीराबोल अच्छा लाभ करता है। हीराबोल पुरानी खाँसी में, क्षय में लाभदायक है। इसका विशेष गुण रज की कठिनता को दूर करना है।

खनिज तथा प्राणी-वर्ग की औषधियाँ

चिकित्सा या उपचार की वस्तुओं में वनस्पतियों के अतिरिक्त और भी वस्तुयें हैं। अनार्य-चिकित्सा के प्राचीन ग्रन्थों में (चरक सुश्रुत में) विशेष महत्व काष्ठौषधियों हो को दिया गया है। उनके अन्दर खनिज तथा प्राणी-वर्ग की औषधियाँ इतनी ही हैं कि हम उनको अँगुलियों पर गिन सकते हैं। इसके पश्चात् चिकित्सा के मध्य-काल में खनिज-वर्ग की विशेष उन्नति हुई है। इस उन्नति के कुछ कारण हैं जैसे—

(१) वनस्पति-वर्ग की औषधियाँ देर तक बनी नहीं रह सकती थीं, इनकी मात्रा बहुत बड़ी होती थी। और सब समय प्राप्त नहीं हो सकती थीं। प्रत्येक रोग के लिये भिन्न-भिन्न दवाइयों की आवश्यकता होती थी। देर में असर करती थी।

(२) इसके दूसरी तरफ खनिज औषधियों की मात्रा थोड़ी, शीघ्र प्रभाव करनेवाली, चिरस्थायी और एक औषधि कई रोगों में प्रभावशाली हो सकती थी।

जिस प्रकार अनार्य-चिकित्सा के वर्त्तमान-युग में "इन्जेक्शन" की विशेष उन्नति हो रही है, उसी प्रकार मध्यकाल में विशेषतः बौद्धकाल में इस शास्त्र की उन्नति हुई है। इसके रसों को सेवन करनेवाले के लिये आवश्यक है कि वह पथ्य का पालन पूर्ण रीति से करे। खनिज वनस्पतियाँ अधिक जोखिमवाली हैं।

खनिज-वर्ग की औषधियों में भी वनस्पति-वर्ग की औषधियों ही से गुण धान किया जाता है। इनके द्वारा खनिज-वर्ग की औषधियों का संस्कार किया जाता है। वनस्पति-वर्ग की सहायता ही से इनके गुण बढ़ाये जाते हैं।

इन दोनों के अतिरिक्त कुछ औषधियाँ प्राणियों से भी प्राप्त होती हैं। इनका समावेश प्राणी-वर्ग की औषधियों में होता है। ये वस्तुयें थोड़ी हैं, इसीसे खनिज-वर्ग के साथ जोड़ दी हैं।

१. **अभ्रक** — चार प्रकार की होती है, श्वेत, पीली, काली और लाल। इसमें काली अभ्रक रोगों को नाश करनेवाली है। यह काली अभ्रक भी चार प्रकार की है। जैसे—वज्राभ्रक, पिनाक, नाग और मण्डूक। इनमें वज्राभ्रक सबसे श्रेष्ठ है। वज्राभ्रक नीले अञ्जन के समान स्निग्ध,

भारपूर्ण, बड़ा भारी उज्ज्वल हो, जिसके पत्ते सुगमता से तोड़े जा सकें, कोमल हो, वह वज्राभ्रक सबसे श्रेष्ठ है।

गुण—पौष्टिक, शोधक, शीतल, आयुवर्द्धक, केश्य, बलकारक, बुद्धिवर्द्धक, स्तन (दूध) को बढ़ानेवाली, गर्भाशय को शुद्ध करनेवाली, शुक्रवर्द्धक, पुत्रोत्पादक, पुन्स्त्वदायक है। स्वाद में मधुर तथा शीतल है; अभ्रक की कच्ची भस्म कुष्ठ, क्षय, पाण्डु, शोथ, हृदय के रोगों को और ज्वर को उत्पन्न करती है। जिस अभ्रक में चन्द्रिका दिखाई दे, उसे अपूर्ण समझना चाहिये। कच्ची भस्म से उत्पन्न विकारों की शान्ति के लिये आँवले को पानी में पीसकर पीना चाहिये। अभ्रक-भस्म तीक्ष्ण रोगों में लाभ नहीं करती, परन्तु जीर्ण और पुराने रोगों में विशेष लाभ करती है। जैसे—प्रमेह के प्रारम्भ में या नव-ज्वर में अभ्रक बिलकुल प्रभाव नहीं करती, परन्तु इन्हीं पुराने रोगों में बंगेश्वर और जयमंगलरस अच्छा लाभ करते हैं। बनावट—अभ्रक-भस्म।

२. **अम्बर**—यह समुद्र में मिलता है। क्या वस्तु है, इसका अभी तक कोई निश्चय नहीं है। कोई तो इसको मछली की विष्ठा मानते हैं और कोई जलीय घोड़े की फेन मानते हैं, तीसरे इसको मछली के मुँह की झाग मानते हैं। इसके अन्दर एक गुणविशेष होता है कि यह रगड़ने से तिनकों को या छोटे-छोटे कागजों को ऊपर खींच लेता है। यह लाल समुद्र और अफ्रीका के पास से तथा ब्रह्मा से आता है। कई बार एक टुकड़ा ७५० पौण्ड का भी मिलता हुआ देखा गया है। इसमें कोई स्वाद या रस नहीं होता; गरम पानी या गरम शराब में घुल जाता है। बाजार में जो अम्बर मिलता है, वह बहुत कुछ बनावटी होता है। सच्चा अम्बर बहुत गरम होता है। अम्बर का रंग धूसरा, भूरा होता है। इसके ऊपर श्वेत रेखायें तथा चित्तियाँ होती हैं। इसमें उष्णता, उत्तेजकता आदि गुण होने से इसको आक्षेप-जन्य विकारों में बरता जाता है। अशक्ति में अम्बर होशियारी लाता है, धातु तथा दिमाग को उद्दीप्त करता है। श्रीमन्त लोग कस्तूरी के साथ मिलाकर इसको खाते हैं। यह बहुत महँगा बिकता है। बनावट—अम्बर याकूती।

३. **अर्कीक**—यह एक पत्थर है, जो हरा-सा होता है। इसकी भस्म बनाई जाती है।

गुण—शीत, रुक्ष, रक्त-स्तम्भक, संग्राही, दाँतों के मजबूत करने-वाला, स्वर्ण के साथ देने से अति बलकारक होता है। अर्कांक जितना चिकना होगा, उतना ही उत्तम समझना चाहिये।

४. कलई (बंग)—चाँदी के समान श्वेत और नरम वस्तु है। कलई में प्राय: सीसे का मेल किया जाता है, इससे यह काली तथा और भी नरम बन जाती है। जो कलई श्वेत और कठिन हो, उसे अच्छी समझनी चाहिए। कलई की भस्म को बंग-भस्म कहते हैं।

गुण—शुद्ध बंग-भस्म हल्की तथा सारक है। शोधक, मूत्रल और पौष्टिक है। कोढ़, कृमि, कफ, पाण्डु, श्वास, प्रमेह, मेदोरोग को नष्ट करती है। आँखों के लिये हितकर, बुद्धि बढ़ानेवाली, क्षयहर, शुक्रवर्द्धक, श्वेत-प्रदर सोमरोग-नाशक, काम को बढ़ानेवाला, स्वप्नमेह-नाशक, कास-श्वास को नाश करती है। यह कहावत प्रसिद्ध है—घोड़े को तङ्ग और मनुष्य को बंग चाहिये। अनीति से उत्पन्न औपसर्गिक प्रमेह (गनोरिया) में बंग कुछ लाभ नहीं करती। इस समय चन्दन का तेल या कवाबचीनी लाभ करती है। परन्तु इसी रोग के पुराने रूप में बंग-भस्म अभ्रक के साथ देने पर विशेष प्रभाव करती है। मधु-प्रमेह में बंगेश्वर को गूलर-फल के साथ देने से बहुत लाभ होता है। पेशाब में जो श्वेत पदार्थ जाता है और जम जाता है, उसमें भी बंग-भस्म गुण करती है। पुरानी खाँसी, क्षय तथा उर:क्षत में बंग-भस्म गुण करती है। श्वास-रोग में बंग-भस्म को पिप्पली और मधु के साथ देना चाहिये। अशुद्ध बंग-भस्म गुल्म, कुष्ठ, शूल, पाण्डु, क्षय, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, विद्रधि आदि रोग उत्पन्न करती है। बनावट—बंग-भस्म।

५. कस्तूरी—यह सुगन्धिदायक, मृग से उत्पन्न होनेवाली वस्तु है, इसलिये इसको मृगमद कहते हैं। मृग की नाभि से उत्पन्न होने के कारण मृगनाभि कहते हैं। बङ्गाल, नैपाल और काश्मीर इन स्थानों में विशेषत: होती है। इनमें बङ्गाल की कस्तूरी काले रंग की और सबसे अधिक प्रशस्त मानी जाती है। काश्मीर की कस्तूरी कुछ पीलापन लिये होती है। नैपाल की भूरी होती है।

कस्तूरी क्या है? इस बात का कोई निश्चित उत्तर नहीं मिला। लोगों का विचार है कि मृग की नाभि में जमा हुआ रक्त ही कस्तूरी बन

जाता है। यह सब मृगों में नहीं निकलती। कस्तूरी गरम होती है, इसीकी गरमी से मृग बर्फीले पहाड़ों में अपना जीवन काट सकता है।

गुण—वातहर, वाजीकरण, कफनाशक, विषनाशक, शीतनाशक, वमननाशक है। शीतांग सन्निपात में, जब शरीर बहुत ठण्डा पड़ गया हो अथवा हृदय की निर्बलता हो, उस समय इसका उपयोग विशेष गुणकारी होता है। वृद्ध मनुष्यों के ज्वर में जब फेफड़ों में सूजन हो जाय, श्वास-काठिन्य हो रहा हो, उस समय कस्तूरी विशेष लाभदायक है। कॉलरा तथा क्षय में शक्ति बहुत कम हो जाती है। उस समय कस्तूरी देनी चाहिये। कस्तूरी पुरुषत्व देनेवाली है, इसलिये पौष्टिक दवाइयों में या पाकों में मिलाते हैं। बनावट—कस्तूर्यादि गुटिका।

६. **कलई चूना**—यह पत्थरों के जलाने से बनता है। इसलिये शंख, कौड़ी, मूँगा, द्वीप आदि की श्रेणी ही का है। इसके गुण प्रायः इससे मिलते हैं। परन्तु यह अधिक तेज बनता है। इसको सब पहचानते हैं। मकानों में इसका उपयोग होता है, पान में इसको खाते हैं। यह जंतुघ्न तथा दुर्गन्धनाशक है। इसके अधिक खाने से मुँह में व्रण हो जाते हैं। औषधि के काम में इसका नितरा हुआ पानी बरता जाता है। इसके बनाने की विधि यह है कि चूने को पानी में भिगोकर रख दें। जब चूना नीचे बैठ जाय और पानी नितर जाय, तब इसको छान लें और बोतल में भरकर रख लें। इस पानी के देने से बालकों को यदि दूध पचता न हो, तो वह पच जाता है, अतिसार रुक जाता है। कलई चूना और शहद मिलाकर लगाने से अनपकी विद्रधि पक जाती है, पकी हुई विद्रधि फूट जाती है। कलई चूना और हरताल को मिलाकर लगाने से बाल गिर जाते हैं; नहरुवा निकल आता है।

७. **कौड़ी**—कौड़ियों को कौन नहीं जानता? चौपड़ खेलने के लिये-बच्चों के खिलौने तथा प्राचीन आर्य-सभ्यता में विनिमय का साधन था। परन्तु इसके गुणों से बहुत ही कम आदमी परिचित होते हैं। कौड़ी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी मिलती है। कौड़ी लाल, पीली श्वेत और चितकबरी होती है। पीली और पीठ पर गाँठवाली कौड़ी भस्म बनाने के लिये उत्तम होती है। जितनी बड़ी कौड़ी होगी, उतनी ही व्यवहार में अच्छी है।

गुण—तीक्ष्ण, उष्ण, अग्निदीपक, नेत्ररोग-नाशक, शूल, गुल्म,

कर्ण के स्राव के बन्द करनेवाली, परिणाम-शूलनाशक तथा क्षय में गुणकारी होती है। कौड़ी के घिसकर आँख पर लगाने से फूली मिटती है। शूल-रोग में इसकी भस्म गरम पानी के साथ लेनी चाहिये और श्वास, कास में मधु के साथ लेनी चाहिये। प्रमेह में, प्रदर में घी तथा शर्करा के साथ चाटनी चाहिये। बनावट—कपर्दिका-भस्म।

८. **खड़िया**—खड़िया गुण में ठंडी होती है; जलन, रक्त-विकार तथा शोथ के मिटाती है।

गुण—ठंडो, तिक्त, मधुर, शोथ का नाश करनेवाली, पित्त का शमन करनेवाली, व्रण के भरनेवाली, कफ, दाह, रक्त के नाश करनेवाली, नेत्रों के दोषों के हटानेवाली, पीले अतिसार में उपयोगी, स्वेद के अधिक स्राव का रोकनेवाली है।

९. **खपरिया**—खपरिया क्या वस्तु है? इसका निश्चय अभी तक नहीं हुआ है। कोई इसके तुत्थ का भेद मानते हैं, कोई जस्ते का भेद मानते हैं। बाजार में ईंट जैसे रंग का तथा भूरे काले रंग का मिलता है।

गुण—शीत, कफ, पित्तनाशक आँखों के लिये हितकर सब प्रकार के प्रमेहों के दूर करनेवाला, रक्त-प्रदरनाशक है। रक्त-पित्त, पथरी, श्वास, गुदा के रोग, अर्श के नष्ट करनेवाला है। जीर्ण ज्वरनाशक, अतिसारनाशक, त्रिदोषनाशक, विषनाशक, विचर्चिका-नाशक है। इससे बल, वीर्य, बुद्धि आदि बढ़ती है। खपरिया का उपयोग करने से पूर्व इसके शुद्ध करना चाहिये। सात दिनों तक इसके दोलायन्त्र विधि से गोमूत्र में शोधन करना चाहिये। अथवा ७ बार बिजौरे के नीबू के रस में रगड़ना चाहिये। बनावट—मालिनी-बसन्त, खर्पर-वटी, खर्परांजन।

१०. **गन्धक**—गन्धक खनिज पदार्थ है। यह चार प्रकार की होती है, जैसे लाल, पोलो, श्वेत और काली। साधारणतः बाजार में दो प्रकार की गन्धक मिलतो है। एक आँवलासार और दूसरी लकाड़ीया अर्थात् दण्डाकार। आँवलासार गन्धक खाने के काम आती है, और लकाड़ीया गंधक बाहर लगाने के काम आती है। लाल गन्धक स्वर्ण बनाने के काम में आती है। आँवलासार गन्धक के शुद्ध करके काम में लाना चाहिये।

गुण—पारद के साथ इसका उपयोग प्रायः सब रोगों में होता है। यह उष्ण, अग्निदीपक, आम का शोषण करनेवाली, पारे को बाँधनेवाली, कुष्ठ-रोग, कृमि-रोग, क्षय, प्लीहा, कफ तथा वायु के रोग को नाश करती

है। अशुद्ध गन्धक कोढ़, पित्त, भ्रम, वीर्य को नाश करनेवाली तथा रूप को नाश करनेवाली है। अशुद्ध गन्धक खाने से उत्पन्न विकारों की शान्ति के लिये गाय के दूध में घी मिलाकर पीना चाहिये। गन्धक के खाने से अर्श-रोग मिटता है, लगाने से खाज जाती रहती है। गन्धक पारे के मारने में काम आती है। शुद्ध गन्धक की मात्रा २ से ४ वाल, बनावट—गन्धक-रसायन, गन्धक-वटी, गन्धकादि-तैल।

११. गोपीचन्दन (सौराष्ट्री)—द्वारका की ओर से पीली मिट्टी आती है। यह ठंडी होती है; इसलिये विसर्प, गरमी तथा रक्त-विकार के ऊपर लगाई जाती है। गर्भपात हो रहा हो, तो इसको पेड़ू और पेट पर लगाने से रुक जाता है। गोपीचन्दन और शर्करा का पानी पीने से प्रदर मिटता है। गोपीचन्दन १ माशा, फिटकिरी ३ माशे इनको खरल करके भट्ठी में पकाकर एक-एक रत्ती मधु में खाने से प्रदर मिटता है। मुँह की गरमी में दूध के साथ घिसकर लगाना चाहिये।

१२. गोमूत्र—गुण—उष्ण, पाचन, कफघ्न, वातहर, मूत्रल, सारक और कुष्ठहर है। धातु तथा कई प्रकार के विषयों को शोधन करने के लिये इसका उपयोग होता है। त्वचा के रोग, कोढ़, शूल, गुल्म, शोथ, खाँसी, कृमि, प्लीहा आदि रोगों में लाभ करता है। इसका उपयोग कुष्ठहर लेपों में होता है। कई प्रकार के काढ़ों में मंडूर-भस्म के साथ दिया जाता है। गोमूत्र में जो गुण होता है, वह इसके अन्दर के क्षार का है। पांडु तथा प्लीहा में इसका अच्छा असर होता है। गोमूत्र को गरम करने से जो सत्त्व रहता है, उसे क्षार कहते हैं। गोमूत्र से स्नान करने पर श्वास, कंडू, फोड़, फुन्सी आदि अच्छे होते हैं। गोमूत्र पुराने मलबन्ध को तोड़ता है। जलोदर या पानी निकालने पर इसका उपयोग अवश्य करना चाहिये। स्वर्णमुखी को यदि गोमूत्र की भावना देकर बरतें, तो वह शोधक और सरल प्रभाव करती है। गोमूत्र की गैरहाजरी में बकरी का मूत्र बरता जा सकता है।

१३. गोरोचन— गाय या बैल के पित्ताशय (क्लोम) में पित्त जम जाता है, वही गोरोचन कहा जाता है। यह गोरोचन सब बैलों में नहीं होता। इसका रंग जायफल जैसा होता है। तोड़ने पर इससे परत-परत उतरते हैं।

गुण—सारक, शीतल, आक्षेप-नाशक, गुह्-पीड़ा, पिशाच-बाधा, उन्माद, कृमि आदि रोगों में फायदा करतो है। इसलिये बालकों के

जन्तु-जन्य रोगों में तथा आक्षेप आदि रोगों में, स्नायुवों के अकड़ाव में लाभ करती है। भरणी आदि बालकों के फेफड़ों के रोगों में गोरोचन तथा हल्दी के रस को देना चाहिये। शीतल होने से ठण्डे लेप में लगाया जाता है।

१४. **सीप** – सीप के गुण मोती के समान हैं। बनावट—शुक्ति-भस्म।

गुण—शूलनाशक, हृद्-रोगनाशक, अग्निवर्द्धक, विपाक में मधुर, लाल प्रमेह को दूर करती है, प्लीहानाशक है।

१५. **यशद** – जस्ता भ्रह्मा में अशुद्धरूप में निकलता है। जस्ते और ताम्बे के मिलाने से पीतल बनता है। जस्ते को जलाकर फूल बनाते हैं। यह फूल शुद्ध यशद से बनता है। इन फूलों को आँखों में लगाया जाता है, इसको पुष्पाञ्जन कहते हैं। इस अञ्जन से उठी हुई आँख अच्छी हो जाती है। घरों में मातायें बच्चों की आँख के लिये इसका व्यवहार करती हैं।

गुण—रोपण तथा शीतल है। स्वाद में कषैला, कड़ुवा और शीतल है। पित्त, कफ, प्रमेह, प्रदर, कामला, श्वास, कास आदि रोगों में लाभ करता है। शरीर के किसी भी भाग में विद्रधि या व्रण होने के कारण यदि ज्वर आता हो, तो इसका उपयोग करना उत्तम है। इसी कारण से यह क्षय में लाभ करती है, पसीने को रोकती है। यशद का अपस्मार और हिस्टीरिया रोग पर अच्छा प्रभाव होता है, इसलिये वातारिरस में इसका उपयोग किया जाता है। व्रणों के ऊपर या जख़्मों पर ख़ून बन्द करने के लिये अथवा व्रण का रोहण करने के लिये इसका लेप (घी के साथ) अथवा इसके चूर्ण का प्रतिसारण करते हैं। जिन स्थानों पर बहुत पसीना आता हो, अथवा गले, जंघाओं में जहाँ चीरा पड़ जाते हों, त्वचा लाल हो जाती हो, वहाँ पर चन्दन के साथ मिलाकर लेप करना चाहिये। यशद-भस्म की मात्रा १ से २ रत्ती। बनावट—यशद-भस्म, वातारि-रस।

१६. **टंकणक्षार**—इसको सुहागा कहते हैं।

गुण—मूत्रल, ऋतु लानेवाला, प्रसव-कालीन पीड़ाओं को उत्पन्न करनेवाला तथा रोपण है। टंकण स्वाद में खारा तथा ज़रा कड़ुवा होता है। खाने के लिये इसको तवे पर गरम करके फुलाकर बरतना चाहिये। टंकण बलगम को तोड़ता है, गर्भाशय के रक्त-स्राव को बन्द करता है, ऋतु लाता है।

टंकण, हलुआ और मण्डूर-भस्म देने से ऋतु का शोधन होता है। एक रत्ती अफीम के साथ देने से पीड़ा के साथ होनेवाला ऋतु-स्राव तथा कमर का दर्द अच्छा होता है। टंकण का फाहा रखने से फटी हुई त्वचा ठीक हो जाती है। योनि के प्रक्षालन के लिये टंकण का उपयोग होता है, इससे शूल, दुर्गन्धित स्राव रुक जाता है। टंकण मूत्रल है, इसलिये मूत्रकृच्छ्र रोग में, अश्मरी में, शर्करा में इसका उपयोग होता है। टंकण के गलाले करने से मुँह के व्रण अच्छे होते हैं। बालकों के मुँह में व्रण होने पर इसको शहद में मिलाकर लगाते हैं। खाज, दाद आदि रोगों में प्रलेप के रूप में बरता जाता है। मात्रा २ से ४ रत्ती।

१७. **ताम्बा**—ताम्बा खानों में से निकलता है। ताम्बे में प्रायः मिलावट रहती है। ताम्बे के पत्ते बनते हैं। शुद्ध ताँबे की भस्म स्वाद में कषैली और मधुर होती है।

गुण—पौष्टिक, शोधक है। ताँबे की भस्म के विषय में बहुत कुछ मिथ्या विश्वास बैठा हुआ है। वह बाजीकरण प्रभाव के लिये प्रयोग की जाती है। ताम्र विष है और बहुत सख्त विष है। ताम्र के खाने से प्रायः शरीर में व्रण हो जाते हैं। कई बार ताम्र के साथ सोमल-संखिया आदि का भी मेल कर दिया जाता है, इससे यह अधिक विष-युक्त और गरम हो जाता है। इसके खाने से घी या दूध की मात्रा अधिक मात्रा से पच जाती है। परन्तु पीछे से यही ताम्र नुकसान देता है। ताम्र-भस्म कफ, पित्त, शूल, गुल्म, पाण्डु, उदर-रोग, अफारा, शोथ, कुष्ठ, अर्श, श्वास, कास, ज्वर, प्लेग में विशेष गुणकारी है। कच्ची भस्म या अशुद्ध भस्म खाने से भ्रम, मूर्च्छा, अरुचि, [illegible], विरेचन, उल्टी, दाह स्वेद आदि रोग होते हैं। हरताल से उतरकर ताँबे की भस्म शीत ज्वर में, प्लेग में, आंत्र-ज्वर में लाभ करती है। ज्वर के बहुत-से रसों में ताम्र भस्म पड़ती है, जैसे चण्डेश्वर में। उदर के रोगों में, गुल्म के रोगों में पड़ती है, जैसे गुल्म कालानल। श्वास-रोग में यह विशेषतः उपयोगी है, इसीसे सूर्यावर्त्त रस में मिलाते हैं। त्वचा के रोगों में भी इसका उपयोग होता है यथा ताम्रेश्वर। ताम्रभस्म के सेवन करने के साथ पथ्य को पालना चाहिये। मात्रा १ से २ रत्ती। दूध और घी का उपयोग विशेषरूप से करना चाहिये।

१८. **नौसादर**——साधारणत: नौसादर मूत्र में निकलता है। इसको अनार्य भाषा में 'एमोनियम क्लोराईड' कहते हैं।

गुण—अति तीक्ष्ण है। सारक, पित्त को निकालनेवाला तथा ऋतु-प्रवर्त्तक है। इसके घोले में भिगोया हुआ पिचु जमे हुये रक्त को तोड़ता है। प्रसूता स्त्री के स्तनों में यदि दूध किसी कारण से रुक जाय और वे पकने लगें, तो इसका पिचु स्तनों पर रखने से लाभ होता है। वृषणों में आँत उतरने पर या वृषण शोथ पर इसका फाहा रखने से आँतें वापिस चली जाती हैं, वृषण सिकुड़ जाती हैं। यकृत की शोथ को, इसके अन्दर रुके हुये पित्त को बहाता है, शोथ को कम करता है। नवसार और कली चूने के मिलाने से 'अमोनिया' बनता है, जो शिर-दर्द आदि रोगों में सूँघी जाती है। नवसार मूत्रल तथा स्वेदक है। बुखार को कम करता है, कफ का लेखन करता है। ज्वर में इसके घोल के अन्दर गीला कपड़ा शिर पर रखते हैं। हरताल और नवसार इन दोनों को समान भाग मिलाकर पानी के साथ पीसकर बिच्छू के दंश पर लगाने से लाभ होता है। अधिक मात्रा में लेने से वमन होता है। मात्रा—१ ग्रेन (१ बाल) ३० ग्रेन से अधिक देने पर वमन होता है।

१९. **प्रवाल (मूँगा)**—यह समुद्र में से निकलता है। इसका रंग लाल होता है। बाजार में दो प्रकार का बिकता है, एक मूँग की शाखायें जो अलग-अलग होती हैं; दूसरी मूँगे की जड़ यह जत्था-बन्द मिलती हैं। दवाई के काम में इसको शोधन करके बरतते हैं। कच्चे मूँगों को गुलाब के अर्क के साथ पीसकर और नित्यप्रति शुक्ल पक्ष में रात्रि के समय (विशेषत: शरत् या हेमन्त ऋतु में) बाहर चाँदनी में रखने से जो पिष्टि बनती है, वह बहुत ही शीतल होती है। इसको भस्म के रूप में भी व्यवहार करते हैं। इसकी भस्म श्वेत बनती है।

गुण—पौष्टिक, शोधक, कफघ्न। प्रवाल में मोती के समान गुण हैं। प्रवाल पतले लोहे को गाढ़ा करता है। इसमें 'कैलसीयम' के गुण होते हैं। इस गुण के कारण क्षय तथा रक्त-पित्त में बरता जाता है। बनावट—प्रवाल-भस्म.

२० **पारद**——पारा दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक पारा पारे के

रूप में और दूसरा शिंगरफ के रूप में। शिंगरफ से जो पारा निकलता है, वह शुद्ध होता है। पारा जो द्रव के रूप में मिलता है, उसको शुद्ध करके बरतना चाहिये। पारे को शुद्ध करके भी यदि खुली वायु में रहने दें, तो वह भी काला हो जाता है। "रस" इसका दूसरा नाम है, क्योंकि यह सब धातुओं को ग्रहण कर लेता है। रोगरूपी समुद्र में डूबे हुये मनुष्य को पार लगाता है, इसलिये इसे 'पारा' कहते हैं। पारा अग्नि पर स्थिर नहीं रह सकता, वह उड़ जाता है, इसलिये इसको गन्धक, फिटकिरी आदि धातुओं के साथ मूर्च्छित करते हैं। पारे को मूर्च्छित करने से हिंगुल-रसकपूर आदि बनाते हैं। पारा बहुत बड़ी रसायन है। इसके साथ मिलने से जो औषधियाँ बनती हैं, उन सबको रस कहते हैं। चरक सुश्रुत में इसका उपयोग बहुत कम होता है। बौद्ध-काल में इस शास्त्र की विशेष उन्नति हुई है। बच्चे से लेकर बुड्ढे तक और ज्वर से लेकर वाजीकरण तक सब रोगों में इसका उपयोग होता है। पारे में सीसा, वंग, विष आदि का दोष मिला रहता है, जिससे व्रण, कुष्ठ, जड़ता, मृत्यु आदि उपद्रव होते हैं। इसलिये इसको शुद्ध करके बरतना चाहिये।

पारे को शुद्ध करने की कई विधियाँ हैं, परन्तु बड़े झंझट की हैं। दूसरी सरल रीति यह है कि शिंगरफ या हिंगुल को नीबू के रस में मर्दन करके डमरूयंत्र से उड़वाकर निकाल लेना चाहिये। इस रीति से निकाला हुआ पारा बहुत शुद्ध होता है। जिस स्थान पर पारद-भस्म लिखी हो, वहाँ पर पारद और गन्धक की बनी हुई कज्जली बरतनी चाहिये। पारद और गन्धक को खरल में रगड़ने से जो कज्जल-सा रंग बनता है, उसे कज्जली कहते हैं। शुद्ध पारे में जितने गुण हैं, उतने ही दोष अशुद्ध पारे में हैं।

अशुद्ध पारे से उत्पन्न दोषों की शान्ति के लिये—१—भाँगरे का स्वरस पीना चाहिये। २—गन्धक खानी चाहिये। ३—पान का रस, बकरी का दूध, तुलसी के पत्ते का रस खाना चाहिये। ४—पारद के पुराने विष में गन्धक और त्रिफला को तीन माशा खाना चाहिये। बनावट—पारदादि-लेप, पारदादि मलहम। इसके सिवा पारद के कुछ सरल प्रयोग भी रस-प्रकरण में दिये गये हैं।

२१. फिटकिरी – कच्छ और सौराष्ट्र में इसकी बहुत पैदाइश होती है, इसीसे इसको सौराष्ट्री भी कहते हैं। साधारणतः बाज़ार में फिटकिरी दो

५८

प्रकार की मिलती है, एक श्वेत और दूसरी लाल। फिटकिरी स्वाद में खट्टी, ज़रा कड़ुवी और कषैली होती है। खाने की औषधियों में फिटकिरी फुलाकर बरती जाती है। फुलाने के बाद फिटकिरी को मिट्टी या लोहे के बर्त्तन में रखकर ताप देना चाहिये। इससे प्रथम फिटकिरी पिघलकर द्रव बन जायगी और फिर अधिक ताप देने से सफेद भस्म बन जायगी।

गुण—ग्राही, स्तम्भन तथा रक्तावरोधक, कोठ, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, वमन, ताव, आँख के रोगों में तथा रक्त-पित्त में लाभदायक है। छाती या फेफड़ों में से यदि रक्त निकलता हो, तो इसको योग्य दवा के साथ देने से लाभ होता है। यदि फिटकिरी बहुत अधिक मात्रा में दी जाय, तो वमन होकर कफ निकल जाता है। सब प्रकार के रक्त-स्राव को रोकती है। मुँह में व्रण हो जायँ, तो इसको पानी में घोलकर गलाले करना चाहिये, और फिर इसको शहद के साथ मिलाकर लगाने से थूक निकलता है। प्रमेह में और प्रदर में फिर विशेष लाभकारी है। प्रदर में इसके द्वारा योनि-प्रक्षालन करने से स्राव रुक जाता है। नाक से खून बहता हो, तो इसकी पिचकारी नाक में लगानी चाहिये। कहींसे भी स्राव होता हो, जैसे कान से या स्त्रियों के गुह्य-भाग से, तो इसके घोल से धोने पर लाभ होता है।

प्रसव के पीछे यदि रक्त-स्राव गर्भाशय से बन्द न हो, तो इसको पिचकारी से धोना चाहिये अथवा इसके घोल का पिचु रखना चाहिये। योनि को धोने से संकोच होता है। फिटकिरी को फुलाते समय उसमें नीबू का रस मिला देना चाहिये। इससे यह फिटकिरी दाद और दूसरे चर्म-रोगों के लिये तथा उल्टी के लिये अच्छी गिनी जाती है। खाज बहुत होती हो, तो इसके पानी का पिचु रखना चाहिये। तुरन्त जन्मे हुये बालक की आँखें किसी विष के कारण पक जायँ, पलकें भारी हो जायँ, तो गरम पानी से धोकर फिटकिरी को गुलाबजल में घोलकर तीन-चार बूँदें प्रत्येक आँख में गिरानी चाहियें। गनेरिया के विष के कारण जब आँखें सूज जाती हैं, तब भी फिटकिरी का घोल आँखों के लिये हितकर होता है। शीत ज्वर में फिटकिरी को अकेली, या हरताल और शिंगरफ के साथ देते हैं। जिस समय इसको गोदन्ती हरताल तथा शुद्ध शिंगरफ से मिलाकर देते हैं, उस समय इसका रङ्ग गुलाबी होता है। फिटकिरी की मात्रा १ से २ बाल। बाह्य-प्रक्षालन के लिये आध सेर पानी में चौथाई तोले से आधे तोले तक डालनी चाहिये।

२२. मुर्दाशङ्ख—यह सीसे की बनावट है। जिस प्रकार लोहार की भट्ठी में लोहा तपाने से मण्डूर इकट्ठा हो जाता है, उसी प्रकार यह भी वहाँ पड़ा रहता है।

गुण—रेचक तथा रोपण है। मुर्दाशंख, संगजराहत, सिन्दूर इन सबको बारीक पीसकर घी में लगाने से उपदंश का व्रण तथा बहुत पीवस्रावी व्रण भी अच्छा हो जाता है। विरेचन के लिये इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। मुर्दाशङ्ख ठण्डा, केशों के लिये हितकर, त्वचा के कण्डू आदि रोगों को दूर करनेवाला, संकोचक है।

२३. मण्डूर—यह लोहे का मल है। ६० या १०० वर्ष का पुराना मण्डूर औषधि के काम में लाना चाहिये। मण्डूर लोहे के समान काले रङ्ग का, भारी होता है। भूमि में से कई स्थानों पर खुदकर मिल जाता है। मण्डूर को शोधन करके उसकी भस्म बनानी चाहिये।

गुण—बहुत कुछ लोहे की भाँति। मण्डूर—रक्तवर्द्धक, पांडु और कामला के लिये, शोष के लिये, शोथ के लिये लोहे से अधिक गुणकारी है। लोहे की अपेक्षा मण्डूर पचने में हलका होने से शीघ्र प्रभाव करता है। बालकों के लिये लोहे से अधिक उपकारी है। कृमि-रोग में मण्डूर-भस्म वायविडंग और शहद के साथ देनी चाहिये। जीर्ण ज्वर में शहद और पिप्पली के साथ; पाण्डु-रोग में मंडूर-भस्म छाछ में; शोथ में पुनर्नवादि काढ़े के साथ; बालकों के मिट्टी खाने से उत्पन्न उपद्रवों में मंडूर-भस्म या मण्डूर-वटी देनी चाहिये। बनावट—मण्डूर-भस्म, मण्डूर-वटी।

२४. मधु—शुद्ध मधु मधुमक्खियों के द्वारा फूलों से इकट्ठा किया जाता है। मक्खियाँ छोटी और बड़ी दो प्रकार की होती हैं। भिन्न-भिन्न फूलों के रस से यह इकट्ठा होता है, इसलिये इसमें सबका गुण मिला रहता है। बसन्त-ऋतु में फूल निकलते हैं। इस ऋतु में संचय किया हुआ शहद बहुत अधिक गुणकारी होता है। बाजार में जो शहद मिलता है, उसके अन्दर खजूर या खाँड की चासनी मिलाई होती है। मधु दो प्रकार की होती है। एक लाल रंग की और दूसरी श्वेत, पीली, रवेदार। यह दूसरे प्रकार की शहद शीतऋतु में जम जाती है। शुद्ध शहद को कुत्ता नहीं खाता।

गुण—कफ, पित्त का नाश करनेवाली, रोपण तथा योगवाही है। जिस दवाई को बहुत दिनों तक सुरक्षित रखना हो, उसमें मधु को मिला देते हैं।

मधु कृमिनाशक है। मधु कफ के रोगो के लिये उत्तम अनुपान है। इसमें इतना गुण है कि इसको थोड़ा-थोड़ा पानी के साथ पीने से मेदोरोग तथा मोटापन भी कम हो जाता है। मधु को पानी के साथ मिलाकर कुल्ला करने से मुँह के घाव भर जाते हैं। मीठा होने से कई दवाइयों के स्वाद को ठीक बनाता है।

२५. **मनःशिला**—मनसिल यह हरताल का एक भेद है। इसके लाल रंग के वजनदार टुकड़े आते हैं। मनसिल गन्धक और संखिया के योग से बनी हुई है।

गुण—ज्वरघ्न, कफघ्न तथा शोधक है। हरताल की भाँति इसका उपयोग भी आंत्र-ज्वर में (रस-माणिक्य के रूप में) होता है। श्वास-कुठार-रस आदि प्रयोगों में मनसिल पड़ती है। मनसिल के चूर्ण को बच तथा लहसुन के रस में पीसकर सूँघने से अचेतनता दूर होती है। श्वास-कुठार के खाने से या मनःशिला के बहुत ही हल्के घोल में भिगोकर बीड़ी पीने से श्वास जाता रहता है। मनसिल, धतूरे के टुकड़े और त्रिकटु, इन तीनों के समान भाग कूटकर, बीड़ी बनाकर पीने से दमा बैठ जाता है। त्वचा के रोगों में, कुष्ठ में यह काम आती है।

२६. **मोम**—मधु के साथ छत्ते में से मोम भी मिलती है। मक्खियों के छत्ते में से शहद छानने के पीछे मोम बच जाती है। मोम स्वाद मे मधुर तथा चिकनी होती है।

गुण—रोपण। प्रलेपों को बनाने के लिये मोम का उपयोग होता है। मोम से तैल भी निकालते हैं। यह तैल वातरोग के लिये उत्तम है। अण्डवृद्धि पर मोम की रोटी बाँधने से लाभ होता है। मोम दो प्रकार का बाजार में बिकता है, एक श्वेत और दूसरा पीला। आयुर्वेद में पीला मोम उत्तम गिना जाता है।

बनावट—मोम का मलहम—मोम एक भाग, तेल १॥ भाग दोनों को मीठी आँच से गरम करके मिला देना चाहिये।

२७. **मोती**—समुद्र में सीप के अन्दर से मोती निकलता है। मोती की बहुत-सी जातियाँ हैं। दवाई के काम में बिना बिँधा हुआ मोती काम में आता है। मोती की भस्म करके अथवा गुलाब के जल में पिष्ठि बनवाकर

इसको काम मे लाते हैं। स्वर्ण-वसन्तमालती में तथा सुरमों के अन्दर मोती डाला जाता है। मोती के अभाव में मोती का छोप, जिसमें मोती रहता है, काम में लाना चाहिये। इसके अन्दर भी मोती के समान गुण रहता है। भस्म करने से पूर्व मोती को शुद्ध करना चाहिये।

गुण—धातुपौष्टिक, पित्तशामक तथा शीतल है। मोती—बलकारक, आयु-वर्द्धक, मधुर, दाहशामक, पुराने ज्वर के लिये हितकर, हृदय के लिये और प्रमेह के लिये उपयोगी, श्वास, कास, क्षय को नाश करनेवाला, अस्थि-शोष-नाशक, विषहर है। मस्तिष्क को पुष्टि देता है। मोती रक्त को गाढ़ा बनाता है। इसलिये क्षय तथा अन्य रक्त-स्रावों में लाभदायक है।

२८. तुत्थ—यह ताम्र का एक समास है। इसलिये आर्य-चिकित्सा में इसको ताम्र का उपधातु मानते हैं। इसका रंग आसमानी रंग का है। दवाई के काम में मोरतुत्थ को शुद्ध करके बरतते हैं। इसका अन्तः-उपयोग कम होता है; परन्तु वाह्य-उपयोग बहुत अधिक होता है। "ग्रहणीकपाटरस" आदि कई रसों में इसका उपयोग होता है।

गुण—रोपण, स्तम्भक, पौष्टिक। तुत्थ स्वाद में कषैला, जरा कड़वा और खारा है। साधारणतः तुत्थ विष है। तुत्थ कृमि, खाज तथा विष का नाश करता है। आँख की खील में प्रभावशाली है। स्तम्भन-गुण के कारण संग्रहणी, अतिसार तथा कम्पवात में लाभदायक है। प्रमेह में तुत्थ की पिचकारी मारने से लाभ होता है। सड़े हुये या पुराने मांस को काटने के लिये तुत्थ का लेप किया जाता है। तुत्थ के अन्दर जलाने का गुण है। आर्य-शास्त्र में इस क्रिया को 'लेखन' शब्द से कहते हैं। आँखों के अन्दर जो खीलें हो जाती हैं, परवाल हो जाते हैं, तो उनको जलाने या काटने के लिये तुत्थ का लेप सबसे उत्तम है। इसके द्वारा रोहें जल जाते है। रतनजोत की सलाइयों में तुत्थ पड़ता है। उनको दिन में दो-तीन बार फेरने से आँख को लाभ होता है। आँखों के कोने की तरफ जो मांस बढ़ जाता है, उसको जलाने के लिये भी यही उत्तम है। बिच्छू के डङ्क के ऊपर तुत्थ को दही में घिसकर लगाना चाहिये। दुष्ट व्रणों को तुत्थ के पानी से धोने से लाभ होता है। उपदंश-जन्य व्रणों के ऊपर तुत्थ एक भाग और गेरू या गोपीचन्दन दो भाग मिलाकर व्रण पर बुरकी देनी चाहिये। क्षय की

असाध्यावस्था में, अतिसार में लाभ करता है। विष के पीने में तुत्थ को घोलकर वमन के लिये देना चाहिये।

मात्रा—खाने के लिये शुद्ध तुत्थ की मात्रा ½ गुना से १ ग्रेन तक। उल्टी के लिये १ वाल; आँख में गेरने के लिये १ रत्ती ३ तोले पानी में घोलकर बरतनो चाहिये। तुत्थ दाहक है, इसलिये व्रणों को इससे धोकर शुद्ध पानी से अच्छी प्रकार धो देना चाहिये, जिससे उसका विष न रहे। मोरतुत्थ के अधिक खाने से यदि विष हो जाय, तो घी पीना चाहिये। बनावट—रतनजोत की सलिया।

२०. **रसकपूर**—बाजार में जो रसकपूर बिकता है, वह पारे और लवणाम्ल के संयोग से बना होता है। पारे से रसकपूर बनाने की सरल विधि यह है कि शुद्ध पारा, गेरू, ईंट, खड़िया, फिटकिरी, सेंधानमक, खार ये प्रत्येक पाँच-पाँच तोला लेकर, पारे को छोड़कर सब चीजों को कपड़छान कर लेना चाहिये। फिर उनमें पारा मिलाकर एक पहर तक खरल करना चाहिये। पीछे से इसको एक हाँड़ी में रखकर उसके ऊपर दूसरी हाँड़ी रख देनी चाहिये। फिर इस डमरूयंत्र को चूल्हे पर चढ़ाकर मीठी आँच से चार दिन-रात तक गरम करना चाहिये। पाँचवें दिन स्वाँग-शीत होने पर ऊपर की हाँड़ी में लगे हुये पुष्प उतार लेने चाहिये। यह रसकपूर शुद्ध होती है। बाजार में रसकपूर अशुद्ध मिलता है। रसकपूर विष है, अतः बहुत होशियारी के साथ इसको बरतना चाहिये।

गुण—शोधक। उपदंश में इसका विशेष प्रभाव है। उपदंश या उपदंश से उत्पन्न संधिवात में केशरादि गोलियाँ विशेष लाभ करती हैं। जीर्ण या पुराने अतिसार में रसकपूर भी लाभ करता है। रोग के प्रारम्भ में या तीक्ष्ण रूप में रसकपूर नहीं बरतना चाहिये। एक भाग रसकपूर और चवन्नी भर नौसादर और हजार भाग पानी मिलाकर प्रतिदिन दो-दो आने की मात्रा पीने से शरीर के ऊपर फूटी हुई गरमी शान्त होती है। रसकपूर की बनावट-वाली कोई भी औषधि यदि बरतनी हो, तो उसे लम्बे समय तक बरतना चाहिये। जिस समय मुँह में थूक बढ़ने लगे, उस समय इसको बन्द कर देना चाहिये। उत्तम यह है कि बीच-बीच में छोड़कर दिया जाय। रसकपूर के सेवन के समय सदैव पथ्य पालना चाहिये। रसकपूर शरीर में एकत्रित न होने पाये, इसलिये समय-समय पर हरड़ का विरेचन देते रहना चाहिये।

रसकपूर का उपयोग व्रणों के धोने के लिये भी किया जाता है। इसमें १ भाग रसकपूर और १००० से २००० भाग पानी मिलाना चाहिये। रसकपूर (१० ग्रेन) चूने का पानी (१० औन्स) इन दोनों को मिलाने से पानी का रङ्ग पीला हो जाता है। इसके धोने से उपदंश, अन्य व्रण, धनुष-वात आदि के व्रण धोये जायँ, तो बाहर के जन्तु नष्ट होते हैं और व्रण जल्दी भर जाते हैं। परन्तु इन सब कार्य के लिये बाजार का रसकपूर नहीं बरतना चाहिये। इसके लिये सबसे उत्तम अनार्य-चिकित्सा की "परक्लोराईड ऑफ़ मर्करी" बरतना चाहिये। रसकपूर के अधिक खाने से यदि विष चढ़ा हो, तो तक-मरीयां या ईषबगोल का लुबाब देना चाहिये। वमन तथा जुलाब देना चाहिये। घी आदि चिकने पदार्थ देने चाहियें। शुद्ध रसकपूर की मात्रा १/१६ से १/८ ग्रेन है। बनावट—केशरादि-गुटिका।

३० रौप्य—चाँदी की धातु प्रसिद्ध है। शुद्ध चाँदी की भस्म करके उसे औषधि के काम में बरतना चाहिये। इसके वर्क भी दवाई में काम आते हैं।

गुण—पौष्टिक तथा वातहर। चाँदी की भस्म तथा वर्क पुष्टि के पाक में पड़ता है। इसका खास गुण वात-व्याधि के लिये है, इसलिये वात गजांकुश तथा महायोगराज में पड़ती है। मस्तिष्क के रोगों में यथा हिस्टीरिया, अपस्मार आदि रोगों में लाभ करती है। रौप्य शीत गुणवाली है, इसलिये पित्त के कोप के शान्त करती है। बनावट—रौप्य-भस्म।

३१. लवण—नमक शब्द से जो व्यवहार किया जाता है, वह समुद्र के पानी से बना नमक होता है। कहीं-कहीं लाहोरिया या सेंधानमक को भी नमक समझा जाता है। आर्य-चिकित्सा-शास्त्र में नमक पाँच प्रकार का है। जैसे काच-लवण, २. सैन्धव, ३. सामुद्रिक-लवण, ४. सोंचल और ५ बिड़-लवण या कालानमक। इनमें से सामुद्रिक लवण को उत्तरीय भारत में साम्भर नमक भी कहते हैं, चूँकि यह साम्भर से पैदा होता है। कालानमक बनाने के लिये साम्भरनमक को आँवले के पानी में उबालते हैं, इससे वह काला बन जाता है।

गुण—पाँचों नमकों के गुण – दीपन, पाचन, सारक तथा वातहर है। खूराक के साथ खाने के काम में (सेंधा या साम्भर) अधिक बरता

जाता है। चिकित्सा-शास्त्र में सब नमकों में श्रेष्ठ सेन्धानमक है। आँखों के लिये अन्य सब नमक हानिकारक हैं, केवल यही एक सेन्धानमक उपयोगी है। सेंधानमक सौम्य है। नमक भोजन में रुचि पैदा करता है, मल साफ लाता है, प्लीहा को कम करने के लिये या किसी स्थान पर जमे हुये रक्त को कम करने के लिये क्षारों का उपयोग किया जाता है। इसके अधिक खाने से शरीर में खाज आरम्भ हो जाती है, रक्त बिगड़ जाता है, बाल श्वेत हो जाते हैं। नमक रक्त-स्राव को बन्द करता है, सूजन को कम करता है, विष-नाशक है; इन सब कारणों के कारण नमक की पट्टी रक्त निकलने पर बाँधी जाती है। अजीर्ण या कॉलरा की अवस्था में लवणभास्कर-चूर्ण देने से अति-सार बन्द होता है। सेंधानमक तथा कड़ुवे तेल के गरोर करने से या दाँतों पर मलने से मुँह तथा दाँतों पर के सब रोग मिटते हैं। व्रण अथवा किसी स्थान पर शल्य-कर्म करने के पश्चात अथवा वायु के कारण जब नसों या नाड़ियों में स्तब्धता आजाय, उस समय नमक को बाँधना या उसका सेंक बड़ा लाभदायक होता है। गाँठ के ऊपर नमक की खीर चुपड़ने से लाभ होता है। पचके हुई गालों पर दूध में नमक पकाकर लगाने से बहुत लाभ होता है। बनावट—पवित्र चूर्ण।

३२. लोहा—लोहा प्रसिद्ध वस्तु है। यह तीन प्रकार का होता है। १. जिस लोहे के ढालकर बर्त्तन बनाये जाते हैं; २. जिसकी तारें खिंचती हैं, या बढ़िया वस्तु जैसे इंजन का धुरा बनता है; ३. जिसके हथियार बनते हैं, जैसे तलवार आदि। इनसे भिन्न दूसरी किस्म का एक लोहा होता है, जिसको अयस्कान्त कहते हैं। इनमें अयस्कान्त लोह कठिनता से मिलता है। इसके स्थान पर चुम्बक को बरतते हैं। इनमें अयस्कान्त और इस्पात, जिसकी तलवार आदि बनाये जाते हैं, सबसे उत्तम हैं और तारों का लोहा दूसरे नम्बर का है। परन्तु जिस लोहे को ढालकर बर्त्तन बनाते हैं, वह तीसरी श्रेणी का लोहा है। इन सबकी भस्में बनाई जाती हैं। परन्तु सबसे उत्तम भस्म अयस्कान्त की है।

गुण—रक्त-शोधक तथा पौष्टिक है। लोहे में पौष्टिक गुण है। लोहे में लाल रजकणों को बढ़ाने की शक्ति बहुत अधिक होती है। कमजोरी या पाण्डु-रोग में इसका उपयोग बहुत अच्छा रहता है। किसी भी रोग में

अन्य वस्तुओं के साथ में लोहे का उपयोग भली प्रकार किया जा सकता है। लोह को दूसरी औषधियों के साथ मिलाकर खाना अच्छा है। क्योंकि प्रायः यह मलबन्ध करता है। इसलिये त्रिफला आदि सारक वस्तुओं के साथ मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। लोह-भस्म भी बहुत रोगों में बरती जा सकती है। यह कमला, पाण्डु, शोथ, संग्रहणी, कफ, पित्त, वात, क्षय, प्लीहा, यकृत, वात-रक्त, कुष्ठ, कृमि आदि रोगों में दी जाती है। इसमें बल, बुद्धि तथा कान्ति बढ़ती है। अत्यन्त विषय-सेवन से या अनियमित वीर्य-नाश से उत्पन्न दोष के लिये लोह-भस्म का सेवन और ब्रह्मचर्य का पालन, शरीर को पुनः स्वस्थ और सुन्दर बना देता है। स्त्रियों के ऋतु-दोष में, प्रदर-रोग में लोह बहुत लाभ करता है। जिन स्त्रियों में गर्भ-च्युति बार-बार होती है, उनके गर्भाशय को ताकत देने के लिये लोह-भस्म का उपयोग करना चाहिये। मूत्रकृच्छ्र-रोग में लोह-भस्म विशेष उपकारी होता है। अर्श, संग्रहणी, रक्तातिसार तथा प्रसवकालीन अति रक्त-स्राव में, जब कि चेहरे पर फीकापन आ जाय, उस समय लोह-भस्म का उपयोग विशेष लाभदायक होता है। शोथ में, जलोदर में लोह को दीपन-पाचन औषधियों के साथ देना चाहिये। इन रोगों में चूँकि यकृत का विकार होता है, इसलिये लोह को त्रिफला के साथ मिलाकर त्रिफला या गो-मूत्र के योग में जारित देना चाहिये। तीव्र रक्त-स्राव में लोह-भस्म को अफीम के साथ देना चाहिये। बनावट—लोह-भस्म, प्रदरारि लौह, लोहासव।

३३. शङ्ख—शङ्ख समुद्र में बहुत उत्पन्न होता है। इसका निर्माण शूक नामक कृमि से होता है, जो समुद्र के पानी और कीचड़ में रहता है। जो शंख चन्द्रकान्त के समान होता है, वह अच्छा होता है। शङ्ख की भस्म बनती है। भस्म करने से पूर्व इसका शोधन करना आवश्यक है।

गुण—पाचक, रोपण, स्तम्भक, वातहर है। शङ्ख, प्रवाल आदि समुद्र में उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुयें अनार्य-रसायन-शास्त्र के मतानुसार 'कैलसियम' के समास हैं। परन्तु इन दोनों के गुणों में बहुत भेद है। शङ्ख का गुण पाचन-शक्ति के ऊपर खास है, पचने में अधिक हलका और अधिक गुणवाला है। शूल-रोग में शङ्ख-भस्म बहुत लाभ करता है। अजीर्ण-रोग में जब खट्टे डकार आते हों, पेट में दहन होती हो, उस समय शङ्खवटी देने

५९

से विशेष लाभ होता है। पेट में खटास या अम्लता हो रही हो, उस समय क्षार जैसे, चूना या शङ्ख-भस्म देने से लाभ होता है।

शूल-रोग में—शङ्ख भस्म दो रत्ती और घी में भूनी हुई हींग एक रत्ती, इन दोनों को आधे तोले घी में चाटना चाहिये अथवा शङ्ख-भस्म को गरम पानी के साथ देना चाहिये।

अजीर्ण-रोग में—नीबू की सिकञ्जवीन के साथ शङ्ख-भस्म को देना चाहिये।

प्लीहा में—नीबू के रस के साथ शङ्ख-भस्म देनी चाहिये। शङ्ख-भस्म को सर्जक्षार या मूली के क्षार में मिलाकर लगाने से छोटे-छोटे मस्से गिर पड़ते हैं, बड़ी-बड़ी गाँठें नर्म पड़ जाती हैं। शङ्ख-भस्म और हरताल को मिलाकर लगाने से बाल गिर जाते हैं; परन्तु इससे बाल जल जाते हैं। मात्रा १ रत्ती। बनावट—शङ्ख-भस्म, शङ्खवटी, चन्द्रोदयवर्त्ति।

३४. **शङ्खजीरक**—यह साबुन के समान चिकना और बहुत सफ़ेद होता है। स्वाद में कषाय और ठण्डा होता है। गरमी (उपदंश) के व्रणों पर लेप करने से फ़ायदा करता है; इसीलिये इसको मलहम में डालते हैं। इमारती कामों में चिकना करने के लिये शङ्खजीरक बरता जाता है। शङ्ख-जीरक और कत्थे को मिलाकर उपदंश के व्रणों पर बुरकी देने से वे भर जाते हैं। मसोड़े में यह असरकारक है।

३५. **सिन्दूर**—सिन्दूर सीसे से बनाया जाता है। सिन्दूर में तीन भाग सीसे के और चार भाग ओषजन के हैं। सिन्दूर खाने के काम में नहीं आता। इसका मुख्य उपयोग बाह्य होता है।

गुण—व्रण-शोधक तथा रोपण है। इसीसे यह व्रण, कण्डू, दाद आदि प्रलेपों में काम आता है। सिन्दूर और मिर्च को मिलाकर लगाने से कंडू, खाज शान्त होती है। सिन्दूर को घी में मिलाकर लगाने से आँखों की खुजली, परवाल अच्छे होते हैं।

३६. **सीसक**—सीसक काले रंग की वज़नदार धातु है। इसका रंग काला होता है, इसीसे शायद इसका नाम संस्कृत में 'नाग' रक्खा गया है। सिन्दूर-सफ़ेदा जिससे बरतन या छत पर टाँका लगाते हैं और मुर्दाशङ्ख ये तीनों सीसक ही के समास हैं। बन्दूक की गोली इसीसे बनती है। सीसक को शुद्ध करके उससे भस्म बनाई जाती है।

गुण—पौष्टिक, श्वास-नाशक । वीर्यवर्द्धक होने से पुराने प्रमेह में तथा वीर्यस्राव के रोगों में लाभ करता है। अन्यान्य जन्य औपसर्गिक प्रमेह में नाग-भस्म विशेष उपयोगी है। नाग-भस्म को घी के साथ लेने से वायु, शूल तथा मन्दाग्नि में लाभ होता है। अशुद्ध सीसक का उपयोग हानि करता है। कच्ची भस्म से गुल्म, कुष्ठ तथा रक्त-विकार मिटते हैं। बनावट—नाग-भस्म।

३७. शिलाजीत—शास्त्र में लिखा है कि स्वर्ण, चाँदी आदि धातुयें ग्रीष्म-ऋतु में तपकर अपना मद (रस) छोड़ती हैं, वही रस शिलाजीत के नाम से पहचाना जाता है। यह रस भिन्न-भिन्न धातु से निकलने के कारण भिन्न २ प्रभाव रखता है। इनमें लोहे से उत्पन्न शिलाजीत अधिक उत्कृष्ट माना जाता है। शिलाजीत के पत्थर बद्रीनाथ, काश्मीर से आते हैं। इनमें काश्मीर की शिलाजीत अधिक उत्तम है। शिलाजीत को गोमूत्र,त्रिफला-काढ़ा और दूध के अन्दर शोधन करते हैं। इनको घोलकर ऊपर से मलाई उतारते जाते हैं। जिस शिलाजीत में गोमूत्र की गन्ध आती है, और जो शिलाजीत पानी में डालने से धागे की भाँति रेशा छोड़ती है और आग पर रखने से लिंगाकार हो जाती है, उससे किसी प्रकार का धुवाँ नहीं आता, तो वह शिलाजीत सबसे अच्छी होती है। शास्त्र में लिखा गया है कि ऐसा कोई रोग नहीं है, जो शिलाजीत के खाने से अच्छा नहीं हो सकता। सुश्रुत में लिखा है कि तुला-परिमाण शिलाजीत खाने से असाध्य प्रमेह भी अच्छा हो जाता है, जिस प्रकार के रस-शास्त्र में अभ्रक के सत्त्व की प्रशंसा की गई है, उसी प्रकार काम-चिकित्सा में इस सत्त्व की प्रशंसा है। एक प्रकार से यह भी धातुओं का सत्त्व ही है।

गुण—मूत्रल, शोधक और पौष्टिक है। पेशाब के रोगों में शिलाजीत का उपयोग बहुत प्रसिद्ध है। अन्याय जन्य औपसर्गिक प्रमेह में, जब मूत्राशय के अन्दर मूत्र को रोकने की शक्ति नहीं रहती, उस समय शिलाजीत का उपयोग बहुत उत्तम है। प्रमेह, मूत्रजलन, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि में दिया जाता है। वीर्यस्राव तथा वीर्य-सम्बन्धी निर्बलता के लिये इसको दूध के साथ देते हैं। चन्द्रप्रभा नामकी गुटिका में शिलाजीत पड़ती है। बनावट—चन्द्रप्रभा।

३८. सोंचल—संयुक्तप्रान्त या अन्य प्रान्तों में इसको कालानमक कहते हैं। इसका स्वाद खारा तथा कड़वा होता है।

गुण— वातहर, सारक रुचिकर, उद्गार को साफ करता है। अपान वायु को साफ़ करता है। जठ-राग्नि को बढ़ाता है। गुल्म, अफारा, शूल, कृमि, आम आदि को दूर करता है। सोंचल नमक, साँभर और सर्जिक्षार के योग से बनता है।

३९. **समुद्रफेन**—समुद्रफेन के नाम से बाज़ार में एक सफेद, हल्की-सी, मछली के आकार की चीज़ मिलती है। यह क्या वस्तु है? इसका अभीतक पता नहीं चला। रासायनिक दृष्टि से यह कैलसियम का समास है। साधारणत: लोगों का विचार है कि समुद्र के पृष्ठ पर जाती हुई फेन ही इस रूप में बदल जाती है। समुद्रफेन को आग के ऊपर गरम करने से इसका बुरादा बन जाता है।

गुण—स्तम्भन, शीतल और लेखन है। यह आँखों के रोगन में लाभ करती है। आँख मे अंजन करने से परवल कटता है, फूली कटती है। आँखों का तेज़ बढ़ता है। कान के अन्दर बुरकने से कान की पीव सूख जाती है।

४०. **सर्जिक्षार**—साधारण भाषा में इसको सज्जी कहते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्षों को एक गड्ढे में रखकर जलाने से और फिर उस गढ़े में कुछ दिन पड़े रहने पर सर्जिक्षार बन जाता है। बाजार में सर्जिक्षार के नाम से काला ढेला मिलता है। सर्जिक्षार स्वाद में कषैला, खारा तथा कड़ुवा होता है। अन्य क्षारों की भाँति यह भी गुल्म, शूल, वात, उदर-विकार, कृमि, कफ आदि को नष्ट करता है। इसको धोकर इसमें से सफेद सोड़ा बनाते हैं। यदि आर्य-चिकित्सा का सर्जिक्षार शुद्ध बना हो, तो यह अनार्य-चिकित्सा के सोडे से पाचन-गुण अधिक रखता है। कई चिकित्सक सर्जिक्षार के स्थान में सोडा बरतते हैं, परन्तु वह इसका सच्चा प्रतिनिधि नहीं होता। क्योंकि 'सोडा' एक रासायनिक तत्व के संयोग से बना है।

४१. **साबर शृङ्ग**—हिरण का सींग भी चिकित्सा में बहुत काम की वस्तु है। जो शृङ्ग ठोस, वज़न से भारी और कृमियों से नहीं खाया हुआ है, वह सींग सबसे उत्तम है। पार्श्व-शूल के लिये और श्वास तथा खाँसी में बरता जाता है। दवाई के काम में इसको घिसकर या इसकी भस्म बनाकर बरती जाती है। खुली हवा में जलाने से इसकी सफेद भस्म बनती है। आक के दूध में भस्म करने से यह बल्गम या कफ को नष्ट करता है।

गुण—कफघ्न तथा पौष्टिक। साबरशृंग की भस्म शहद में चाटने से

कास, कफ, क्षय तथा हृदय के रोगों को लाभ होता है। बनावट—सावर-शृंगार-भस्म।

सुरमा—अनार्य-रसायन-शास्त्र में प्रसिद्ध एन्टमनी धातु का यह समास है। भूमि में से यह सुरमा काले रंग के पत्थर की भाँति कठोर निकलता है। काले सुरमे को सौवीराञ्जन कहते हैं और लाल सुरमे को स्रोताञ्जन कहते हैं। गुणों में काला सुरमा उत्कृष्ट है। सुरमे का उपयोग आँख के अंजन के लिये होता है। इसको शुद्ध करने के लिये इसे त्रिफला के काढ़े की सात भावनायें अथवा नीबू के अर्क में रगड़कर एक दिन पश्चात् काम में लाना चाहिये। आँखों के लिये यह ठण्डा है, इसलिये इसमें मोती आदि वस्तुयें मिलाकर सुरमे बनाते हैं। इसको मुक्तादि अंजन (मोतियों का सुरमा) कहते हैं। बनावट—सौवराञ्जन, नयनामृत।

४२. **सुराक्षार (शोरा)**—मूत्रल और स्वेदक है। इन्हीं दो कारणों से ज्वर में इसका उपयोग किया जाता है। मूत्रकृच्छ्र,अश्मरी, मूत्र की जलन आदि रोगों मे इसका उपयोग पृथक् रूप में या फिटकिरी के साथ पर्पटी बनाकर किया जाता है। निर्बल मनुष्यों को सुराक्षार नहीं देना चाहिये;क्योंकि यह हृदय को कमजोर करता है। सुराक्षार को पिघलाकर पर्पटी का रूप देकर, इसको यवक्षार के नाम से बाजार में बेचते हैं।

४३. **स्वर्णमाक्षिक** – यह गन्धक और लोहे का समास है। इसमें सोना एक रत्ती भी नहीं होता, किन्तु सोने का रंग अवश्य पाया जाता है। इसीसे इसको स्वर्णमाक्षिक नाम दिया गया है। इसी प्रकार चाँदी के समान होने से रौप्यमाक्षिक कहते हैं। ये दोनों वस्तुयें सोने और चाँदी के कानों के पास से निकलती हैं। इनके गुण भी सोना या चाँदी से सर्वथा भिन्न हैं।

गुण—शोधक तथा पौष्टिक, स्वर्णमाक्षिक की भस्म कषैली और कटु स्वादवाली होती है। यह छाती के रोगों में, गले के रोगों में, पाण्डु-रोग में, प्रमेह, विष, उदर-रोग, अर्श, शोथ, क्षय, कास आदि में लाभ करती है। इसकी भस्म के गुण लोह-भस्म से मिलते हैं। लोह-भस्म की अपेक्षा स्वर्ण-माक्षिक भस्म पचने में लघु और शीत-वीर्य है। गर्भपात, गर्भस्राव या असा-मयिक प्रसव में अथवा अन्य प्रकार के रक्तस्रावों में माक्षिक-भस्म अकेली या गर्भ-विनोदरस के रूप में दी जाती है। धातुक्षीणता, स्वप्न-दोष, प्रदर, जीर्ण-प्रमेह तथा क्षय की दूसरी, तीसरी स्थिति में स्वर्णमाक्षिक की भस्म का बहुत

अच्छा प्रभाव होता है। शहद में मिलाकर आँख में अंजन करने से आँख की फूली कट जाती है। बनावट—स्वर्ण-माक्षिक भस्म।

४४. **स्वर्णगैरिक**—फ़ारसी में इसे गीले सुर्ख़ कहते हैं। गेरू, सोनागेरू और हड़मची ये तीनों वस्तुयें प्रायः एक समान हैं। गेरू को सब पहचानते हैं, इससे कपड़े रँगे जाते हैं। सोनागेरू—अधिक लाल रंग का और वज़न में भारी पत्थर की भाँति होता है।

गुण—शीतल, रोपण तथा स्तम्भक। सोनागेरू स्वाद में कषैला तथा मधुर है। दाह, पित्त, रक्त-विकार, कफ, हिचकी, विष, उल्टी, ज्वर आदि में बरता जाता है। बर्र, ततैया आदि के काटने पर घिसकर लगाते हैं। व्रणों पर लगाया जाता है। स्वर्णगेरू में लोह का अंश होता है, इसलिये पाण्डु, कामला आदि रोगों में बरता जा सकता है। बनावट—स्वर्णगैरिक का लेप।

४५. **स्वर्ण**—खानों में सोना मैला, धूल या कणों के रूप में बाहर निकलता है। औषधियों के काम में इसकी भस्म या वरके काम आते हैं।

गुण—पौष्टिक, आयु-वर्द्धक, बल, बुद्धि, स्मृति बढ़ानेवाला है। क्षय, जीर्ण, कास आदि छाती के रोगों में स्वर्ण के वरक या स्वर्ण की भस्म का उपयोग खुली रीति से किया जाता है। क्षयरोगी के लिये यदि कोई सहारा हो, तो केवल, स्वर्ण-भस्म है। मस्तिष्क के तन्तुओं के ऊपर सोने का विशेष प्रभाव होता है। उन्माद, अपस्मार, त्रिदोष-जन्य मूर्च्छा आदि रोगों में स्वर्ण से बनी उत्कृष्ट औषधियाँ दी जाती हैं। बेशुद्धि के लिये हिरण्य गर्भ पोटली का व्यवहार किया जाता है, उसमें भी स्वर्ण का योग होता है। संग्रहणी में स्वर्ण का उपयोग स्वर्ण पर्पटी के रूप में किया जाता है। सारांश यह है कि किसी भी प्रकार की क्षीणता आने पर स्वर्ण का उपयोग किसी न किसी रूप में आर्य-चिकित्सा के अन्दर किया जाता है। विष-दोष, गर-दोष (संयोग-जन्य विष का नाम गर है) में स्वर्ण अमोघ माना जाता है। नपुंसकत्व, जीर्ण-प्रमेह तथा हस्त-दोष आदि कारणों से उत्पन्न कम क़ूवत में सोना अच्छा लाभ करता है। इसको चन्द्रोदय के रूप में बरतते हैं। बनावट—स्वर्णबसन्तमालती, स्वर्ण-भस्म।

४६. **संखिया**—संखिया बहुत ज़हरीली वस्तु है। इसमें किसी प्रकार का स्वाद नहीं होता, इसलिये दुष्ट लोग इसको खाने की वस्तुओं में

मिलाकर देते हैं। इसके जहर के और हैजे (कॉलरा) के लक्षण प्रायः आपस में बहुत कुछ मिलते हैं। वमन और विरेचन दोनों ही के अन्दर होता है। संखिया आर्य एवं अनार्य-चिकित्सा दोनों ही में अमृत के समान है। इसका उपयोग करने के लिये बहुत ही सावधानी करनी चाहिये।

गुण—शोधक, ज्वरनाशक तथा पौष्टिक। विषम ज्वर में एवं शीत या आंत्र-ज्वर में संखिया को आर्य-चिकित्सक ज्वरांकुश के रूप में बरतते हैं। ज्वर में संखिया तत्काल असर करती है। अनार्य-चिकित्सक आजकल संखिये के नये-नये आविष्कार कर रहे हैं। कई रोगों के लिये यह अमोघ ओषधि गिनी जाती है। संखिया का शोधन करना आवश्यक है। वात-रक्त और त्वचा के तीव्र रोगों में शोधक गुण के कारण सब व्यवहार में लाते हैं। शक्ति या पुष्टि के लिये संखिया या इसके बने हुये समास बरते जाते हैं। इसके खाने से गरमी बहुत होती है, इसलिये दूध, गेहूँ की रोटी खानी चाहिये। संखिया खानेवाले को नमक यथासम्भव कम खाना चाहिये। संखिया के साथ घी का उपयोग भी यथेच्छ करना चाहिये। मात्रा शुद्ध संखिया की १ रत्ती का सोलहवाँ भाग।

४७. **हरताल**—हरताल खनिज पदार्थ है। रासायनिक दृष्टि से यह संखिये का गन्धित है। इसमें संखिया दो भाग और गन्धक तीन भाग है। संखिया होने से हरताल में भी विषैला असर रहता है। बाजार में हरताल दो प्रकार की मिलती है। एक पत्र हरताल और दूसरी तबगी हरताल। पत्र हरताल में से अभ्रक की भाँति पत्ते उतरते हैं। इसका रंग सोने जैसा पीला होता है। दगड़ी अथवा पिण्ड हरताल निस्तेज और पीली होती है, यह रंग के काम में आती है।

गुण—शोधक तथा ज्वरघ्न। ज्वरघ्न रूप में हरताल संखिया की भाँति बरती जाती है। हरताल को बरतने में भी सावधानी रखनी चाहिये। पुरानी वात-व्याधियों में जैसे, पक्षाघात, गृध्रसी आदि रोगों में हरताल धीमे-धीमे प्रभाव करती है।

शरीर पर सिध्म कुष्ठ—त्वचा पर धब्बे पड़ जाने पर हरताल संखिया से अच्छा असर करती है। हरताल शीतज्वर में भी लाभ करती है। हरताल के सेवन में भी पथ्य पालना चाहिये। हरताल की मात्रा १ रत्ती है।

ऊपर लिखे दोनों भेदों के सिवा एक श्वेत हरताल मिलती है, जिसको गोदन्ती हरताल कहते हैं। इसको भस्म बनाकर ज्वर आदि रोगों में बरता जाता है। भस्म बनाने के लिये घीकार के रस में घोंटकर भस्म बनाते हैं। भस्म श्वेत बनती है।

४८. **हिंगुल** -- रासायनिक दृष्टि से यह पारा और गन्धक का समास है। यह खनिज रूप में भी मिलता है परन्तु बहुत कम। बाज़ार में जो बिकता है, वह सूरत आदि देशों में बना हुआ है, जो पारे और गन्धक के योग से बना होता है। इस बाज़ारू हिंगुल को काम में लाने से पूर्व नीबू के रस में, आर्द्रक के रस में सात दिन तक घोंटकर बरतना चाहिये।

गुण—पौष्टिक, शोधक, रसायन और योगवाही है। जिन स्थानों में कज्जली, रससिन्दूर आदि का उपयोग होता है, उन सब स्थानों पर इसका उपयोग होता है। प्याज या लहसुन के रस की एक-एक बूँद गिराकर बनाई हुई हिंगुल भस्म नपुंसकता, लिंग-शिथिलता के लिये विशेषत: व्यवहार में लाई जाती है। इसके प्रलेप बनाये जाते हैं। एक भाग हिंगुल ४ भाग, कत्था. इन दोनों का चूर्ण बनाकर व्रण पर बुरकी देने से व्रण भरता है। मात्रा शुद्ध हिंगुल १ रत्ती, बनावट—हिंगुलेश्वर रस।

४९. **हीराकसीस**—यह लोहे का गन्धित है। इसका रंग नीला होता है। खुला वायु में पड़ा रहने से सफेद चूर्ण बन जाता है। स्वाद से कषैला, खट्टा होता है।

गुण—स्तम्भक, रक्तवर्द्धक और रज:प्रवर्त्तक। इसमें लोहे के सब गुण हैं। आर्य-चिकित्सा में इसका अन्त:-उपयोग कम होता है। क्षार गुण के कारण इसका बाह्य-उपयोग अर्श आदि रोगों में होता है। अनार्य-चिकित्सा में इसका उपयोग प्लीहा, वृद्धि, रक्त-शून्यता, पाण्डु आदि रोगों में होता है। गुद-भ्रन्श में इसको पानी में घोलकर लगाने से गुद-भ्रन्श ठीक हो जाता है। मात्रा १ से ३ रत्ती। बनावट—कसीसादि तैल।

परिभाषा-प्रकरण

यहाँ पर कुछ आवश्यक पारिभाषिक शब्दों का विवेचन किया गया है, जिनका आगे विशेषतः उपयोग होगा। जैसे—कोई औषधि 'दीपन' है, इसका अर्थ है कि वह अग्निवर्द्धक है। इसी प्रकार अन्य 'पारिभाषिक शब्दों का' विवेचन यहाँ पर कर दिया है।

गुणों के अनुसार औषधियों का वर्गीकरण

१. **अम्ल दवाइयाँ**—इस शीर्षक में खट्टी दवाइयों का समावेश होता है। प्रायः करके खट्टी दवाइयाँ शीतल और कुछ दीपन होती हैं। इस वर्ग की ओषधियाँ पित्त को शान्त करती हैं, परन्तु कफ को बढ़ाती हैं।

दीपन, पाचन, अम्ल—इमली, चने का खार, नारंगी, बिजौरा नींबू।

दूसरी अम्ल दवाइयाँ—आँवला, आम, जामुन, अनार, द्राक्षा।

सामान्य उपयोग—इस वर्ग की दवाइयों के खाने से, चूसने से या शर्बत करके पीने से पित्त की उल्टी, दाह, दाँतों से बहता हुआ रक्तस्राव बन्द होता है। दीपन-पाचन दवाइयाँ जठराग्नि को बढ़ाती हैं, इसलिये दाल, शाक आदि मसाले के रूप में इनका प्रयोग होता है। परन्तु ये औषधियाँ कफकारक हैं, इसलिये रोगी की प्रकृति, शरीर की स्थिति तथा स्वभाव को देखकर इनका उपयोग करना चाहिये।

अम्ल-विरुद्ध औषधियाँ—इस वर्ग की औषधियों में मुख्य समावेश क्षारों (खारों) का होता है। जैसे—सर्जक्षार, यवक्षार, सैंधव, सोंचल, साँभर, अपामार्ग क्षार आदि शङ्ख-भस्म भी अम्लता को दूर करनेवाली है।

सामान्य उपाय—आमाशय में अम्लता की अधिकता हो, जिह्वा या दाँतों पर खटास रहती हो, खट्टे डकार आते हों, दाँत जकड़ जायँ, तब इन सब अवस्थाओं में पाचन-क्रिया के पूर्ण होने पर (अर्थात् भोजन खाने के ४ घंटे पीछे) क्षारों का उपयोग करना उत्तम है। और यदि भूख न लगती हो, तो भोजन से २० या १५ मिनट पूर्व अम्ल-वर्ग की दीपन-पाचन औषधियों को

देना चाहिये। खाने के तुरंत पीछे क्षार-पदार्थों का उपयोग नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे अम्लरस नष्ट हो जायगा, जिससे भोजन का पाचन नहीं होगा। इसलिये साधारण नियम है कि भोजन खाने के आध घन्टे या दो घन्टे पीछे फलों के खाने का रिवाज है। इनके खाने से पाचन-क्रिया में से बचा हुआ अम्लरस नष्ट हो जाता है और खट्टे डकार या परिणाम-शूल आदि लक्षण शान्त हो जाते हैं। क्षारों का अधिक उपयोग शरीर के तन्तुओं को गला देता है। शरीर निर्बल, पिलपिला हो जाता है, रक्त और शुक्र में विकार आजाता है, मस्तिष्क के तन्तु कमज़ोर हो जाते हैं, पुन्सत्व घट जाता है, इसलिये इनके अधिक उपयोग से बचना चाहिये।

२. शीतल दवाइयाँ— जिन दवाइयों के खाने से या शरीर पर लगाने से शरीर पर शीतल प्रभाव होता है, उन सबका समावेश इस शीर्षक में आता है। इनके स्वभाव तथा गुणों की भिन्नता के कारण इनके नीचे लिखे भेद किये जा सकते हैं। जैसे—

(क) शीतल पौष्टिक—आँवला, गोखरू, मुलहठी, रत्ती, वंशलोचन, शतावरी।

(ख) शीतल रोपण—कत्था, खदिरसार, सोनागेरू, मेंहदी, हीरादखण।

(ग) शीतल पित्तशामक—आँवला, कुटज-छाल, गोजिह्वा, गिलोय, गोखरू, चन्दन, चौलाई, त्रिफला, दारुहल्दी, धमासा, पित्तपापड़ा, धनिया, नारंगी, मजीठ, नीबू, अनार, फालसा, आलूबुखारा।

(घ) शीतल मूत्रल—जौखार, कबाबचीनी, शीतलचीनी, चंदन, गोजिह्वा, नारियल का पानी।

(ङ) शीतल-स्तम्भन—ईसबगोल, कुटज-छाल, कत्था, केसर, जामुन, मोचरस।

(च) शीतल सारक—आँवला, गुलाब के फूल, हरड़ अमलतास।

(छ) शीतल दाहशामक—इलायची, केसर, चन्दन, त्रिफला, बहेड़ा।

सामान्य उपयोग—शरीर के अन्दर जब साधारण गरमी बनी हो, उस समय शीतल दवाइयों का उपयोग करना उत्तम है। शरीर की दाह, आँख की जलन, मस्तिष्क की गरमी और निर्बलता में शीतल पौष्टिक

दवाइयों का उपयोग उत्तम है। त्वचा के रोगों में शीतल-सारक और शीतल-दाहशामक वस्तुयें अच्छी हैं। गरमी के व्रणों में शीतल रोपण दवाइयाँ रोहण करती हैं। शरीरस्थ दाह को शान्त करने के लिये, मूत्र की जलन को कम करने के लिये शीतल पित्तशामक या शीतल मूत्रल औषधियाँ अच्छी हैं। शरीर के पृष्ठ की जलन को शान्त करने के लिये शीतल पानी का परिषेक सबसे उत्तम है।

३. दाहशामक दवाइयाँ—इस वर्ग की शीतल दवाइयों के खाने से शरीर के अन्दर की गरमी और बाहर लगाने से त्वचा का दाह शान्त होता है। इलायची, चन्दन (श्वेत चन्दन बाहर लगाने के लिये और लाल चन्दन अन्तः-उपयोग के लिये), शिरीष, सारिवा, गिलोय, केसर, त्रिफला, बहेड़ा, आँवला, धनिया, मजीठ, नेत्रवाला, कमल, चौलाई, दारुहल्दी, घी, मक्खन आदि हैं।

सामान्य उपयोग—इन दवाइयों का उपयोग दाह-शमन के लिये हिम, शरबत, लेप, पिचु, घी, परिषेक, प्रक्षालन आदि रूपों में किया जाता है। पेशाब की जलन, प्रमेह का दाह, तथा आमाशय में दाह होता हो या उल्टी हो रही हो, तो इस वर्ग की औषधियों का हिम, पावक या शरबत बनाकर दिया जाता है। विसर्प, गरमी का व्रण, आँख के दाह में इस वर्ग की औषधियों का पानी धोने के काम में आता है और घी लगाने के काम आता है।

४. पित्तशामक औषधियाँ—जो औषधि शरीर में बढ़े हुये पित्त का शान्त करे अथवा मल के मार्ग से पित्त को बाहर कर दे, उन सब औषधियों का समावेश इस शीर्षक में होता है। प्रायः सब दाह-शामक औषधियाँ पित्तशामक होती हैं। इस वर्ग की औषधियों का भी निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है।

(क) खास पित्तशामक—पेठा कद्दू, गोजिह्वा, गिलोय, चन्दन, धनिया, नारंगी भाँगरा, बहेड़ा, मजीठ, नीबू, घी नेत्रवाला, मक्खन आदि।

(ख) सारक पित्तशामक—नौसादर, इमली, आँवला, इन्द्रायन, काँवार, चौलाई, त्रिफला, किशमिश आदि।

(ग) स्तम्भक पित्तशामक—बिल्व, दारुहल्दी, अनार, कुड़ा छाल आम

सामान्य उपयोग—पित्त की विकृति में तथा पित्त, प्रकृतिवालों की

इस वर्ग की औषधियाँ बहुत माफिक आती हैं। ज्वर की तृषा, वमन, दाह, लू लगने पर, रक्त-विकार में भी ये दवाइयाँ गुणकारी हैं। विकृत या बढ़े हुये पित्त को निकालने के लिये सारक पित्तशामक औषधियाँ उत्तम हैं। जिस समय क्लोम में पित्त रुक जाता है, अर्थात आँतों में नहीं बहता, उस समय यह पित्त आँख आदि स्थानों में पहुँचकर पीलापन उत्पन्न करता है, उसको कामला कहते हैं। इस अवस्था में पित्त-सारक औषधियों को देना उत्तम है। इनके देने से रुका हुआ पित्त बहने लगता है।

५. **उष्ण दवाइयाँ**—शरीर के अन्दर जागृति, चेतन तथा गरमी देनेवाली औषधियों को गरम दवाइयाँ कहते हैं। इन दवाइयों के दो मुख्य विभाग हैं।

(क) सम्पूर्ण शरीर में उष्णता पैदा करनेवाली, जैसे—अजवायन, सोंठ, लौंग, अम्बर, कस्तूरी, प्याज, पीपल, भिलावा, आक, जहर-कुचला आदि।

(ख) शरीर के अमुक भाग को उष्णिमा पहुँचानेवाली दवाइयाँ—हींग, लहसुन, मालकंगनी, अकरकरा, समुद्रफेन, हीराबोल, जावित्री, जायफल, जौखार, पुष्करमूल, कूठ।

सामान्य उपयोग—इन उष्ण दवाइयों के उपयोग से मस्तिष्क के अन्दर उष्णिमा पहुँचती है, मस्ष्कि-तन्तु क्रिया-शील बनते हैं। उनके क्रिया-शील बनने से रक्त-संचार बढ़ जाता है, रक्त-संचार में तेज़ी आने से शरीर के अन्दर उष्णिमा भी बढ़ जाती है, अचेतनता दूर हो जाती है। शक्ति क्षीण होगई हो, मर्म-स्थान मन्द पड़े हों, शरीर एकदम अशक्त बन गया हो, शरीर ठण्ठा पड़ा हो, तो इस वर्ग की औषधियों के सेवन से शरीर में शक्ति आजाती है, सरदी हट जाती है।

६. **दीपन-पाचन औषधियाँ**—जिन दवाइयों से शरीरस्थ आम-रस का पाचन हो, जठराग्नि प्रदीप्त हो, उनका नाम 'दीपन' है, और जिन औषधियों के द्वारा अनपच भोजन का पाचन हो, उनको पाचन औषधियाँ कहते हैं। कुछ औषधियाँ दीपन गुणवाली हैं, कुछ पाचन गुणवाली हैं और कुछ दीपन एवं पाचन दोनों गुणोंवाली हैं।

(क) दीपन औषधियाँ—सौंफ, बिजौरा, नारंगी, पिप्पलीमूल, धनिया, दालचीनी, जावित्री, जौखार, अजवायन, नमक, जीरा, सुवा आदि।

(ख) पाचन औषधियाँ— भिलावा, कूठ, जहरकुचला आदि कड़ुवे पदार्थ ।

(ग) दीपन-पाचन औषधियाँ—सोंठ, आर्द्रक, पिप्पली, जावित्री, चित्रकमूल, इन्द्रजौ आदि ।

सामान्य उपयोग—अजीर्ण-रोग में पाचन और दीपन औषधियों का उपयोग होता है । "भुक्ता-जीर्ण" रोग में 'रस-शेष' रोग में पाचन औषधियों का और अरुचि तथा भुख न लगने पर दीपन औषधियों का उपयोग करना चाहिये । दीपन दवाइयों से उदर-शूल, वायु, अफारा आदि उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं ।

७. वातहर औषधियाँ— वायु को नष्ट करनेवाली औषधियों को वातहर, वातघ्न या वायुशामक अथवा वातनाशक नाम से कहते हैं । इस वर्ग का विभाग निम्न प्रकार से किया जाता है—

(क) उदरस्थ वायु पर प्रभाव करनेवाली औषधियाँ—हींग, लहसुन, क्षार, लवण, सोंठ, चित्रकमुल आदि ।

(ख) शूल तथा अंग की पीड़ा को दूर करनेवाली—अलसी, राई, आक, एरण्ड, कपूर, कायफल, रत्ती, प्याज, वत्सनाभ, अफीम, चित्रक-मूल, अजमोदा आदि ।

(ग) मस्तिष्क-सम्बन्धी वात-व्याधियों पर प्रभाव करनेवाली—गुग्गुल, भिलावा, एरण्ड, दशमूल, वच, स्वर्ण, कौंच, ब्राह्मी, जटामांसी, हींग, शंखावली आदि ।

८. कफघ्न औषधियाँ— कफ की चिकनाहट को कम करनेवाली अथवा कफ को टुकड़े-टुकड़े करके बाहर निकालनेवाली औषधियों को 'कफघ्न' औषधियाँ कहते हैं, जैसे अपामार्ग, अरणी, पुष्करमूल, कूठ, कायफल, पिप्पली, आक, जौखार, देवदारु, कटेरी, पान, बच, नौसादर, क्षार आदि । इस वर्ग की प्राय: सब औषधियाँ उष्णवीर्य अर्थात् गरम स्वभाव की होती हैं । इनमें से कुछ थोड़ी औषधियाँ, जैसे मुलहट्टी, 'होराबोल' आदि शीत-वीर्य हैं ।

सामान्य उपयोग—छाती में से कफ निकालने के लिये इन औषधियों का उपयोग विशेषरूप से किया जाता है, जैसे श्वास-रोग । में यहाँ पर यह

बात स्मरण रखनी चाहिये कि अफीम, धतूरा आदि औषधियाँ कफ निकालने के पीछे देनी चाहियें।

९. **कफनाशक दवाइयाँ**—जिस समय छाती में थोड़ा कफ रुका होता है, उस समय कफशामक अर्थात् बढ़े हुये कफ को शान्त करनेवाली औषधियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार की औषधियाँ कास और दमे को भी शान्त कर देती हैं। कत्था, बाँस, कपूर, अफीम, लोहबान, तम्बाकू, मैनसिल, धतूरा, संखिये के समीर आदि इस वर्ग के कुछ उदाहरण हैं।

१०. **ग्राही दवाइयाँ**—जो औषधियाँ शरीर के प्रवाही पदार्थों को शोषण करके सख्त बना देती हैं, उनको चिकित्सा-शास्त्र में ग्राही या संग्राही औषधियाँ कहते हैं। उदाहरण के लिये जो औषधियाँ पानी की भाँति पतले मल (अतिसार) को रोककर उसे कड़ा (ठोस) बनाती हैं, वे संग्राही औषधियाँ हैं। इस वर्ग के अन्दर की मुख्य औषधियों में वासा, आम की गुठली, इन्द्रजौ, जामुन की गुठली, ईषवगोल, कुटजछाल, कत्था, जवास, अनार, कैथा, जायफल, धातकी फूल, लोध, बेल, नागकेशर, माजूफल, मोचरस, लोध्र, हीराबोल आदि एवं कषाय-युक्त पदार्थ मुख्य हैं।

११. **स्तम्भन औषधियाँ**—जिन औषधियों के प्रभाव से शरीर के स्राव (स्वाभाविक या अस्वाभाविक दोनों ही) कम होते हैं। उनको स्तम्भन कहते हैं। प्रायः सब स्तम्भन औषधियों में ग्राही गुण थोड़ा बहुत होता है। परन्तु विशेष स्तम्भक गुणवाली औषधियाँ अफीम, मोचरस, नीलातुत्थ, जायफल, लोहभस्म, कसीस, बबूल की छाल आदि हैं।

१२. **रक्त-स्तम्भक औषधियाँ**—जो औषधियाँ रक्त के प्रवाह अथवा स्राव को रोकती हैं, उनको 'रक्त-स्तम्भक' कहते हैं। रक्त-स्तम्भक औषधियाँ दो प्रकार की हैं (१) स्थानिक और (२) व्यापक। स्थानिक औषधियाँ वे हैं, जो स्थान पर लगाने से प्रभाव करती हैं। जैसे यदि किसी कारण से रक्त निकल रहा हो, तो दूर्वा का रस शहद के साथ लगाने से, या शीत जल का भिगोया हुआ वस्त्र अथवा अच्छा गरम पानी रक्त को एकदम रोक देता है। दूसरे प्रकार की व्यापक औषधियाँ वे हैं, जिनके शरीर में अन्तः-उपयोग करने पर रक्त-स्राव बन्द हो जाता है। जैसे बवासीर में बहता हुआ रक्त अथवा स्त्रियों के प्रदर में बहता हुआ रक्त अथवा नकसीर

(नाक से बहता हुआ रक्त) में लोहे के समासों के उपयोग से, बासा से, अशोक की छाल से, चूने के क्षार से, प्रवाल, मुक्त, सीप आदि के उपयोग से बन्द हो जाता है। इन व्यापक दवाइयों में वाहिनियों को संकोच करने का गुण होता है। उसके कारण ये औषधियाँ रक्त-स्राव करनेवाली वाहिनियों का संकोच कर देती हैं।

स्तम्भक और ग्राही दोनों दो प्रकार की औषधियाँ प्राय: एक ही श्रेणी में आती हैं। परन्तु इन दोनों में कुछ थोड़ा-सा भेद है। उसी भेद के कारण इनका विभाग किया हुआ है। संग्राही दवाइयाँ रक्त को गाढ़ा कर सकती हैं; परन्तु इनका प्रभाव वाहिनियों पर विशेष नहीं होता। इसी प्रकार स्तम्भक औषधियाँ मल को गाढ़ा बना सकती हैं; परन्तु इसके साथ ही इनके द्वारा पेट की वायु का नाश नहीं होता।

१३. **शोधक औषधियाँ**—जिन औषधियों के द्वारा शरीर का शोधन होता है, उनको शोधक औषधियाँ कहते हैं। शोधक औषधियाँ शरीर के दोषों का, वात, पित्त, कफ आदि का शोधन करती हैं और शामक औषधियाँ इन दोषों को शान्त करती हैं। शोधक औषधियों के कई विभाग किये जा सकते हैं, जैसे—

(क) जीर्ण-पित्त को शामक करनेवाली पौष्टिक शोधक—आँवला, गिलोय, गुग्गुल आदि।

(ख) रक्त को पुष्टि देनेवाली—पौष्टिक शोधक—लोह, शिलाजीत माक्षिक आदि.

(ग) उष्णवीर्य—पौष्टिक शोधक—संखिया, हरताल, हिंगुल, पारा, सोना आदि।

(घ) सारक शोधक—गन्धक, माजूफल, हरड़, पारा, आँवला, असगन्ध एरण्डमूल, अकोल, कुँवार, त्रिफला, पुनर्नवा, गुग्गुल।

(च) खास रक्त-शोधक—अनन्तमूल, रक्त-रोहितक, मजीठ, चोप-चीनी आदि।

(छ) खास उपदंश-शोधक—रसकपूर, पारा।

(ज) खास पित्त-शोधक—नौसादर, कड़ू।

१४. **स्वेदल औषधियाँ**—पसीना लानेवाली औषधियों को स्वेदल

औषधियाँ कहते हैं। क्षार, करञ्ज, अनन्तमूल, अङ्कोल, मोथा, मालकंगनी, चाय, तुलसी, गरम पानी ये सब औषधियाँ पसीना लानेवाली हैं।

सामान्य-उपयोग—स्वेदल औषधियों का उपयोग प्रायः शरीर की गरमी को कम करने के लिये किया जाता है। जैसे ज्वर में, मर्म स्थानों को अन्तः-शोथ में, संधिवात में, जलोदर में, त्वचा के रूक्ष रहने में, इन औषधियों के उपयोग में शरीर को शान्ति मिलती है।

१५. **शोथघ्न औषधियाँ**—खाने से अथवा बाहर लगाने से जिस दवाई के कारण शरीर की शोथ मिटती है, उसको 'शोथघ्न औषधियाँ' कहते हैं। अरसी, आँवला, किनीन, पाटला, कीड़ामारी, दशमूल, पुनर्नवा, शिरीष आदि।

सामान्य उपयोग—शोथ दो प्रकार से कम होती है—एक तो शरीर के अन्दर से दोषों को निकालने पर जैसे रेचक या मूत्रल औषधियों के खाने से। दूसरा वात-शोथ पर वातहर, पित्तशोथ पर पित्तहर औषधियों के लेप से शोथ कम हो जाती है। निर्बलता जन्य-शोथ हृदय-रक्त पाँव गालों पर असर करता है, यह शोथ औषधियों के अन्तः उपयोग से शान्त होता है।

१६. **मूत्रल औषधियाँ**—जो पदार्थ मूत्रपिण्ड के ऊपर प्रभाव करके मूत्र को अधिक मात्रा में प्रवाहण कराता है, उसको 'मूत्रल' कहते हैं। मूत्रल औषधियों के दो विभाग किये हुये हैं, एक मूत्रल और दूसरा मूत्रल और पौष्टिक।

(क) मूत्रल औषधियाँ—सब प्रकार के क्षार, अपामार्ग, कमलगट्टा, गरणी, पुनर्नवा, देवदारु, मोथा, नारियल, शीतलचीनी, तृणपंचमूत्र, पाषाण-भेद, दूध और पानी, चावल, उंटनी का दूध आदि।

(ख) पौष्टिक मूत्रल औषधियाँ—शिलाजीत, अपामार्ग, गोखरू, विदारीकन्द, शतावरी आदि।

सामान्य उपयोग—मूत्रल औषधियों के उप- योग से मूत्र विशेष रूप में आता है, इसलिये रोग के तीक्ष्ण रूप में अधिक उपयोगी हैं। पौष्टिक मूत्रल औषधियाँ जीर्ण व्याधि के ऊपर अधिक लाभ पहुँचाती हैं, वीर्य के दोषों को सुधारती हैं, शरीर में शक्ति पहुंचाती हैं। मूत्र के दाह एवं ज्वर में मूत्रल औषधियों का उपयोग विशेषतः किया जाता है।

कामला-रोग में जिस प्रकार क्षारक औषधियों की जरूरत है, उसी प्रकार मूत्रल दवाइयों की भी आवश्यकता रहती है। इन दोनों प्रकार की औषधियों के एक साथ उपयोग करने से रक्त में बढ़ा हुआ पित्त शीघ्रता से शान्त हो जाता है। मूत्रल दवाइयों के उपयोग से जलोदर, शोथ आदि विकार शान्त हो जाते हैं।

१७. **रेचक औषधियाँ**—जो औषधियाँ मल को विशेष रूप में अधिक बार प्रवाहण करती है, उनको रेचक औषधियाँ कहते हैं। इस प्रकार की औषधियों के बहुत प्रकार हैं। कुछ औषधियाँ मल को पचाकर उसे बँधे हुये रूप में बाहर करती हैं, जैसे हरड़, छोटी हरड़, त्रिफला। कई दवाइयाँ कच्चे-पक्के मल को नीचे खींचकर दस्त कराती हैं। जैसे—अमलतास। कई औषधियाँ बँधे एवं सूखे हुये मल को बाहर करती हैं। जैसे—कटु, दन्ती। कई औषधियाँ अधपके हुये या कच्चे सब प्रकार के मल को पानी के रूप में बाहर निकाल देती हैं, जैसे—निशोथ, इन्द्रायण, एरण्ड आदि। साधारणतः अन्तिम प्रकार की औषधियों को रेचक कहते हैं। रेचक औषधियाँ दो प्रकार की हैं; १—जिनके सेवन के पीछे मलबन्ध की शिकायत हो जाती है। इस प्रकार की औषधियाँ प्रायः तीक्ष्ण रेचक होती हैं। २—दूसरे प्रकार की औषधियाँ वे हैं, जिनके सेवन से पीछे मलबन्ध की शिकायत नहीं होती। जैसे—निशोथ और सनाय। साधारणतः विरेचक द्रव्यों में सबसे उत्तम और बिना किसी प्रकार के भय के बरतने योग्य विरेचन हरड़ है। हरड़ से उतरकर दूसरा नम्बर एरण्डतैल का है। गरम औषधियाँ जैसे—जायफल, इन्द्रायण आदि औषधियों को बहुत सँभलकर बरतना चाहिये।

१८. **वामक औषधियाँ**—आमाशय में स्थित पदार्थ को ऊर्ध्व मार्ग से बाहर करनेवाली औषधि को वामक औषधि कहते हैं। जैसे—मैनफल, नमक, राई, आक, अरीठे का पानी, नीला तुत्थ।

ये सब औषधियाँ वामक हैं।

सामान्य उपयोग—खाये हुये विष को, कफ को, अजीर्ण-रोग में मात्रा से अधिक खाये हुये एवं अनपच भोजन को बाहर करने के लिये वमन का उपयोग होता है। इनमें कुछ दवाइयाँ आमाशय में पहुँचते ही वमन करा देती हैं और कुछ शरीरस्थ रक्त में मिलने के पीछे प्रभाव करके वमन कराती हैं।

१९. कृमिघ्न औषधियाँ—इन दवाइयों के सेवन से या बाहर लगाने से शरीर के अन्दर के या बाहर के कृमि नष्ट होते हैं। कुछ औषधियाँ इस प्रकार की हैं, जिनके सेवन करने से आँत्रों के कृमि मर जाते हैं। कुछ इस प्रकार की हैं, जिनके बाहर लगाने से व्रण के, त्वचा के, बालों के कृमि मर जाते हैं और कुछ इस प्रकार की हैं, जिनके सेवन करने से शरीर में कृमि उत्पन्न हो नहीं होते। इन सबका विभाग इस प्रकार से है—

(क) पेट के कृमियों को मारनेवाली—कौंच, देवदाली, अजवाइन, ढाक, अनार के मूल की छाल, वायविडङ्ग, कालीजीरी, आखुपर्णी, ढाकपापड़ा।

(ख) कृमिघ्न और रेचक औषधियाँ—इन्द्रवारुण, कम्पिल्ल, रेवत-चीनी।

(ग) कृमियों को रोकनेवाली औषधियाँ—इन्द्रजौ, चिरायता, नीम, हींग, बच, डेकामाली, अतीस और कड़ुवे पदार्थ।

(घ) व्रण में पड़े हुये कृमियों को मारनेवाली औषधियाँ—कपूर, गन्धक, नीम, पारा, हींग, पान।

सामान्य उपयोग—कृमिनाशक दवाइयों का अन्तः-उपयोग करने के साथ विरेचन का भी उपयोग करना चाहिये। कृमिघ्न दवाई लेकर अगले दिन अवश्य विरेचन औषधि लेनी चाहिये। कृमियों के अनेक भेद हैं। बालकों के अन्दर धागे की भाँति श्वेत। पतले कृमि होते हैं, बालकों में गोल कृमि होते हैं, इनके लिये अनार्य-चिकित्सा की 'सैन्टोनीन' दवाई अधिक उत्तम है। आर्य-चिकित्सा में इसके समान गुणवाली औषधि ढाकपापड़ा और कौंच का काँटा है।

२०. ऋतु लानेवाली औषधियाँ—कुछ औषधियाँ स्त्रियों के रुके हुये ऋतु को प्रवृत्त करती हैं। इनका असर गर्भाशय पर होता है। जैसे—सुहागा, नवसार, एलुवा, हीराबोल, आँवला, लोह, कुँवार, कपास का मूल।

२१. छींक लानेवाली औषधियाँ—नकछींकनी, तमाखू, नौसादर, तथा कलीचुना को मिलाकर सूँघना आदि। ये औषधियाँ नाक के अन्दर की श्लेष्म झिल्ली पर जाकर इनमें से रस का स्रावण करती हैं। इस रस के स्रवण से शिर का दर्द कम पड़ जाता है।

२२. **स्नायु शैथिल्य-कृत दवाइयाँ**—जो दवाइयाँ शरीर के अन्दर की खिँची हुई नसों को और संकुचित अवयवों को ढीला करती हैं, उन औषधियों का इस वर्ग में समावेश होता है, जैसे अफीम, ख़ुरासानी, अजवायन, भाँग, ताम्र-भस्म, तमाखू, धतूरा, हींग कस्तूरी, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, वालचीनी, इलायची आदि वातहर औषधियाँ उन्माद, अपस्मार, हिस्टीरिया, आंचकी, धनुर्वात, दमा तथा मस्तिष्क के रोगों में बरती जाती हैं।

२३. **निद्रा लानेवाली दवाइयाँ**—अफीम, भाँग आदि दवाइयाँ रोगी की पीड़ा को शान्त करने के साथ-साथ नींद भी लाती हैं। इन औषधियों के सेवन करने से मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तु शान्त हो जाते हैं। उनकी संज्ञा थोड़े समय के लिये नष्ट हो जाती है। भाँग के देने से शान्ति की नींद नहीं आती, परन्तु रोगी भ्रम में पड़ जाता है। इन औषधियों का प्रभाव जबतक रोगी के मस्तिष्क पर बना रहता है, वह नींद या भ्रम में पड़ा रहता है।

इनके अतिरिक्त 'छोटा चान्दा' आदि; इस प्रकार की औषधियाँ भी है, जो अनिद्रा-रोग में विशेष बरती जाती हैं।

२४. **कटु पौष्टिक औषधियाँ**—कड़वी और पौष्टिक होने के कारण इनको कटु पौष्टिक कहते हैं। इस वर्ग की औषधियाँ अतीस, वासा, चिरायता, कौंच, पाटला आदि हैं।

सामान्य उपयोग—शरीर के अन्दर थोड़ा-थोड़ा ज्वर रहता हो, पुराना ज्वर हो, निर्बलता हो, तो इस वर्ग की दवाइयाँ लाभ करती हैं। साधारण ज्वर को निर्बलता को दूर करके शरीर को शक्ति देती हैं, जठराग्नि को प्रदीप्त करती हैं।

२५. **पौष्टिक औषधियाँ**—जो औषधियाँ शरीर के अन्दर के धातुओं का पोषण करके शरीर को पुष्ट तथा शक्तिशाली बनाती हैं, उनका इन शीर्षक में समावेश किया जाता है। इस शीर्षक के विभाग निम्न प्रकार से किये गये हैं—

(क) मस्तिष्क को पुष्ट करनेवाली—ब्राह्मी, शङ्खावली, पेठा, शतावरी, विदारी, वंशलोचन, दूध, बादाम, बलदाना, असगन्ध, सोना, मोती, अभ्रक-भस्म।

(ख) रक्त को पुष्ट करनेवाली—आँवला, लोह, गिलोय, हीराकसीस, स्वर्णमाक्षिक-भस्म, मोती, सीप, प्रवाल।

(ग) जठराग्नि को पुष्टि देनेवाली औषधियाँ—कटु-पौष्टिक औषधियाँ, जैसे चिरायता, नीम, कुचला, अतीस, गिलोय आदि।

२६. रसायन औषधियाँ—जिन औषधियों के सेवन से रोगों से बचने की प्रतिशक्ति और बुढ़ापे को दूर रखने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, उन सबका समावेश इस शीर्षक के नीचे किया जाता है। जैसे--मोटी हरड़, आँवला, गुग्गुल, गिलोय, त्रिफला, चित्रकमूल, नीम, शिलाजीत आदि।

सामान्य उपयोग—इन औषधियों के उचित उपयोग से शरीर नीरोगी बनता है, आयुष्य बढ़ती है, बल, मेधा, कान्ति प्रदीप्त होती हैं। आर्य-चिकित्सा में अभयाम्लिक अवलेह, च्यवन-प्राश, योगराज गुग्गुल, चन्द्रप्रभा, आरोग्य-वर्धनी, ज्वरहर रसायन, बाल-गुटिका, पारद-भस्म आदि औषधियाँ इस वर्ग की दवाइयाँ हैं। इन औषधियों का उपयोग कोई भी व्यक्ति सुगमता से कर सकता है।

२७. धातु-वर्द्धक औषधियाँ—जो औषधियाँ वीर्य की वृद्धि करती हैं, वीर्य को गाढ़ा बनाती हैं, उनको धातु-वर्द्धक या वीर्य-वर्द्धक औषधियाँ कहते हैं। शतावरी, असगन्ध, बलदाना, गोखरू, गिलोय, उर्द की दाल के लड्डू, कौंच, दूध, शर्करा, घी, शहद आदि इस वर्ग के उदाहरण हैं।

सामान्य उपयोग—इन औषधियों को दूध तथा शर्करा के साथ उबालकर अथवा इसका पाक करके पीने से लाभ होता है। ये वस्तुयें गरम होती हैं, इसलिये इनका उपयोग शीत ऋतु में करना चाहिये।

२८. वाजीकरण औषधियाँ—वाजी शब्द का अर्थ घोड़ा है। इन औषधियों के सेवन से निर्बल मनुष्य भी स्त्री-सहयोग में घोड़े की भाँति शक्तिशाली बन जाता है, इसलिये इनको वाजीकरण कहते हैं। इस वर्ग में कौंच, असगन्ध, सालमपाक, माषादि मोदक, सोना या पारे के समास हैं।

सामान्य उपयोग—काम-शक्ति की वृद्धि की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को ये औषधियाँ पाक के रूप में खाना चाहिये। कई आदमी अफीम आदि का उपयोग करते हैं। ये वस्तुयें शरीर को विशेषतः हानि पहुँचाती हैं।

सिद्धान्त-वर्ग

लड्डू— नारियों के ओठ के समान मीठे, उठे हुये स्तनों के समान गोल, मित्रों के चरित्र के समान स्नेह से भरे हुये लड्डू आँखों के अच्छे लगते हैं।

कलाकंद—दूध को उबालकर खोवा बनाना चाहिये। फिर निर्मल खाँड़ की चासनी में मिलाकर जब वह जमने योग्य हो जाय, तो परात में गेरकर जमा लेना चाहिये। इसका नाम है 'कलाकन्द'।

दुग्धपाक—जिसके आगे सब प्रकार के भोजन मिट्टी के समान हैं, जो भाग्य बिना नहीं मिलता और जो चाँदनी के साथ भी सफेदी से तुलना करता है, उस दुग्धपाक को खाना चाहिये।

जलेबी—जलेबियाँ बढ़े हुये पित्त को, वायु को नष्ट करती हैं, दिल को प्रसन्न करती हैं। ये रस में मधुर होती हैं, अरुचि को नष्ट करती हैं।

वासोदिका— जिसके खाने पर और भी खाने की चाह बनी रहती है, स्त्रियों की आँख के समान जिसको लोग चाहते हैं, जिसमें से नवीन गन्ध आती है, इस प्रकार की 'वासौदिका' किसको अच्छी नहीं लगती ?

बड़े—हींग, जीरा, आद्रक, लौंग, दालचीनी आदि से बनाकर छाछ में डुबोकर खाने से बड़े-बड़े स्वाद लगते हैं, इनको देखकर देवताओं के भी मुँह से लार गिर पड़ती है।

पापड़—नमक, मिर्च, हल्दी, हींग, धनिया, जीरा, इनको बेसन के साथ पानी में घोलकर पकाना चाहिये। फिर घी से चिकनी की हुई थाली में जमाना चाहिये। इनको दही में मिलाकर खाने से पित्त का नाश होता है।

भस्म-वर्ग

धातु-उपधातु, रत्न,आदि को आग में जलाकर भस्म बनाई जाती है। रासायनिक दृष्टि से यह "औक्साइड" बनते हैं। रासायनिक विज्ञान इस भस्म-वर्ग में सफल नहीं होता। उदाहरण के लिये— कज्जली, पर्पटी,रस-सिन्दूर और मकरध्वज, शिंगरफ ये सब वस्तुयें पारद गन्धित हैं। परन्तु क्रियाओं में इनके भेद हैं। इसी प्रकार प्रवाल, मुक्ता, सीप आदि सब वस्तुयें खटिक के समास हैं। परन्तु इनके गुणों में भेद है। इसलिये रासायनिक विज्ञान इसमें काम नहीं देता।

अभ्रक-भस्म— काले, भारवाले तथा सुख-निर्मोच्य पत्रोंवाले अभ्रक को लेकर अग्नि में तपाये। जब वह लाल हो जाय, तब उसको दूध या गोमूत्र में बुझाता जाय। इस प्रकार बार-बार करके अभ्रक के सब पत्ते टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे। इनको पुन: एक दिन-रात तक किसी अम्ल में वस्तु जैसे काञ्जी या बिजौरे नीबू के रस में घोटकर रखना चाहिये। इसके पश्चात् अभ्रक से चतुर्थांश शालि-धान्य लेकर दोनों कम्बल में बाँधकर पानी के अन्दर भिगो देना चाहिये। तीन दिन के पश्चात् इनको हाथों से रगड़ना चाहिये। इससे कम्बल में से छानकर रेत के समान बारीक अभ्रक-चूर्ण निकल आयेगा। कोई-कोई चिकित्सक पानी के स्थान में भी कांजी का उपयोग करते हैं। इस प्रक्रिया को 'धान्याभ्रक विधि' कहते हैं।

जिस वस्तु का जितना बारीक चूर्ण होगा, उतनी ही उसके मारण में सुगमता रहती है। इसीसे अभ्रक जैसे कठोर पत्थर को उपरोक्त विधि से बारीक चूर्ण बना लेते हैं। इस चूर्ण को भिन्न २ वस्तुओं के साथ रगड़कर टिकिया बनाकर शराव-सम्पुट में रखकर भस्म किया जाता है। अभ्रक को भस्म बना लेने के लिये धान्याभ्रक को गोमूत्र, कसौंदी, और आकड़े का दूध, घीक्वार, नागरमोथा और बड़ की जटायें इनसे सात-सात भावनायें देकर ४० पुटों में उत्तम भस्म बन जाती है। इस भस्म का रंग पके हुये घड़े के समान लाल होता है।

अभ्रक-भस्म को और अधिक उत्कृष्ट बनाने के लिये इसका 'अमृती-करण' किया जाता है। अर्थात्—त्रिफला का काढ़ा १६ तोले, गौ का घृत ८ तोले, अभ्रक-भस्म १० तोले; इन सबको लोहे के पात्र में रखकर धीमी

आँच पर पकाते हैं। जब पाक समाप्त हो जाता है, तब अभ्रक का चूर्ण करके सब रोगों में बरता जाता है। अभ्रक-भस्म के अन्दर चन्द्रिका नहीं रहनी चाहिये। इस चन्द्रिका को नष्ट करने के लिये लोग शोरे का पुट देते हैं। शोरे के पुट से अभ्रक की चन्द्रिका का नाश तो अवश्य हो जाता है, साथ ही औषधि हीन-वीर्य बन जाती है। मात्रा १ से ३ रत्ती।

कौड़ी की भस्म—बढ़िया, भारवाली, पीली कौड़ियों को लेकर इनको किसी अम्ल वस्तु में दोलायंत्र-विधि से शुद्ध करना चाहिये। पीछे से इनको शराव-सम्पुट में रखकर भस्म बना लेनी चाहिये। दो-तीन पुटों में चन्द्रिका के समान श्वेत भस्म बन जाती है। मात्रा १ से २ बाल

यशद-भस्म—यशद को कड़छी में पिघलाकर, इसको गाय के दूध में सात बार अथवा चूने के पानी में दस बार बुझा लेना चाहिये। प्रत्येक बार दूध या चूने का पानी नया काम में लाना चाहिये। इसकी भस्म बनाने के लिये शुद्ध यशद को लोहे की कड़ाही में चढ़ाकर तीव्र अग्नि से पिघलाना चाहिये। साथ में नीम की डण्डी से चलाते जाना चाहिये। जब सम्पूर्ण राख बन जाय, तो इस राख से चौथाई हरताल मिलाकर घीक्वार, त्रिफला-क्वाथ, भाँगरे के काढ़े का सात-सात भावनायें देकर गजपुट देते जाना चाहिये। अन्त में पंचामृत (गाय का दूध, दधि, घृत, शहद और शर्करा) की भावना देकर गजपुट की आँच देनी चाहिये। मात्रा १ से २ रत्ती।

ताम्र-भस्म—ताँबे के बारीक चूर्ण करके अथवा इसके पतले पत्रों को गरम करके चांगेरी के स्वरस में सात बार बुझाये। अथवा निर्गुण्डी के स्वरस में एक दिन-रात गरम करता रहे। इससे ताम्र का शोधन हो जाता है। इस शुद्ध ताम्र की भस्म बनाने के लिये पारद और गन्धक की कजली बनाकर इसको नीबू के रस से रगड़कर ताम्र-पत्रों पर लपेट देना चाहिये। पीछे से इन ताम्र-पत्रों को गजपुट में रखकर भस्म करना चाहिये। इस प्रकार ७ बार कज्जली लगाकर, शराव-सम्पुट में रखकर पुट देने से काले रंग की भस्म बन जाती है। कज्जली के अभाव में हिंगुल से भी काम लिया जा सकता है। इस भस्म की परीक्षा करने के लिये भस्म को दही में डालकर रख देना चाहिये। यदि भस्म अपूर्ण (कच्ची) होगी या इसमें ताम्र का कुछ भाग बचा होगा, तो दही में नीला या हरा रंग आ जायगा। अशुद्ध भस्म विष के समान है।

ताम्र-भस्म की दूसरी विधि यह है कि शुद्ध ताम्र को नीबू के रस में घोंटकर साफ कर लेना चाहिये। और फिर धोकर इसमें से अम्लता का अंश निकाल देना चाहिये। पीछे से इन पत्रों में चौथाई भाग शुद्ध पारा मिलाकर रगड़ना चाहिये, फिर दोनों के वज़न से दुगुनी गन्धक मिलाकर नीबू के रस के साथ गोला बनाना चाहिये। इस गोले के ऊपर लाल कनेर की मूल अथवा चांगेरी या पुनर्नवा-मूल का कल्क पानी के साथ मिलाकर एक अंगुल मोटा लगा देना चाहिये। इस गोले को चौड़ी मुँहवाली हाँड़ी में रखकर चारोंओर रेत भर देनी चाहिये। हाँड़ी के मुख को शराव से बन्द करके नमक के योग से बनी कपड़-मिट्टी से दोनों की सन्धि को जोड़ देना चाहिये। पीछे से इस हाँड़ी को चूल्हे पर चढ़ाकर मृदु, मध्यम और तीक्ष्ण अग्नि क्रम से बारह घंटे तक देनी चाहिये। अग्नि देने के पीछे हाँड़ी को चूल्हे पर ठण्डो होने देना चाहिये। इस गोले को हाँड़ी में से निकालकर सूरन के रस में घोटकर सात बार पुट देना चाहिये। इस प्रकार पुट देने से ताम्र की उत्तम भस्म तैयार हो जाती है। इस भस्म को अमृतीकरण करने के लिये अम्ल रस से एक दिन तक रगड़कर सूरनकन्द के अन्दर गोला बनाकर रख देनी चाहिये। कन्द पर कपड़-मिट्टी करके इसे धूप में सुखाना चाहिये। पीछे से गजपुट की एक आँच देने से यह उत्तम भस्म बन जायगी। इसमें किसी प्रकार के वमन, भ्रम, विरेचन आदि नहीं होते। मात्रा आधा से १ रत्ती।

नाग-भस्म—सीसक को पिघलाकर होशियारी के साथ सिन्दुवार के काढ़े में सात बार बुझाना चाहिये। सीसक और वङ्ग पानी आदि द्रव पदार्थ में छोड़ने से उछलकर ऊपर आते हैं। इसके लिये एक दृढ़ लोहे के बर्त्तन में काढ़े को रखकर उसका मुख चक्की के पाट आदि से ढाँप देना चाहिये। इससे सीसा उछलकर बाहर नहीं आयेगा। इस प्रकार से शुद्ध सीसक की भस्म करने के लिये सीसक को लोहे की कड़ाही में पिघला-कर उसमें पिप्पल की छाल का चूर्ण मिलाते जाना चाहिये। साथ-साथ लोहे की कड़छी से चलाते जाना चाहिये। जब सबकी राख बन जाय, तब इसको एक शरावे से ढाँपकर तीक्ष्ण अग्नि देनी चाहिये। इससे भस्म का रङ्ग लाल हो जायगा। इसके पश्चात् ठंडी करके पानी से अच्छी प्रकार धोना चाहिये। इससे भस्म में से क्षार का अंश निकल जायगा। इस भस्म के समान शुद्ध

मनःसिल मिलाकर नीबू के पानी से रगड़ते जाना चाहिये। फिर सुखाकर गजपुट देना चाहिये। इस प्रकार तीन-चार पुट देने से काले रंग की भस्म बन जाती है। प्रत्येक पुट देते समय भस्म के बराबर मनःसिल मिलानी चाहिये।

दूसरी विधि यह है कि सीसक (शुद्ध) को कड़ाही में पिघलाकर सीसक के समान शुद्ध मनःसिल मिला देना चाहिये। जब सारी भस्म हो जाय, तब उतारकर भस्म के समान शुद्ध गन्धक मिलाकर नीबू के पानी से खरल करके तीन-चार पुट देवे।

तीसरी विधि यह है कि शुद्ध सीसक को पिघलाकर उसमें यवक्षार मिलाता जाय और जबतक सबकी भस्म न हो, उसमें बार-बार यवक्षार मिलाता जाय। जब आग देते हुये भस्म का रंग लाल हो जाय, तब भस्म को ठंडा होने देना चाहिये। पीछे से पानी से धोकर क्षार का सब भाग निकाल देना चाहिये। फिर कड़ाही में डालकर मीठी आँच से गरम करना चाहिये। इस प्रकार करने से सीसक की पीतवर्ण भस्म बनती है। मात्रा-१से ३ रत्ती।

वंग-भस्म—वंग को शोधन करने के लिये इसे पिघलाकर चूने के पानी में या हल्दी मिले हुये निर्गुण्डी-क्वाथ में सात बार बुझानी चाहिये। वंग भी सीसक की तरह उछलता है, अतः सावधानी रखनी चाहिये। इस प्रकार से शुद्ध वंग की भस्म बनाने के लिये वंग को कड़ाही में पिघलाकर उसमें हल्दी का चूर्ण, अजवायन का चूर्ण, जीरा, इमली की छाल, अपामार्ग और पीपल की छाल का चूर्ण मिलाते जाना चाहिये। इस प्रकार मिलाने से पारे की भस्म बन जायगी। जब सबकी भस्म हो जाय, तब तीव्र आँच देनी चाहिये, इससे भस्म का रंग श्वेत हो जायगा।

दूसरी विधि यह है कि वङ्ग को पिघलाकर इसमें वङ्ग से चौथाई पारा मिलाना चाहिये। फिर इसमें थोड़ी-थोड़ी हरताल मिलाते जाना चाहिये। साथ में जंगली कपास के डण्डे से चलाते जाना चाहिये। जबतक भस्म न बने, तबतक हरताल मिलाते जाना चाहिये। भस्म होने पर शरावे से ढाँपकर तीव्र अग्नि देनी चाहिये।

तीसरी विधि यह है कि वंग को पिघलाकर इसमें चौथाई पारा मिला देना चाहिये। इसमें वंग से आधा हरताल मिलाकर खरल में पीसना

चाहिये। जब बारीक चूर्ण बन जाय, तब उसमें आक का दूध डालकर रगड़े। इसको एकत्रित कर पिप्पल की छाल से बने क्षार के मध्य में रखकर छोटा-सा पुट देना चाहिये। इस प्रकार से दो-तीन पुट देने पर उत्तम भस्म बन जाती है। मात्रा १ से ३ रत्ती।

प्रवाल-भस्म—प्रवाल को शुद्ध करने के लिये जयन्ती या गर्जिकाक्षार युक्त जल में अथवा चौलाई के जल में दोलायंत्र-विधि से पाक करना चाहिये। शुद्ध प्रवाल की भस्म करने के लिये, प्रवाल का चूर्ण करके, आक के दूध से या गाय के दूध से अथवा घीकार के रस से रगड़कर तीन-चार पुट देने पर श्वेत भस्म बनती है। इसकी पिष्टि बनाने के लिये इसको गुलाबजल में घोटकर पिष्टि बना लेते हैं। मात्रा १ से ६ रत्ती।

मण्डूर-भस्म—सौ वर्ष के पुराने मण्डूर को लेकर बहेड़े के कोयलों में (अभाव में पत्थरों के कोयलों में) तपाकर सात बार गोमूत्र में भिगोना चाहिये। इस प्रकार से शोधित मण्डूर का चूर्ण बनाकर इसको गोमूत्र या त्रिफला-क्वाथ के साथ रगड़कर तीस पुट देने से उत्तम लाल रंग की भस्म बनती है। मात्रा १ से २ रत्ती।

चाँदी की भस्म—चाँदी को पिघलाकर इसको तीन बार अगस्त के रस में बुझाना चाहिये। इस प्रकार करने से चाँदी का शोधन हो जाता है। इसकी भस्म बनाने के लिये चाँदी के बराबर शुद्ध पारा लेकर खरल में मर्दन करना चाहिये। जब पिष्टि बन जाय, तब नीबू के रस में रगड़कर एक दिन के पीछे पानी से भली प्रकार धो देना चाहिये, जिससे अम्ल का भाग जाता रहे। इसके पीछे इसमें चाँदी के समान गन्धक और हरताल मिलाकर खूब बारीक बना ले। इसको शराब सम्पुट में रखकर छोटा पुट देना चाहिये। इस प्रकार दो-तीन पुट देने से उत्तम काले रंग की भस्म बनती है। २—पारा, गन्धक तथा इन दोनों के बराबर हरताल लेकर इनकी घीक्वार के रस में पिष्टि बना लेनी चाहिये। जब पिष्टि तैयार हो जाय, तब इसको चाँदी के वरकों पर लपेटकर शराब सम्पुट में रखकर भस्म बनानी चाहिये। इस प्रकार दो-तीन पुट देने से उत्तम भस्म तैयार हो जाती है। ३—चाँदी के वरकों को कैंची से काटकर इनके बराबर पारा और गन्धक मिला देना चाहिये। पीछे कुमारी

के स्वरस से घोटकर पिष्टि बनाकर शराव सम्पुट में रखकर भस्म बना लेनी चाहिये। ४—चाँदी के वरकों से आधी स्वर्णमाक्षिक भस्म लेकर आक के दूध में पीसकर बारीक चूर्ण बना लेना चाहिये। इसको धूप में सुखाकर पीछे से शराव सम्पुट में रखकर पुट देना चाहिये। एक पुट के अतिरिक्त किसी भी अगले पुट में स्वर्णमाक्षिक का योग नहीं करना चाहिये—यह यहाँ पर रहस्य है। कोई-कोई चिकित्सक माक्षिक भस्म के साथ हिंगुल को मिलाकर पुट देते हैं। मात्रा—१ से ३ रत्ती।

लोहा-भस्म—तीक्ष्ण लोह के चूर्ण को अग्नि में तपाकर त्रिफला के काढ़े में, या केले की जड़ के स्वरस में या गोमूत्र में सात बार बुझाने से शोधन हो जाता है। लोहे की भस्म बनाने के लिये शुद्ध लोह के समान हिंगुल लेकर कुंवार के रस के साथ मर्दन करना चाहिये। धूप में सुखाकर गजपुट देना चाहिये। इस प्रकार ७-८ पुट देने में उत्तम भस्म बन जाती है। प्रत्येक बार नया हिंगुल मिलाना चाहिये। हिंगुल की मात्रा लोह से चतुर्थांश होनी चाहिये। २—लोह-चूर्ण को नीबू के स्वरस से रगड़कर चक्रिका बना लेनी चाहिये। इनको शराव सम्पुट में रखकर पुट देना चाहिये। इस प्रकार ५० पुट देने से लोहे की उत्तम भस्म बन जाती है। ३—शुद्ध लोह-चूर्ण को लोहे के सुदृढ़ खरल में पीसकर इसके समान शुद्ध मनःसिल मिलानी चाहिये। इनको सिम्बल की जड़ के रस से रगड़कर बारीक चूर्ण बना लेना चाहिये। इस चूर्ण को धूप में सुखाकर शराव सम्पुट में रखकर भस्म बना लें। जबतक भस्म सूक्ष्म न हो, तबतक मनःसिल का योग करते जाना चाहिये। ४—शुद्ध लोह को गोमूत्र या त्रिफला के काढ़े के साथ रगड़कर ५० पुट देने से उत्तम भस्म बन जाती है। ५—शुद्ध लोह के चतुर्थांश माक्षिक-भस्म मिलाकर नीबू के स्वरस से रगड़कर सूक्ष्म चूर्ण करना चाहिये। इसके पीछे इस चूर्ण को गजपुट में रखकर भस्म करनी चाहिये। प्रत्येक पुट में स्वर्णमाक्षिक-भस्म का योग करते जाना चाहिये।

इस लोहे को निरुत्थीकरण करने के लिये मृत लोह, गोघृत, शुद्ध-गन्धक इनको घी-कार के रस में पीसकर शुष्क चूर्ण करना चाहिये। इसके पीछे गजपुट में भस्म करने से लोह की निरुत्थी-भस्म बन जाती है। मात्रा १ से ३ रत्ती।

शङ्ख-भस्म—शङ्ख के टुकड़ों का शोधन करने के लिये इनको

दोलायंत्र-विधि से जम्बीर-रस में या जयन्ती के स्वरस में अथवा चौलाई के द्रव के साथ या काञ्जी में पकाना चाहिये। पीछे से गरम पानी द्वारा भली प्रकार धो देना चाहिये। इसकी भस्म बनाने के लिये शोधित शंख को शराव सम्पुट में रखकर गजपुट देना चाहिये। इस प्रकार एक-दो पुट देने में उत्तम भस्म बन जाती है।

शृङ्गभस्म—साबरशृंग के छोटे-छोटे टुकड़े करके इसको तीन रात्रि तक गोमूत्र में भिगोकर रखना चाहिये। पीछे से इसको कोयलों के अन्दर खुला जलाने से श्वेत भस्म बन जाती है। इसकी भस्म आक के दूध के सहयोग से भी बनाते हैं। यह भस्म श्वास या पार्श्व-शूल में बहुत लाभदायक है।

शुक्ति-भस्म—शुक्तियों को (जिनमें मोती रहता है) जयन्ती के स्वरस में या किसी अम्ल में दोलायन्त्र-विधि से परिपाक करके शोधन कर लेना चाहिये। पीछे से शराव सम्पुट में रखकर भस्म बना लेनी चाहिये। मात्रा १ रत्ती।

सुवर्ण-भस्म—स्वर्ण के वर्क बनाकर इनको आग में तपाकर कचनार की छाल के स्वरस में या काढ़े में ३ बार बुझाने से स्वर्ण का शोधन होता है। साधारणतः बाजार में जो नैशनल बैङ्क का सोना मिलता है, उसको पत्र बनाकर काम में लाये जा सकते हैं।

मारण—स्वर्ण के समान पारा लेकर इनको नीबू के रस में रगड़कर गोला बना लेना चाहिये। इस गोले के बराबर शुद्ध गन्धक लेकर आधी गन्धक नीचे रखकर उसमें गोला रख देना चाहिये, और आधी गन्धक ऊपर रखकर शराव सम्पुट में पुट देना चाहिये। इस प्रकार १४ पुट देने में भस्म बन जाती है। २—स्वर्ण-पत्रों पर कबूतर या कुक्कुट की विष्टा का लेप करके (एक अंगुल मोटा) इन पत्रों के समान गन्धक लेकर उसके बीच में इन पत्रों को रखकर शराव सम्पुट विधि से ३० गोठों की आँच में भस्म बनानी चाहिये। इस प्रकार दस पुट आने पर एक महापुट देना चाहिये। ३—स्वर्ण को पिघलाकर उसमें स्वर्ण का सोलहवाँ भाग सीसा मिलाकर नीबू के स्वरस से भावना देकर उपरोक्त विधि से गन्धक में रखकर पुट देना चाहिये। ४—स्वर्ण-पत्रों के समान शुद्ध पारद लेकर नीबू के स्वरस से रगड़ना चाहिये। पीछे से पानी द्वारा धोकर सब अम्ल भाग निकाल देना चाहिये। पीछे स्वर्ण से हिंगुल, गन्धक, मनःसिल और नौसादर प्रत्येक स्वर्ण से चौथाई मिलाकर

नीबू के रस से मर्दन करना चाहिये। इस पिष्ठि को पुट देने से सुगमता से भस्म बन जाती है। मात्रा १ से २ रत्ती।

स्वर्णमाक्षिक-भस्म—माक्षिक का शोधन करने के लिये इसको कूटकर बारीक चूर्ण बना लेना चाहिये। इस चूर्ण को कड़ाही में रखकर नीबू का स्वरस डालकर करछी से चलाते जाना चाहिये। जब इसका रंग लाल हो जाय, तब समझना चाहिये कि शुद्ध होगई। अथवा गरम करके त्रिफला-क्वाथ में बुझाना चाहिये। इसकी भस्म बनाने के लिये शोधित माक्षिक को नीबू के रस से रगड़कर पुट देना चाहिये। इससे दस-बारह पुटों में उत्तम भस्म बन जाता है। २—शुद्ध माक्षिक के समान गन्धक मिलाकर इसको नीबू के रस में रगड़कर शराव-सम्पुट में रखकर भस्म करनी चाहिये। इस प्रकार ५ पुट देने से उत्तम भस्म बन जाती है। ३—शोधित माक्षिक से आठवाँ हिस्सा हिंगुल मिलाकर नीबू के स्वरस से भावना देकर पुट देना चाहिये। इस प्रकार आठ पुटों में उत्तम भस्म बन जाता है। ४—स्वर्ण-माक्षिक तीन भाग और सेंधानमक एक भाग इनको लोहे की करछी में नीबू के स्वरस में मिलाकर आग पर गरम करना चाहिये। इस प्रकार गरम करने से इसका रंग लाल हो जायगा। इसको कुलत्थी कषाय से, एरण्ड तैल से तक्र से या बकरी के मूत्र से रगड़कर पुट देने से भस्म बन जाती है। कोई-कोई विद्वान् पुट न देकर कड़ाही में रखकर गरम कर लेते हैं। स्वर्ण-माक्षिक की भस्म लाल रंग की बनती है। ५—स्वर्ण-भस्म ४ भाग और गन्धक एक भाग इन दोनों को एरण्ड के तैल में घोटकर शराव-सम्पुट में रखकर पुट देने से सिन्दूर के रंग की भस्म बनती है। मात्रा १ से ३ रत्ती।

हरताल-भस्म—पीली तबकी हरताल को नीबू के स्वरस में या कूष्मांड के पानी में दोलायंत्र-विधि से पाक करना चाहिये। इसकी भस्म बनाने के लिये पुनर्नवा के रस से रगड़कर इसका गोला बना लेना चाहिये। इस गोले को पुनर्नवा के क्षार के बीच में रखकर भस्मयंत्र-विधि से पाक करना चाहिये। इसी प्रकार पिप्पल की छाल के कषाय से इक्कीस बार भावना देना चाहिये। इसको पिप्पल की छाल की राख में रखकर भस्मयन्त्र-विधि से भस्म बनानी चाहिये। २—शुद्ध हरताल के बराबर शुक्ति की भस्म लेकर कुमारी स्वरस में रगड़ना चाहिये। इसकी चक्रिका बनाकर धूप मे सुखा लेना चाहिये।

इसको शराव-सम्पुट में रखकर गजपुट की आँच देनी चाहिये। इस प्रकार से इसकी उत्तम भस्म बन जाती है। हरताल, संखिया, मनःशिल आदि के भस्म या अन्य दवाई बनाते समय आँख, मुँह आदि को धुँयें से बचाना चाहिये। मात्रा आधी रत्ती से १ रत्ती।

रत्न—नौ रत्न हैं। जैसे—हीरा, माणिक्य, मौक्तिक, पुष्पराज, नील, तार्क्ष्य, वैडूर्य, गोमेद और प्रवाल। ज्योतिष-शास्त्र में नौग्रह हैं। प्रत्येक ग्रह किसी न किसी रत्न से सम्बन्ध रखता है। जैसे शनि ग्रह का सम्बन्ध नील के साथ है।

हीरा—इसका शोधन करने के लिये कुलत्थी के काढ़े में अथवा आक के दूध में दोलायन्त्र से पाक करे। अथवा हीरे को अग्नि में तपाकर शुद्ध पारे में १०० बार बुझाना चाहिये। इस प्रकार करने से हीरे का चूर्ण सुगमता से हो जाता है। इसकी भस्म बनाने के लिये शुद्ध हीरे के बराबर शुद्ध पारा लेकर उसमें मनःसिल, गन्धक इनको बराबर मिलाकर शराव-सम्पुट के अन्दर गजपुट देना चाहिये। इस प्रकार पुट देते रहना चाहिये, जबतक भस्म न बन जाय। दूसरे पुटों में पारा नहीं मिलाना चाहिये। साधारणतः चौदह पुटों में भस्म बन जाती है।

माणिक्य—नीबू स्वरस में दोलायन्त्र-विधि से पाक करने पर माणिक्य का शोधन हो जाता है। इसकी भस्म बनाने के लिये लकुच के पानी से पीसकर पुट देने से भस्म हो जाती है।

मुक्ता—जयन्ती के स्वरस में दोलायन्त्र विधि से पाक करने पर शुद्ध हो जाता है। इसकी भस्म करने के लिये गाय के दूध से अथवा गुलाबजल से रगड़कर पुट देनी चाहिये। इस प्रकार तीन पुटों में उत्तम भस्म बन जाती है।

पुष्पराज—कुलत्थी के काढ़े में, काँजी में दोलायन्त्र-विधि से पाक करने पर शुद्ध होता है। इसकी भस्म माणिक्य की भाँति बनानी चाहिये।

नील—नीली के स्वरस में दोलायन्त्र-विधि से शोधन करना चाहिये। और इसकी भस्म-माणिक्य के समान बनानी चाहिये।

मरकत—गोमूत्र में दोलायन्त्र-विधि से शुद्ध करके माणिक्य-भस्म की भाँति इसकी भी भस्म करनी चाहिये।

रस

अन्त्र-शोषान्तकरस—शिला के योग से मारी हुई सीसक-भस्म ७ तोला, कान्तपाषाण-भस्म २ तोला, स्वर्ण, यशद, अभ्र, ताम्र प्रत्येक एक-एक तोला, सबकी आधी गन्धक मिलाकर घीक्वार के रस से मर्दन करना चाहिये। फिर तीन वराहपुट में पकाना चाहिये।

उपयोग—ग्रहणी-रोग, यक्ष्मा, अतिसार में उपयोगी है।

अग्नि-रस—शुद्ध पारा १ भाग, गन्धक २ भाग, पिप्पली ३ भाग, हरड़ ४ भाग, बहेड़ा ५ भाग और बाँस के पत्ते ६ भाग। पारा और गन्धक की कज्जली बनाकर शेष वस्तुओं का चूर्ण इसमें मिलाकर २१ दिन तक बबूल की छाल के काढ़े की भावना देनी चाहिये।

उपयोग—कास, क्षय, श्वास, कफ आदि में। अनुपान—शहद।

अग्निकुमार-रस— शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, टंकण, कौड़ी, सर्जक्षार, पिप्पली, सोंठ प्रत्येक एक-एक तोला, वत्सनाभ ३ तोला, मिर्च ८ तोला—इन सबका चूर्ण करके एक दिन तक नीबू के स्वरस में मर्दन करके रत्ती-रत्ती की गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग—कॉलरा-जन्य-शूल, अजीर्ण, अग्निमान्द्य, उदरशूल, पेट की वायु आदि में उपयोगी है।

अग्नितुण्डी— पारा, गन्धक, विष, अजवाइन, हरीतकी, आमलकी, बहेड़ा, सर्जक्षार, यवक्षार, चित्रकमूल, सैन्धव नमक, विडंग, काच लवण, सोहागे के खील, प्रत्येक समभाग, इन सबके बराबर शुद्ध कुचला। इनको नीबू के रस से मर्दन करके मिर्च के समान गोली बनानी चाहिये।

उपयोग— अजीर्ण, ग्रहणी, अम्लपित्त, शूल, मुख की विरसता में उपयोगी है।

अनुपान—मोथे का रस, शीतल जल, कर्पूर जल, कोष्ठ-बद्ध की अवस्था में त्रिफला जल के साथ। यह औषधि बच्चों के लिये उपयोगी नहीं है।

अभयनृसिंह-रस—हिंगुल, विष, त्रिकटु, जीरा, सोहागा, गन्धक, अभ्रक और पारद प्रत्येक समभाग और सबके बराबर अफ़ीम। इनको नीबू के रस में मर्दन करके एक रत्ती प्रमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग--अतिसार-रोग में श्रेष्ठ-धारक है, प्रवाहिका आदि रोगों में यह चमत्कारिक प्रभाव रखता है।

अनुपान—अतिसार में बेल का काढ़ा, मोथे का रस और शहद; रक्तातिसार में कूड़े की छाल का काढ़ा या इन्द्रजौ का काढ़ा, ज्वरातिसार में कर्पूर-जल।

अगस्त-सूतराज— शुद्ध पारा १ भाग, गन्धक १ भाग, हिंगुल २ भाग, शुद्ध धतूरबीज ४ भाग, अफीम ४ भाग—इन सबको चूर्ण करके भाँगरे के रस में पीसकर रत्ती बराबर गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ से २ गोली।

अनुपान—ग्रहणी में पानी के साथ, शूल, कफ, वायु, अग्निमान्द्य, तन्द्रा में त्रिकटु और शहद के साथ, अतिसार में घी के साथ, सब प्रकार के अतिसारों में जीरा और जायफल के साथ।

अमृत-कलानिधि-रस—वत्सनाभ दो भाग, कौड़ी की भस्म ५ भाग, मिर्च ९ भाग—सबको पानी में पीसकर मूँग के बराबर गोली बनानी चाहिये। अनुपान—आर्द्रक का रस या सोंठ का पानी।

उपयोग—पित्त-ज्वर में।

अश्वचोली— पारा १ भाग, वत्सनाभ एक भाग, गन्धक एक भाग, हरताल एक भाग, त्रिकटु प्रत्येक एक भाग, त्रिफला प्रत्येक एक भाग, टंकण-क्षार एक भाग, शुद्ध दन्ती-बीज एक भाग—इन सबको चूर्ण बनाकर २१ दिन तक भाँगरे के रस में खरल करके दो-दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

आनन्दभैरव-रस—हिंगुल, मिर्च, सोहागे की खील, विष और पिप्पली, प्रत्येक वस्तु समान भाग लेकर पानी के साथ इनकी आध रत्ती के समान गोली बनानी चाहिये। यह प्रवाहिका, पूयमेह, ज्वरातिसार में लाभ करती है।

इच्छाभेदी-रस—सुहागा, मिर्च, पारा, गन्धक, सोंठ, प्रत्येक एक-एक तोला, शुद्ध जयपाल ३ तोला, इन सबको पानी के साथ पीसकर गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ रत्ती।

अनुपान-ठंडा पानी या शरबत।

उपयोग—कोष्ठबद्धता-रोग में या उदर-रोग में।

कनकसुन्दर रस—हिंगुल, मिर्च, गन्धक, पिप्पली, सोहागे की खील, विष, धतूरे के बीज सबके बराबर इनको भाँग के पत्तों के स्वरस से मर्दन करके चने के बराबर गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ से २ गोली।

अनुपान-पानी।

उपयोग—संग्रहणी, अतिसार, ज्वर में उपयोग की जाती है।

कफकेतु—सोहागे की खील, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, शङ्ख-भस्म ये सब द्रव्य प्रत्येक १ भाग और विष ५ भाग चूर्ण करके आर्द्रक के रस की ३ भावना देकर एक रत्ती के समान गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग—ज्वरयुक्त नूतनकास, श्लेष्म ज्वर, सर्दी में।

अनुपान-आर्द्रक रस, या पान का रस।

कफ चिंतामणि—हिंगुल, इन्द्रजौ, सोहागे की खील, भाँग के बीज, मिर्च प्रत्येक १ भाग, रससिन्दूर ३ भाग; इनको एक प्रहर तक आर्द्रक के रस में मर्दन करके चने के बराबर गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग—सर्दी, प्रतिश्याय में।

कर्पूररस—हिंगुल, अफीम, नागरमोथा, इन्द्रजौ, जायफल और कर्पूर इन सबको जल के साथ पीसकर २ रत्ती की गोली बनानी चाहिये। इसमें १ भाग सोहागे की खील मिलाने से विशेष गुण होता है।

उपयोग—अतिसार में, विसूचिका में।

इसी कर्पूर रस में कुछ अन्य औषधियों के मिलाने से 'कर्पूरेश्वर-रस' तैयार हो जाता है। जैसे हिंगुल १ भाग, अफीम २ भाग, नागरमोथा १, इन्द्रजौ १ जायफल १, मीठा विष ½, सोहागे की खील १ भाग, कर्पूर १, फिटकरी ½ भाग इनको पाठे की जड़ के रस से मर्दन करके १½ या २ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग-अतिसार, रक्तातिसार, ग्रहणी, शूल आदि रोग इसके [illegible] [illegible] शान्त [illegible]

[illegible] लाल, [illegible] मृगनाभि, [illegible] दन्तीमूल [illegible] भाग लेकर [illegible] के रस [illegible] देकर दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग-कास, श्लेष्म ज्वर, वात, श्लेष्म ज्वर, ग्रन्थि-वेदना में।

अनुपान-सर्दी रोग में पान के अन्दर खाने से, कास-रोग में पिप्पली चूर्ण और मधु के साथ; श्लेष्म ज्वर में आर्द्रक-रस या मधु के साथ; शूल में वंशलोचन और शहद में देना चाहिये।

कस्तूरी भैरव (स्वल्प)—शिंगरफ़, विष, सोहागे की खील, जावित्री, जायफल, मिर्च, पिप्पली और कस्तूरी सम भाग लेकर पानी के साथ मिलाकर २ रत्ती की गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग-प्रचण्ड और नवज्वर में, वात श्लेष्म-ज्वर में प्रसिद्ध है।

क्रव्यादि रस—शुद्ध पारा ४ तोला, शुद्ध गन्धक ८ तोला, ताम्र-भस्म २ तोला, लोह-भस्म २ तोला, इन सबको मिलाकर लोहे की कड़ाही में डालकर मीठी-मीठी आँच से पकाना चाहिये। गन्धक के पिघलने पर इसको पर्पटी की भाँति पकाकर इसके चूर्ण में नीबू के रस तथा पंचकोल के काढ़े की भावना देनी चाहिये। पीछे से इसमें टंकणक्षार, विड्लवण, मिर्च प्रत्येक एक-एक तोला मिलाकर अन्त में चणक क्षार की सात भावना देकर दो-दो माशे की गोली बनानी चाहिये। मात्रा २ मासा।

अनुपान-छाछ तथा सेंधा नमक।

उपयोग—अजीर्ण, उल्टी, शूल, गुल्म, अग्निमान्द्य में, उदर-रोग मे।

केशरादि—केसर, रस-कपूर, शर्करा, चन्दन, लवङ्ग, जावित्री ये सब बराबर भाग लेकर मूँग जैसी गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ से २ गोली।

अनुपान--शर्करा और घी।

उपयोग—उपदंश, व्रण, फिरंग, रक्त-पित्त, कुष्ठ-रोग।

कृमिकुठार-रस—कर्पूर ८ तोला, कूड़ा छाल, इन्द्रायण, अजवायन, वायविडङ्ग, हिंगुल, केसर। वत्सनाभ, पित्तपापड़ा प्रत्येक एक तोला। इन सबका चूर्ण करके भाँगरे, ब्राह्मी और आखुकर्णी के रस की भावना देनी [illegible]

अनुपान--शहद।

उपयोग—सब प्रकार के कृमि-रोग में।

कृमि-मुद्गर-रस—पारा १ तोला, गन्धक २ तोला, खुरासानी अजवाइन ३, विडंग ४, कुचला ५, ढाक के बीज ६ तोला; इन सबका चूर्ण करके १ माशे की मात्रा में मधु के साथ खाना चाहिये। इस औषधि के खाने के पीछे मोथे का काढ़ा पीना चाहिये।

गद्मुरारि-रस—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभ, सोंठ, मिर्च, पिप्पली,

सोहागा, मोथा, हरड़ और शुद्ध दन्तीबीज, ये सब समान भाग लेकर पानी में पीसकर एक रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ से ६ बाल।

अनुपान—पानी।

उपयोग—नवीन ज्वर तथा पित्त-ज्वर में।

गर्भपाल-रस—सोंठ १ तोला, मिर्च १ तोला, पिप्पली १ तोला, दालचीनी १ तोला, तमालपत्र १ तोला, इलायची १ तोला, धनिया १ तोला, काला जीरा १ तोला, चविका १ तोला, द्राक्षा १ तोला, देवदारु १ तोला, सीसे की भस्म १ तोला, बंग-भस्म १ तोला, शुद्ध हिंगुल ½ तोला, लोह-भस्म ½ तोला इन सब औषधियों को बारीक पीसकर श्वेत मूसली के रस से सात दिन तक रगड़कर शीशी में भरकर रखनी चाहिये। मात्रा १ से २ रत्ती।

अनुपान—काली किसमिस का पानी। गर्भिणी स्त्री को प्रथम मास से नौ मास तक दे सकते हैं. इससे गर्भिणी की गरमी शान्त होती है, गर्भ का पोषण होता है। जिन स्त्रियों में गर्भपात या गर्भ-स्राव होता हो, उनके लिये यह उत्तम है।

गन्धक-रसायन—शुद्ध गन्धक को नीचे लिखी वस्तुओं की एक-एक (किसी ग्रन्थ में आठ-आठ) भावना देनी चाहिये। गाय का दूध, दालचीनी का काढ़ा, इलायची का काढ़ा, तमालपत्र का काढ़ा, नागकेसर का काढ़ा, गिलोय का रस, हरड़ का काढ़ा, बहेड़े का काढ़ा, आँवले का काढ़ा, सोंठ का काढ़ा, भाँगरे का रस तथा आर्द्रक का रस। अन्तिम भावना देने के पश्चात् धूप में सुखाकर एक माशे की गोली बनाकर इसके समान भाग शर्करा मिलाकर देनी चाहिये। मात्रा २ माशे।

[illegible]गा—मन्दाग्नि, कण्डू, विष[illegible], पाण्डु, जीर्ण-ज्वर, [illegible], प्रमेह, धातुक्षय, शूल, [illegible] [illegible]रोग[illegible]त्यादि में लाभ करती है। पथ्य—मिर्च और तेल का निषेध।

ग्रहणी-कपाट-रस—सोंठ, मिर्च, पिप्पली, सुहागा, पारा, कपर्दिका-भस्म, वत्सनाभ, प्रत्येक समभाग। इनको नीम के रस में पीसकर उड़द के समान गोली बना लेनी चाहिये। मात्रा १ गोली

अनुपान—मिर्च, शर्करा [illegible]ी में मिलाकर चटाना चाहिये।

ग्रहणी-गजकेसरी—पारा, गन्धक, अभ्रक, लोह, हिंगुल, बिल का

गर्भ, वत्सनाभ, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, भाँग, नागरमोथा, अनार की छाल, इन्द्रजौ, जायफल, मोचरस, अतीस, धाय के फूल, अजवाइन, चित्रक, सुहागा, कांकच या कागिरी, अफीम सब समान भाग; सबको कूट-छानकर धतूरे के पत्तों के रस में घोटकर मिर्च के समान गोली बना लेनी चाहिये। मात्रा—१ गोली अथवा उमर तथा शक्ति के अनुसार देना चाहिये।

अनुपान—छाछ अथवा दही का मट्ठा।

प्रयोग—संग्रहणी, अतिसार, शूल, अग्निमान्द्य, पाण्डु।

ग्रहणी कपाट (२)—हिंगुल, गन्धक, अफीम, जायफल, लवंग, प्रत्येक आधा तोला। कच्चे अनार के रस में भावना देकर १ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

गुल्म कालानल—अभ्रक, लोह, पारद, गन्धक, सोहागा, कुटकी, वच, यवक्षार, सर्जक्षार, सैन्धव, कूठ, त्रिकटु, देवदार, तेजपत्र, इलायची, दालचीनी, नागकेसर प्रत्येक सम भाग लेकर, जयन्ति, चित्रक और धतूर के रस से भावना देकर ४ रत्ती के बराबर गोली बना लेनी चाहिये। उपयोग—वायुनाशक, अग्निकारक।

अनुपान—त्रिफला जल या हरीतकी सिद्ध जल।

गुञ्जाजीवन-रस—रत्तीबीज शुद्ध १½ तोला, रस-सिन्दूर १½ तोला, शुद्ध भाँग ३ तोला इनको पानी के साथ पीसकर दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये। इसका उपयोग कामोद्दीप्ति के लिये किया जाता है।

चन्द्रकला रस—शुद्ध पारा १ तोला, गन्धक २ तोला, [illegible] १ तोला, अभ्रक-भस्म १ तोला। इन सबकी कज्जली बनाकर निम्न-वस्तुओं की भावना देनी चाहिये। [illegible] नागरमोथे का काढ़ा, अनार का रस, दूध, सहदेवी का रस, [illegible] घीक्वार [illegible] के स्वरस की भावना देकर पीछे से कुठ, गिलोय सत्व, पित्तपापड़ा, चन्दन, माधवी [illegible], सारिवा प्रत्येक एक एक तोला मिलाकर [illegible] भावना देकर शुष्क कर लेना चाहिये। मात्रा १ से २ रत्ती [illegible]

अनुपान—जीरा, शर्करा, दूध।

उपयोग—ज्वर, दाह, विषमज्वर, प्रदर, प्रमेह, रक्तपित्त आदि में। [illegible] पीना चाहिये।

चन्द्रोदय रस—[illegible] १ तोला, गन्धक १६ तोला और शुद्ध पारा ८ तोला इन सबको [illegible] वन-कार्पास पुष्प के रस से तथा घीक्वारी के रस की सात-सात भावना देकर काच की कुप्पी में रखकर बालुका-

यंत्र में मृदु-मध्य और तीक्ष्णाग्नि से पाक करे। पाक समाप्त होने पर शीशी के गले में लगा हुआ लाल रंग का रस कूपी तोड़कर लेना चाहिये। पीछे से चन्द्रोदय ४ तोला, कपूर जायफल, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, लौंग प्रत्येक एक-एक तोला और कस्तूरी ¼ तोला मिलाकर पान के रस में उड़द जितनी गोली बनानी चाहिये। इस गोली को पान के के साथ खाना चाहिये। यह रसायन है, वाजीकरण है।

चण्डेश्वररस—पारा, गन्धक, विष, ताम्र प्रत्येक समभाग लेकर आर्द्रक के रस से सात बार भावना देनी चाहिये। इसी प्रकार निर्गुण्डी-पत्र स्वरस से भी सात भावना देकर १ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

अनुपान—आर्द्रक-रस।

उपयोग—प्लेग में, ज्वर में।

चतुर्मुख (कृष्ण)—पारा, गन्धक, लोह, अभ्रक प्रत्येक १ तोला, स्वर्ण चौथाई तोला इनको घीक्वारी के रस में मर्दन करके एरण्ड-पत्र द्वारा लपेटकर धान्य-राशि के अन्दर तीन दिन रख देना चाहिये। मात्रा २ रत्ती।

उपयोग—उन्माद, मूर्छा, मृगी, मस्तिष्क-रोग।

अनुपान—मूसली-रस, मधु, त्रिफला-जल और मधु।

इस औषध में १ रत्ती वंग-भस्म मिलाने से 'सोमनाथ रस' के समान उपयोगी बन जाती है।

चतुर्मुख(लाल)—कृष्ण चतुर्मुख में पारद और गन्धक के स्थान में दो भाग स्वर्ण-सिन्दूर मिलाने से लाभ करता है।

चन्दनादि लोह—लाल चन्दन, नेत्रवाला, पाठा, उशीर, हरीतकी, सोंठ, कमलगट्टा, आँवला, नागरमोथा, चीतामूल, विडङ्ग प्रत्येक १० माशे लोह डेढ़ तोला। पानी के साथ मिलाकर २ रत्ती की गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग—जीर्ण-ज्वर, मेहज्वर, प्रदरज्वर, हाथ-पाँव की ज्वाला में लाभदायक है। अनुपान—आर्द्रक, शेफालिका रस और मधु।

चन्दनादि वटिका—लाल चन्दन, त्रिकुट, सिता, केशर, रस पुष्प, लवंग प्रत्येक एक-एक तोला इनको मिलाकर एक-एक रत्ती मात्रा में मक्खन के साथ खाने से लाभ होता है।

उपयोग—फिरंग रोग में।

चन्द्रामृत रस—त्रिकुट, त्रिफला, चव्य, धनियाँ, जीरा, सैन्धव प्रत्येक एक-एक तोला, पारा, गन्धक और लोह प्रत्येक दो तोला, सोहागे की खली ८

तोला, मिर्च ४ तोला, इन सबको बकरी के दूध के साथ पीसकर ९ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—कास-रोग में, श्वास में, यक्ष्मा जन्य-कास में लाभ होता है।

अनुपान—मधुपिप्पली चूर्ण और मधु, कपूर और मधु।

चिन्तामणि—रससिन्दूर, अभ्रक, लोह प्रत्येक एक-एक तोला, स्वर्ण आधा तोला, इनको घीकार के रस में मर्दन करके एक रत्ती की गोली बना लेनी चाहिये। वायु-रोग की यह प्रसिद्ध औषधि है।

चिन्तामणि रस (२)—पारद, विष, गन्धक, सुहागे की खील, ताम्र, यवक्षार, सोंठ, पिप्पली, मिर्च, हरताल, बहेड़ा, हरीतकी, आमलकी इनको एक सौ बार मधु के साथ रगड़कर १ रत्ती की गोली बना लेनी चाहिये।

अनुपान—शुण्ठी-चूर्ण और नारियल का जल।

उपयोग—सन्निपात ज्वर में।

चिन्तामणि चतुर्मुख—रससिन्दूर २ तोला, लोह १, अभ्र १, स्वर्ण १॥ तोला, इनको घीकांरी के रस से मर्दन करके एरण्ड पत्रों में लपेटकर धान्य-राशि के अन्दर रखना चाहिये। तीन दिन के पीछे निकालकर दो रत्ती खाना चाहिये।

अनुपान—मधु और त्रिफला जल।

उपयोग—उन्माद, वात-रोग आदि में।

ज्वरांकुश—शुद्ध पारा, गन्धक, वत्सनाभ प्रत्येक समान भाग लेकर, सबके बराबर शुद्ध धतूर-बीज मिलाकर, सोंठ, मिर्च, पिप्पली इनका चूर्ण सबसे दुगुना मिलाना चाहिये। इन सबको नीबू तथा आर्द्रक के रस के साथ घोंटकर दो-दो रत्ती की गोली बना लेनी चाहिये। मात्रा २ से ४ रत्ती।

उपयोग—ज्वर में।

जलोदरारि रस—ताम्र-भस्म, लोह-भस्म, पिप्पली, पारा, गन्धक, मिर्च, हल्दी का चूर्ण प्रत्येक १ तोला, शुद्ध जैपाल दो तोला इनको तीन बार निशोथ के काढ़े से भावना देनी चाहिये। मात्रा १ रत्ती।

ज्वरारि रस—हिंगुल, पिप्पली, सोंठ, मिर्च, टंकण, अमृत-

विष, आँवला प्रत्येक एक-एक तोला, जायफल ४ तोला, इनको आर्द्रक रस में पीसकर १ रत्ती की गोली बनानी चाहिये ।

जयमङ्गल रस— पारा, गन्धक, सोहागा, ताम्र, बंग, स्वर्ण-माक्षिक, लोह, रौप्य, सैन्धव और मिर्च प्रत्येक आधा तोला, स्वर्ण १ तोला । दशमूल-क्वाथ, धतूरपत्र-रस, चित्रक-क्वाथ से क्रमशः तीन-तीन भावना देनी चाहिये ।

अनुपान—गिलोय, पित्तपापड़ा का स्वरस, आर्द्रक और शेफालिका-पत्र-स्वरस ।

उपयोग—पुरातन ज्वर, वात श्लेष्मा, प्लीहा और यकृत-विकार में ।

जातिफल-रस —पारा, अभ्र, रससिन्दूर, गन्धक, जायफल, इन्द्र-यव, धतूरे का बीज, सुहागे की खील, त्रिकटु, मोथा, हरीतकी, आमलकी, बेल, आम की गुठली, शाल का बीज, अनार का छिलका इन सबको खरल में डालकर भाँग के पत्तों के रस से मर्दन करना चाहिये । मात्रा १रत्ती ।

अनुपान—कूड़े की छाल का काढ़ा ।

उपयोग—आमातिसार-नाशक, रक्तातिसार में उपयोगी ।

तारकेश्वर—रससिन्दूर, अभ्र, लोह, बङ्ग प्रत्येक समभाग; इसको मधु के साथ पीसकर गोली बना लेनी चाहिये ।

अनुपान—आमलकी-चूर्ण और शहद ।

उपयोग—पुरातन मेहरोग, बहुमूत्र, शुक्र-रोग तथा श्वेत प्रदर में उपयोगी है ।

तारकेश्वर (२)— पारा, गन्धक, लोह, वंग, अभ्र, दुरालभा, यव-क्षार, गोक्षुरू-बीज, हरीतकी समभाग इसको कुष्माण्ड रस, तृणपञ्चमूल (कुश, कास, शर, दर्भ, ईक्षु) काढ़ा तथा गोक्षुर रस के साथ भावना देकर २ रत्ती की गोली बनाकर रखनी चाहिये । यह मूत्रकृच्छ्र, गनोरिया-रोग में विशेष लाभकारक है ।

त्रैलोक्य-विजया वटी—भाँग शुद्ध की हुई एक भाग और तुगा-क्षीरी का चूर्ण तीन भाग इनको पानी के साथ पीसकर एक रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये ।

उपयोग—प्रलाप, उन्माद, वृक्कशूल, अतिसार, स्वप्नदोष में हितकारक है ।

६४

त्रैलोक्य संमोहन रस—शुद्ध विजया ४ तोला, हिंगुल, रससिन्दूर, नौसादर, लौंग, अभ्रक, शङ्ख-भस्म प्रत्येक एक-एक तोला गोखरू, वानरीबीज, काकड़ाश्रृङ्गी प्रत्येक का चूर्ण दो तोले; सबको भाँग और शतावरी के रस से मर्दन करके तीन रत्ती की गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग—कामोत्तेजक, शुक्रस्तम्भक।

त्रैलोक्य चिंतामणि-रस—स्वर्ण ३ भाग, रौप्य २ भाग, अभ्र २ भाग, लोह ५ भाग, प्रवाल ३ भाग, मुक्ता ३ भाग और रससिन्दूर ७ भाग। इन सबको घीकार रस से मर्दन करके १ रत्ती परिमाण की गोली बना लेनी चाहिये।

अनुपान—बकरी का दूध।

उपयोग—क्षय-रोग, कास, प्रमेह, जीर्ण-ज्वर में उपशमित होते हैं।

त्रिविक्रम-रस—ताम्र-भस्म तथा बकरी का दूध समान भाग लेकर इनको कड़ाही में डालकर खोवा बनाना चाहिये। पीछे से इनके बराबर पारा और गन्धक मिलाकर निर्गुण्डी के रस की एक भावना देकर गोली बना लेनी चाहिये। इस गोली को बालुका-यंत्र में रखकर एक पहर तक पकाना चाहिये। पीछे से निकालकर चूर्ण बना लेना चाहिये। मात्रा २ रत्ती।

उपयोग—अश्मरी-रोग में हितकारी है।

त्रैहिकारि—पारा, गन्धक, मनःशिला और हरताल प्रत्येक १ भाग, अतीस ४ भाग, लोह २ भाग और रौप्य ½ भाग इनको नीम की छाल के काढ़े या स्वरस से मर्दन करके ३ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—यह शीत-ज्वर, कम्प-ज्वर में लाभदायक है।

अनुपान—शहद और परोल-पत्र रस।

दिनेश भैरव-रस—जावित्री, दालचीनी, लौंग, अकरकरा, पिप्पली, सोंठ, शुद्ध हिंगुल तथा शुद्ध वत्सनाभ प्रत्येक समभाग इनका चूर्ण करके पान के रस में २४ घंटे खरल करके और एक दिन तक आर्द्रक-रस में पीसकर १ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—अतिसार में।

धात्री लोह—यव का काढ़ा (जौ ½ सेर जल २ सेर, पाक शेष ½ सेर), शतावरी-रस २ सेर, आमलकी रस २ सेर, दही आध सेर, दूध

आध सेर, विदारीकन्द-रस ३ सेर, शर्करा ३ सेर, घृत आधा सेर, शोधित मंडूर, ४८ तोला; ये सब द्रव्य एक साथ पाक कर लेना चाहिये। जब पाक समीप में हो, तो जीरा, धनिया, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, गजपिप्पली, मोथा, हरीतकी, अभ्र, लोह, सोंठ, पिप्पली, मिर्च, रेणुका, आमलकी, बहेड़ा, तालीशपत्र और नागेश्वर प्रत्येक का चूर्ण २ तोला इसमें मिलाकर यथाविधि पाक कर लेना चाहिये।

उपयोग—अम्लपित्त, परिणाम-शूल और वात-शूल में हितकारी है।

नवायस लोह—त्रिफला, त्रिकटु, नागरमोथा, चीतामूल, विडङ्ग प्रत्येक एक-एक तोला और लोह-भस्म ९ तोला इनको जल के साथ पीसकर गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—यकृत-दोष, प्लीहा-दोष, जीर्ण-ज्वर, वातरक्त और प्रमेह-नाशक।

नवजीवन-रस—शुद्ध कुचला दो तोला, लोह-भस्म दो तोला, रस-सिन्दूर २ तोला, त्रिकटु दो तोला इन सबको आर्द्रक-रस में पीसकर १ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—कामोत्तेजक, नाड़ी में बल देनेवाला, अंत्र-शूलहर है।

निद्रोदय-रस—अहिफेन ६ माशे, वंशलोचन ६ माशे, रससिन्दूर ६ माशे, आँवले का चूर्ण १ तोला इनको भाँग के रस में घोटकर २ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—नींद लाने के लिये।

नित्यानन्द-रस—पारद, गन्धक, ताम्र, कांसा, वङ्ग, हरताल, तुत्थ, शङ्ख-भस्म, कौड़ी की भस्म, त्रिकटु, त्रिफला, लोह, विडङ्ग, पञ्चलवण, चविका, पिप्पली-मूल, हपुषा, वच, शठी, पाठा, देवदारु, इलायची, निशोथ, चीतामूल, दन्तीमूल प्रत्येक वस्तु समान भाग लेकर हरीतकी के काढ़े के साथ पीसकर १० रत्ती की परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—अंड-वृद्धि, गंडमाला में होता है।

नृपवल्लभ—पारा, गन्धक, लोह, अभ्र, सीसा, चीतामूल, मोथा, सोहागे की खील, जायफल, हींग, दालचीनी, इलायची, वंग, तेजपत्र, काला जीरा, अजवायन, सोंठ, सैन्धव, मिर्च और ताम्र प्रत्येक एक-एक

तोला एवं स्वर्ण आधा तोला इन सबको मिलाकर आर्द्रक के रस, आँवले के रस से भावना देकर चने के समान गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—अग्निमान्द्य, ग्रहणी, अतिसार, शूल, आमातिसार में उपयोगी है।

पञ्चानन-रस—विष २ तोला, मिर्च ४ तोला, गन्धक ३ तोला, हिंगुल १ तोला, ताम्र २ तोला, आक के मूल के रस में पीसकर १ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—प्रबल ज्वर में, वात-ज्वर में।

अनुपान—मधु, आर्द्रक-रस और मधु, कर्पूर जल।

पंचवक्त्र-रस—शुद्ध पारा १ भाग, गन्धक १ भाग, वत्सनाभ १ भाग मिर्च १ भाग, टंकण १ भाग इन सबके चूर्ण को धतूरे के पत्तों के रस में दिन भर पीसकर २ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ गोली।

अनुपान—आक के मूल की छाल का काढ़ा।

पथ्य—मूँग की दाल का पानी।

उपयोग—सन्निपात ज्वर में।

पंचामृत-पर्पटी—गन्धक ८ तोला, पारा ४ तोला, लोह-भस्म २ तोला, अभ्रक-भस्म १ तोला, ताम्र-भस्म आधा तोला इन पाँचों वस्तुओं को लोहे की कढ़ाई में खरल करके एक लोहे के बर्तन में पिघलाकर केले के पत्तों के ऊपर डाल देना चाहिये। केले के पत्तों के नीचे गोबर बिछा देना चाहिये। पर्पटी के ऊपर केले का दूसरा पत्ता रखकर दबा देना चाहिये। मात्रा २ से १० रत्ती।

उपयोग—संग्रहणी, अरुचि, उल्टी, पुराना अतिसार, अर्श, ज्वर, रक्त-पित्त, क्षय, मन्दाग्नि, नेत्र-रोग।

प्रदरारि-रस—शुद्ध पारा, गन्धक, सीसक-भस्म प्रत्येक एक भाग, रसौत ३ भाग, लोध्र ६ भाग इन सबको एकत्र करके बाँसे के रस में एक दिन तक पीसना चाहिये। मात्रा—२ रत्ती।

अनुपान—शहद।

उपयोग—असाध्य प्रदर-रक्तातिसार।

प्रदरारि-लोह—कूबे की छाल ४०० तोला, १०२४ तोले पानी में काढ़ा करके आठवाँ भाग शेष बचा लेना चाहिये। इस पानी को छानकर आग पर चढ़ाना चाहिये। जब गाढ़ा होने लगे, तब इसमें मोचरस, मजीठ, पाठा, बेल, नागरमोथा, धाय के फूल, अतीस, अभ्रक-भस्म, लोह-भस्म प्रत्येक ४ तोला मिलाना चाहिये। मात्रा चैथाई से आधा तोला।

अनुपान—दर्भ के रस के साथ।

उपयोग—प्रदर, गर्भाशय से पानी का स्राव होता हो, उसमें; कटी-शूल, मस्तक-शूल में।

प्रदरान्तक-लोह—लोह-भस्म २ तोला, वंग १ तोला, स्वर्णगैरिक (गोघृत में पकाया हुआ) राल दो कर्ष ४ तोला, मोचरस १ तोला इन सबको मिलाकर चूर्ण करके शीशी में रख लेना चाहिये।

अनुपान—लालचन्दन, अशोक की छाल।

उपयोग—प्रदर-रोग में।

प्रलापान्तक-रस—शुद्ध धतूर-बीज नौ माशे, पारा ६ माशे, गन्धक ६ माशे, त्रिकटु, सुहागा, दोनों एक-एक तोला इन सबको नीबू के पानी के साथ पीसकर एक-एक रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—रोग-जन्य प्रलाप में, अग्निमान्द्य में।

पीयूषवल्ली-रस—पारद, गन्धक, अभ्रक, रौप्य, लोह, सोहागा, रसांजन, स्वर्ण-माक्षिक, लौंग, लालचन्दन, मोथा, पाठ, जीरा, धनिया, वराह-क्रान्ता, अतीस, लोध्र, कुड़े की छाल, इन्द्रजौ, दालचीनी, सोंठ, जायफल, बेल, धतूर-बीज, अनार की छाल, मजीठ, धाय के फूल, कूठ प्रत्येक आधा तोला; इन सबको भाँगरे के रस में भावित करके चने के समान गोली बना लेनी चाहिये।

अनुपान—बेलपत्र-रस और गुड़।

उपयोग—रक्तातिसार, ग्रहणी, रक्त-प्रदर।

पुनर्नवा-मण्डूर—शोधित मण्डूर ४० तोला, पाकार्थ गोमूत्र ५ सेर। जब पाक समीप हो, तो उसमें पुनर्नवा, निशोथ-मूल, सोंठ, पिप्पली, मिर्च, विडङ्ग, देवदारु, चीतामूल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, हल्दी, दारुहल्दी, दन्तीमूल, चविका, इन्द्रजौ, पिप्पलीमूल, मोथा, प्रत्येक १ तोला मिलाकर पाकशेष कर लेना चाहिये।

उपयोग—यकृत-दोष-जनित शोथ, हरिद्रवर्ण मूत्र, कामला, पाण्डु-रोग।

अनुपान गरम जल।

पूर्णचन्द्र (बृहत्)—पारा ४ तोला, गन्धक ४ तोला, लोह ८ तोला, अभ्रक ८ तोला, रौप्य २ तोला, वङ्ग ४ तोला, स्वर्ण, ताम्र और कांसा प्रत्येक एक-एक तोला, जायफल, लौंग, इलायची, दालचीनी, जीरा, कपूर, प्रियंगु, मोथा प्रत्येक दो तोला; इनको घीकार और त्रिफला-क्वाथ तथा एरण्ड-रस से मर्दन करके, एरण्ड-पत्र ही से वेष्ठन करके तीन दिन तक धान्य-राशि में रख देना चाहिये। पीछे से चने के बराबर की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—क्षय-रोग में, बहुमूत्र, मेह आदि रोगों में।

अनुपान—गूलर और मधु, त्रिफला-चूर्ण और मधु।

प्लीहान्तक-रस—ताम्र, रौप्य, अभ्रक, लोह, मुक्ता, शिंगरफ, रसौत, पारा गन्धक, गुग्गुल, त्रिकटु, रास्ना, जयपाल बीज, त्रिफला, कुटकी, दन्तीमूल, कड़ुवी तुम्बी की जड़, सैन्धव नमक, शोथ, यवक्षार इन सबको एरण्ड-तैल से मर्दन करके एक रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—पाण्डु, उदर-रोग, प्लीहा मे।

भस्मेश्वर-रस—उपलों की राख ४ तोला, मिर्च ९ माशे शुद्ध वत्सनाभ ४ माशे। मात्रा ५ रत्ती।

उपयोग—सन्निपात-ज्वर में। अनुपान—आर्द्रक-रस।

भुवनेश्वर—त्रिफला, सैन्धव लवण, अजवायन, बेलचूर्ण, गृह-धूम इनको समभाग लेकर बेर की गुठली के समान गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग—अजीर्ण-रोग, अतिसार।

अनुपान—गरम जल।

वंगेश्वर—रससिन्दूर, वंगभस्म, समभाग लेकर ४ आने भर बटी करनी चाहिये।

वंगेश्वर (बृहत्)—वंग, पारा, गन्धक, रौप्य, कपूर, अभ्रक प्रत्येक २ तोला, स्वर्ण-मुक्ता प्रत्येक आध आना। इनको किंशुक और भाँगरे के रस से भावना देकर २ रत्ती की गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग—गनोरिया के प्रारम्भ में, बहुमूत्र-रोग में।

अनुपान—हल्दी का रस, श्वेत चन्दन और चीनी।

कुसुमाकर—प्रवाल, रससिन्दूर, मुक्ता, अभ्रक प्रत्येक ४ तोला, प्रत्येक १ तोला, लोह, सीसा, और वंग प्रत्येक ३ तोला। इनको वासक, हल्दी, ईक्षु, कमल, मालती पुष्प, केले की मूल का रस, श्वेत चन्दन और मृगनाभि काढ़ा एवं दूध से ७ बार भावना देकर २ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—रसायन है, प्रमेह, बहुमूत्र में उपयोगी है।

अनुपान—मक्खन, मिश्री, धारोष्ण दूध।

बसन्ततिलक—स्वर्ण १ तोला, अभ्र २ तोला, लोह ३ तोला, पारद ४, गन्धक ४, वंग २, मुक्ता ४ और प्रवाल ५ तोला इकट्ठा करके गोक्षुर वासक और गन्ने के रस से मर्दन करके भूसे के अन्दर रखकर बालुका-यंत्र के अन्दर पाक करना चाहिये। इसमें से निकालकर कस्तूरी ४ तोला, कपूर ४ तोला मिलाना चाहिये।

उपयोग—ज्वर, नाड़ी की शिथिलता, दौर्बल्ययुक्त यक्ष्मा-रोग में।

वात गजांकुश—मनःसिल आधा, मीठा विष १, ताम्र १, शोधित हिंगुल १, समुद्रफेन १, सैन्धव १, सोहागे की खील १, इनको जयन्तीपत्र-रस से मर्दन करके चने के समान गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—वात-रोग।

वात-गजेन्द्रसिंह—अभ्रक, लोह, पारद, गन्धक, ताम्र, सीसा, सोहागा, विष, सैन्धव लवण, हींग और जायफल प्रत्येक १ तोला; दाल-चीनी, तेजपात, इलायची, त्रिफला, जीरा, प्रत्येक आधा तोला, इनको घीकुमारी के रस में मर्दन करके ३ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—पक्षाघात में, वात-रोग में।

अनुपान—रास्नापञ्चक या रास्नासप्तक।

वात-चिन्तामणि (वृहत्)—स्वर्ण ३ तोला, रौप्य २ तोला, अभ्रक २ तोला, लोह ५ तोला, प्रवाल ३ तोला, मोती ३ तोला, रससिन्दूर ७ तोला इनको घीकुमारी-रस के साथ मर्दन करके २ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—वात-व्याधिनाशक।

अनुपान—मक्खन और मिश्री, पक्षाघात में माषबलादि पाचन।

विषम ज्वरान्तक (पुटपाक)—पारा १ तोला, गन्धक एक तोला, इनकी कज्जली करके पर्पटी बनानी चाहिये। फिर इसमें स्वर्ण ४ आना,

लोह, ताम्र, अभ्रक प्रत्येक २ तोला, बंग और स्वर्णगैरिक प्रत्येक आधा तोला, मुक्ता, शङ्ख, शुक्ति-भस्म चार आना इनको जल के साथ पीसकर सीप के अन्दर रखकर पुटपाक करके निकाल लेना चाहिये।

उपयोग—पुरातन ज्वर में, रक्तहीनता में, उपयोगी है।

वृहत् चिन्तामणि—शङ्ख-भस्म, मकरध्वज, स्वर्णगैरिक इनको सम-भाग लेकर जल के साथ पीसकर १ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—वायु, पित्त रोग में लाभदायक है।

मदन कामेश्वर रस—पारा, गन्धक, और अफीम सब समान भाग लेकर पान के पत्ते के रस में एक-एक रत्ती की गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ गोली।

अनुपान—शर्करा।

उपयोग—कामोत्तेजक।

मालिनी वसन्त—खपरिया २ तोला, कालीमिर्च १ तोला इन दोनों का चूर्ण करके, मक्खन मिलाकर एक दिन तक घोंटना चाहिये। पीछे नीबू के पानी से कई दिन तक रगड़ना चाहिये जिससे मक्खन की चिकनाहट निकल जाय। मात्रा २ से ४ रत्ती।

अनुपान—मधु, पिप्पली।

उपयोग—ज्वर, जीर्ण-ज्वर, अतिसार, प्रदर, अर्श, नेत्र-रोग, हाथ-पाँव के ज्वलन में, दाह में उपयोगी है।

मन्मथाभ्र-रस—पारा, गन्धक, अभ्रक प्रत्येक ४ तोला, कपूर, बङ्ग प्रत्येक १ तोला, ताम्र आधा तोला, लोहा २ तोला, जीरा, बिदारी, शतावरी, बिधारा, अतिबला, इलायची, शंखपुष्पी इनको जल से पीसकर १ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—शुक्रमेह-जनित, शिश्न-शैथिल्य में, शुक्रधारक, बलकारक।

महागन्धक—कज्जली ४ तोला; इसको पानी में मिलाकर लोहापात्र में पिघालकर, इसमें जायफल, जावित्री, निर्गुण्डी, लौंग, नीम-पत्र प्रत्येक का चूर्ण २ तोला मिलाकर पीसना चाहिये। इस औषधि को सीप के अन्दर रखकर उसपर कीचड़ का लेप करके पुटपाक देना चाहिये। लाल होने पर इसको निकालकर दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये। यदि पुट न दिया जाय, तो इसका नाम 'सर्वांग सुन्दर' होता है।

उपयोग—शिशुओं के तथा स्त्रियों के अजीर्ण में यह औषधि उत्तम है। अतिसार-रोग में लाभ करती है।

महालक्ष्मी विलास—अभ्रक ८ तोला, गन्धक ४ तोला, वंग २ तोला, रौप्य १ तोला, स्वर्णमाक्षिक १ तोला, ताम्र आधा तोला, कर्पूर ४ तोला, जावित्री, जायफल, विधारा, धतूरे का बीज प्रत्येक २ तोला, स्वर्ण १ तोला इनको पान के रस में पीसकर २ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—कास, वात, पक्षाघात, शूल, मेदो-रोग, यक्ष्मा-ज्वर, प्रतिश्याय में।

महाशङ्खवटी—शंख-भस्म, पंचलवण, इमली का क्षार, त्रिकटु, हींग, विष, गन्धक, पारद प्रत्येक वस्तु समभाग लेकर अपामार्ग, चित्रकमूल-क्वाथ, नीबू का रस तथा अम्ल वर्ग की भावना देकर दो रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये। इस औषधि के साथ लोह और वंग मिला दिया जाय, तो 'महाशंखवटी' बन जाती है।

अनुपान—गरम जल।

उपयोग—अग्निमान्द्य, अजीर्ण, ज्वर, गुल्म, पाण्डु, कुष्ठ, शूल, प्रमेह, वातरक्त में उपयोगी है।

मृगांक—पारा १ तोला, गन्धक २ तोला, स्वर्ण-भस्म १ तोला, मुक्ता-भस्म १ तोला, सोहागा ½ तोला इन सबको कांजी के साथ पेषण करके सुखा लेना चाहिये। इसको मुषा के मध्य में रखकर लवण-यंत्र के अन्दर पकाना चाहिये।

उपयोग—रक्तपित्त, यक्ष्मा-रोग।

अनुपान—पिप्पली चूर्ण और मधु, वासकपत्र।

मृत्युञ्जय—विष, मिर्च, पिप्पली, गन्धक, सोहागे की खील प्रत्येक १ भाग, हिंगुल २ भाग सबको आर्द्रक-रस के साथ पीसकर मूँग के बराबर गोली बना लेनी चाहिये।

उपयोग—नव-ज्वर में।

मृतसंजीवन-रस—कृष्ण सर्प-विष, विष, चाँदी की भस्म, सुहागा, हिंगुल, पारा, गन्धक, हरताल प्रत्येक एक माशा इनको बकरी, मोर, सुअर और मछली के पित्त में भावना देनी चाहिये। गोली सरसों के समान बनानी चाहिये।

उपयोग—श्वास में, प्रलाप में, बधिरता में, मूकता में, शीतांग सन्निपात में।

रसेन्द्रवटी—लोह-भस्म, अभ्रक-भस्म प्रत्येक एक-एक तोला, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक आधा-आधा तोला, प्रवाल ½ तोला, खपरिया ½ तोला, इन सबको कटेरी, ब्राह्मी और बाँसे के पत्तों की रस की भावना पृथक् २ तीन-तीन देकर दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—स्वर-भङ्ग में, कास-श्वास में, बहुमूत्रता में उपयोगी है।

रसपर्पटी—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक इन दोनों की कज्जली करके, इसको लोहे की कड़छी में पिघलाकर पंचामृत पर्पटी बना लेनी चाहिये।

अनुपान—रोगानुसार साधारणतः जीरा और हींग। मात्रा १ से १० रत्ती।

उपयोग—संग्रहणी, अर्श, अतिसार, शूल, कामला, पांडु, प्लीहा, गुल्म, जलोदर, शोथ में।

रससिन्दूर—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक क्रमशः १० तोला और २० तोला, नवसार १ तोला, फिटकिरी एक तोला इन सबको घीकार के रस में घोंटकर आतशी शीशी के अन्दर भरकर बालुका-यंत्र में पाक करना चाहिये। परिपाक होने पर गले में लगा हुआ लाल रंग का सिन्दूर प्राप्त करना चाहिये। मात्रा—१ से २ रत्ती।

अनुपान—रोगानुसार।

उपयोग—योगवाही होने से सब रोगों में बरता जाता है।

रसराज—रससिन्दूर ८ तोला, २ तोला इनको घीक्वार रस से मर्दन करके लोह, रौप्य, वंग, अश्वगन्धा, लवंग, जावित्री प्रत्येक आधा तोला मिलाकर काकमाची के रस में मर्दन करके ५ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—वात-रोग की उत्कृष्ट औषधि है।

अनुपान—धारोष्ण दूध, त्रिफला जल, घृत-मधु या मक्खन।

राज मृगाङ्क—पारा ३ तोला, स्वर्ण १ तोला, ताम्र १ तोला, मनःशिला १ तोला, हरताल २ तोला, गन्धक २ तोला इनको पीसकर कौड़ियों के अन्दर भरकर कौड़ियों का मुख बकरी के दूध में पीसे हुये सुहागों से बंद

कर देना चाहिये। इन कौड़ियों को भस्म करनी चाहिये। मात्रा २ से ४ रत्ती।

उपयोग—मृगांक की भाँति।

रामबाण-रस—पारा, विष, लौंग, गन्धक प्रत्येक १ तोला, मिर्च २ तोला, जायफल आधा तोला सबका चूर्ण करके कच्ची इमली के रस मे भावना देकर चने जितनी गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—मन्दाग्नि आमवात, संग्रहणी, उल्टी, कास आदि में।

लघु क्रव्यादि रस—गन्धक २ तोला, पारा १ तोला, लोह-भस्म आधा तोला, संचल लवण १ तोला, टंकण २ तोला, मिर्च २ तोला, पिप्पली-मूल आधा तोला, चित्रकमूल आधा तोला, सोंठ आधा तोला, पिप्लव आधा तोला, लवंग आधा तोला इन सबका चूर्ण करके नीबू के रस की सात भावना देकर रख लेना चाहिये। मात्रा १ से ४ बाल।

अनुपान—पानी अथवा छाछ अथवा सेंधानमक, सिका हुआ जीरा और हींग।

उपयोग—कॉलरा, अजीर्ण, अतिसार, मन्दाग्नि, अरुचि।

लघुलाई-चूर्ण—पारा, गन्धक, त्रिकटु, अजवायन, श्वेत जीरा काला जीरा, सेंधानमक विड्लवण, संचल नमक, हींग प्रत्येक वस्तु समान भाग और सबके बराबर कुड़े की छाल का चूर्ण। प्रथम गन्धक और पारद की कज्जली बनाकर बाकी वस्तुओं को इसमें पीसकर मिलाना चाहिये।

उपयोग—अतिसार में, संग्रहणी में, आनाह में।

लक्ष्मीविलास-रस—शुद्ध कुचला ६ तोला, सुहागे की खील ६ तोला, मिर्च ६ तोला, लोह-भस्म १ तोला, गन्धक २ तोला, पारा १ तोला; इन सबको मिलाकर आर्द्रक रस से भावना देनी चाहिये। इसी प्रकार शतावरी, आँवला और भाँग के रस मे भावना देनी चाहिये। मात्रा १ रत्ती।

उपयोग—शरीर की पुष्टि करनेवाला, वीर्य-वर्द्धक, अग्नि-वर्द्धक।

लोकनाथ-रस—पारा १ तोला, गन्धक १ तोला, अभ्रक १ तोला, लोह २ तोला, ताम्र २ तोला, कौड़ी-भस्म ४ तोला, पान के रस में एक पहर तक रगड़कर लघुपुट देकर पाक करना चाहिये। मात्रा २ रत्ती।

उपयोग—प्लीहा और यकृत-रोग में उत्कृष्ट औषधि है।

वात-गजांकुश पारा २ भाग, गंधक ८, शुद्ध कुचला ८ भाग, त्रिकटु १२ भाग इन सबको पीसकर चूर्ण बनाकर एरण्ड-काढ़े की भावना देनी चाहिये। मात्रा १ रत्ती।

उपयोग— सब प्रकार के वात रोगों में।

वातारि-रस—शुद्ध अफीम, शुद्ध कुचला, मिर्च प्रत्येक समभाग; इनका चूर्ण करके पानी में पीसकर रत्ती-रत्ती की गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ गोली।

अनुपान—पानी के साथ।

उपयोग—कुब्जत्व, गृध्रसी वायु, आमवात, शूल, कम्पवायु, अरुचि, ग्रहणी।

वातारि-रस (२)—यशद-भस्म ५ बाल, चाँदी की भस्म १ रत्ती, गिलोय का सत्त्व १० बाल, तीनों को मिलाकर आधी रत्ती की गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ गोली।

उपयोग—अपस्मार, वात-व्याधि में।

विसूची-विध्वंसन-रस—कृष्ण सर्प-विष, शुद्ध विष, पारा, गन्धक, सुहागा, सोंठ, स्वर्ण-माक्षिक प्रत्येक १ माशा सबके बराबर शुद्ध हिंगुल इनको नीबू के स्वरस में मर्दन करके सरसों के बराबर गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—शीतांग सन्निपात में, कॉलरा में।

वीरभद्र-रस—शुद्ध पारा १ भाग, अभ्रक-भस्म १ भाग, गन्धक १ भाग, सोंठ १ भाग, मिर्च १ भाग, पिप्पली १ भाग पंचलवण ५ भाग, सौंफ १ भाग, जीरा १ भाग, काला जीरा १ भाग, इन सबको पीसकर आर्द्रक के रस में घोंटकर उड़द जितनी गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ गोली।

अनुपान—चित्रकमूल, सैन्धानमक तथा आर्द्रक।

वेदनान्तक-रस—शुद्ध अफीम ३ माशा, नौसादर ३ माशा, खुरासानी अजवायन ३ माशा, रससिन्दूर ६ माशा इनको भाँग के रस में पीसकर दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—वेदना-नाशक।

शृङ्गाराभ्र—अभ्रक १६ तोला, कपूर, जावित्री, नेत्रबाला, गजपिप्पली, तेजपत्र, लौंग, जटामांसी, तालीश-पत्र, दालचीनी, नागकेशर, कूठ,

धाय के फूल प्रत्येक आधा तोला, हरीतकी, आमलकी, बहेड़ा, सोंठ पिप्पल मिर्च प्रत्येक चार आना, इलायची और जायफल प्रत्येक १ तोला, गन्धक १ तोला, पारा आधा तोला, जल के साथ पीसकर चने के बराबर गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—कास-रोग में।

शोणितारि—लोह-भस्म ½, अभ्र ½, रसौत १, फिटकरी ¼, लाल चन्दन १, स्वर्ण गैरिक १, रस-सिन्दूर १, लाक्षा ½ भाग, बबूल-पत्र रस के साथ पीसकर २ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—रक्तातिसार में, रक्तार्श में, रक्त-पित्त में, रक्त-प्रदर में।

श्वासारि-लोह—लोह ४ तोला, अभ्र १ तोला, शर्करा ४ तोला, मधु ४ तोला, त्रिफला, मुलहठी, द्राक्षा, पिप्पली, बेर की गुठली, वंशलोचन, तालीश-पत्र, बिडंग इलायची, कूठ और नागकेसर प्रत्येक १ तोला इनको लोहे की खरल में २ प्रहर तक मर्दन करना चाहिये। मात्रा १ आने से चार आने तक।

उपयोग—श्वास-रोग में।

शिरोवज्र-रस—पारा, गन्धक, लोह, निशोथ प्रत्येक ८ तोला, गुग्गुल ३२ तोला, त्रिफला चूर्ण १६ तोला, कूठ, मुलहठी, पिप्पली, सोंठ, गोखरू, दशमूल, विडंग प्रत्येक १ तोला इनको दशमूल-क्वाथ से भावना देकर घी के साथ मर्दन करना चाहिये।

उपयोग—श्लेष्म और वात-श्लेष्म-जनित शिरो-रोग में विशेष उपकारी है।

शीतारि-रस—शुद्ध पारा १ भाग, सुहागा १ भाग, गन्धक १ भाग, दन्तीबीज २ भाग, सेंधानमक १ भाग, मिर्च १ भाग, इमली के चोंचों की राख १ भाग, शर्करा १ भाग सबको पीसकर नीबू के रस में एक दिन तक घोंटकर दो-दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये। मात्रा—१ गोली।

अनुपान—गरम पानी।

श्वासकुठार-रस—पारा, वत्सनाभ, गन्धक, सुहागा और शुद्ध मनःसिला प्रत्येक एक-एक तोला, मिर्च ८ तोला सबका चूर्ण करके इसमें सोंठ २ तोला, मिर्च २ तोला, पिप्पली २ तोला प्रत्येक वस्तु मिलानी चाहिये। मात्रा १ रत्ती।

अनुपान—पान का पत्ता।

उपयोग—श्वास, कास, मन्दाग्नि मे।

शङ्ख-विषोदय-रस—शुद्ध शंख विष १ रत्ती, मिर्च, रससिन्दूर प्रत्येक ३ माशे, धतूरे का बीज, पिप्पली, सोंठ प्रत्येक दो-दो माशे, सबको नीबू के स्वरस मे पीसकर १ रत्ती की गोली बनानी चाहिये। एक-एक गोली दिन में दो बार देनी चाहिये।

उपयोग—भूतज्वरहर, सन्निपात-नाशक।

शिवताण्डव-रस—विष १ तोला, रससिन्दूर १ तोला, हरताल, पारा, गंधक प्रत्येक एक-एक तोला, मिर्च-चूर्ण ४ तोला, इनको आर्द्रक रस मे पीसकर १ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—सन्निपात-नाशक।

सप्तामृत लोह—हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुलहठी और लोह-भस्म, प्रत्येक १ तोला इनको मिलाकर शीशी में रखना चाहिये। मात्रा २ से ४ रत्ती।

अनुपान—घी तथा शहद।

उपयोग—नेत्र-रोग में, मस्तिष्क-विकार में।

स्वल्प-ज्वरांकुश—पारा, गंधक, वत्सनाभ, प्रत्येक १ तोला, धतूराबीज ३ तोला, सोंठ, मिर्च और पिप्पली प्रत्येक चार तोला इनको प्रथम नीबू के रस की और फिर आर्द्रक के रस की भावना देकर रत्ती जितनी गोली बनानी चाहिये। मात्रा २ गोली।

अनुपान—आर्द्रक का रस और शहद।

उपयोग—ज्वर में।

स्वर्ण वसन्तमालती—स्वर्ण-भस्म १ तोला, मुक्ता-भस्म २ तोला, हिंगुल ३ तोला, मिर्च ४ तोला, खपरिया ८ तोला इनको मक्खन और नीबू के रस में क्रमशः मर्दन करना चाहिये। मात्रा १ से २ रत्ती।

उपयोग—क्षय, जीर्ण ज्वर, कास, श्वास, वायु, धातु-ज्वर, रक्त-विकार कृशत्व, में।

सर्व-ज्वरहर लोह—चित्रक-मूल, हरीतकी, आमलकी, बहेड़ा, त्रिकटु, विडंग, मोथा, गज पिप्पली, उशीर, नेत्रवाला, पिप्पली-मूल देवदारु,

चिरायता, कुटकी, कन्टकारी, सहिजन बीज, मुलहठी और इन्द्रजौ प्रत्येक दो-दो आना, लोह ढाई तोला इनको जल के साथ १ रत्ती परिमाण की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—पुरातन ज्वर में।

सर्वतो भद्ररस—रससिन्दूर, अभ्रक, रौप्य, स्वर्ण, मनःशिला प्रत्येक एक-एक तोला, वंशलोचन २ तोला, गुग्गुल ७ तोला जल के साथ दो आना वज़न की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—ज्वर में, अग्निमान्द्य में, कास-रोग में, मूत्रकृच्छ्र में।

सर्वाङ्ग सुन्दर—पारा १ तोला, गन्धक १ तोला, सोहागे की खील २ तोला, मुक्ता, प्रवाल, और शङ्ख प्रत्येक दो-दो तोला, स्वर्ण आधा तोला इनको नीम की छाल के रस में पीसकर गोली बनानी चाहिये। फिर मूषा के अन्दर पाक करके, इसमें लोह आधा तोला, हिंगुल ४ आना मिलाना चाहिये। मात्रा २ रत्ती।

स्वर्ण वङ्ग—शोधित वंग को कड़ाही में पिघलाकर इसमें वंग के बराबर शुद्ध पारा मिलाकर पिष्टि बना लेनी चाहिये। फिर इस पिष्टि को भली प्रकार धोकर काला पानी निकाल देना चाहिये। पीछे से पारे से दुगुनी गन्धक और गन्धक के समान नौसादर मिलाकर कज्जली बना लेनी चाहिये। इस कज्जली को आतशी शीशी में रखकर बालुका-यंत्र पाक करना चाहिये। पाक करने पर लगा हुआ स्वर्ण के समान पीला चूर्ण प्राप्त करना चाहिये।

उपयोग—मेह-रोगनाशक, शुक्र-गाढ़कारक।

स्वर्ण सत्त्व—शुद्ध तप की हुई हरताल को अभ्रक के पत्रों के बीच में बारीक बिछाकर शराब सम्पुट को सन्धि को बेर के पत्तों के कल्क से बन्द करके मृदु अग्नि से पाक करना चाहिये। ३ घन्टे पीछे आग को समाप्त करके स्वांग शीतल होने पर पत्रों के बीच से अति सुन्दर लाल-उज्वल रंग की औषध प्राप्त करनी चाहिये। यह औषधि ज्वर के विच्छेद समय में देनी चाहिये।

सिद्ध मकरध्वज—स्वर्ण ४ तोला, गन्धक १६ तोला, पारा ८ तोला इनको चन्द्रोदय की विधि से पाक करना चाहिये।

सिन्दूरभूषण-रस—अफीम ६ माशे, स्वर्ण ६ माशे, नौसादर ६ माशे, रस-सिन्दूर दो तोला, इलायची, वंशलोचन प्रत्येक १ तोला इनको

नागर मोथे के काढ़े से पीसकर दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—अतिसार-रोग में।

हिंगुलेश्वर-रस—पिप्पली, हिंगुल और विष समभाग लेकर जल के साथ आधी रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—नव-ज्वर में।

अनुपान—आर्द्रक-रस और मधु। सायंकाल तुलसीपत्र-रस।

हेमनाथ-रस—पारा, गन्धक, स्वर्ण, स्वर्णमाक्षिक प्रत्येक १ तोला, लोहा, कपूर, प्रवाल और बंग प्रत्येक आधा तोला इनको मोचरस, गूगर-रस से ७ भावना देकर दो रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—जीर्ण-प्रमेह, बहुमूत्र, सोमरोग की प्रसिद्ध औषधि है।

हृदयांबि-रस—कज्जली १ भाग, ताम्र-भस्म २ भाग; इनको त्रिफला और मकोय के रस से पीसकर १ रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—हृदय-रोग-नाशक।

रस-सम्बन्धी सामान्य सूचनायें

१. शास्त्र में एक नाम से कई रस दिये गये हैं। उदाहरण के लिये अग्निकुमार रस ही सात आठ-तरह का है। यह भेद कहीं तो ग्रन्थों में पाठ-भेद के कारण हुआ है और कहीं अधिकार-भेद से अर्थात् रोग-भेद से। जैसे—(१) अग्निकुमार-रस रत्नावलि ग्रन्थ में ज्वराधिकार में मीठा विष डालकर बनाया है।

(२) इसी ग्रन्थ में ग्रहणी अधिकार में अफीम डालकर बनाया है।

(३) रसेन्द्रसार-संग्रह में यही रस इन्हीं उपकरणों के साथ भाँग के बीज से बनाया है।

(४) रसेन्द्रसार में यही रस अजीर्ण अधिकार में निम्न प्रकार से दिया है—कज्जली दो भाग, सोहागा १, अमृत ३, कौड़ी-भस्म ३, शंख-भस्म ३ और कालीमिर्च ८ भाग।

(५) रसेन्द्रसार में अजीर्ण अधिकार में एक और अग्निकुमार रस दिया है, जैसे कज्जली, सोहागा, त्रिफला, त्रिकटु, यवक्षार और पंचलवण इनको आर्द्रक रस की सात भावना देकर वटी करनी चाहिये।

(६) इसी ग्रन्थ में इसी अधिकार में दूसरे अग्निकुमार में अभ्रक, लोह और ताम्र डालकर बनाया है। इस प्रकार के नाम से प्रायः भ्रम पड़ जाता है। इस पुस्तक में जो भी पाठ दिया गया है, वह प्रसिद्ध पाठ समझकर दिया गया है।

२. एक रस में थोड़ा-सा परिवर्तन करके शास्त्र में दूसरे नाम से रस का पाठ भी दिया गया है। जैसे वृहत वंगेश्वर में थोड़ा-सा परिवर्तन करके प्रमेह चिन्तामणि नाम दिया गया है। ये दोनों ही नाम प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थ में इस प्रकार के स्थानों में उसी सदृश फल दिखानेवाले एक या दो रस रख दिये गये हैं, जो अधिकतर व्यवहार में लाये जाते हैं।

३. इस स्थान पर 'पारा', 'गन्धक' आदि नामों से यह अभिप्रेत है कि इनको सदा शुद्ध करके व्यवहार में लाना चाहिये। अशुद्ध वस्तु का उपयोग सर्वथा त्याज्य है। यही बात विष—अमृत- मीठातेलिया आदि के विषय में समझना चाहिये।

४. यदि किसी रस में सोंठ लिखकर फिर त्रिकटु या सोंठ लिखी गई है, तो इसका अभिप्राय यह है कि वह दुगुनो चाहिये।

स्वरस और पुटपाक

रसों का या गोली का अथवा अन्य किसी औषधि के गुण में वृद्धि करने के लिये उसी प्रकार का अनुपान दिया जाता है। यह अनुपान या तो स्वरस के रूप में, या पुटपाक के अथवा काढ़े अथवा चूर्ण के रूप में होता है। उदाहरण के लिये—

(१) प्रमेह में—प्रमेह की औषधि के साथ गिलोय का स्वरस या चूर्ण, हल्दी का स्वरस अथवा आमलकी का चूर्ण या स्वरस मिलाकर दिया जाता है।

(२) कास या श्वास में—आर्द्रक या कंटकारी का स्वरस।

(३) ज्वर में—पान का रस, गिलोय या तुलसी का स्वरस।

इसी प्रकार सब स्थानों में सोचकर स्वरस की योजना की जाती है।

पुटपाक— पुटपाक की विधि प्रथम दी जा चुकी है। जिस समय स्वरस की प्राप्ति नहीं होती, या स्वरस से अधिक तीक्ष्ण उपयोग लेने की

आवश्यकता हो, उस समय पुटपाक की विधि से रस निकालकर काम में लाया जाता है। उदाहरण के लिये—

जामुन, आम, अनार आदि के पत्तों से पुटपाक विधि द्वारा निकाला हुआ स्वरस अतिसार में लाभ करता है; छोटी कटेरी के पुटपाक से बनाया रस इन्फ्लुएञ्जा में लाभ करता है।

जो वस्तुयें बिल्कुल शुष्क होती हैं, जैसे सोंठ, उनको कूटकर, उनमें घी मिलाकर पुटपाक किया जाता है।

प्रयोजक को चाहिये कि जिस प्रभाव के लिये वह स्वरस या पुटपाक बनाना चाहे, वह उसी प्रकार की औषधि लेकर स्वरस या पुटपाक बना ले।

इन सब बातों के लिये औषधियों का गुण-धर्म भली प्रकार स्मरण होना आवश्यक है।

यहाँ पर कुछ पुटपाक के उदाहरण दिये जाते हैं—

१. जामुन के पत्तों का पुटपाक	...	अतिसार-रोग में
२. विभीतक पुटपाक	...	कास, श्वास में।
३. दाड़िम पुटपाक	..	अतिसार, रक्त-स्राव में।
४. कण्टकारि पुटपाक	...	कास, श्वास में।
५. सूरन पुटपाक	...	अर्श में।
६. वासा पुटपाक	...	रक्त-पित्त, क्षय, कास।

क्वाथ

एक से अधिक औषधियों को चौगुने या छ:गुने अथवा आठगुने या सोलहगुने पानी में पकाकर और चतुर्थांश पानी शेष रखकर कपड़े में से छानकर रोगी को औषधि के साथ या स्वतन्त्र दिया जाता है। इसका नाम क्वाथ है। कोई-कोई क्वाथ दीपन और पाचन हैं।

साधारणत: नव-ज्वर में औषधि देना निषिद्ध है। इसलिये क्वाथ, कषाय आदि भी 'भेषज' या औषधि शब्द से कहे जाते हैं, उनका भी निषेध समझा गया है। परन्तु इस स्थान पर यह स्मरण रखना चाहिये कि जो कषाय कषाय-रस हो अथवा ज्वर को उतारनेवाला हो, उसका नव-ज्वर में निषेध है। अन्य रसवाला क्वाथ या दीपन-पाचन क्वाथ दिया जा सकता है।

इन क्वाथों में इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि यदि कोई औषधि रोगी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है, तो उसको निकाल दें अथवा उसके स्थान पर दूसरी अनुकूल औषधि मिला दें। उदाहरण के लिये--

यदि क्वाथ में विरेचन औषधि नहीं है और रोगी को देना अभीष्ट है, तो उसमें मिला देनी चाहिये।

अग्निमन्थ-क्वाथ---अरणी के मूल की छाल ढाई तोला सोलह-गुना पानी में क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। मात्रा २ से ५ तोला।

उपयोग—वसामेह में।

अर्कादि-क्वाथ (१)—अर्क-मूल, जीरा, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, भाँगरे का मूल, कण्टकारि, काकड़ाशृङ्गी और पुष्करमूल इनका क्वाथ गोमूत्र से सिद्ध करके पीने से शीतांग सन्निपात, ज्वर, दाह, श्वास, कफ नष्ट होता है।

अर्कादि-क्वाथ (२)—अर्कमूल, धमासा, चिरायता, देवदारु, रास्ना, बच, सम्भालु, अरणी, सुहांजना, पिप्पलीमूल, पीपल, चव्य, चीता, सोंठ, अतीस, भाँगरा इन सोलह औषधियों का क्वाथ सन्निपात-ज्वर, धनुर्वात, शीत, श्वास, कास, मृतिका, वात-रोग को नष्ट करता है।

अतिविषादि-क्वाथ---अतीस, उशीर, बेल, इन्द्रजौ, नागरमोथा, धनिया, सोंठ इनका काढ़ा सब प्रकार के अतिसार को नष्ट करता है और मल-शुद्धि करता है।

अभयादि-क्वाथ--- अभया, हरड़, नागरमोथा, धनिया, रक्ताञ्जली, पद्माख, वासकपत्र, इन्द्रजौ, नेत्रवाला, गिलोय, अमलतास का गूदा, पान, सोंठ, कूठा।

अनुपान—पिप्पली-चूर्ण।

उपयोग—त्रिदोष-ज्वर, दाह, कास, दमा, तन्द्रा को नाश करता है, दीपन और पाचन है, मल-मूत्र, वायु, कब्जीयत, उल्टी, विरसास्यता, मुंह का सूखना तथा अरुचि को नष्ट करता है। सब प्रकार के ज्वर में उपयोगी है।

अमृतादि-क्वाथ (१)—गिलोय और त्रिफला का काढ़ा।

अनुपान—पिप्पली-चूर्ण और मधु।

उपयोग—सब रोगों में।

अमृतादि-क्वाथ (२) - गिलोय, सोंठ, आँवला, अश्वगन्धा और गोखरू इनका काढ़ा मधु के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र-रोग नष्ट होता है।

अमृतादि-क्वाथ (२)—गिलोय, एरण्ड-मूल और बाँस का पत्ता; इनका काढ़ा एरण्ड का तेल डालकर पीने से वात-रक्त नष्ट होता है।

अमृताष्टक—गिलोय, नीबू की अन्तःछाल, कूड़ा, इन्द्रजौ, नागरमोथा, सोंठ, परवल, रक्ताञ्जली (लालचन्दन) इनका क्वाथ पिप्पली-चूर्ण के साथ पीने से पित्त, कफ, ज्वर, वमन, अरुचि, दाह, प्यास आदि को नष्ट करता है।

अवल्गुजादि-क्वाथ—आँवला, खैरसार इन दोनों का काढ़ा करके, बावची का चूर्ण डालकर पीना चाहिये। पथ्य—सात्त्विक खूराक, श्वित्र, कोढ़ के लिये उपयोगी है।

अश्वत्थादि क्वाथ— पीपल की छाल, पाठा, बेल की छाल; इनके काढ़े मे मधु डालकर पीने से पित्त-मेह शान्त होता है।

आरग्वधादि क्वाथ — आरग्वध, पिप्पली-मूल, नागरमोथा, कुटज, हरड़; इनका काढ़ा वात-ज्वर, आम-शूल तथा मल-बन्ध को नष्ट करके दीपन, पाचन करता है।

इन्द्रयवादि-क्वाथ—इन्द्रजौ, धनिया, पटोल, इनका काढ़ा मधु तथा शर्करा मिलाकर पीने से सब प्रकार के अतिसार नष्ट होते हैं।

एरण्ड-क्वाथ - एरण्ड-मूल ८ तोला आठगुने पानी में पकाकर जब अष्ठमांश शेष रहे, तब इसमे जौखार ६ माशा मिलाकर पीना चाहिये।

उपयोग पार्श्वशूल, हृदयशूल और कफशूल मे।

एलादि-क्वाथ—इलायची, मुलहट्ठी, गोखरू, रेणुकाबीज, एरण्ड का मूल, वासापत्र, पीपल और पाषाण-भेद—इस काढ़े में शिलाजीत मिलाकर पीना चाहिये। इससे शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी रोग में लाभ होता है।

कंटकारी-क्वाथ—कण्टकारी का काढ़ा पिप्पली का चूर्ण डालकर पीने से कास और श्वास में लाभ करता है।

कंटकार्यादि पाचन—दोनों प्रकार की कटेरी, सोंठ, देवदारु, धनिया। यह काढ़ा पाचन होने से सब ज्वरों में बरता जाता है।

कटफलादि-क्वाथ—कायफल, मोथा, भारंगी-मूल, धनिया, खेत्रपापड़ा, वच, हरड़, काकड़ाश्रृङ्गी, सोंठ, देवदारु, काला जीरा, चिरायता, पिप्पली,

कुटकी, इन्द्रयव; इनके काढ़े में हींग और आर्द्रक-रस मिलाकर प्रक्षेप करने से वात-ज्वर, कफोल्बन सन्निपात नष्ट होता है।

कटफलादि-क्वाथ २.—कायफल, इन्द्रजौ, पाठा, कुटज, नागरमोथा इनका काढ़ा तीव्र पित्त-ज्वर के प्रारम्भ में दस दिन तक पीना चाहिये।

कुटजाष्टक-क्वाथ—कुटज, अतिविष, पाठा, धाय के फूल, लोध्र, नागरमोथा, उशीर, अनार की छाल, इनका काढ़ा मधु और मोचरस के प्रक्षेप के साथ लेना चाहिये।

उपयोग—अतिसार में, दाह, आम और रक्त-युक्त अतिसार में।

खदिरादि-क्वाथ—खैर की छाल, त्रिफला इन चारों का काढ़ा करके भैंस का घी तथा वायविडङ्ग डालकर पीना चाहिये।

उपयोग—भगन्दर-रोग में।

खाँसी का क्वाथ—सौंफ, काला हंसराज, कमल-फूल, वासक-पत्र, अमलतास, काली किशमिश, मुलहट्टी।

अनुपान—शीतल होने पर मधु डालकर पीना चाहिये।

उपयोग—सब प्रकार के कास में।

गुडूच्यादि-क्वाथ (१)—गिलोय, धनिया, नेत्रवाला, सोंठ, उशीर, पित्तपापड़ा, बेल, अतीस, पाठा, लालचन्दन, कूड़ा-छाल, चिरायता, नागरमोथा, इन्द्रजौ।

अनुपान—क्वाथ करके इसमें शहद डालकर पीना चाहिये। ज्वरातिसार, रक्तपित्त में उपयोगी है।

गुडूच्यादि-क्वाथ (२)—गिलोय, धनिया, नागरमोथा, लालचंदन, नेत्रवाला, सोंठ।

अनुपान—मधु तथा शर्करा।

उपयोग—ज्वर, पिपासा, दाह में।

गुडूच्यादि-क्वाथ (३)—गिलोय का क्वाथ करके इसमें पिप्पली का चूर्ण मिलाकर पीना चाहिये। जीर्ण ज्वर में उपयोगी है।

गुडूच्यादि-क्वाथ (४)—गिलोय, धनिया, नीम की अन्तः-छाल, लालचन्दन, पद्माख।

उपयोग—सर्व ज्वर, दाह, तृषा, वमन, अरुचि, मन्दाग्नि में।

गुडूच्यादि पाचन—गिलोय, पिप्पली-मूल, सोंठ, वात-ज्वर के संपूर्ण लक्षण मालूम होने पर ज्वर के सातवें दिन यह काढ़ा देना चाहिये।

उपयोग—वात-ज्वर में।

ग्रन्थ्यादि-क्वाथ—पिप्पली-मूल इन्द्रजौ, देवदारु, गुग्गुल, बार्यविडङ्ग, भारंगी-मूल, भाँगरा, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, चित्रकमूल, कायफल, कूठ, रास्ना, हरड़, दोनों कटेरी, अजवायन, चिरायता, बच, चविका, पाठा। सन्निपात ज्वर में उपयोगी है।

गोक्षुरादि-क्वाथ—गोखरू के पञ्चाङ्ग का क्वाथ करके इसमें शर्करा और मधु मिलाकर पीने से प्रमेह मिटता है, और जौखार मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र मिटता है।

चातुर्भद्रादि-क्वाथ—गिलोय, अतीस, सोंठ, मोथा।

उपयोग—आम-सहित संग्रहणी में, मल को दृढ़ करता है, दीपन-पाचन है।

जलदादि-क्वाथ—मोथा, पद्माख, पित्तपापड़ा, चन्दन, जई, शतावरी, मुलहट्ठी, नीम की अन्तःछाल, उशीर, चित्रक और लालचन्दन, इनका काढ़ा रक्तष्ठीवी, सन्निपात-ज्वर में, मधु डालकर पीना चाहिये।

जलधरादि-क्वाथ--मोथा, लालचन्दन, सोंठ, नेत्रबाला, उशीर, पित्तपापड़ा; इनका क्वाथ सन्निपात-ज्वर में लाभदायक है।

तिक्तादि-क्वाथ—कुटकी, मोथा, इन्द्रजौ, पाठा, कायफल।

अनुपान—शर्करा।

उपयोग—पित्त-ज्वर में।

त्रिफलादि-क्वाथ (१)—त्रिफला का काढ़ा गोमूत्र डालकर पीना चाहिये।

उपयोग - वृषण शोथ में।

त्रिफलादि-क्वाथ (२) - त्रिफला के काढ़े में मधु डालकर पीने से मेद-वृद्धि कम होती है।

त्रिफलादि-क्वाथ (३)—त्रिफला-क्वाथ में गुग्गुल मिलाकर पीने से व्रण अच्छे होते हैं।

त्रिफलादि-क्वाथ (४)—हरड़, बहेड़ा, आँवला, देवदारु, नागर-

मोथा आखुकर्णी तथा शिरीष की मूल की छाल, इनके काथ में पीपल, वाय-विडंग-चूर्ण मिलाकर पीना चाहिये।

उपयोग—कृमि-रोग में।

त्रिफलादि-क्वाथ (५)—त्रिफला, गिलोय, कुटकी, नीम की अन्तः-छाल, चिरायता, वासकपत्र इन आठ चीज़ों के काढ़े में मधु मिलाकर पीने से कामला तथा पाण्डु-रोग नष्ट होते हैं।

त्रिफलादि-क्वाथ (६)—त्रिफला, दारुहल्दी, इन्द्रायण, नागरमोथा, देवदारु।

अनुपान—मधु और हल्दी।

उपयोग—प्रमेह में।

त्रिफलादि-क्वाथ (७)—त्रिफला, आरगवधका गोंद इसके काढ़े में शर्करा या मधु मिलाकर पीने से रक्तपित्त, लालामेह, दाह, पित्तशूल मिटता है।

दशमूलादि-क्वाथ—बिल्व-मूल, अग्निमन्थ-मूलछाल, काश्मरी-मूल छाल, पाढल, दोनों (छोटी-बड़ी) कटेरी, गोखरू, शालपर्णी, पृश्निपर्णी।

अनुपान—पिप्पली-चूर्ण।

उपयोग—वात-कफ-ज्वर, सन्निपात-ज्वर, प्रसूता के सब विकारों में, शोथ, शीतता, अति स्वेद, श्रम, खाँसी, दमा, तन्द्रा, मस्तक-शूल वग़ैरः में लाभदायक है।

दशमूल-क्वाथ—दशमूल के काढ़े में जौखार तथा सेंधानमक मिलाकर देने से हृदय का रोग, गुल्म, शूल, कास, श्वास मिटता है।

द्राक्षादि-क्वाथ—द्राक्षा, छोटी हरड़, नागरमोथा, कुटकी, अमल-तास, पित्तपापड़ा। ज्वर के साथ प्यास, मूर्च्छा, दाह, रक्त-पित्त में लाभ करता है।

दार्व्यादि-क्वाथ—दारुहल्दी, रसौत, नागरमोथा, भिलावा, बेल, बाँसे का पत्ता, चिरायता इनका काढ़ा ठण्डा करके, शहद डालकर पीने से स्त्रियों का शूल, प्रदर-रोग मिटता है।

दार्व्यादि-क्वाथ—दारुहल्दी, पटोल, मोथा, कण्टकारी, कटुकी, हल्दी, कड़वानीम, हरड़, बहेड़ा, आँवला इनका काढ़ा भुग्ननेत्र सन्निपात-ज्वर में देना चाहिये।

द्वात्रिंशांग-क्वाथ—भारंग-मूल, चिरायता, नीम की छाल, मोथा, कुटकी, वच, सोंठ, पिप्पली, मिर्च, अडूसा, वासा, इन्द्रायण, रास्ना, धमासा, पटोल, देवदारु, हल्दी, पाठा, जहरकुचला, ब्राह्मी, दारुहल्दी, गिलोय, निशोथ, अतीश, पुष्करमूल, त्रायमाणा, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इन्द्रजौ, कचूर, इन ३२ चीजों को क्वाथ करके पीने से सब प्रकार का सन्निपात, शूल, कास, दमा, उरुस्तम्भ, कफ आदि भयंकर रोगों को नष्ट करता है।

दाड़िमादि-क्वाथ--दाड़िम, (अनार) की छाल तथा कुटज-छाल; इनका क्वाथ शहद डालकर पीने से रक्तातिसार नष्ट होता है।

देवदार्व्यादि-क्वाथ (१)—देवदारु, अतीस, पान, वायविडंग, मोथा, मिर्च, कुडा-छाल। अतिसार-रोग में दिया जाता है।

देवदार्व्यादि-क्वाथ (२)—देवदारु, वच, सोंठ, कूठ, पिप्पली, कायफल, मोथा, चिरायता, कुटकी, धनिया, छोटी हरड़, गजपिप्पली, छोटी कटेरी, गोखरू, धमासा, बड़ी कटेरी, अतीस, गिलोय, काकड़ाशृंगी, काला जीरा।

प्रसूता के सब रोगों में—उदरशूल, कास, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा, मस्तक-शूल, कम्प वायु, आक्षेप आदि में उपयोगी है।

देवदार्व्यादि-क्वाथ (३)—देवदारु, हरड़, बाँस के पत्ते, संचल लवण, सोंठ, आँवला इनके क्वाथ को ठण्डा करके शहद डालकर पीने से चातुर्थिक ज्वर नष्ट होता है।

धातक्यादि-क्वाथ--धाय के फूल, बेल, लोध्र, नेत्रबाला, गज-पिप्पली इनके काढ़े में शहद मिलाकर पीना चाहिये। बालकों के सब प्रकार के अतिसार को मिटाता है।

धान्यादि-क्वाथ (१)—धनिया, नेत्रबाला, बेल, मोथा। पित्तातिसार में लाभ करता है।

धान्यादि-क्वाथ (२)—धनिया, सोंठ इनका काढ़ा दीपन और पाचन है। इनमें एरण्डमूल मिलाकर पीने से आमवात की पीड़ा मिटती है।

धान्यपञ्चक—धनिया, नेत्रबाला, बेल, नागरमोथा, सोंठ इनका क्वाथ आम शूल में, मरोड़ में, अतिसार में, अपक्व मल की अवस्था में लाभ करता है।

नागरादि-क्वाथ (१)—सोंठ, कूडाछाल, नागरमोथा, गिलोय, अतीस, ज्वरातिसार में, ज्वर में, अतिसार में लाभदायक है।

नागरादि-क्वाथ (२)—सोंठ, एरंड-मूल इनके काढ़े में सिकी हुई हींग तथा संचल नमक मिलाकर पीने से या इन्द्रजौ के काढ़े में ये चीजें मिलाकर पीने से वायु-शूल मिटता है।

नागरादि-पाचन—सोंठ, देवदारु, धनिया, दोनों कटेरी इनको क्वाथ करके नवज्वर में देने से लाभ होता है।

निदिग्धकादि-क्वाथ—छोटी कटेरी, गिलोय, सोंठ।

अनुपान—पिप्पली चूर्ण। श्वास, कास के सहित ज्वर में, सर्दी में, शूल में, स्वर-भङ्ग में, जीर्ण-ज्वर में दिया जाता है।

नीम-क्वाथ—नीम की अन्तः-छाल को आठगुने पानी में पकाकर काढ़ा करके देने से ज्वर रुकता है।

पठोलादि-क्वाथ (१)—परवल, त्रिफला, कटुकी, कचूर, गिलोय, वासक-पत्र।

अनुपान—मधु। कफ-ज्वर में लाभ करता है।

पटोलादि-क्वाथ (२)—परवल, लालचन्दन, कटुकी, मोरबेल, पाठा, गिलोय।

उपयोग—पित्त-कफ-ज्वर में, वमन, दाह, कंडू, विष में।

पटोलादि-क्वाथ (३)—परवल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कड़वे नीम की अन्तःछाल, द्राक्षा, अमलतास का गूदा, वासकपत्र।

अनुपान—शर्करा और मधु। प्रतिदिन के शीत ज्वर में उत्तम है।

पटोलादि-क्वाथ (४)—परवल, इन्द्रजौ, देवदारु, त्रिफला, नागर-मोथा, अंगूर, मुलहठी, गिलोय, वासकपत्र।

अनुपान—शहद।

उपयोग—सतत, संतत, ऐकाहिक ज्वर, चातुर्थिक ज्वर, शीत ज्वर में लाभ करता है।

पटोलादि-क्वाथ (५)—परवल, त्रिफला, कटुकी, गिलोय, शतावरी इन सात चीजों का काढ़ा दाह-युक्त वात-रक्त में लाभदायक है।

पटोलादि-क्वाथ (६)—परवल की बेल, त्रिफला, नीम की अन्तः-छाल, चिरायता, कत्था ।

अनुपान—गुग्गुल अथवा त्रिफला । सब प्रकार के उपदंश रोगों में गरमी के रोग में लाभदायक है ।

पथ्यादि-क्वाथ (१)—त्रिफला, चिरायता, हल्दी, नीम की अन्तःछाल, गिलोय ।

अनुपान—पुराना गुड़ ।

उपयोग—मस्तिष्क-शूल, आँख तथा कान का शूल, आधाशीशी, सूर्य्यावर्त्त, शङ्खक-रोग, दन्तपात, दन्त-शूल, रतौंधी, आँख के परवाल, आँख की पीड़ा में लाभदायक है ।

पथ्यादि-क्वाथ (२)—हरड़, वासा, फालसा, देवदारु, कटुकी, रास्ना, गिलोय और कुलींजन का काढ़ा अंतः-सन्निपात-ज्वर में लाभदायक है ।

पथ्यादि-क्वाथ (३)—हरड़, रक्त-रोहितक इनके काढ़े में जौखार तथा पिप्पली का चूर्ण मिलाकर पीने से यकृत, प्लीहा, गुल्म और उदर-रोग नष्ट होता है ।

पर्पटादि-क्वाथ (१)—पित्तपापड़ा, वासकपत्र, कटुकी, चिरायता, धमासा, प्रियंगु इनके काढ़े में शर्करा मिलाकर पीने से पित्तज्वर, प्यास, दाह, रक्त-पित्त शान्त होता है ।

पर्पटादि-क्वाथ (२)—पित्तपापड़ा, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ, चिरायता इनके काढ़े को 'पञ्चभद्र' कहा जाता है ।

उपयोग—वात-पित्त-ज्वर में ।

पर्पटादि-क्वाथ (३)—पित्तपापड़े का काढ़ा पिप्पली-चूर्ण मिलाकर पीने से पित्त-ज्वर शान्त होता है ।

पर्पटादि-क्वाथ (४)—पित्तपापड़ा, चन्दन लाल, नेत्रवाला, नागर-मोथे का काढ़ा पित्त-ज्वर में उपयोगी है ।

पिप्पली-क्वाथ—पिप्पली १ तोला आठगुने पानी में उबालकर चतुर्थांश बचने पर पीने से अग्निदीपन होता है, ज्वर, कफ, वात तथा प्लीहा-रोगों में लाभ होता है ।

पुनर्नवादि-क्वाथ (१)—पुनर्नवा, हरड़, नीम की अन्तःछाल, दारुहल्दी, कुठ, परवल, गिलोय, सोंठ ।

अनुपान—गोमूत्र। शोथ-युक्त पाण्डु-रोग, उदर-रोग, दमा, शूल में लाभदायक है।

पुनर्नवादि-क्वाथ (२)—पुनर्नवा, वरणा के मूल की छाल इनका काढ़ा अन्तर्विद्रधि, उदर के अन्दर के व्रण को, शोथ को अच्छा करता है।

पुनर्नवादि-क्वाथ (३)—पुनर्नवा, दारुहल्दी, हल्दी, सोंठ, छोटी हरड़, गिलोय, चित्रकमूल, भारंगमूल, देवदारु इनका काढ़ा हाथ, पाँव, पेट, मुँह के ऊपर की शोथ को कम करता है।

फलत्रिकादि-क्वाथ—त्रिफला, देवदारु, नागरमोथा, दारुहल्दी तथा इन्द्रवारुणी का मूल इनके काढ़े में हल्दी का चूर्ण और शहद मिलाकर पीने से सब प्रकार के प्रमेह मिटते हैं। इसको त्रिफलादि-क्वाथ भी कहते हैं।

बृहत्मंजिष्ठादि-क्वाथ—मजीठ, नागरमोथा, कुडाछाल, गिलोय, कूठ, सोंठ, भारंगी, कटेरी छोटी, वच, नीबू की छाल, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, पटोल, कटुकी, मोरबेल, वायविडंग, चित्रकमूल, शतावरी, इन्द्रायण, पिप्पली, इन्द्रजौ, वासक के पत्ते, भाँगरा, देवदारु, पान, कत्था, लालचन्दन, निशोथ, वरणा, चिरायता, बावची, अमलतास का गूदा, शिग्रु की छाल, बकायन की छाल, करंज की छाल, अतीस, नेत्रवाला, इन्द्रायण की जड़, धमासा, अनन्त-मूल, पित्तपापड़ा इन ४५ चीजों का काढ़ा, पिप्पली का चूर्ण और गुग्गुल के साथ लेने से १८ प्रकार का कुष्ठ, वातरक्त, अर्दित, उपदंश, श्लीपद, शून्यवात, पक्षाघात, मेद तथा नेत्र-रोग अच्छे होते हैं।

ब्राह्म्यादि-क्वाथ—ब्राह्मी, वच, शतावरी, त्रिफला, कटुकी, नेत्र-वाला, अमलतास का गूदा, चिरायता, नीम, पटोल, द्राक्षा, दशमूल इनका काढ़ा चित्त-विभ्रम-सन्निपात में उपयोगी है।

भारंग्यादि-क्वाथ—भारंगीमूल, गिलोय, मोथा, कटेरी, हरड़, पुष्कर-मूल, सोंठ इनका काढ़ा तीन दिन तक पीने से तान्द्रिक सन्निपात-ज्वर अच्छा होता है।

भूनिम्बादि-क्वाथ—चिरायता, नीम की छाल, पिप्पली, कचूर, सोंठ, शतावरी, गिलोय, कटेरी। कफ-ज्वर में उपयोगी है।

महारास्नादि-क्वाथ—रास्ना, धमासा, नेत्रवाला, एरण्ड की मूल, देवदारु, कचूर, वच, वासक-पत्र, सोंठ, हरड़, चवक, नागरमोथा, पुनर्नवा, गिलोय, विधारा, सौंफ, गोखरू, असगन्ध, अतीस, अमलतास का गूदा, शतावरी, पिप्पली, धनिया, दोनों कटेरी, रास्ना।

अनुपान—सोंठ का चूर्ण या पिप्पली का चूर्ण या योगराज गुग्गुल अथवा अजमोदादि चूर्ण अथवा एरण्ड-तैल।

उपयोग—सर्वांग कम्पवायु, अर्धांग, कञ्जत्व, अपबाहुक, गृध्रसी, आमवात, श्लीपद-रोग, अपतानक, आंत्रवृद्धि, अफारा, जंघा तथा घुटने की वायु, वीर्य में रहनेवाली वायु, मूत्राशय की वायु, वन्ध्या-दोष, योनि-दोष में उपकारी है।

मुस्तादि-क्वाथ (१)—मोथा, नेत्रवाला, दशमूल, सोंठ, पित्तपापड़ा, लालचन्दन, धाय के फूल, वासा और इसका काढ़ा पीने से प्रलापक, सन्निपात ज्वर को आराम होता है।

मुस्तादि-क्वाथ (२)—नागरमोथा, कटेरी, गिलोय, सोंठ, आँवला।

अनुपान—मधु तथा पिप्पली-चूर्ण।

उपयोग—विषम ज्वर में।

रास्नादि-क्राथ—रास्ना, गिलोय, बला, मुलहट्टी, गोखरू, एरण्ड-मूल इनका काढ़ा एरण्ड-तैल के साथ पीने से आंत्र-वृद्धि रोग शान्त होता है।

रास्नापंचक-क्राथ—रास्ना, गिलोय, देवदारु, सोंठ, एरण्ड-मूल इनके काढ़े को पिप्पली-चूर्ण के साथ या सेंधानमक के साथ लेने से सातों धातु के अन्दर की वायु तथा सर्वाङ्ग वायु नष्ट होती है। इसी काढ़े में पुनर्नवा और अमलतास का गूदा मिलाकर देने से यह रास्नासप्तक बन जाता है।

रास्नादि-क्राथ (१)—रास्ना, सोंठ, गिलोय, कुरण्डक, मोथा, शतावरी, हरड़, देवदारु, कटुकी, कचूर, वासा, एरण्ड-मूल, और दशमूल इनका काढ़ा सन्धिक सन्निपात को आराम करता है।

रास्नादि-क्वाथ (२)—रास्ना, असगन्ध, मोथा, कटेरी, भारंगी-मूल, वच, पुष्करमूल, कुटकी, काकड़ाश्रृङ्गी, हरड़ इनका काढ़ा कर्णिक सन्निपात ज्वर में विशेष उपयोगी है।

रिंगण्यादि-क्वाथ—कटेरी, भारंगीमूल, पुष्करमूल, कचूर, कर्कटक-श्रृङ्गी, धमासा इनका काढ़ा अभिन्यास तथा सन्निपात-ज्वर में उपयोगी है।

लघुमंजिष्ठादि-क्वाथ—मजीठ, त्रिफला, कटुकी, वच, दारुहल्दी, गिलोय, नीम की अन्तःछाल इन नौ चीजों का काढ़ा करके पीने से वात-रक्त, कण्डु, कापालिक-कुष्ठ, मण्डल-कुष्ठ मिटता है।

लघुक्षुद्रादि-क्वाथ—कटेरी, सोंठ, गिलोय, पोखरमूल इनका काढ़ा कफ-युक्त ज्वर में दिया जाता है। इसी प्रकार त्रिदोष-ज्वर, कास, श्वास, शूल, अरुचि को नष्ट करता है।

वत्सकादि-क्वाथ (१)—कुटज-छाल, त्रिफला, दारुहल्दी, मोथा, बेल का गूदा इन सात चीजों का काढ़ा शहद के साथ लेने से प्रमेह मिटता है।

वत्सकादि-क्वाथ (२)—कुटज-छाल, अतीस, बेल, नागरमोथा, नेत्रबाला, यह काढ़ा आम-युक्त अतिसार में, शूल-युक्त रक्तातिसार में उपयोगी है।

वरुण-क्वाथ—वरुण के मूल की छाल का काढ़ा वरुण के चूर्ण के साथ लेने से पथरी, शर्करा नष्ट होती है। इसमें शहद मिलाकर पीने से गण्डमाला नष्ट होती है।

वासादि-क्वाथ (१)—वासे का पत्ता, सोंठ, गिलोय, देवदारु, लाल-चन्दन, चित्रक, चिरायता, नीम की छाल, कुटकी, पटोल की बेल, त्रिफला, नागरमोथा, जौ, इन्द्रजौ, कुटज-छाल; इन १७ चीजों का काढ़ा आँख के सब प्रकार के रोगों को तथा स्वर-भंग को, प्रतिश्याय को, श्वास एवं उर:क्षत को नष्ट करता है।

वासादि-क्वाथ (२)—वासक-पत्र, द्राक्षा, हरड़; इनका काढ़ा मधु तथा शर्करा के साथ पीने से रक्तपित्त, श्वास और कास अच्छे होते हैं।

वासादि-क्वाथ (३)—वासक-पत्र का काढ़ा करके इसमें मधु मिलाकर पीने से रक्तपित्त, क्षय-कास और कफ, पित्त-ज्वर शान्त होते हैं।

वासादि-क्वाथ (४)—वासकपत्र, कटेरी, गिलोय इनका काढ़ा मधु के साथ पीने से ज्वर, कास नष्ट होते हैं।

शक्राह्वादि-क्वाथ—इन्द्रजौ, कवडिया का मूल, अतीस, गिलोय, निर्गुण्डीमूल, भाँगरा, सोंठ, कटेरी, अजवायन इनका काढ़ा शीत-ज्वर में उपयोगी है।

शुण्ठ्यादि-क्वाथ—कचूर, पित्तपापड़ा, सोंठ, देवदारु, धमासा, मोथा, कुटकी, कटेरी, चिरायता।

अनुपान—पिप्पली और मधु।

उपयोग—विषम ज्वर, त्रिदोष-ज्वर में, सब प्रकार के ज्वरों में।

शारवोटक-क्वाथ—शिग्रु की छाल का काढ़ा गोमूत्र के साथ पीने से पाँव का हाथी जैसा हो जाना अच्छा हो जाता है।

शिग्र्वादि-क्वाथ—शिग्रु की छाल, वरणा की छाल, पिप्पली की छाल, अजवायन, हल्दी तथा आमाहल्दी इनका काढ़ा।

अनुपान—हीराबोल का चूर्ण १० माशे।

उपयोग—अन्तर्विद्रधि में।

शिग्रु-क्वाथ—शिग्रु की छाल का काढ़ा घी में भूनी हींग, सैन्धव, पानी में पीसकर पीने से विद्रधि शान्त होती है।

शुण्ठ्यादि-क्वाथ—सोंठ तथा भारंगीमूल का काढ़ा श्वास-रोग को आराम करता है।

शुण्ठि-क्वाथ—सोंठ १ तोला, इसका १६ गुना पानी में काढ़ा करना चाहिये।

अनुपान—घी में भुनी हुई हींग ३ रत्ती, सोंचल लवण १ माशा, सोंठ का चूर्ण २ माशा। कफ, वात, अजीर्ण, शूल में उपयोगी है। सोंठ के काढ़े में शहद मिलाकर पीने से प्रतिश्याय, श्वास, कास, उदर-विकार तथा खराब पानी के रोग मिटते हैं।

शृङ्ग्यादि-क्वाथ—काकड़ाशृङ्गी, कुडाछाल, हरड़, मोथा, कचूर, चिरायता, भारंगी, मूल, हल्दी, कटुकी, पुष्करमूल, चित्रक, कटेरी, वासा, आँवला, देवदारु, बहेड़ा, चवक, सोंठ, पिप्पली और कायफल इनका काढ़ा कण्ठ, कुब्ज, सन्निपात-ज्वर को नष्ट करता है।

षडंग-क्वाथ—उशीर, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, लालचन्दन, नेत्रबाला और सोंठ इनका काढ़ा ठण्डा करके देने से प्यास, दाह तथा दाह-ज्वर मिटता है।

समंगादि-क्वाथ—रीसामणिका मूल, धातकी फूल, अनन्तमूल, लोध्र इनका काढ़ा मधु के साथ लेने से बालकों का अतिसार मिटता है।

सारिवादि-क्वाथ—सारिवा, पाठा, देवदारु, चिरायता, मोरबेल, कटुकी, गिलोय, सोंठ, मोथा, इन्द्रजौ इनका काढ़ा स्त्रियों के विकृत दूध को शुद्ध करता है।

सिंहादि-क्वाथ—कटेरी, सोंठ, पुष्करमूल, कुटकी, रास्ना, गिलोय, भारंगीमूल, काकड़ाश्रृङ्गी, कचूर, मोथा, ब्राह्मी, वच, चिरायता इनका काढ़ा जिह्वक सन्निपात में लाभदायक है।

हरीतक्यादि-क्वाथ—छोटी हरड़, धमासा, अमलतास का गूदा, गोखरू, पाषाणभेद इनका काढ़ा मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह तथा पीड़ा को शान्त करता है।

ह्रीबेरादि-क्वाथ—हऊबेर, धातकी फूल, पाठा, लोध्र, लज्जालु, कुड़ाछाल, धनिया, अतीस, नागरमोथा, गिलोय, बेल, सोंठ इनका काढ़ा पुराने अतिसार, आमशूल, रक्तातिसार, ज्वर को दूर करके पाचन करता है।

क्षुद्रादि-क्वाथ(१)—कटेरी, कुलथी, वासकपत्र, सोंठ के काढ़ा में पुष्करमूल का चूर्ण मिलाकर पीने से श्वास-युक्त कास मिटता है।

क्षुद्रादि-क्वाथ (२)—कटेरी, चिरायता, कटुकी, सोंठ, गिलोय, नागरमोथा पुष्करमूल, यह काढ़ा आठों प्रकार के ज्वर के लिये उपयोगी है।

क्षुद्रादि-क्वाथ (३)—कटेरी, धनिया, सोंठ, गिलोय, नागरमोथा, पद्माख, लज्जालु, चिरायता, परवल, वासकपत्र, पुष्करमूल, कटुकी, इन्द्रजौ, कड़वे नीम की छाल, भारंगी-मूल, पित्तपापड़ा इनका काढ़ा प्रातःकाल पीने से सब प्रकार का शीत ज्वर शान्त होता है।

क्षुद्रादि-क्वाथ (४)—कटेरी, गिलोय, सोंठ और कड़ुवो कूठ इनका काढ़ा पीने ज्वर, श्वास, कास, अरुचि, पार्श्व-शूल नष्ट होते हैं।

चूर्ण

चूर्णों को बनाने के लिये यह उत्तम विधि है कि प्रयोग की वस्तुओं को पृथक्-पृथक् कूट-छानकर फिर मिलाया जाय। चूर्ण मैदे जितना बारीक करना भी अच्छा नहीं। यदि थोड़ा दानेदार रहे, तो अच्छा। चूर्ण के रखने चाहियें जितने कि बरसात से पहले समाप्त होजायँ।

अग्निमुख-चूर्ण—हींग १ भाग, वच २, पि
अजवायन ५, हरड़ ६, चित्रक ७ भाग, कूठ ८ भाग
दही, छाछ या गरम पानी के साथ सेवन करने

उदर-रोग, मलविरोध, शूल, गुल्म, कास, दमा आदि नष्ट होते हैं; जठराग्नि प्रदीप्त होती है; पाचन-क्रिया में बहुत उपयोगी है। मात्रा ¼ से ½ तोला।

अजमोदादि-चूर्ण १.—अजवायन, वायविडङ्ग, सेन्धानमक, देवदारु, चित्रक, पिप्पली-मूल, सौंफ, पिप्पली, मिर्च, प्रत्येक १ तोला, हरीतकी छाल ५ तोला, विधारा १० तोला, सोंठ १० तोला इन सबका चूर्ण गरम पानी के साथ सेवन करने से आमवात, शोथ, सन्धिवात, गृध्रसी वायु तथा पार्श्व-शूल, वात-विकार, वात-शूल नष्ट होते हैं। मात्रा ½ तोला। चूर्ण के बराबर गुड़ मिलाकर गोली भी ले सकते हैं।

अजमोदादि-चूर्ण (२)—अजवायन, मोचरस, सोंठ, धातकी फूल, इनका चूर्ण गाय की छाछ के साथ लेने से अतिसार-रोग में लाभ करता है। मात्रा दो आने भर से ४ आने तक।

अतिविष-चूर्ण—अतीस का चूर्ण मात्रा १ रत्ती से दो रत्ती।

अनुपान—शहद। बालकों के ज्वर, कास, कृमि, वमन, अतिसार में लाभदायक है।

अश्वगन्धादि-चूर्ण—असगन्ध ४० तोला, विधारा ४०, इनका चूर्ण घी से लिप्त पात्र में रखकर खाना चाहिये।

अनुपान—गाय का दूध; मात्रा १ तोला।

उपयोग—पुष्टि के लिये।

आकारकरभादि-चूर्ण—अकरकरा, सोंठ, कंकोल, केसर, पिप्पली, जायफल, लवंग, चन्दन प्रत्येक एक-एक तोला, अफीम ४ तोला, इनका चूर्ण।

अनुपान—मधु। मात्रा १ माशा।

उपयोग—वीर्य-स्तम्भन, वीर्य-स्राव को बन्द करती है।

आत्मगुप्तादि-चूर्ण—कौंच तथा तालमखाना इन दोनों का समान भाग चूर्ण करके, इस चूर्ण के बराबर शर्करा मिलानी चाहिये। मात्रा ½ [illegible] २ तोला।

[illegible]पान—गाय का धारोष्ण दूध। धातु-पुष्टि, शुक्र-वृद्धि के लिये

[illegible]—इलायची, लौंग, नागकेसर, बेर की छाल, ताजा [illegible] पिप्पली इनका चूर्ण शहद और शर्करा के साथ [illegible] मात्रा ½ तोले से ½ तोला।

कट्फलादि-चूर्ण (१)—कायफल, नागरमोथा, कटुकी, सोंठ, काकड़ाशृङ्गी, पोहकर-मूल इनका चूर्ण मधु तथा आर्द्रक के रस के साथ देने से ज्वर, श्वास, अरुचि, वायु-शूल, वमन नष्ट होता है। मात्रा दो आने से चार आने तक।

कट्फलादि-चूर्ण (२)—कायफल, पुष्करमूल, काकड़ाशृङ्गी, नागरमोथा, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, कचूर।

अनुपान—आर्द्रक-रस और शहद।

उपयोग—कफ-जन्यशूल, अरुचि, कास, श्वास में; मात्रा २ से ४ बाल।

कट्फलादि-चूर्ण (३)—कायफल, पुष्करमूल, पिप्पली, काकड़ा-शृङ्गी।

अनुपान—मधु। मात्रा २ से ५ बाल।

उपयोग—कास, श्वास तथा कफ-रोग में।

कटुकी-चूर्ण—कटु, वच, हरड़, चित्रक-मूल।

अनुपान—गोमूत्र। मात्रा ½ तोला।

उपयोग—पेट के अफारे में, शूल, मलावरोध में।

कटुकीपाचन—कटु, मुलहट्ठी, द्राक्षा, नीम की छाल, समभाग प्रत्येक आधा तोला लेकर ३२ तोले पानी में काढ़ा करके पीने से ज्वर में पाचन होता है, मलावरोध हटता है और ज्वर उतरता है।

कटुभर्जित-चूर्ण—कटुकी को कढ़ाई पर भूनकर चूर्ण करना चाहिये।

अनुपान—गरम पानी। मात्रा १ से ८ बाल।

उपयोग—ज्वर में, यकृत के भारीपन में।

कपित्थाष्टक-चूर्ण—कैथ ८ भाग, शर्करा ६, अनार, आँवला, बेल-फल, धाय के फूल, अजवायन, पिप्पली प्रत्येक ३ भाग, मिर्च, जीरा, धनिया, पिप्पली-मूल, उशीर, सैंधव, दालचीनी, तमालपत्र, इलायची, नागकेशर, चित्रक, सोंठ प्रत्येक वस्तु १ भाग; इन सबके चूर्ण की मात्रा ४ से ८ बाल।

उपयोग—ग्रहणी, अतिसार और सब प्रकार के उदर-रोगों में।

कृष्णादि-चूर्ण—पिप्पली, अतिविषा, नागरमोथा, काकड़ाशृङ्गी इनका चूर्ण १ से ३ रत्ती मात्रा में मधु के साथ देने से बालकों का ज्वर, अतिसार, दमा, कास, वमन शान्त होता है।

गोक्षुरादि-चूर्ण--गोखरन, गिलोय, त्रिफला इनको समान भाग लेकर गोक्षुर के रस से भावना देकर शुष्क कर लेना चाहिये। यह चूर्ण प्रमेह के लिये उपयोगी है।

चन्दन-चूर्ण—चन्दन को चावलों के धोवन में घिसकर तैयार किया हुआ लेप १ तोला अथवा चन्दन का चूर्ण, चावलों के धोवन में मिलाकर शहद और शर्करा के साथ लेने से स्त्रियों का प्रदर, दाह, तृषा, औपसर्गिक मेह (गनोरिया) मिटता है।

चन्दनादि-चूर्ण—चन्दन, कूठ, नागरमोथा, आँवला, कुलींजन, नेत्रवाला, कमल, मुलहठी, महुए का फूल, द्राक्षा, खजूर प्रत्येक एक-एक भाग; इसका चूर्ण करके शर्करा के साथ ४ बाल की मात्रा में लेने से पित्त, दाह, मूत्रकृच्छ्र-रोग मिटता है।

चित्रकादि-चूर्ण (१)--चित्रक, सोंठ, हींग, पिप्पली, पिप्पली-मूल, चविका, अजवायन, मिर्च प्रत्येक एक-एक तोला, सर्जक्षार, यवक्षार, सेंधानमक, संचल, विड़लवण, सामुद्रिक नमक, कालानमक ये सात क्षार प्रत्येक ½ तोला, सबका चूर्ण करना चाहिये। इसको बिजौरे या अनार के रस की भावना देकर धूप में सुखाना चाहिये।

अनुपान—पानी। मात्रा २ से ८ बाल।

उपयोग—गुल्म, संग्रहणी, आम-सम्बन्धी पीड़ा में इसके खाने से अग्नि प्रदीप्त होती है, भोजन में रुचि होती है और कफ का नाश होता है।

चित्रकादि-चूर्ण (२)—चित्रकमूल, चविका, कच्चा बेल, सोंठ इनका चूर्ण: मात्रा ½ से १ तोला।

अनुपान—छाछ।

उपयोग— संग्रहणी में।

चोपचीनी-चूर्ण (१) -- चोपचीनी १० तोला, शर्करा ४ तोला, पिप्पली, पिप्पली-मूल, मिर्च, लौंग, अकरकरा, खुरासानी अजवायन, सोंठ, बायबिडङ्ग, दालचीनी प्रत्येक १ तोला, इसका चूर्ण ३ माशे की मात्रा में गरम पानी के

साथ लेने से प्रमेह, उपदंश, क्षीणता तथा गरमी-जन्य संधिवात मिटता है।

चोपचीनी-चूर्ण (२)—चोपचीनी १६ तोला, शर्करा ४ तोला, पिप्पली, पिप्पली-मूल, मिर्च, लौंग, अकरकरा, वङ्ग-भस्म, सोंठ, वायविडङ्ग, त्रिफला प्रत्येक ½ तोला। इनका चूर्ण ६ माशे की मात्रा में मधु और घी के साथ लेने से बीस प्रकार के प्रमेह, सब प्रकार के उपदंश, व्रण, वात-कुष्ठ आदि शान्त हो जाते हैं।

जातिफलादि-चूर्ण (१)—जायफल, सोंठ, अफीम सब समान भाग। इन सबके बराबर राख; इनका चूर्ण दुअन्नी भर मात्रा में, चावलों के धोवन (½ तोला) के साथ मिलाकर लेने से रक्त एवं आम-युक्त अतिसार, आक्षेप, बारबार वेग के साथ आनेवाला मरोड़ा और अतिसार मिटता है।

जातिफलादि-चूर्ण (२)—जायफल, विडङ्ग, चीतामूल, तार. काले तिल, तालीशपत्र, लालचन्दन, सोंठ, लौंग, काला जीरा, कपूर, हरीतकी आमलकी, मिर्च, पिप्पली, वंशलोचन, दालचीनी, तेजपत्र, इलायची, नाग· केशर प्रत्येक २ तोला, भाँग का बीज-चूर्ण २८ तोला, शर्करा सबके बराबर। मात्रा २ माशा।

उपयोग—क्षय, कास, ग्रहणी, अतिसार में।

तालीशादि-चूर्ण—तालीशपत्र १ तोला, मिर्च २ तोला, सोंठ ३ तोला, पिप्पली ४, वंशकपूर ५, दालचीनी ½ तोला, इलायची ½ तोला, वंग-भस्म ८ तोला, शर्करा ३२ तोला इनका चूर्ण अथवा शर्करा की चासनी में गोली बनानी चाहिये। मात्रा २ से ६ माशे।

उपयोग—अरुचि, श्वास, वमन, हृदय-रोग और पार्श्व-शूल में तथा कास में होता है।

त्रिफला-पिप्पली-चूर्ण—हरड़, बहेड़ा, आँवला, पिप्पली।

अनुपान—शहद। मात्रा दो आने से चार आने तक।

उपयोग—कास, श्वास, ज्वर, मलबन्ध में, इससे अग्नि बढ़ती है।

त्रिवृत्तादि-चूर्ण—निशोथ ४ तोला, पिप्पली १ तोला, शर्करा ४ तोला इनका चूर्ण।

अनुपान—मधु या शर्करा का शरबत; मात्रा ½ से १ तोला।

उपयोग—अफारे में, मलबन्ध में, उदर-रोग में, कफ और पित्त-शूल में।

दाड़िमाष्टक-चूर्ण—दाड़िम की छाल ८ तोला, शर्करा ३२, इलायची, दालचीनी, तमालपत्र तीनों मिलाकर चार तोला, सोंठ, मिर्च, पिप्पली प्रत्येक ४ तोला सबका समान चूर्ण।

अनुपान—मधु अथवा पानी। मात्रा दो आने से ½ तोला तक।

उपयोग—अरुचि, मन्दाग्नि में, अतिसार में, कास और ज्वर में।

दीप्यादि-चूर्ण—अजवायन, हरड़, हींग, चित्रक, सोंठ, जौखार, सज्जीखार, जीरा, काला जीरा, पिप्पली, त्रिफला, संचल और सैंधव इनका चूर्ण ½ तोला मात्रा में गरम पानी के साथ लेने से विषम ज्वर को नष्ट करता है।

धातकी-चूर्ण—धातकी के फूलों का चूर्ण दही के साथ २ से ६ माशा मात्रा में लेने से अतिसार, प्रवाहिका नष्ट होती है।

नारसिंह-चूर्ण—भिलावा, सोंठ, मिर्च, हरड़, बहेड़ा, आँवला, तिल, तथा शर्करा।

अनुपान—घी और शहद। मात्रा २ से ८ बाल। मन्दाग्नि, पेट की वायु, वातोदर तथा जलोदर के लिये उपयोगी है। पथ्य—दूध और भात।

नाराच-चूर्ण—पिप्पली १ तोला, निशोथ १ तोला, खाँड़ ४ तोला, मात्रा १ तोला।

अनुपान—मधु। पेट चढ़ने में, बन्ध-कोष्ठ, उदर-रोग में, कफ तथा पित्त-शूल में उपयोग होता है।

नारायण-चूर्ण—चित्रकमूल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, त्रिकटु, जीरा, वच, अजवायन, पिप्पलीमूल, सोंठ, अजवायन, कचूर, धनिया, वायविडंग, कालाजीरा, दारूड़ी की मूल, पुष्करमूल, सज्जीखार, जैाखार, सेंधानमक, संचल, साँभर, काला, उद्भिद्, कूठ ये सब एक-एक भाग तथा इन्द्रवारुणी का मूल २ भाग, निशोथ ३ भाग, दन्तीमूल ३ भाग, थोर का मूल ४ भाग इन सबका बारीक चूर्ण करना चाहिये। मात्रा आधे तोला से १ तोला।

अनुपान—पानी।

उपयोग—उदर-रोग, पाण्डु, श्वास, कास, भगन्दर, मन्दाग्नि, कुष्ठ, ग्रहणी, गलमुह, गुल्म आदि रोगों में व्यवहृत होता है।

निम्बादि-चूर्ण—नीम के सूखे हुये ताजे पत्ते १० तोला, सोंठ १

तोला, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला प्रत्येक एक-एक तोला, अजवायन ५ तोला, सेंधा, सोंचल, उद्भिद् प्रत्येक एक-एक तोला, शक्कर-चूर्ण ½ से आधा तोले पानी के साथ लेने से आन्तरिया ज्वर (जो ज्वर अन्दर से आता है) को नष्ट करता है।

निम्बपत्रादि-चूर्ण—नीम के सूखे हुये पत्ते ४ तोला, हरड़ और आँवला प्रत्येक छः माशे, हल्दी ½ तोला।

अनुपान—पानी। मात्रा ½ तोला। उपदंश-रोग के अन्दर और बाहर व्यवहार होता है।

पञ्चनिम्ब-चूर्ण—कड़वे नीम का फूल, पत्ते, फल, और छाल; इन सबका चूर्ण समभाग में ६० तोला करके लोह-भस्म, भिलावा, वायविडंग शर्करा, आँवला, हल्दी, पिप्पली, मिर्च, सोंठ, बावची, अमलतास, गोखरू प्रत्येक ४ तोला। इन दोनों प्रकार के चूर्ण को मिलाकर पीछे से भँगरे के रस की खुरासानी अजवायन के काढ़े को, बबूल के काढ़े को प्रत्येक को एक-एक दिन भावना देकर सुखाना चाहिये।

अनुपान—खैर की छाल के काढ़े में या बबूल की छाल के काढ़े में या दूध में। मात्रा १ तोला। एक मास तक सेवन करने से सब प्रकार के कुष्ठ-रोग, त्वचा के रोग नष्ट हो जाते हैं।

पंचसम-चूर्ण—सोंठ, हरड़, पिप्पली, निशोथ, संचल इनका चूर्ण।

अनुपान—पानी; मात्रा दो आना।

उपयोग—शूल, अफारा, उदर-रोग अर्श तथा आमवात में।

पवित्र चूर्ण (१)—पंचलवण तोला २½ त्रिकटु, त्रिफला, अजवायन, चित्रक-मूल प्रत्येक वस्तु २½ तोला, शुद्ध गन्धक १८ तोला. हरड़ १० तोला, सेंधानमक २० तोला, सोंठ ४० तोला। प्रथम पाँचो नमक को इन्द्रवारुणी के फल के अन्दर भरकर इसे कपड़मिट्टी करके गोहे के आँच में पकाना चाहिये। पीछे से कपड़मिट्टी उतारकर अन्दर से पंचलवण निकालकर इसमें शेष वस्तुयें मिलाकर नीबू के रस में एक दिन रगड़कर व्यवहार में लाना चाहिये।

उपयोग—प्लीहा, उदर-शोथ, जलोदर उदर-रोग में मात्रा में ¼ से ½ तोला।

अनुपान—पानी ।

पवित्र चूर्ण (२)—स्वर्णमुखी के पत्तों को मिट्टी के कोरे बर्त्तन के अन्दर रखकर उसमें गोमूत्र डालना चाहिये। प्रातः गोमूत्र को फेंककर पत्तों को धूप में सुखाना चाहिये। रात्रि में पत्तों को फिर से घड़े में रखकर गोमूत्र डाल देना चाहिये और अगले दिन फिर से सुखाना चाहिये। इस प्रकार दस दिन तक करके, इन पत्तों का चूर्ण कर लेना चाहिये। मात्रा १ तोला।

अनुपान—गरम पानी।

उपयोग—मल को साफ लाता है, त्वचा के विकारों को नष्ट करता है।

पाचक चूर्ण—चित्रक-मूल १ भाग, हींग ½ भाग, पिप्पली-मूल १ भाग, अजवायन १ भाग, सज्जीक्षार ½ भाग, सेंधानमक ½ भाग, साँभर १ भाग, सोंठ १ भाग, पिप्पली १ भाग, मिर्च १ भाग, चविका १ भाग, जौखार १ भाग संचल ½ भाग, इनका चूर्ण करके प्रथम नीबू के रस की भावना देकर, पीछे से अनार के रस की भावना देकर सुखा देना चाहिये।

उपयोग—अजीर्ण और अग्निमान्द्य में। मात्रा दो आने से चार आने तक।

अनुपान—पानी।

पाषाणभेदादि-चूर्ण—पाषाण भेद, शिलाजीत, इलायची, पिप्पली, इनका चूर्ण समभाग।

अनुपान—चावलों का धोवन; मात्रा ¼ से ½ तोला।

उपयोग—प्रमेह में।

पिप्पल्यादि-चूर्ण—पिप्पली, पिप्पली-मूल, बहेड़े की छाल, सोंठ, इनका चूर्ण करना चाहिये। मात्रा ½ तोला।

अनुपान—मधु।

उपयोग—श्वास तथा कास-रोग में।

बिल्व-चूर्ण—बेल का चूर्ण १ तोला, गिलोय १ तोला, दोनों को मिलाकर खाने से पार्श्वशूल, आमशूल और रक्तातिसार नष्ट होता है।

बिल्वादि-चूर्ण—बेल का गर्भ, मोथा, धातकी के फूल, पाठा, मोचरस।

अनुपान—गुड़ और छाछ।

उपयोग—अतिसार में।

मरिच्यादि-चूर्ण—मिर्च, चित्रक तथा संचल।

अनुपान—छाछ; मात्रा २ से ८ बाल।

उपयोग—संग्रहणी, उदर, प्लीहा, गुल्म, अर्श तथा अग्निमान्द्य में।

महासुदर्शन-चूर्ण—त्रिफला, दोनों हल्दी, दोनों कटेरी, पित्त-पापड़ा, मोथा, इन्द्रायण, नेत्रवाला, नीम की छाल, पुष्कर-मूल, मुलहट्टी, कुड़ाछाल, अजवायन, इन्द्रजौ, भारंगी-मूल, शिरीष का बीज, फिटकिरी, बच, दालचीनी, पद्माख, उशीर, चन्दन, अतीस, बला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बायबिडंग, तगर, चित्रक, देवदारु, चव्य, पटोल, जीवक, ऋषभक, लौंग, वंशकपूर, श्वेत कमल, काकोली, तमालपत्र, जावित्री, तालीशपत्र, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, पिप्पली-मूल मोरबेल, गिलोय, धमासा, कटुकी, कचूर इन सबके तोल का आधा चिरायता। इन सब का बारीक चूर्ण करके ¼ तोले मात्रा में ठण्डे पानी के साथ लेने से तीनों दोष, सब प्रकार के ज्वर नष्ट होते हैं।

मलशुद्धि-चूर्ण— हरड़ की छाल २ तोला, रेवतचीनी आधा तोला, मिर्च आधा तोला, सोंठ १ तोला, सञ्चल आधा तोला, सैन्धव १ तोला, इनका चूर्ण रात्रि में गरम पानी के साथ लेने से सहज विरेचन होता है। मात्रा ३ से ४ माशे।

मुस्तादि-चूर्ण—मोथ, सोंठ, हरड़ इनका चूर्ण करके, सबका दुगुना गुड़ मिलाना चाहिये। मात्रा आधा से १ तोला। श्वास तथा कास-रोग में व्यवहार होता है।

मुसल्यादि-चूर्ण—श्वेत मूसली, गिलोय का सत्त्व, कौंच, गोखरू, सिम्भल के मूल की छाल, शर्करा, आँवला इन सबका चूर्ण।

अनुपान—गाय का दूध तथा घी। मात्रा १ तोला, वीर्य-वृद्धि और कामेच्छा के लिये।

यवक्षारादि-चूर्ण—जौखार, अतीस, काकड़ाश्रृङ्गी, पिप्पली, पुष्करमूल।

अनुपान—मधु। मात्रा १ से २ रत्ती, बालकों के सब प्रकार की खाँसी में लाभ करता है।

यवानीखांडव-चूर्ण (१)—अजवायन, अनार की छाल, सोंठ, इमली, अम्लवेतस, खट्टे बेर की छाल प्रत्येक १ तोला, मिर्च १० दाना, पिप्पली २॥ तोला, दालचीनी, सञ्चल, धनिया, जीरा प्रत्येक आधा तोला, शर्करा १६ तोला इन सबका चूर्ण करना चाहिये। मात्रा ½ तोला। अरुचि, खाँसी, श्वास, संग्रहणी, वमन, अतिसार, कण्ठ-रोग, हृदय-रोग में व्यवहार होता है।

यवानीखांडव-चूर्ण (२)—अजवायन, कोकम, सोंठ, अम्लवेतस, अनारदाना, खट्टे बेर की छाल प्रत्येक वस्तु १ तोला, धनिया, सञ्चल, जीरा, दालचीनी ये प्रत्येक आधा तोला, छोटी पिप्पली नग १००, मिर्च २००, शर्करा १६ तोला इन सबको कपड़े में छानकर चूर्ण करना चाहिये। मात्रा ½ से १ तोला। इस चूर्ण को मुख में रखकर धीरे-धीरे गले में उतारना चाहिये। इससे जठराग्नि बढ़ती है। कास, श्वास तथा हृदय के रोगों में हितकर है।

जेठीमधुकादि-चूर्ण—मुलहट्टी, पिप्पली, मुनक्का, काकड़ाश्रृङ्गी, शतावरी सब एक-एक तोला, बाँसकपूर २ तोला, शर्करा ४ तोला सबका चूर्ण। मात्रा—२ से ८ माशा।

अनुपान—मधु तथा घी। उरःक्षत तथा कास-रोग में हितकर है।

रसायन-चूर्ण—गिलोय, गोखरू और आँवले का समभाग चूर्ण घी तथा शर्करा के साथ लेने से धातु-स्राव, स्वप्न-दोष, हस्त-दोष, मस्तिष्क की निर्बलता दूर होती है। मात्रा ½ से ¼ तोला।

लघुगङ्गाधर-चूर्ण—नागरमोथा, इन्द्रजौ, बेल, लोध्र, मोचरस, धातकी के फूल।

अनुपान—छाछ तथा गुड़। मात्रा ½ तोला। सब प्रकार के अतिसार तथा प्रवाहिका में लाभकारी है।

लघुसुदर्शन-चूर्ण—गिलोय, पिप्पली, पिप्पली-मूल, कटुकी, हरड़, सोंठ, लवंग, नीम की अन्तःछाल, दालचीनी, चन्दन इन सबके चूर्ण से आधा चिरायता।

उपयोग—सब प्रकार के ज्वरों में।

लवङ्गादि-चूर्ण—लवंग, कपूर, इलायची, दालचीनी, नागकेशर, जायफल, नेत्रवाला, सोंठ, काला जीरा, काला अगरु, बाँसकपूर, कमल, पिप्पली, चन्दन, तगर, उशीर, कंकोल, सबका चूर्ण और सबसे आधी

शर्करा मिलाकर सेवन करने से क्षय, हृदय-रोग, कण्ठ-रोग, कास, हिक्का, पीनस, श्वास, अतिसार, उर:क्षत, प्रमेह, अरुचि, गुल्म, संग्रहणी आदि नष्ट होती है।

अनुपान—पानी या शहद। मात्रा २ से ८ बाल।

लशुनादि-चूर्ण—लहसुन, जीरा, गन्धक, सेन्धानमक, त्रिकटु, हींग समभाग। मात्रा २ से ८ बाल।

अनुपान—नीबू का रस या पानी।

उपयोग—कॉलरा, अजीर्ण, उदर-शूल तथा वातगुल्म में।

वज्रक्षार-चूर्ण—पञ्चलवण, टंकण, सर्जक्षार सबको एक दिन तक मदार के दूध में तर करके अगले दिन धूप में सुखाकर पीछे से आक के पत्तों में लपेटकर दो बड़े बड़े सम्पुटों में गजपुट के अन्दर पाक करना चाहिये। पीछे से हल्दी, त्रिकटु, त्रिफला, अजवायन, जीरा, चित्रक-मूल इनका चूर्ण क्षार से आधा मिलाना चाहिये। मात्रा ½ तोला।

अनुपान—गरम पानी या गोमूत्र।

उपयोग—गुल्म, शूल, अजीर्ण, शोथ, उदर, मन्दाग्नि, अफरा में।

बड़वानल-चूर्ण—सेंधानमक १ भाग, पिप्पली २ भाग, पिप्पली ३ भाग, चविका ४ भाग, चित्रकमूल ५ भाग, सोंठ ६ भाग, हरड़ ७ भाग इस प्रमाण से चूर्ण करना चाहिये।

अनुपान—पानी। मात्रा २ से ८ बाल। मन्दाग्नि के लिये उपयोगी है।

विदारीकन्द-चूर्ण—विदारीकन्द-चूर्ण, बाँसकपूर, मुलहठी, पिप्पली समभाग चूर्ण करना चाहिये। मात्रा आधा से १ तोला।

अनुपान—दूध तथा शर्करा।

उपयोग—कूवत के लिये, नपुंसकत्व तथा क्षीणता के लिये।

विशाला-चूर्ण—इन्द्रवारुणी का चूर्ण।

अनुपान—गोमूत्र। मात्रा—२ से ४ माशे। सब प्रकार के उदर-रोगों में तथा स्त्रियों के मूढ़ गर्भ में लाभ करता है।

वृद्धदंड-चूर्ण—कौंच, गोखरू, श्वेत मूसली, सिम्बल के मूल की छाल, आँवला तथा गिलोय सत्त्व, सब वस्तुयें समान भाग लेकर सबके बराबर शर्करा मिलानी चाहिये। मात्रा—½ से एक तोला।

अनुपान—दूध अथवा घी और शहद।

उपयोग—धातु-दोष, कमर के दर्द, वीर्य की जलन को नष्ट करता है।

वृद्धदारु-चूर्ण—विधारा के चूर्ण को शतावरी के रस की ७ भावना देकर इस चूर्ण को ¼ से आधा तोला तक मात्रा में दूध के साथ लेने से शरीर की शक्ति तथा मस्तिष्क की पुष्टि होती है। थकान उतरती है। दम चढ़ने आदि में लाभ होता है।

शतावर्यादि-चूर्ण—शतावरी, गोखरू, कौंच, नागबला, बला, तालमखाना। मात्रा—½ से १ तोला।

अनुपान—गाय का दूध। वाजीकरण है।

शुण्ठ्यादि-चूर्ण—सोंठ, अतीस, हींग, मोथा, कुड़ाछाल, चित्रकमूल।

अनुपान—गरम पानी। मात्रा—२ से ४ बाल।

उपयोग—आमातिसार में।

शृंग्यादि-चूर्ण—काकड़ाशृङ्गी, अतीस, पिप्पली।

अनुपान—मधु। मात्रा १ से २ रत्ती।

उपयोग—बालकों की खाँसी, ज्वर तथा उल्टी में लाभ होता है।

समशर्करा-चूर्ण—सोंठ ७ तोला, पिप्पली ६ तोला, मिर्च ५ तोला, नागकेसर ४ तोला, तमालपत्र ३ तोला, दालचीनी २ तोला, इलायची १ तोला इनके चूर्ण के बराबर शर्करा। मात्रा ½ से १ तोला।

उपयोग—अग्निमांद्य, अर्श, अरुचि, गुल्म, श्वास, कण्ठरोग तथा हृदय रोग में।

सारस्वत-चूर्ण—कूठ, असगन्ध, सेंधानमक, अजवायन, दोनों जीरे, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, पाठा, शङ्खावली, सबका समभाग। इन सबके बराबर वच का चूर्ण। इस चूर्ण को ब्राह्मी रस की तीन भावनायें देकर काम में लाना चाहिये। मात्रा—१ तोला।

अनुपान—मधु तथा घी।

उपयोग—उन्माद, अपस्मार आदि विकारों को मिटाता है। धारणा-शक्ति, बुद्धि, धैर्य्य, स्मरण-शक्ति को बढ़ाती है।

सीतोपलादि-चूर्ण—मिश्री १६ तोला, बाँसकपूर ८ तोला, पिप्पली ४ तोला, इलायची २ तोला, दालचीनी १ तोला।

अनुपान—मधु तथा घी। मात्रा—½ तोला।

उपयोग—श्वास, कास, क्षय, हाथ-पाँव की जलन, अग्निमान्द्य, जीभ की जड़ता, पार्श्वशूल, अरुचि, जीर्णता व नाक तथा मुँह का रक्तपित्त अच्छा होता है।

हरीतक्यादि-चूर्ण—हरड़, अतीस, सेंधानमक, संचल, बच, हींग।

अनुपान—गरम पानी। मात्रा ३ से ४ वाल। आमातिसार में।

हिंग्वाष्टक—हींग ८ भाग, त्रिकटु, अजवायन, दोनों जीरे, सेंधानमक, प्रत्येक एक-एक भाग।

अनुपान—घी। मात्रा—½ तोला।

उपयोगी—मन्दाग्नि, वायु, शूल में लाभ दायक है।

अग्निमुख-लवण—चित्रक, हरीतकी, आमलकी, बहेड़ा, दन्तीमूल निशोथमूल, कूठ प्रत्येक का चूर्ण समभाग। सबके बराबर सेंधा नमक मिलाकर मदार के दूध की भावना देनी चाहिये। इसको मदार के अन्दर भरकर ऊपर से कीचड़ द्वारा लेप करके पुटपाक करना चाहिये। पीछे से चूर्ण करके रखना चाहिये। मात्रा—२ रत्ती।

उपयोग—वाताजीर्ण, शूल, आम्लपित्त, अजीर्ण, उदराध्मान में।

पुष्यानुग-चूर्ण—पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली, पाषाण भेदी, रसौंत, अम्बष्ठिका, मोचरस, बराहक्रान्ता, पद्मकेशर, कुमकुम, अतीस, मोथा, बिल्व, लोध्र, गेरू, कटफल, मिर्च, सोंठ, द्राक्षा, लालचन्दन, श्योनाक-छाल, इन्द्रयव, अनन्तमूल, धातकी फूल, मुलहठी और अर्जुनछाल इन सबका चूर्ण लेना चाहिये।

उपयोग—रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर और योनि-क्षत-जनित स्राव में, रक्तातिसार में। आवष्ठिका के अभाव में अशोक छाल बरत सकते हैं।

भास्कर-लवण—पिप्पली, पिप्पलीमूल, धनिया, कालाजीरा, सेंधा नमक, विट्लवण, तेजपत्र, तालीशपत्र और नागकेशर प्रत्येक १६ तोला; संचल ४० तोला, मिर्च, जीरा और सोंठ प्रत्येक ८ तोला, दालचीनी, इलायची प्रत्येक ४ तोला, काच लवण १ सेर। अनारदाना आधा सेर, आम्लवेतस १६ तोला। सबका चूर्ण मिलाकर काम में लाना चाहिये।

उपयोग—अम्लपित्त, अजीर्ण, शूल रोग में।

गुटिका

अभयादि मोदक—हरड़, पिप्पलीमूल, मिर्च, सोंठ, दालचीनी, तमालपत्र, पिप्पली, मोथा, वायबिडङ्ग, आँवला प्रत्येक एक-एक तोला, दन्ती-मूल २ तोला, निशोथ ८ तोला, शर्करा ६ तोला। इसकी गोली शहद में बनानी चाहिये। मात्रा ½ तोला से १ तोला।

अनुपान—ठण्डा पानी।

उपयोग—बद्धकोष्ट, पाण्डु, विषमज्वर, अग्निमान्द्य, शूल, शोथ, गुल्म, उदर, विदाह और मूत्रकृच्छ्र रोग में हितकारी है।

अमृतादि वटी—शुद्ध वत्सनाभ २ तोला, कौड़ी की भस्म ५ तोला, मिर्च ९ तोला इन तीनों को पानी में पीसकर मूँग जितनी गोली बनानी चाहिये। मात्रा—१ तोला।

अनुपान—आर्द्रक का रस या पानी।

उपयोग—कफ, ज्वर और अग्निमान्द्य।

अमृता-मोदक—गिलोय का चूर्ण १ तोला। इसमें एक-एक तोला शहद, पुराना गुड़ और घी मिलाकर एक-एक तोला की गोली बनानी चाहिये।

अनुपान—दूध।

उपयोग—विषम ज्वर, जीर्णधातु गत ज्वर में।

अपर सुन्दर वटी—सोंठ, मिर्च, पिप्पली, आँवला, हरड़, बहेड़ा, पिप्पलीमूल, रेणुका बीज, निर्गुण्डी का बीज, चित्रक, लोहभस्म, दालचीनी, तमालपत्र, इलायची, नागकेशर, शुद्धपारा, गन्धक, वत्सनाभ, वायबिडंग, अकरकरा, मोथा इनके चूर्ण दुगने गुड़ में मिलाकर चने जितनी गोली बनानी चाहिये। मात्रा—१ से २।

उपयोग—अपस्मार, सन्निपात, कास, श्वास, मूल व्याधि सब प्रकार के वातरोग में।

अर्क अहिफेनादि गुटिका—मदार की सूखी कलियाँ २ तोला, सेंधानमक २ तोला, अफीम आधा तोला तीनों को पानी में पीसकर बाल-बाल की गोली बनानी चाहिये। मात्रा—१ गोली।

उपयोग—उरःक्षत और कास-रोग में।

अर्शोहर वटी—हरड़, तिल, भिलाँवा सब समान भाग लेकर चूर्ण करना चाहिये। भिलाँवा को शुद्ध करके तिलों के साथ कूट लेना चाहिये।

पीछे से हरड़ का चूर्ण मिलाना चाहिये। तीनों से दुगना गुड़ मिलाकर ½ तोला की गोली बनानी चाहिये। मात्रा— १ से ४ गोली।

उपयोग—अर्श, पाण्डु, कोढ, कास, श्वास में बरती जाती है।

अहिफेनादि गुटिका— अफीम ४ तोला, जावित्री ४ तोला, कस्तूरी १ तोला, कपूर १ तोला इनकी एक-एक रत्ती की गोली करनी चाहिये। मधु-प्रमेह में व्यवहृत होती है।

अकरकरादि वटी—अकरकरा, सैन्धव, चित्रक, सोंठ, आँवला, पिप्पली, मिर्च, अजवायन और हरड़ इन सबका चूर्ण करके बिजौरे के रस में गोली करनी चाहिये। मात्रा—२ से ४ वाल।

उपयोग—गले की व्याधि, श्वास और प्रतिश्याय में।

एलादि गुटिका—इलायची, तेजपत्र, दालचीनी प्रत्येक तीन-तीन तोला, पिप्पली ४ तोला, चीनी, मुलहठी, पिण्ड खजूर और द्राक्षा प्रत्येक ८ तोला। मधु परिमाण युक्त। रक्त-पित्त रोग की उत्कृष्ट औषधि है। इस औषधि में एक भाग वंशलोचन देकर बनाने से और अधिक लाभ होता है।

अनुपान—गूलर और मधु।

कन्या लोहादि गुटिका—एलुवा १० तोला, हीराकसीस ७॥ तोला, दालचीनी ५ तोला, सोंठ ५ तोला, इलायची ४ तोला, गुलकन्द २० तोला। मात्रा—२ गोली।

उपयोग—अत्यार्त्तव, अनियमित ऋतु में, ऋतु न आती हो तो।

कृमिघ्न गुटिका— जहर कुचला ५ तोला,वायविडंग १ तोला, अजवायन १ तोला,अतीस १ तोला,पिप्पली १ तोला, इन्द्रजौ १ तोला, इन सबको कूटकर घीकुँआर के रस में गोली बनानी चाहिये। मात्रा—१ से २ गोली।

उपयोग— कृमिरोग में।

कुमकुम वटी—केसर तथा अफीम समभाग। मधु मिलाकर १ चावल की गोली बनानी चाहिये। मात्रा—१ से ३ गोली।

उपयोग—अतिसार में।

कस्तूर्यादि गुटिका—कस्तूरी तथा कपूर प्रत्येक एक-एक भाग, लवंग २ भाग, मिर्च, पिप्पली, बहेड़ा तथा कुठ प्रत्येक आधा भाग, अनार की छाल ४ भाग सबका चूर्ण करके कत्थे के पानी के साथ पीसकर मूँग जितनी गोली बनानी चाहिये।

कांकायन गुटिका—शठी, कुठ, दन्तीमूल, चितामूल, सोंठ, वच, निशोथ मूल प्रत्येक ८ तोला, हींग २४ तोला, यवक्षार १६ तोला, अम्लवेतस १६ तोला, यवानी, जीरा, मिर्च, धनिया प्रत्येक २ तोला, कृष्ण जीरा और खुरासानी अजवायन ८ तोला, सब के चूर्ण को बिजौरे नींबू के रस में पीसकर आधे तोले की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—गुल्म-रोग, ऋतु-दोष में। गुल्म-रोग में कांजी।

अनुपान—आर्द्रक-रस दूध के साथ देनी चाहिये।

कासारि गुटिका—त्रिकटु, काला जीरा, काकड़ाशृङ्गी, धमासा, कायफल, पुष्कर-मूल (कुठ) इनको मधु के साथ चाटने से लाभ होता है। या मधु मिलाकर गोली बना लेनी चाहिये। इसको 'अष्ठांगावलेहिका' भी कहते हैं।

गन्धक वटी—लहसुन, जीरा, गन्धक, सेंधा नमक, त्रिकटु, हींग, इनका चूर्ण करके नींबू के रस में पीसकर गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—विसूचिका में।

गुड़ादि वटिका—सोंठ, हरड़, नागरमोथा, इनके चूर्ण से दुगुना गुड़ मिलाकर गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—श्वास-कास रोग में।

गुड़ादि वटी—गुड़ १२ तोला, सोंठ १२ तोला, पिप्पली १२ तोला, मण्डूर ४ तोला, तिल ४ तोला, इनकी गोली करनी चाहिये। मात्रा ¼ से ½ तोला।

उपयोग—सब प्रकार के शोथ में।

गुड़ पिप्पली—विडङ्ग, सोंठ, पिप्पली, मिर्च, कुठ, हींग, सेंधा नमक, विडलवण, सामुद्र लवण, उद्भिद् लवण, संचल लवण, यवक्षार, सर्जक्षार, सुहागा, समुद्रफेन, चीतामूल, गज पिप्पली, कृष्ण जीरा, ताल, जटा-भस्म, अपामार्ग-भस्म, इमली-भस्म, प्रत्येक सम भाग, इन सब के बराबर पिप्पली चूर्ण और सबसे दुगुना पुराना गुड़ मिलाकर गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—प्लीहा और यकृत-रोग में प्रसिद्ध है।

अनुपान—उष्ण जल।

चन्द्रप्रभा गुटिका—कचूर, वच, मोथा, चिरायता, गिलोय, देवदारु,

हल्दी, अतीस, दारु हल्दी, पिप्पली-मूल, चित्रक-मूल, धनिया, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चविका, वायविडंग, गज-पिप्पली, त्रिकटु, स्वर्णमाक्षिक, यवक्षार, सर्जक्षार, सैन्धा नमक, संचल, विडलवण, प्रत्येक ½ तोला, निशोथ, दन्ती-मूल, तमालपत्र, दालचीनी, इलायची, बाँसकपूर प्रत्येक एक तोला, लोह-भस्म २ तोला, शर्करा ४ तोला, शिलाजीत ८ तोला, गुग्गुल ८ तोला, सबका चूर्ण करके घी में गोली बनानी चाहिये। मात्रा ½ तोला।

अनुपान—पानी अथवा रोगानुसार।

उपयोग—सब प्रकार के प्रमेह, मूत्रकृच्छ, मूत्राघात, पाण्डु, पत्थरी, प्रमेह, पिटिका, कामला, अंडवृद्धि, दाह, नेत्र-रोग, स्त्रियों के रज-दोष, पुरुषों के धातु-दोष में काम आती है।

द्राक्षादि गुटिका—मुनक्का २० तोला, सोनामक्खी ४ तोला, हरड़ ४ तोला, शर्करा ४ तोला, जावित्री ६ मासा, केसर ३ मासा, इन सब का चूर्ण किशमिश में गोली बनानी चाहिये। मात्रा—एक तोला। मलशुद्धि होती है।

उपयोग—अम्लपित्त को, वायु को नष्ट करता है।

दाड़िम-चतुःसम—जायफल, लौंग, जीरा, सुहागे की खील इनको समभाग लेकर अनार के अन्दर भरकर पुटपाक रीति से पाक करना चाहिये। पीछे से बकरी के दूध के साथ पीस लेना चाहिये। मात्रा ½ रत्ती।

उपयोग—अजीर्ण, आमाशय-रोग, अतिसार में उपयोगी है।

नारिकेल-खण्ड—सुपक नारियल फल ½ सेर इसको ८ तोला घी में भूनकर आध सेर चीनी और ४ सेर नारियल जल में मिलाकर पाक करना चाहिये। पाक हो चुकने पर धनिया, पिप्पली, मोथा, वंशलोचन, जीरा, काला जीरा प्रत्येक आठ आना एवं दालचीनी, इलायची, तेजपत्र और नाग-केसर मिलित आठ आना मिलाकर पाक समाप्त कर लेना चाहिये।

उपयोग—अम्लपित्त, परिणाम-शूल में।

मात्रा चार आने से आधा तोला।

अनुपान—कुछ गरम पानी।

पथ्यादि-गुटिका—हरड़ तोला ३०, दन्तीमूल ४ तोला, निशोथ १ तोला, चित्रकमूल ४ तोला, पिप्पली १ तोला, गुड़ ३२ तोला इनकी आध तोले की गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ गोली।

उपयोग—पाण्डु, कण्डु, संग्रहणी में।

प्राणदा-गुटिका—सोंठ २४ तोला, पिप्पली १६ तोला, पिप्पलीमूल १६ तोला, मिर्च ८ तोला, चविका ८ तोला, तालीशपत्र ८ तोला, नागकेसर ४ तोला, इलायची तथा उशीर दोनों दो-दो तोला, दालचीनी तथा तमालपत्र एक-एक तोला, पुराना गुड़ ४० । मात्रा आधा तोला ।

उपयोग—अर्श, मन्दाग्नि, पीनस में उपयोग होता है । यदि गरम रहे, तो सोंठ के स्थान पर हरड़ डालनी चाहिये ।

पुनर्नवा-मण्डूर—मन्डूर ४० तोला, पाकार्थ गोमूत्र ५ सेर । पाक के नज़दीक होने पर पुनर्नवा, निशोथमूल, सोंठ, पिप्पली, मिर्च, विडंग, देवदारु, चीतामूल, त्रिफला, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, दन्तीमूल, चव्य, इन्द्रयव, कटुकी, पिप्पलीमूल और मोथा प्रत्येक १ तोला ।

उपयोग—यकृत-दोष में; कामला, पान्डु-रोग में ।

बृहत्सूरण-वटक—सूरण १६ भाग, विधारा १६ भाग, मूसली ८ भाग, चित्रक ८ भाग, त्रिफला, वायविडङ्ग, सोंठ, पिप्पली, भिलावा, पिप्पली-मूल, तालीशपत्र ये नौ वस्तुयें चार-चार भाग, इलायची, मिर्च, दालचीनी ये दो-दो भाग सबका चूर्ण करके दुगुने गुड़ में गोली बनानी चाहिये ।

उपयोग—अर्श, संग्रहणी, श्वास, कास, क्षय, प्लीहा, श्लीपद, शोथ हिचकी, प्रमेह, भगन्दर, पलित-रोग में ।

मन्डूर-वटी—देवदारु, मोथा, दारुहल्दी, त्रिकटु, चविका, चित्रकमूल पिप्पलीमूल, दालचीनी, वायविडङ्ग, त्रिफला तथा स्वर्णमाक्षिक-भस्म, सब वस्तुयें समान भाग, मन्डूर-भस्म सबसे दुगुना, गोमूत्र सबसे आठ गुना । इस गोमूत्र में पाक करके गोली वटक जैसी बना लेनी चाहिये । मात्रा १ से ४ गोली ।

अनुपान—छाछ, कामला, पान्डु, अर्श, प्रमेह, शोथ, कफ, कुष्ठ-रोग, उरु-स्तम्भ, प्लीहा और अजीर्ण में उपयोग होता है ।

महाशंख-वटी—शंखभस्म, पंचलवण, इमलीक्षार, त्रिकटु, हींग, विष, पारा, गन्धक, लोह, वंग समभाग मिलाकर अपामार्ग, चित्रकमूल-क्वाथ, नीबू का रस, अम्लबेतस द्वारा भावना देकर २ रत्ती की गोली बनानी चाहिये । लोह आधा भाग और वंग-भस्म के स्थान पर सुहागे की खील देने से विशेष लाभ होता है ।

उपयोग—अजीर्ण, अतिसार, उदर-शूल में ।

मरिच्यादि गुटिका—मिर्च १ तोला, पिप्पली १ तोला, जौखार आधा तोला, अनार की छाल २ तोला इन सबका चूर्ण आठ तोला गुड़ में घोटकर ¼ तोले की गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—कास-रोग में।

मुस्तादि वटी—मोथा, मोचरस, लोध्र, धातकी का फूल, बेल का फल, इन्द्रजौ, अफीम, शुद्ध पारा और गन्धक सबको पीसकर गोली बनानी चाहिये।

अनुपान—गुड़ और छाछ। मात्रा १ से २ रत्ती।

उपयोग—अतिसार और संग्रहणी में।

रतिवर्धक मोदक—गोखरू, तालमखाना, असगन्ध, शतावरी, मुशली, कौंच, मुलहट्टी, गँगेरन, बलदाना इन सबका चूर्ण करके आठ गुने दूध में पकाना चाहिये। पीछे चूर्ण के बराबर गाय का घी मिलाकर खोआ भून लेना चाहिये। इस सबसे दुगुनी शर्करा लेकर उसकी चासनी तैयार करके इसमें यह चूर्ण मिलाकर दो-दो तोले के मोदक तैयार कर लेने चाहियें।

लवंगादि वटिका—लौंग, बहेड़ा, मिर्च, खैरसार इनका चूर्ण करके बबूल की छाल के काढ़े में गोली बनानी चाहिये। मात्रा २ से ४ गोली।

उपयोग—श्वास और कास में।

वानरी वटिका—कौंच १६ तोला, गाय का दूध ६४ तोला दोनों उबालकर गाढ़ा कर लेना चाहिये। पीछे से कौंच का छिलका उतारकर, पीसकर मैदा बना लेना चाहिये। इसकी गोलियाँ बना लेनी चाहिये। इन गोलियों को घी में भूनकर दुगुनी शर्करा की चासनी में भिगोना चाहिये। इस चासनी में से निकालकर शहद के अन्दर डुबोकर रख देना चाहिये। मात्रा चौथाई से आधा तोला।

उपयोग—वीर्यस्राव को रोककर शक्ति देती है।

व्याघ्रादि गुटिका—छोटी कटेरी, जीरा, आँवला चूर्ण करके मधु में गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—ऊर्ध्ववायु, श्वास में।

विषमुष्टि वटिका—पारा, गन्धक, विष, खुरासानी अजवायन, त्रिफला, सर्जक्षार, यवक्षार, चित्रकमूल, सेंधानमक, विडङ्ग, काचलवण,

सुहागे की खील प्रत्येक समभाग सबके बराबर शोधित अहरकुचला। इनको बिजौरे नीबू के रस में पीसकर मिर्च के बराबर गोली बनानी चाहिये।

उपयोग—अजीर्ण, ग्रहणी, अम्लपित्त और शूल में उपकारी है।

अनुपान—मोथे का रस या शीतल जल, कपूर जल।

व्योषादि गुटिका—सोंठ, मिर्च, पिप्पली, अम्लवेतस, चविका, तालीशपत्र, चित्रक, जीरा और इमली प्रत्येक १ तोला, दालचीनी, तमालपत्र, इलायची प्रत्येक चौथाई तोला, गुड़ २० तोला, मात्रा आधा से १ तोला।

उपयोग—पीनस, दमे, कास में।

वज्रक्षार—शोधित सर्जक्षार आधा तोला, संचललवण आधा तोला, यवक्षार ४ तोला। लोहपात्र में मृदु अग्नि से पिघलाकर फिर मिट्टी के बर्तन में गिराकर वटी करनी चाहिये। साधारणतः ४ भाग शोरा और १ भाग फिटकिरी मिलाकर दोनों को पिघलाकर वटी कर लेते हैं।

उपयोग—उदरशूल, पेट में ज्वाला, वमन, अजीर्ण, मूत्रकृच्छ्र मे, हिचकी में।

शंखवटी—इमली का क्षार ८ तोला. पंचलवण ४ तोला, इनको नीबू के रस में भिगोकर, पीछे शंख के टुकड़े ४ तोला तपा-तपाकर बार-बार उस रस में इतना बुझाना चाहिये, जिससे राख हो जाय। इसमें त्रिकटु ४ तोला, वच २ तोला, हींग २ तोला, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारा, वत्सनाभ तीनों मिलाकर १ तोला, नीबू के रस में पीसकर चने जितनी गोली बनानी चाहिये। मात्रा १ से २ गोली।

उपयोग—उदर-रोग में, अजीर्ण में, शूल में, कॉलरा में, अग्निमान्द्य में, गुल्म में।

संजीवनी—वायविडङ्ग, सोंठ, पिप्पली, त्रिफला, वच, गिलोय, भिलावा, शुद्ध वत्सनाभ इन दस वस्तुओं का चूर्ण करके, गोमूत्र में घोटकर रत्ती-रत्ती की गोली बनानी चाहिये।

अनुपान—आर्द्रक रस, अजीर्ण, गुल्म में १ गोली।

हरीतकी खण्ड—त्रिफला, मोथा, दालचीनी, तेजपत्र, इलायची, नागकेसर, अजवायन, त्रिकटु, धनिया, मोरी, सौंफ, लौंग प्रत्येक २ तोला, निशोथ और सोनमुखी प्रत्येक १६ तोला, हरीतकी-चूर्ण १६ सेर, शर्करा ४ सेर। यथाविधि पाक कर लेना चाहिये। मात्रा १ तोला।

प्रत्येक एक-एक तोला सबके चूर्ण के बराबर शुद्ध गुग्गुल मिलाकर चार आने भर की गोली बना लेनी चाहिये। मात्रा चैाथाई तोला से १ तोला।

उपयोग—गण्डमाला, अपच, अर्बुद, ग्रन्थि, व्रण, गुल्म, कुष्ठ, भगन्दर आदि रक्त-विकार में।

अनुपान—पानी या कचनार की छाल का काढ़ा।

किशोर गुग्गुल—त्रिफला तथा गिलोय प्रत्येक ६४ तोला इनको कूटकर लोहे की कढ़ाई में १५३६ तोले पानी में उबालकर आधा पानी रहने पर छान लेना चाहिये। इस पानी में शुद्ध गुग्गुल ६४ तोला मिलाकर मीठी आँच पर गुड़पाक-विधि से पाक करना चाहिये। पाक समाप्त होने से ठीक पूर्व निम्न वस्तुओं का बारीक चूर्ण इसमे मिला देना चाहिये। त्रिफला प्रत्येक २ तोला, गिलोय ४ तोला, त्रिकटु और वायविडंग प्रत्येक दो तोला, दन्तीमूल १ तोला, निशोथ १ तोला इन सबका चूर्ण मिलाकर चैाथाई तोले की गोली बना लेनी चाहिये।

अनुपान—जरा गरम पानी या दूध अथवा मंजिष्ठादि-क्वाथ। मात्रा चैाथाई तोला से १ तोला।

उपयोग—वात-रक्त, कुष्ठ, व्रण, प्रमेह-पिटिका, प्रमेह, उदर, अग्नि-मान्द्य, कास, शोथ, पाण्डु में।

गोक्षुरादि गुग्गुल—गोखरू (बड़ी दक्खिनी) ११२ तोला इनको छः गुने पानी में उबालकर जब पानी आधा रह जाय, तब उसमें शुद्ध गुग्गुल २८ तोला मिलाकर घोंटना चाहिये। साथ में नीचे की वस्तुयें मिला देनी चाहियें। त्रिकटु, त्रिफला और मोथा ये सात वस्तुयें प्रत्येक चार-चार तोला मिलाकर चैाथाई तोले की गोली बना लेनी चाहिये।

अनुपान—पानी अथवा रोगानुसार। प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, प्रदर, मूत्राघात, वात-रक्त, पथरी, शुक्र-रोग में लाभदायक है।

त्रयोदशांग गुग्गुल—गुग्गुल, बबूल, आसौद, पलाँसी, गिलोय, शतावरी, गोखरू, रास्ना, निशोथ, सुवा, कचूर, अजवायन, सोंठ, समभाग चूर्ण करके इस चूर्ण के बराबर गुग्गुल और गुग्गुल से आधा घी मिलाकर आधे तोले की गोली करनी चाहिये।

अनुपान—मधु, दूध अथवा गरम पानी।

उपयोग—वायु तथा संधिवात के। मिटाता है।

त्रिफला गुग्गुल—त्रिफला और पिप्पली प्रत्येक ४ तोला, शुद्ध गुग्गुल २० तोला, इनको घी में चूर्ण करके सबको पानी में गोली बनानी चाहिये। अथवा पानी में चासनी करके इसमें चूर्ण मिलाकर गोली बनानी चाहियें। मात्रा—चौथाई से १ तोला।

अनुपान—पानी या रोगानुसार।

उपयोग—भगन्दर, नाड़ी-व्रण, गुल्म, शोथ और अर्श-रोग में उपयोगी है।

पथ्यादि गुग्गुल—हरड़ १००, बहेड़ा १००, आँवला ४००, (प्रत्येक की छाल समान वजन में लेने से भी काम हो सकता है।) इन सबको अधिक चूरा करके एक रात १०२४ तोला पानी में भिगोकर दूसरे दिन क्वाथ करें। जब आधा पानी शेष रहे, तब छानकर फिर से आग पर रखकर अवलेह की भाँति गाढ़ा बनाना चाहिये। इसमें शुद्ध गुग्गुल ६४ तोला, वायविडंग, दन्तीमूल, त्रिफला, गिलोय, पिप्पली, निशोथ, सोंठ, मिर्च प्रत्येक दो-दो तोला मिलाकर गोलियाँ बना लेनी चाहिये। मात्रा—½ से १ तोला।

उपयोग—गृध्रसी, खञ्जता, प्लीहा और पाण्डु-रोग में उपयोगी है।

योगराज गुग्गुल—सोंठ, पिप्पली-मूल, पिप्पली, चविका, चित्रक-मूल, भूनी हुई हींग, अजवायन, श्वेत सरसों, जीरा, काला जीरा, निर्गुण्डी के बीज, इन्द्रजौ, पाठा, वायविडंग, गज-पिप्पली, कटुकी, अतीस, भारंगीमूल, वच, मोरबेल प्रत्येक ½ तोला, सबसे दुगुना (१० तोला) त्रिफला सबका चूर्ण करना चाहिये। सबके बराबर (१५ तोला) शुद्ध गुग्गुल; गुग्गुल को घी में खूब नरम करके इसमें चूर्ण मिलाना चाहिये। मात्रा ½ से १ तोला। इसमें बंग-भस्म, लोह, रौप्य, नाग, अभ्रक, मण्डूर तथा रस-सिन्दूर आदि प्रत्येक ४ तोला मिलाने से महा योगराज गुग्गुल बनता है।

उपयोग—वात-व्याधि में।

सिंहनाद गुग्गुल—त्रिफला प्रत्येक १२ तोला, (कुल ३६ तोला) इसका काढ़ा करके छान लेना चाहिये। इसमें शुद्ध गन्धक ४ तोला, गुग्गुल १२ तोला, एरण्ड १६ तोला मिलाकर लोहे के बर्त्तन में पाक करना चाहिये। मात्रा ¼ से आधा तोला।

उपयोग—सब प्रकार के वायु-रोग में, आमवात, उदर-रोग, गुल्म और शूल में उपयोगी है।

आसव और अरिष्ट

निर्माण-विधि—साधारणतः सब आसव और अरिष्ट एक मास तक बन्द बर्त्तन में रक्खे जाते हैं। यह बर्त्तन प्रायः मिट्टी का होता है। आसव और अरिष्ट के बनाने का समय प्रायः ग्रीष्म-ऋतु उत्तम है। सर्दियों में पर्याप्त गरमी न मिलने से प्रायः खट्टे हो जाते हैं। जिस आसव या अरिष्ट में अम्लता उत्पन्न हो जाती है, वह स्वाद और गुण में उतर जाता है। आसव या अरिष्ट को यथासम्भव इस अम्लता से बचाना चाहिये।

अभयारिष्ट—हरड़ ४०० तोला, द्राक्षा २०० तोला, वायविडंग ४० तोला, महुआ के फूल ४० तोला, पानी ४०९६ तोले में काढ़ा करके चतुर्थांश शेष रहे, तब उतारकर उसमें गुड़ ४०० तोला, गोखरू, निशोथ, धनिया, धातकी के फूल, इन्द्रायण, चविका, सौंफ, सोंठ, दन्तीमूल, मोचरस प्रत्येक ८ तोला लेकर चूर्ण करके मिलाना चाहिये। इसको अरिष्ट-विधि से बन्द करके एक मास के पीछे निकालकर व्यवहार में लाना चाहिये।

उपयोग—अर्श, उदर-रोग, मंग्रहणी, पाण्डु, हृदय-रोग, प्लीहा, गुल्म, शोथ आदि में।

अशोकारिष्ट—अशोक की छाल ४०० तोला, पानी ४०९६ तोले में पकाकर चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। पीछे से इसमें गुड़ ४०० तोला, धातकी के फूल ६४ तोला, कालाजीरा, मोथा, सोंठ, दारुहल्दी, कमल, आँवला, हरड़, बहेड़ा, आम की गुठली, जीरा, अडूसे की छाल, चन्दन ये सब वस्तु प्रत्येक ४ तोला करके मिलानी चाहिये। इसको आसव-विधि से एक मास तक मिट्टी के घड़े में भरकर रखना चाहिये। मात्रा १ से ३ तोला।

उपयोग—श्वेत प्रदर, ज्वर, रक्त-पित्त, अर्श, मन्दाग्नि, अरुचि, प्रमेह, शोथ आदि में तथा स्त्रियों के तमाम रोगों में।

अश्वगन्धारिष्ट—असगन्ध २०० तोला, श्वेत मूसली ८० तोला, मजीठ, हरड़, दोनों हल्दी, मुलहट्टी, रास्ना, विदारीकन्द, अर्जुनवृक्ष, मोथा, निशोथ, ये सब प्रत्येक ४० तोला, अनन्तमूल, श्यामलता, चन्दन, रक्तञ्जली बच, चित्रकमूल प्रत्येक ३२ तोला, इन सबका ८१९२ तोले पानी में काढ़ा करके अष्टमांश शेष रखकर (१०२४ तोला) इसमें धातकी के फूल ६४ तोला; शहद ८०० तोला, त्रिकटु ८ तोला, त्रिजातक १६ तोला, नागकेसर ८ तोले

डालकर कपड़-मिट्टी करके दो महीने तक रख देना चाहिये। मात्रा २ तोला।

उपयोग—मूर्च्छा, अपस्मार, शाष, दाह, उन्माद, कृशता, वात-व्याधि में उपयोगी है।

एलाद्यरिष्ट--बड़ी इलायची २०० तोला, अडूसे की छाल ८० तोला, मजीठ, कुटज की छाल, दन्तीमूल, गिलोय, दोनों हल्दी, रास्ना, उशीर, मुलहट्टी, शिरीष, खैरसार, अर्जुनवृक्ष की छाल, चिरायता, नीम, कूठ, चित्रक और सौंफ प्रत्येक ४० तोला लेकर ८१९२ तोले पानी में काढ़ा करके १०२४ तोला शेष रहने पर धातकी के फूल ६४ तोला, शहद १२०० तोला, चतुर्जात, त्रिकटु, चन्दन, लाल चन्दन, जटामांसी, मोरबेल, मोथा, श्यामलता, श्वेत सारिवा प्रत्येक ४ तोला मिलाकर एक मास तक घड़े में भर करके रख देना चाहिये। मात्रा २ से ४ तोला।

उपयोग--विसर्प, मसूरिका, खसरा, विषम ज्वर आदि में।

कुटजारिष्ट--कुटज की छाल ४०० तोला, किसमिस २०० तोला, महुवा ४० तोला, खंभारी का मूल ४० तोला, सबको ४०९६ तोले पानी में काढ़ा करके चतुर्थांश (१०२४ तोले) पानी शेष रखकर इसे छान लेना चाहिये। फिर इसमें धातकी का फूल ८० तोला, गुड़ ४०० तोला मिलाकर आसव-विधि से बन्द कर देना चाहिये। मात्रा १ से ४ तोला।

उपयोग—सब प्रकार के ज्वर, अग्निमान्द्य, संग्रहणी, रक्तातिसार में उपयोगी है।

दशमूलारिष्ट—दशमूल प्रत्येक २० तोला, चित्रकमूल १०० तोला, पुष्करमूल १०० तोला, लोध्र ८० तोला, गिलोय ८० तोला, आँवला ६४ तोला, धमासा ४८ तोला, खैर की छाल ३२ तोला, बेल की छाल ३२ तोला, कूठ, मजीठ, देवदारु, वायविडङ्ग, मुलहट्टी, भारंगीमूल, बहेड़ा, पुनर्नवामूल, चविका, जटामांसी, प्रियंगु, अनन्तमूल, जीरा, निशोथ, रेणुका, रास्ना, पिप्पली, सुपारी, कचूर, हल्दी, सौंफ, पद्माख, नागकेसर, मोथा, इन्द्रजौ, काकड़ाशृङ्गी, जीवक, ऋषभक (अभाव में विदारीकन्द), मेद-महामेदा (अभाव में शतावरी), क्षीर काकोली (अभाव में असगन्ध), ऋद्धि-वृद्धि (अभाव में वराहीकन्द) प्रत्येक ८ तोला लेकर कूटकर सबसे आठ गुने पानी में उबालना चाहिये। पीछे जब चतुर्थांश बाकी रहे, तब इसको छानकर, मटके में भरकर रख देना चाहिये। किसमिस २५६ तोला लेकर चारगुने

पानी में उबालना चाहिये। जब ¼ भाग जल जाय, तब छानकर पहले मटके में भर देना चाहिये। इसमें शहद १२८ तोला, गुड़ १६०० तोला, धातकी के फूल १२० तोला, कंकोल, नेत्रवाला, चन्दन, जायफल, लौंग, दालचीनी, इलायची, तमालपत्र, नागकेसर, पिप्पली प्रत्येक ८ तोला लेकर सबका चूर्ण पहले मटके में मिला देना चाहिये। कस्तूरी १ शाण (¾ तोला) भी मिलाकर कपड़मिट्टी कर देनी चाहिये। जब भली प्रकार रस बन जाय, तब उसमें निर्मली के बीज मिला देने चाहिये, जिससे पानी साफ हो जाय। मात्रा—१ से २½ तोला।

उपयोग—संग्रहणी, अरुचि, श्वास-कास, गुल्म, भगन्दर, वात-रोग, क्षय, वमन, पाण्डु, कामला, अर्श, प्रमेह, उदर-रोग, धातुक्षय, गरमी आदि रोग शान्त होते हैं। स्त्रियों के बन्ध्या-दोष को नष्ट करता है। दुर्बल मनुष्यों को सशक्त बनाता है। शरीर में वीर्य और बुद्धि को बढ़ाता है।

द्राक्षारिष्ट—द्राक्षा २०० तोला, २०८ तोले पानी में उबालकर, चतुर्थांश बाकी रहने पर छान लेना चाहिये। इसमें गुड़ ८०० तोला, दालचीनी, तमालपत्र, इलायची, नागकेसर, प्रियंगु, मिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग प्रत्येक चार तोला चूर्ण करके इसको मिट्टी के बर्त्तन में एक मास तक रखना चाहिये। मात्रा १ से ४ तोला।

उपयोग—उरःक्षत, कास, क्षय, श्वास, स्वर-भंग आदि में उपयोगी है, शक्ति बढ़ाता है।

अहिफेनासव—महुवा की दारू ४०० तोला, अफीम १६ तोला, मोथा, जायफल, इन्द्रजौ, इलायची प्रत्येक चार तोला इन सबको कूटकर मिट्टी के बर्त्तन में भरकर रखना चाहिये। मात्रा ५ से १० बूँद।

उपयोग—अतिसार, कॉलरा, संग्रहणी आदि रोगों में हितकर है।

उशीरासव—उशीर, नेत्रवाला, लाल कमल, सिम्बल का जल, कमल, प्रियंगु, पद्माख, लोध्र, मजीठ, धमासा, पान, चिरायता, कुटकी, बड़ की छाल, उदुम्बर की छाल, कचूर, पित्तपापड़ा, सफेद कमल, पटोल, कचनार की छाल, जामुन की छाल, मोचरस प्रत्येक ४ तोला चूर्ण, द्राक्षा ८० तोला, धाय के फूल ६४ तोला, पानी २०४८ तोले, शर्करा ४०० तोला, मधु ४०० तोला इन सबको मिट्टी के बर्त्तन में भरकर रखना चाहिये। मात्रा १ से ४ तोला।

उपयोग—रक्तपित्त, पाण्डु, कुष्ठ, प्रमेह, कृमि, रक्त-विकार में।

कनकासव—धतूरे का पचाङ्ग १६ तोला, अडूसे के मूल के छाल, मुलहट्टी, पिप्पली, कटेरी, केसर, सोंठ, भारंगी, तालीशपत्र ये सब मिलाकर ८ तोला, धाय के फूल ६४ तोला, द्राक्षा ८० तोला, पानी २०४८ तोला, शर्करा ४०० तोला, मधु २०० तोला इन सबको मिलाकर मिट्टी के बर्त्तन में एक मास तक रखना चाहिये। मात्रा १ से २ तोला।

उपयोग—सब प्रकार के श्वास, कास, क्षय, उरःक्षत, जीर्ण-ज्वर, रक्त-पित्त आदि में।

कर्पूरासव—महुवा की दारू इसके अभाव में सिरका ४०० तोला, कपूर ३२ तोला, इलायची, दालचीनी, सोंठ, अजवायन, मिर्च प्रत्येक ४ तोला लेकर सबको कूटकर एक मास तक मिट्टी के बर्त्तन में रखना चाहिये। मात्रा—१० से २० बूँद।

उपयोग—शूल, कॉलरा, अजीर्ण आदि रोग में।

कुमारिकासव—कुँवार का गूदा १०२४ तोला, गुड़ ४०० तोला, हरड़ १०० तोला, पानी १०२४ तोला, इन सबका काढ़ा करके चतुर्थांश पानी रहने पर छान लेना चाहिये। मधु २५६ तोला, धातकी का फूल ६४, जायफल, लौंग, मिर्च, कंकोल, शीतलचीनी, जटामांसी, चविका, चित्रक, जावित्री, काकड़ा-शृंगी, बहेड़ा, पुष्करमूल प्रत्येक का चार तोला चूर्ण, ताम्र-भस्म २ तोला, लोह-भस्म २ तोला मिलाकर मिट्टी के पात्र में एक मास तक रखकर उपयोग करने से स्त्रियों के रक्त-गुल्म, पाँच प्रकार की कास, श्वास, क्षय, उदर-रोग, अर्श, वात-व्याधि, अपस्मार, मन्दाग्नि उदर-शूल, गुल्म, प्लीहा को नष्ट करती है। मात्रा २ से ४ तोला।

द्राक्षासव—द्राक्षा ४०० तोला, ८१९२ तोले पानी में काढ़ा करके चतुर्थांश पानी रहने पर छान लेना चाहिये। इसमें मधु १०० तोला, मिश्री १०० तोला, धातकी के फूल ६० तोला, कंकोल, लौंग, जायफल, मिर्च, दालचीनी, इलायची, तमालपत्र, नागकेशर, पिप्पली, चविका, चित्रक, पिप्पली-मूल, पित्तपापड़ा प्रत्येक ४ तोला मिलाकर कपूर और धूप से सुगन्धित किये हुये मिट्टी के बर्तन में भरकर दो मास तक रखना चाहिये। मात्रा १ से ४ तोला।

उपयोग—कास, श्वास, उरःक्षत, मन्दाग्नि, संग्रहणी अर्श, गुल्म, उदर, कुष्ठ-रोग, व्रण, नेत्र-रोग में।

धात्र्यासव—पका हुआ आँवला २००० नग, इनका रस निकाल-कर, इसमें $\frac{1}{8}$ मधु, शर्करा २०० तोला,पिप्पली-चूर्ण ८तोला इन सबको घी के बर्त्तन में भरकर अनाज के ढेर में पन्द्रह दिन तक दबाकर रखना चाहिये। मात्रा २ से ४ तोला।

उपयोग—कामला, पाण्डु, हृदय-रोग, वातरक्त, विषम ज्वर, श्वास, अरुचि में।

पतंगासव—पतंग, कत्था, सिम्बल का फूल, बलबीज, भिलावा, श्वेत सारिवा, काला सारिवा, जासुदी के फूल, आम की गुठली, दारुहल्दी, चिरायता, पांस्ने का डोडा, जीरा, लोह, रसवन्ती, बेल का फल, भाँगरा, दाल-चीनी, केशर, लौंग प्रत्येक ४ तोला लेकर चूर्ण करना चाहिये। किसमिस ८० तोला, धातकी के फूल ६४ तोला, पानी २०४८ तोला, शर्करा ४०० तोला, मधु २०० तोला, सबको एकत्रित करके मिट्टी के बर्त्तन में भरकर एक मास तक रखना चाहिये। मात्रा २ से ४ तोला।

उपयोग—प्रदर, श्वेत प्रदर, कष्ठार्त्तव, ज्वर, पाण्डु, शोथ, मन्दाग्नि, अरुचि आदि में।

पिप्पल्यासव—पिप्पली, मिर्च, चव्य, हरिद्रा, चित्रक, नागरमोथा, वायविडंग, सुपारी, लोध्र, पाठा, आँवला, शीतलचीनी, चन्दन, कूठ, लौंग, तगर, जटामांसी, दालचीनी, इलायची, तमालपत्र, प्रियंगु, नागकेशर प्रत्येक ४ तोला लेकर पानी २०४८ तोला, गुड़ १२०० तोला मिलाना चाहिये। धातकी के फूल ४० तोला, किसमिस २४० तोला, दोनों को बारीक पीसकर मिलाना चाहिये। पीछे से इसको मिट्टी के बर्त्तन में भरकर १ मास तक रखना चाहिये। मात्रा २ से ४ तोला।

उपयोग—क्षय, गुल्म, उदर-रोग, कृशता, संग्रहणी, पाण्डु, अर्श आदि रोग में।

लोहासव—लोह-भस्म, त्रिकटु, त्रिफला, अजवायन, वायविडंग, मोथा, चित्रकमूल प्रत्येक १६ तोला, धातकी के फूल ८० तोला, मधु २५६ तोला, गुड़ ४०० तोला, पानी २०४८ तोला, इन सबको मिट्टी के बर्त्तन में एक मास तक भरकर रखना चाहिये। मात्रा २ से ४ तोला।

उपयोग—मन्दाग्नि, पाण्डु, शोथ, उदर-रोग, अर्श, कुष्ठ-रोग, श्वास, हृदय-रोग में।

वासासव—अडूसे के ताजे पत्ते २०० तोला, इसको जरा कूटकर, ४० सेर पानी में काढ़ा करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। इसमें १० सेर गुड़, धातकी के फूल ३२ तोला, इलायची, तमालपत्र, नागकेशर, शीतलचीनी, मिर्च, बाला प्रत्येक ४ तोला लेकर मिट्टी के बर्त्तन में भरकर रखना चाहिये। मात्रा—१ से ४ तोला।

उपयोग—कास, क्षय, उर:क्षत, जीर्ण-ज्वर, शोथ में।

अवलेह

अवलेह को बनाने में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि यह पतला या शुष्क न हो जाय। इतना होना चाहिये कि चाटकर खाया जा सके। पाक करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि सुगन्धित प्रक्षेप द्रव्य डालने के पश्चात् आग पर रखने की जरूरत न पड़े। इनमें मिलाया हुआ शहद इनको देर तक सुरक्षित रखता है।

अमृत हरीतकी—शतावरी, भाँगरा, पुनर्नवा, काँटाशेगी प्रत्येक २८ तोला, चार गुना पानी में काढ़ा करना चाहिये। चतुर्थांश बाकी रहने पर छान लेना चाहिये। इसमें हरड़ १४०० तोला, दूध १६० तोला डालकर पकाना चाहिये। पीछे से हरड़ें चीरकर उनमें से गुठली निकाल देनी चाहिये। पारा २४ तोला, गन्धक २४ तोला इनको एक लोहे के बर्त्तन में पिघलाकर कज्जली बनानी चाहिये। इस कज्जली में २८ तोला गिलोय-सत्त्व मिलाकर मधु में गोलियाँ बनानी चाहिये। ये गोलियाँ एक-एक हरड़ में भरनी चाहिये। पीछे से इन हरड़ों को धागे से बाँधकर इन हरड़ों को शहद में भिगोकर रखना चाहिये। मात्रा—१ हरड़।

उपयोग—शुष्क पाण्डु को मिटाती है।

आर्द्रकावलेह(१)—पांच सेर आर्द्रक को छीलकर इसके पतले पत्ते बनाने चाहियें। पीछे से धनिया, अजवायन, लोह-भस्म, जीरा, दालचीनी, तमालपत्र, इलायची, कुटकी प्रत्येक दो-दो तोला, इनका चूर्ण करना चाहिये। पीछे से पाँच सेर गुड़ का पाक करके इसमें आर्द्रक का चूरा तथा चूर्ण मिलाकर अवलेह बनाना चाहिये। मात्रा २ से ४ तोला।

उपयोग—कास, पीनस-रोग, प्रतिश्याय, अर्श, गुल्म, शोथ, क्षय में।

आर्द्रकावलेह (२)—आर्द्रक का रस ४० तोला, पानी १० तोला, शर्करा २० तोला इनको घी में ताप से पाक करना चाहिये। इसमें केशर, इलायची, जायफल, जावित्री, लौंग प्रत्येक एक-एक तोले का बारीक चूर्ण मिलाना चाहिये। मात्रा ½ से १ तोला।

उपयोग—मन्दाग्नि, कास, श्वास और अरुचि में।

कन्टकारि अवलेह—छोटी कटेरी का पंचाङ्ग सूखा हुआ १० सेर, अधकचरी खाँड २६ सेर पानी में उबालना चाहिये। जब पानी चतुर्थांश बाकी रहे, तब इसको छानकर इसमें शर्करा २ सेर, घी ३२ तोला, तेल ३२ तोला, गिलोय, चविका, चित्रक, मोथा, काकड़ाशृङ्गी, त्रिकटु, धमासा, कटेरी-मूल, रास्ना, कचूर इन सब वस्तुओं में प्रत्येक का चूर्ण ४ तोला मिलाकर उबालना चाहिये। जब अवलेह जैसा पाक हो जाय, तब उतारकर इसको ठण्डा होने देना चाहिये। तब इसमें मधु ३२ तोला, बाँसकपूर १६ तोला, पिप्पली-चूर्ण १६ तोला मिलाकर मिट्टी के बर्तन में रखना चाहिये। मात्रा १ से २ तोला।

उपयोग—हिचकी, दमा, कास, श्वास में उपयोगी होता है।

कासकन्डनावलेह—बकरी का मूत्र ४०० तोला, इसको उबालकर गाढ़ा बनाना चाहिये। पीछे से इसमें बहेड़ा ८ तोला, पिप्पली ४ तोला, लोह-भस्म ४ तोला, कटेरी का फल ८ तोला, इन सबको बारीक चूर्ण करके कच्चे पानी में भरकर रखना चाहिये। मात्रा—२ से ४ माशा।

अनुपान—केले का पानी अथवा मधु।

उपयोग—असाध्य खाँसी में।

कुटजावलेह—कुटज-छाल १० सेर, ७५ सेर पानी में काढ़ा करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। पीछे से इसको छानकर इसमें गुड़ ३ सेर मिलाकर पाक करना चाहिये। इसमें रसौंत, मोचरस, त्रिकटु, आँवला, रीसामणी, चित्रक, पहाड़मूल, बेल-फल, इन्द्रजौ, वच, भिलाँवा, अतीस, वायविडङ्ग, नेत्रवाला प्रत्येक ४ तोले का चूर्ण तथा घी १६ तोला मिलाकर नीचे उतार लेना चाहिये। ठण्डा होने पर इसमें ३२ तोला शहद मिलाना चाहिये। मात्रा—१ से २ तोला।

अनुपान—छाछ, दूध, दही, घी, पानी।

उपयोग—अतिसार, अर्श, संग्रहणी, पाण्डु, रक्तपित्त।

कुष्माण्डावलेह—उत्तम प्रकार से पीसा हुआ भूरा कुम्हड़ा १२½ सेर, ४ सेर घी में भूनकर, कुष्माण्ड-स्वरस १६ सेर और शर्करा १२½ सेर मिलाकर पाक करना चाहिये। पाक समाप्त होने से पहले पिप्पली, सोंठ, जीरा प्रत्येक १६ तोला, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, मिर्च, धनिया प्रत्येक ४ तोला मिलाकर पाक समाप्त कर लेना चाहिये। शीतल होने पर मधु मिलाकर घी के पात्र में रखना चाहिये। रक्तपित्त रोग की उत्कृष्ट औषधि है।

कुशावलेह—कुश, कास, उशीर, गन्ना, दाभड़ा इनके मूल प्रत्येक ८० तोला, जल ६४ सेर, शेष ८ सेर। इस काढ़े में दो सेर चीनी मिलाकर पुनः पाक करना चाहिये। लेह की भाँति होने पर मुलहठ्ठी, कुष्माण्ड-बीज, वंशलोचन, आमलकी, तेजपात, दालचीनी, इलायची, नागकेशर, वरुण-छाल, गिलोय, प्रियंगु इनमें प्रत्येक का चूर्ण २ तोला मिलाकर उत्तमरूप से मिलाकर पाक समाप्त कर लेना चाहिये।

उपयोग—मूत्रकृच्छ्र-रोग में, मूत्रदाह, गनोरिया की प्रथमावस्था में विशेष उपकारी है।

अनुपान—नारियल का पानी, शीतल जल।

खण्डकाद्यवलेह—शतावरी, गिलोय, वासक-छाल, मुण्डी, बला, तालमूली, खैर, भारंगी, त्रिफला पुष्कर-मूल प्रत्येक ५० तोला, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर। इस काढ़े में मनःशिला या स्वर्णमाक्षिक के साथ लोह-भस्म ९६ तोला, खार गुड़ २ सेर, घृत २ सेर मिलाकर ताँबे के बर्त्तन में गुड़पाक-विधि से पाक करना चाहिये। पाक समाप्त होने के समीप हो, उस समय वंशलोचन, शिलाजीत, दालचीनी, काकड़ाशृङ्गी, विडङ्ग, पिप्पली, सोंठ, जीरा प्रत्येक ८ तोला, त्रिफला, तेजपात मिर्च, नागकेशर प्रत्येक २ तोला मिलाकर पाक समाप्त कर लेना चाहिये। शीतल होने पर २ सेर मधु मिलाकर घृतादि से स्निग्ध पात्र में रखना चाहिये।

उपयोग—रक्तपित्त में।

अनुपान—बकरी का दूध या वासकपत्र-रस।

गोखरू का अवलेह—गोखरू का पंचांग ४०० तोला, अधकचरा

करके १६ गुने पानी मे काढ़ा करके, चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। इसमें शर्करा २०० तोला मिलाकर अवलेह की चासनी बना लेनी चाहिये। जब अवलेह बनने के करीब हो, तो उसमें सोंठ, पिप्पली, इलायची, जौखार, नागकेशर, जावित्री, अर्जुनवृक्ष, कमलकाकड़ी, बाँसकपूर प्रत्येक ३२ तोला मिलाकर मिट्टी के बर्तन में भरकर रखना चाहिये। मात्रा १ से २ तोला।

उपयोग— मूत्रकृच्छ्र-रोग में, अश्मरी में, प्रमेह में, रक्त-प्रमेह में।

च्यवनप्राशावलेह—दशमूल, पिप्पली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, द्राक्षा, जीवन्ती, पुष्करमूल, अगर, हरीतकी, गिलोय, जीवनीय गण इनके अभाव में शतावरी, विदारी, अश्वगन्धा और वाराहीकन्द, शठी, मोथा, पुनर्नवा, छोटी इलायची, उत्पल, लालचन्दन, अड़ूसा प्रत्येक ८ तोला, बड़े-बड़े आँवले ५००, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर। पीछे से आँवलों के अन्दर से गुठली निकालकर खूब बारीक पीस लेना चाहिये तिल-तैल और घृत समभाग लेकर १॥ सेर आँवलों की पिष्ठि को इसमें भून लेना चाहिये। पूर्वोक्त काढ़े में मिश्री ६¼ सेर मिलाकर इसमें आँवले डालकर लेह के समान पाक कर लेना चाहिये। लेह के समान पाक होने पर वंशलोचन ½ सेर, पिप्पली चूर्ण १६ तोला, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर प्रत्येक ८ तोला मिलाकर मीठी आँच पर घन बनाना चाहिये। शीतल होने पर इसमें मधु उचित मात्रा में मिलाकर पाक शेष कर लेना चाहिये।

अनुपान—मधु या दूध।

उपयोग—शुष्क कास में, वायु-जनित श्वास-रोग में, रक्तपित्त में, यक्ष्मा में श्रेष्ठ रसायन है।

द्राक्षावलेह—काली द्राक्षा को दूध में उबालकर घी में तलना चाहिये। पीछे से शर्करा की चासनी करके उसमें मिलाकर नीचे की वस्तुयें भी मिला देनी चाहिये। बादाम घी में भूनकर, कूटकर चूर्ण बना लेना चाहिये। खोये को घी में भूनकर इसमें मिलाना चाहिये। जायफल, जावित्री, लौंग, इलायची, बाँसकपूर, दालचीनी, तमालपत्र, नागकेशर, कमलगट्टा इन सब वस्तुओं का बारीक चूर्ण, चासनी में मिलाकर पाक बना लेना चाहिये। मात्रा १ से ४ तोला।

उपयोग—अम्लपित्त, रक्तपित्त, क्षय, पाण्डु, कामला-रोग में।

दन्तीहरीतकी—बड़ी हरड़ २५ लेकर एक कपड़े में पोटली बाँधकर दन्ती-मूल २०० तोला, निशोथ २०० तोला, पानी ४०९६ तोले में काढ़ा करना चाहिये। जब पानी अष्टमांश अर्थात् ५१२ तोला शेष रह जाय, तब इसमें हरड़ की पोटली निकालकर ३२ तोले तिल-तैल में तलनी चाहिये। पीछे से गुड़ २०० तोला मिलाकर चासनी बनानी चाहिये। इस चासनी में निशोथ ३२ तोला, पिप्पली ८ तोला, सोंठ ८ तोला मिलाकर पाक-शेष करना चाहिये। ठण्डा होने पर मधु ३६ तोला, चतुर्जात ३६ तोला मिलाकर रखना चाहिये। इसमें हरड़ों को डुबोकर रख देना चाहिये। इनमें से एक-एक हरड़ रोज खानी चाहिये।

गुण—मलावरोध, उदर-रोग, प्लीहा, यकृत-शोथ आदि रोग में यह प्रयोग तीन मास तक प्रचलित रखना चाहिये।

विभीतकावलेह—बहेड़ा-फल १०० या इसकी छाल, बकरी का दूध १० सेर में जोश देकर इसका अवलेह बनाना चाहिये। इसमें दुगुना मधु मिलाना चाहिये। मात्रा १ से २ तोला।

उपयोग—कास, कास-श्वास में।

मधुपक्वहरीतकी—कदम्ब, कड़वानीम, इमली इन तीनों की छाल ६४ तोला, बकरी, गाय, भैंस का मूत्र १००० तोला, इसमें छालों को उबालकर जब चतुर्थ भाग मूत्र बचा रहे, तब बाकी रहे मूत्र में हरड़ १०० नग मिलाकर फिर से उबालना चाहिये। जब हरड़ें नर्म पड़ जायँ, तब उनमें से गुठलियाँ निकालकर और पाँच तोला सज्जीखार तथा पाँच रुपया भर भाँग का चूर्ण हरड़ों के अन्दर भरकर, ऊपर धागे से बाँधकर, हरड़ों को मधु के अन्दर डुबोकर रखना चाहिये।

उपयोग—अर्श, गुल्म, यकृतोदर, उदर-शूल तथा पुराने रोगों में।

वासावलेह—वासक-पत्र ४०० तोला, पानी ३२०० तोला काढ़ा करके चतुर्थांश शेष रहने पर इसमें हरड़ का चूर्ण २५६ तोला मिलाकर गाढ़ा बनानी चाहिये। पीछे इसमें मधु ३२ तोला, बाँसकपूर ८ तोला, पिप्पली २ तोला, चतुर्जात ४ तोला मिलाकर मिट्टी के पात्र में भरकर रखना चाहिये। मात्रा २ से ४ तोला, श्वास-कास, क्षय, रक्त, पित्त, कफ, हृदय-रोग, विद्रधि, उरःक्षत, रक्त की वमन में लाभ करता है।

अडूसे का अवलेह—वासकपत्र को पीसकर स्वरस अथवा पुटपाक द्वारा रस निकाल लेना चाहिये। इसमें शर्करा मिलाकर धीमे-धीमे ताप से गरम करके शहद जैसा अवलेह बनाना चाहिये। चटनी के प्रमाण में बहेड़ा तथा हल्दी का चूर्ण मिलाना चाहिये।

उपयोग—कास, कफ, श्वास, क्षय और रक्तपित्त में।

हरीतकी अवलेह—जौ २५६ तोला, दशमूल ८० तोला, हरड़ नग १००, चित्रकमूल, पिप्पलीमूल, अपामार्ग, कचूर, कौंच, शङ्खावली, भारंगीमूल, गजपिप्पली, पुष्करमूल प्रत्येक ८ तोला और सबके वजन से आठ गुना पानी में उबालना चाहिये और जब चौथा भाग पानी शेष रहे, तब छान लेना चाहिये। हरड़ों को कपड़े में से छानकर इसका खोवा काढ़ना चाहिये। पीछे से इस क्वाथ को आंच पर चढ़ाना चाहिये। इसमें गुड़ १६ सेर, घी तोला ३२, तिल तेल ३२ तोला और हरड़ का खोवा मिलाकर पाक करना चाहिये। जब पाक गाढ़ा हो जाये तब इसमें मधु १६ तोला, पिप्पली १६ तोला मिलाकर पाक समाप्त कर देना चाहिये। मात्रा १ से ४ तोला।

उपयोग—क्षय, कास, ताप, दमा, हिचकी, अर्श, अरुचि, पीनस-रोग, संग्रहणी। इसका नाम अगस्त्य हरीतकी अवलेह भी है।

पाक

पाक बनाने की विधि नीचे लिखे पाकों से समझ में आ सकती है। यहाँ पर पाकों के कुछ नमूने हैं। इनके आधार पर विदारी, बिनौले आदि वस्तुओं का भी पाक बनाया जा सकता है। पौष्टिक वस्तुओं का चूर्ण करके, उनको घी में भूनकर साथ में खोवे को भी घी में भूनकर, खाँड़ की चासनी में मिलाकर, परात या चौड़े बर्त्तन में कलाकन्द की भाँति जमाने से पाक बन जाता है।

असगन्ध पाक—असगन्ध ४६ तोला, सोंठ ३६ तोला, पिप्पली १६ तोला, मिर्च ४ तोला, इनका चूर्ण गाय का दूध ५ सेर में उबालकर मावा करना चाहिये। पीछे से इसमें ५ सेर घी मिलाना चाहिये। और इसको घी में भूनकर दाना बना लेना चाहिये। शर्करा ८ से १२ लेकर इसकी चासनी बनानी चाहिये। चासनी बनने पर इसमें उपरोक्त खोवा तथा नीचे की वस्तुओं

का बारीक चूर्ण मिलाना चाहिये। दालचीनी ४ तोला, तमालपत्र ४ तोला, इलायची ४ तोला, पिप्पलीमूल, जीरा, लौंग, अगर, नेत्रबाला, चित्रकमूल, चन्दन, नारियल, कमल, रूमीमस्तकी, बांसकपूर, आँवला, कत्था, कपूर, धमासा, पुनर्नवा, असगन्ध, शतावरी, भांग प्रत्येक ½ तोला इनको परात में गिराकर पाक बनाना चाहिये। मात्रा २½ से ५ तोला।

उपयोग—मन्दाग्नि को दूर करती है, पुष्टि देती है।

लहसुन पाक—प्याज २० तोला, दूध २ सेर, घी ½ सेर, मधु ९ तोला, शर्करा २ सेर, दालचीनी तथा जायफल प्रत्येक १ तोला, लौंग, केसर, जावित्री, आधा तोला (प्रत्येक) शुद्ध ताम्र-भस्म आधा तोला, कौंच-बीज ४½ तोला, खोवा ९ तोला इन सबका पाक करना चाहिये। मात्रा २½ तोला। नपुन्सकता को दूर करके पुरुषत्व देता है।

कामवर्द्धक (मोदक)—तालमखाना, गोखरू, बलदाना, श्वेत मुसली, कौंच, असगन्ध, मुलहट्ठी, शतावरी, ये सब समभाग मिलाकर २ सेर, इनके चूर्ण को आठ गुने दूध में उबालकर खोवा करना चाहिये। खोवा तैयार हो, तो इसमें घी २ सेर मिलाना चाहिये। खोवे से दुगुनी या सवाई या १½ सेर शर्करा की चासनी बनानी चाहिये। पीछे से इसमें खोवा मिलाकर पाँच-पाँच रुपया भर परिमाण के लड्डू बना लेना चाहिये। यदि इच्छा हो, तो इसमें दालचीनी, तमालपत्र, इलायची, नागकेशर, बादाम, चारौली थोड़ी-थोड़ी मिला सकते हैं। मात्रा—५ से १० तोला, वीर्य की वृद्धि करके शरीर में शक्ति देता है।

कामेश्वर (मोदक)—अभ्र, कट्फल, कुटज, अश्वगन्धा, गिलोय, मेथी, मोचरस, विदारी, तालमूली, गोखरूबीज, कुलत्थी के बीज, कलारमूल, शतावरी, लोहबान, जटामांसी, पोस्ते का डोड़ा, तिल, धनिया, शठी, नागबला, गन्धतृण, मैनफल, जायफल, सैन्धव, भारंगी, काकड़ाशृङ्गी, सोंठ, पिप्पली, मिर्च, जीरा, कालाजीरा, चीतामूल, दालचीनी, तेजपत्र, इलायची, नागकेशर, पुनर्नवा, गजपिप्पली, द्राक्षा, बाला, सिम्बल-मूल और कौंच के बीज प्रत्येक १ तोला। सिद्ध बीज ४२ तोला, चीनी १९६ तोला। यथाविधि पाक करना चाहिये। शीतल होने पर घी और मधु मिलाकर पाक समाप्त करना चाहिये।

उपयोग—संग्रहणी और रति-शक्तिवर्द्धक में।

७२

अनुपान—दूध ।

कौंच पाक—कौंच को पानी या दूध में काढ़ा करके, ऊपर का छिलका उतारकर मींग को पीस लेना चाहिये । यह मींग १२८ तोला, दूध २५६ तोले में उबालकर खोवा कर लेना चाहिये । इस खोवे को ३-४ सेर घी में भूनकर दुगुना खाँड़ की चासनी में नीचे की वस्तुओं के साथ मिलाकर पाक बना लेना चाहिये । केसर, दालचीनी, तमालपत्र, इलायची, पिप्पली, सोंठ, लौंग, अनार, जावित्री, जायफल, अकरकरा, कंकोल, विधारा के बीज, अजवायन, मुसली, हरड़ प्रत्येक दो-दो तोला और कपूर १½ तोला, रससिन्दूर, नाग-भस्म आदि ऊँची दवाइयाँ इसमें इच्छा हो, तो मिला देना चाहिये । मात्रा—१ से २½ तोला ।

उपयोग—कामेच्छा, धातु, बल, बुद्धि को बढ़ाता है, वाजीकरण है ।

बादाम-पाक—बदाम को मींग २० तोला, खोवा १० तोला, मुगलाई बेदाना ४ तोला, लौंग, जायफल, जावित्री, केसर, बाँसकपूर, कमलगट्टा, प्रत्येक ½ तोला, इलायची, दालचीनी, तमालपत्र, नागकेसर प्रत्येक १ तोला, शर्करा २½ सेर, घी २० तोला, बादाम का चूर्ण तथा खोवा घी में सेंकना चाहिये । फिर शर्करा की चासनी करके इसमें ऊपर की सब वस्तुएँ मिलाकर तथा अभ्रक-भस्म ½ तोला, वङ्ग-भस्म ½ तोला, स्वर्णमाक्षिक-भस्म ½ तोला, प्रवाल-भस्म ½ तोला इन सब भस्मों को शक्ति के अनुसार मिलाना चाहिये । मात्रा—१ से २½ तोला ।

उपयोग—वीर्य-वृद्धि, पुष्टि तथा ज्वर-जन्य निर्बलता के लिये उपयोगी है ।

माषादि-मोदक— उड़द की साफ की हुई दाल का लोट, गेहूँ का दाना, साफ किया हुआ जौ का आटा, चावल का आटा, पिप्पली का चूर्ण प्रत्येक चार तोला, इन सबमें घी ½ सेर मिलाकर भूनना चाहिये । पीछे सबके बराबर शर्करा से दुगुना पानी लेकर हल्की आँच से चासनी बनानी चाहिये । पीछे से चार-चार तोले के लड्डू बनाना चाहिये । इसमें से एक लड्डू रोज खाना चाहिये ।

सालम-पाक—सालम २० तोला, इसके चूर्ण को १२८० तोला दूध में उबालकर पर्याप्त घी में भून लेना चाहिये । इस भूने हुये पदार्थ के बराबर शर्करा अथवा थोड़ा शर्करा की चासनी करके इस खोवे का पाक करना